Hindi / English / Gujarati

सूर्यसिद्धान्त

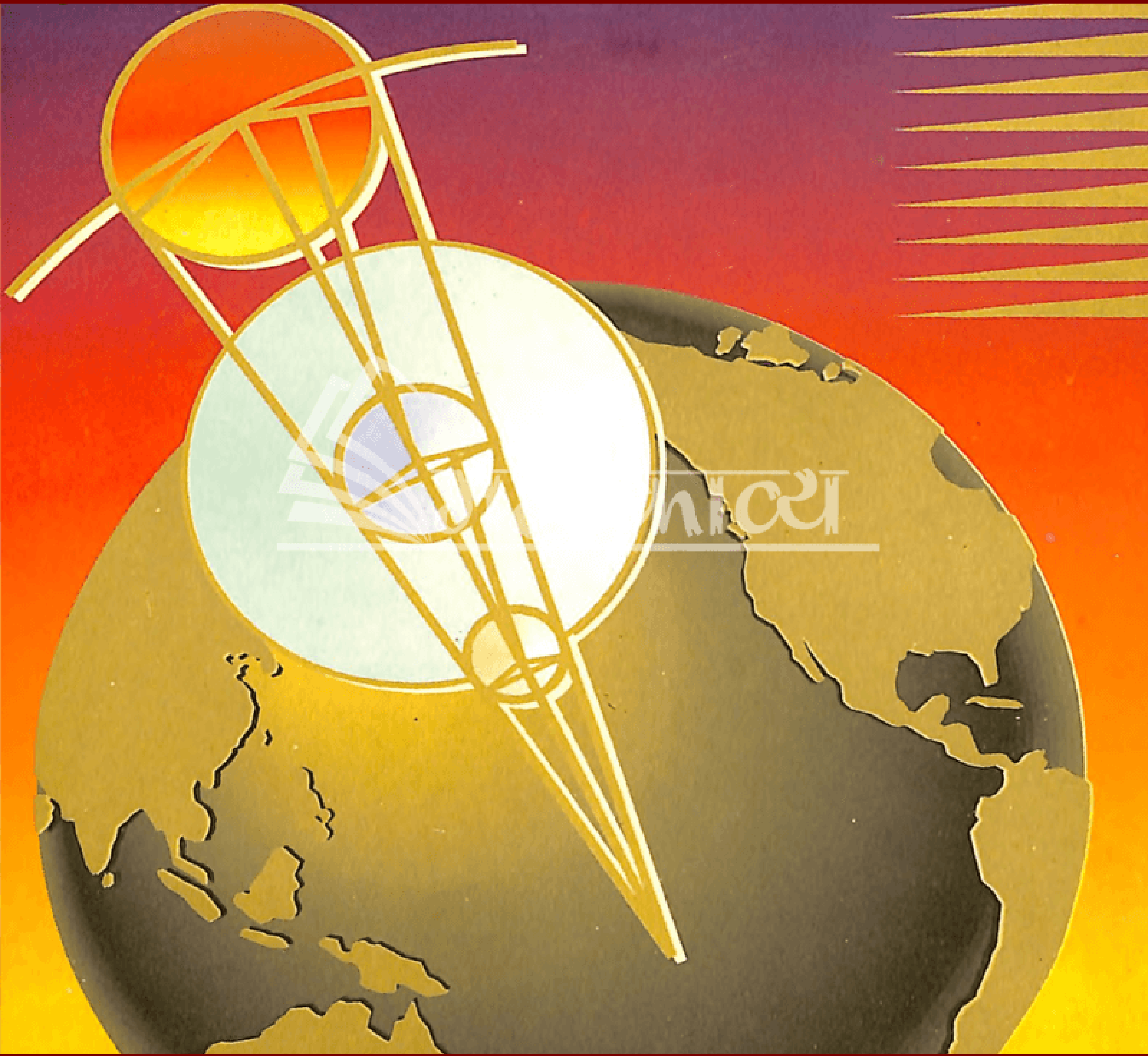

महाकाव्य

॥ श्रीः ॥

पुरो वाक्

ब्रह्मेशानाच्युतेशाय सूरायादित्यवर्चसे ।
भास्वते सर्वभक्षाय रौद्राय वपुषे नमः ॥
तमोघ्नाय हिमघ्नाय शत्रुघ्नायामितात्मने ।
कृतघ्नघ्नाय देवाय ज्यौतिषां पतये नमः ॥ (वाल्मीकिः)

ज्यौतिषशास्त्र का इतिहास ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के साथ ही प्रारम्भ होता है तथा ब्रह्माण्ड की स्थिति पर्यन्त अविच्छिन्न रूप से गतिमान रहता है । अनन्त आकाश में विद्यमान अनन्त ज्यौतिष्पिण्डों का ज्ञान अभी तक मनुष्य नहीं कर पाया है । मनुष्य की अपनी सीमा है आकाश निःसीम है फिर भी मनुष्य ने अन्तरिक्ष के अनेक रहस्यों को सुलझाने में सफलता प्राप्त की है तथा आगे भी सतत् प्रयत्नशील है । ब्रह्माण्ड अथवा अन्तरिक्ष से जुड़े हुये अनेक ऐसे प्रश्न है जो निश्यचात्मक रूप से आज तक नहीं सुलझ सके हैं । भगवान् भास्कर ने स्वयं ही अनेक रहस्यों का उद्घाटन करते हुये ज्यौतिषशास्त्र सम्बन्धी अनेक शंकाओं का समाधान किया है तथा ज्यौतिषशास्त्र सम्बन्धी अत्यन्त गूढ़ ज्ञान दिया है । अंशावतार सूर्य और मय के संवाद से स्पष्ट होता है कि समय-समय पर ज्यौतिषशास्त्र का उपदेश भगवान् सूर्य द्वारा होता रहा है ।[१]

भारतीय विद्याओं की यह मान्यता है कि ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के कारण भगवान सूर्य हैं । महर्षि व्यास ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि "नक्षत्र, ग्रह तथा चन्द्र का मूल सूर्य में है तथा इनकी उत्पत्ति सूर्य से ही हुई हैं।[२] भगवान सूर्य ने भी मय को उपदेश करते हुये स्वयं कहा है—

इन्हीं भगवान् सूर्य को वेदों में हिरण्यगर्भ कहा गया है । सर्वप्रथम (आदि में) प्रकट होने के कारण इन्हें आदित्य तथा सृष्टि की उत्पत्ति (प्रसूति) करने के

---

१. शृणुष्वैकमनाः पूर्वं यदुक्तं ज्ञानमुत्तमम् ।
युगे युगे महर्षीणां स्वयमेव विवस्वता ॥ ८ ॥
शास्त्रमाद्यं तदेवेदं यत्पूर्वं प्राह भास्करः ।
युगानां परिवर्तेन कालभेदोऽत्र केवलम् ॥ ९ ॥

२. नक्षत्रग्रहसोमानां प्रतिष्ठायोनिरेव च ।
चन्द्रऋक्षग्रहा सर्वे विज्ञेया सूर्यसम्भवा ॥

कारण इन्हें सूर्य कहा गया है।[१] आज भी आधुनिक विज्ञान द्वारा सृष्ट्युत्पत्ति के सन्दर्भ में स्थिर किये गये सिद्धान्तों में एक सिद्धान्त यह भी है कि सूर्य द्वारा ही यह ब्रह्माण्ड उत्पन्न हुआ है । ''सृष्टि के रहस्य को उद्‌घाटित करने के लिए अभी भी विज्ञान प्रयासरत है । जब तक सृष्टि है तब तक इसके सन्दर्भ में अनुसन्धान होता रहेगा तथा नये-नये तथ्य प्रकाश में आते रहेंगे ।

भारतीय ज्यौतिषशास्त्र की कुछ अपनी मूलभूत विशेषतायें हैं जिनके कारण अनेक नूतन आविष्कारों तथा नये सिद्धान्तों के सृजन के अनन्तर भी इसकी गुणवत्ता अक्षुण्ण रहेगी । भारतीय ज्यौतिष के अनेक सिद्धान्त आज भी उतने ही प्रासङ्गिक है जितने पहले थे । भारतीय ज्यौतिषशास्त्र में सौरमत का अत्यधिक समादर है । प्रायः सभी आचार्यों ने सूर्यसिद्धान्त का समादर किया है । मैंने भी भगवान भास्कर के प्रति अपने श्रद्धाभाव अर्पित करते हुये सूर्यसिद्धान्त को जिज्ञासुओं के लिए सुगम करने की दृष्टि से हिन्दी भाषानुवाद तथा संस्कृतोत्त्पत्ति के साथ सम्पादित करने का संकल्प लिया । इसके साथ-साथ अत्यन्त विश्रुत आचार्य रंगनाथ द्वारा विरचित ''गूढार्थ प्रकाशिका'' नामक संस्कृत टीका का भी सम्पादन कर विद्वान् पाठकों एवं जिज्ञासु छात्रों के लिए सुलभ कराने का सत्प्रयास किया । विद्वानों की सन्तुष्टि से ही मेरे इस सत्प्रयास की सार्थकता सिद्ध होगी ।

यद्यपि इस ग्रन्थ के सम्पादन में अनुमान से अधिक समय लग गया है फिर भी इसके प्रकाशन से मुझे आत्मतोष हुआ है । इस सारस्वत यज्ञ की पूर्णता में जिन विद्वान् महानुभावों का सहयोग प्राप्त हुआ है उनमें सर्वप्रथम नाम आता है ज्यौतिषाचार्य **डॉ० सत्येन्द्र कुमार मिश्र** (ज्यौतिष विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय) का, इनके अथक परिश्रम एवं सहयोग से यह कार्य पूर्ण हुआ है, अतः मैं इन्हें हृदय से धन्यवाद देता हूँ और इनके उज्ज्वल भविष्य की कामना करता हूँ । साथ ही अपने अभिन्न मित्र **डॉ० श्री सुधाकर मालवीय** (संस्कृत विभाग, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय) के प्रति भी आभार व्यक्त करना अपना कर्तव्य समझता हूँ, जो प्रायः प्रकाशन कार्य में मुझे सतत् प्रेरित करते रहते हैं । तदनन्तर **मालवीय कम्प्यूटर्स** को हृदय से धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने इसके मुद्रण में सहयोग किया है । अन्त में इस ग्रन्थ के प्रकाशक **श्री नवनीत दास**, चौखम्बा विद्याभवन परिवार को धन्यवाद से विभूषित करता हूँ जिनके धैर्य एवं उत्साह से यह कार्य पूर्ण हो सका । इसके अतिरिक्त मैं उन सभी सहयोगियों को धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ, जिनका किसी भी रूप में मुझे सहयोग प्राप्त हुआ है ।

रामचन्द्र पाण्डेय

---

१. हिरण्यगर्भो भगवानेष च्छन्दसि पठ्यते ।
आदित्यो ह्यादिभूतत्वात् प्रसूत्या सूर्य उच्यते ।। — सू० सि० भू १५

॥ श्रीः ॥

भूमिका

श्रीभास्करो निखिलसृष्टिसमग्रहेतुः
कालात्मकोऽपि तत्कालनियामको यः ।
तेनोपदिष्टसदुपासितगूढसूर्य-
सिद्धान्तमेष विवृणोमि जनेषु हिन्द्याम् ॥

ज्योतिषशास्त्र के विस्तृत वाङ्मय में मेरु की भाँति विद्यमान सूर्य-सिद्धान्त जहाँ अपनी प्राचीनता एवं प्रामाणिकता के लिए प्रसिद्ध है वहीं अपनी सरलता (बोधगम्यत्व) के कारण लोकप्रिय भी है । सूर्यसिद्धान्त के उपदेष्टा स्वयं भगवान् सूर्य हैं, अतः इस ग्रन्थ का काल निर्धारण विवादास्पद रहा है । सौरसिद्धान्त का उपदेश समय-समय पर ऋषियों को होता रहा है जिसमें अन्तिम उपदेश सूर्य के अंशावतार ने 'मय' को दिया था । इस प्रसंग से सूर्यसिद्धान्त की एक विस्तृत परम्परा सिद्ध होती है । सूर्यसिद्धान्त में जो काल भेद का उल्लेख है वह इस सिद्धान्त की प्रामाणिकता एवं जागरूकता को संकेतित करता है । सूर्यसिद्धान्त के ऐतिहासिक पक्ष पर दृष्टि डालने वाले विद्वानों ने वर्तमान सूर्यसिद्धान्त को मयोपदिष्ट सूर्यसिद्धान्त से भिन्न माना है । कुछ विद्वानों ने पञ्चसिद्धान्तिका में वर्णित सूर्यसिद्धान्त को मूल सिद्धान्त कहा है । इस सन्दर्भ में श्री बालकृष्ण दीक्षित ने अपने ग्रन्थ "भारतीय ज्यौतिष" में लिखा है—"वर्तमान सूर्यसिद्धान्त के भगणादि-मान और वर्षमान पञ्चसिद्धान्तिकोक्त सूर्यसिद्धान्त के भगणादिमान और वर्षमान से नहीं मिलते । पंचसिद्धान्तिकोक्त सूर्यसिद्धान्त और वर्तमान में प्रचलित सूर्यसिद्धान्त वर्षमान तथा भगणादि मूल तत्त्वों के विषय में एक दूसरे से भिन्न मालूम पड़ते हैं । इनमें दूसरा पहले की अपेक्षा नवीन है । क्योंकि वराहमिहिर ने पञ्चसिद्धान्तिका में केवल पहले का ही संग्रह किया है ।"

पञ्चसिद्धान्तिका—आचार्य वराहमिहिर ने पाँच प्राचीनतम सिद्धान्तों का संग्रह कर पञ्चसिद्धान्तिका नाम से संग्रहीत किया । ये पाँचो सिद्धान्त पौलिश, रोमक, वसिष्ठ, सौर तथा पैतामह नाम से प्रसिद्ध हैं ।

"पौलिशरोमकवासिष्ठसौरपैतामहास्तु पञ्चसिद्धान्ताः" पञ्च सिद्धान्तिका के प्रथम अध्याय में आचार्य वराहमिहिर ने लिखा है कि—

पौलशति विस्फुटोऽसौ तस्यासन्नस्तु रोमकः प्रोक्तः ।
स्पष्टतरः　सावित्रः　परिशेषौ　दूरविभ्रष्टौ ॥

अर्थात् आरम्भ काल में पौलिश सिद्धान्त अधिक शुद्ध तथा उसी के आसन्न रोमक सिद्धान्त था । इन दोनों की अपेक्षा सूर्यसिद्धान्त अधिक स्पष्ट था । अन्य दो वसिष्ठ और पैतामह सिद्धान्तों में बहुत अन्तर पड़ गया है । ये सिद्धान्तपञ्चक अत्यन्त प्राचीन है । इनके रचनाकाल का वास्तविक ज्ञान पुष्ट प्रमाण के अभाव में अभी तक नहीं हो सका है ।

वर्तमान समय में भी सिद्धान्तपञ्चक चर्चा में हैं किन्तु पाँचों सिद्धान्त पञ्चसिद्धान्तिका के पाँच सिद्धान्तों से भिन्न हैं अतः इन्हें वर्तमान सिद्धान्त पञ्चक कहा जाता हैं । इनके नाम इस प्रकार हैं—

१. सूर्यसिद्धान्त, १२. सोमसिद्धान्त, ३. वसिष्ठ सिद्धान्त, ४. रोमश सिद्धान्त और ५. ब्राह्म सिद्धान्त (शाकल्य संहितोक्त) ये पाँचों सिद्धान्त अपौरुषेय माने जाते हैं। आचार्य शंकरबालकृष्ण दीक्षित ने स्पष्ट लिखा है कि ''पञ्चसिद्धान्तिकोक्त पाँच सिद्धान्तों में से कुछ या सब और विष्णुधर्मोत्तर सिद्धान्तों को छोड़कर आजकल अन्य कोई भी सिद्धान्त अपौरुषेय नहीं माना जाता ।''

ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर उपलब्ध एवं मान्य सभी सिद्धान्तों में आर्य सिद्धान्त सर्वाधिक प्राचीन माना जाता है । उक्त पाँचों सिद्धान्त आर्य सिद्धान्त से प्राचीन होंगे ऐसा मेरा विचार है । पाश्चात्य विद्वानों ने भी उक्त सिद्धान्तों के रचना काल के सन्दर्भ में पर्याप्त विचार किया है । ह्विटने तथा बेंटली ने ग्रहगणना को आधार मानकर वर्तमान सूर्यसिद्धान्त का जो समय निश्चित किया है उसमें महान् अन्तर है । अतः निश्चयात्मक रूप से पञ्चसिद्धान्तिका में वर्णित सिद्धान्तों का निश्चित समय कह पाना कठिन है । इतना अवश्य कहा जा सकता है कि ये सिद्धान्त शक् ४२१ के पूर्व ही प्रचलित हो चुके थे ।

सूर्यसिद्धान्त

वर्तमान सूर्यसिद्धान्त पञ्चसिद्धान्तिकोक्त सूर्यसिद्धान्त की अपेक्षा अत्यन्त परिष्कृत तथा सुस्पष्ट है । अतः कुछ विद्वानों का मत है कि यह (वर्तमान) सूर्यसिद्धान्त आर्षग्रन्थ नहीं है । सूर्यसिद्धान्त में वर्णित 'मय'-सूर्य संवाद से इसका आर्षत्व लक्षित होता है । किन्तु इतिहासकारों ने कुछ शंकायें व्यक्त की हैं जो इस प्रकार हैं—

१. आधुनिक सूर्यसिद्धान्त की रचना 'लाटदेव' ने की है ।

२. आधुनिक सूर्यसिद्धान्त लाटदेव कृत है किन्तु उसके सभी अंश लाटदेव कृत न होकर पञ्चसिद्धान्तिकोक्त सूर्यसिद्धान्त से लिये गये होंगे ।

३. पञ्चसिद्धान्तिका के कुछ समय बाद किसी ने कई सिद्धान्तों के विशिष्ट

अंशों को लेकर नये सिद्धान्त की रचना की हो । रचनाकार का नाम अज्ञात होने से यही ग्रन्थ आर्ष मान लिया गया होगा ।

उक्त सन्दर्भ में आचार्य ब्रह्मगुप्त ने लिखा है कि रोमक और वसिष्ठ सिद्धान्तों का ग्रहस्पष्टीकरण आर्यभटीय से मिलता है किन्तु सूर्यसिद्धान्त-रोमक आदि के परिध्यंश आर्यभटीय से न मिलकर मूल सूर्यसिद्धान्त से मिलते हैं । इससे यह सिद्ध होता है कि मूल सूर्यसिद्धान्त को ही किसी आचार्य ने परिष्कृत कर वर्तमान सूर्यसिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत किया है । वर्तमान सूर्यसिद्धान्त में कुल १४ अधिकार हैं । जिनका नाम क्रमश: इस प्रकार है——

१. मध्यमाधिकार, २. स्पष्टाधिकार, ३. त्रिप्रश्नाधिकार, ४. चन्द्रग्रहणाधिकार, ५. सूर्यग्रहणाधिकार, ६. छेद्यकाधिकार, ७. ग्रहयुत्यधिकार, ८. भग्रहयुत्यधिकार, ९. उदयास्ताधिकार, १०. चन्द्रश्रृङ्गोन्नत्यधिकार, ११. पाताधिकार, १२. भूगोलाध्यायाधिकार १३. ज्यौतिषोपनिषदाध्याय, १४. मानाध्याय । सभी अधिकारों की श्लोकसंख्या ५०० है ।

रचना काल——सूर्यसिद्धान्त के रचना काल के सन्दर्भ में मतैक्य नहीं है । सूर्यसिद्धान्त के आधार पर इसकी रचना कृतयुग के अन्त में हुई । इस प्रकार शक् १९२० तक २१६५०९९ वर्ष पूर्व इसकी रचना हुई । यह रचना काल समीक्षकों एवं इतिहासकारों द्वारा समर्थित नहीं हो सका है । इसे प्रमाण न मानने में हेतु दिया गया है कि यदि सूर्यसिद्धान्त इतना प्राचीन होता तो महाभारत में वर्ष गणना को लेकर विवाद नहीं होता तथा वार गणना का भी स्पष्ट उल्लेख होता । परन्तु महाभारत में वार गणना का कहीं भी उल्लेख नहीं है, अत: सूर्यसिद्धान्त परवर्ती ही है । आर्यभट्ट ने भी अपने ग्रन्थों में सूर्यसिद्धान्त का उल्लेख नहीं किया है इससे अनुमान होता है कि आर्यभट्ट के ४७६ ई० के आसन्न ही सूर्यसिद्धान्त का काल रहा होगा । परन्तु कुछ विद्वानों का मत है कि सूर्यसिद्धान्त मूलरूप में पञ्चसिद्धान्तिका में ही है । कालान्तर में कुछ विद्वानों ने परिष्कार कर इसे वर्तमान सूर्यसिद्धान्त का रूप प्रदान किया है ।

पाश्चात्य विद्वानों ने भी सूर्यसिद्धान्त के काल निर्धारण में बहुत प्रयास किया किन्तु दुर्भाग्यवश उनके निष्कर्षों में भी एक रूपता नहीं आ सकी । वेंटली ने ग्रहों की वेध प्रक्रिया का भी उपयोग कर सूर्यसिद्धान्तीय सूर्य चन्द्रमा से तुलना करते हुये सूर्यसिद्धान्त का काल ११वीं शताब्दी का अन्तिम चरण स्थिर किया । इस निष्कर्ष पर टिप्पणी करते हुये वर्जेस ने कहा——"अन्य ग्रहों के सम्बन्ध में वेन्टली ने ग्रहों की शून्य अशुद्धि का जो काल साधित किया है वह १८६० ई० में मेरे द्वारा साधित काल से मिलते हैं । परन्तु इसकी समीक्षा करने से स्पष्ट हो जाता है कि वेंटली द्वारा साधित शून्य अशुद्धियों का काल ग्रहों के सापेक्ष्य न होकर सूर्य-चन्द्रमा के ही सापेक्ष्य है । मेरी गणना के अनुसार भी सन् २५० में सूर्य की शून्य अशुद्धि रही ।

बर्जेस ने ये भी कहा कि सूर्य के स्थान निर्णय में यदि १ अंश में भूल हुई तो शून्य अशुद्धि काल में ४२५ वर्ष का अन्तर आ जायेगा । यदि कृत्तिकादि छः तारों के ध्रुवांको में १ अंश की वृद्धि आ जाय तथा इतने अन्तर के लिए अधिकतम अवधि ७२ वर्ष मानी जाय तो यह स्थिति २४४ वर्ष पूर्व अर्थात् सन् ३८४ ई. इसका रचनाकाल आता है । स्थूल रूप से ४०० ई. तक कह सकते हैं । इस प्रकार पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार इसका रचना काल ४०० ई. से ११०० ई. के बीच माना जा सकता है ।

ग्रन्थकर्त्ता—सूर्यांश पुरुष से मय को सूर्यसिद्धान्त का ज्ञान प्राप्त हुआ । सूर्यसिद्धान्त के अनुसार समय-समय पर सूर्य से ऋषियों को ज्ञान प्राप्त होता रहा है । किन्तु वर्तमान सूर्यसिद्धान्त का उपदेश मय को हुआ था । 'मय' को कुछ लोगों ने विदेशी (मिश्र का निवासी) बतलाया है । बेबर ने तो यहाँ तक लिख दिया है कि मिश्र का राजा तालमयस को हिन्दुस्तान के लेखों में तुरुमय कहा गया है यही मय है । अलमजेस्ता का लेखक टालमी ही मय रहा होगा ऐसा भी अनुमान किया गया है । सूर्यसिद्धान्त के कुछ हस्तलेखों में यह श्लोक प्रक्षिप्त हैं—

तस्मात् त्वं स्वां पुरीं गच्छ तत्र ज्ञानं ददामि ते ।
रोमके नगरे ब्रह्मशापान् म्लेच्छावतारधृक् ।।

इत्युक्त्वान्तर्दधेदेवः—इसके आधार पर मय को रोम का निवासी कहा गया है। किन्तु भारतीय तत्कालीन आचार्यों के साक्ष्य से यही सिद्ध होता है कि मय भारतीय था । क्योंकि ब्रह्मगुप्त ने सूर्यसिद्धान्त को विदेशी सिद्धान्त नहीं माना है उन्होंने केवल रोमक सिद्धान्त को विदेशी माना है । पञ्चसिद्धान्तिका में वर्णित सिद्धान्तों की पृष्ठभूमि का उल्लेख करते हुये महामहोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदी ने लिखा है—गर्गादि ऋषियों से प्राप्त ज्ञान का पुलिश महर्षि ने जो व्याख्यान किया उसे पौलिशसिद्धान्त, ब्रह्मशाप के कारण सूर्य ने रोमक नगर के यवनों को जो ज्ञान दिया वह रोम सिद्धान्त, वसिष्ठ ऋषि ने अपने पुत्र पराशर को जो ज्ञान दिया उसे वसिष्ठ सिद्धान्त, ब्रह्मा ने अपने पुत्र वसिष्ठ को जो ज्ञान दिया वह पैतामह (ब्राह्म) सिद्धान्त तथा सूर्य ने मय को जो उपदेश दिया वह सूर्यसिद्धान्त नाम से विख्यात हुआ ।[१] इस आधार पर भी केवल रोमक सिद्धान्त ही विदेशी है तथा अन्य सभी सिद्धान्त भारतीय है । इससे स्पष्ट है कि मय भी भारतीय थे तथा मय द्वारा विरचित सूर्यसिद्धान्त ही मूल रूप में नहीं अपितु परिष्कृत रूप में आज उपलब्ध है ।

टीका—शके १५२५ में सूर्यसिद्धान्त पर प्रमुख गूढार्थ प्रकाशिका नामक टीका रङ्गनाथ द्वारा लिखी गई जिसका प्रकाशन काशी और कलकत्ता से हुआ था । दूसरी नृसिंह दैवज्ञ की शक् १५४२ में लिखी गई सौरभाष्य नामक टीका है ।

---

१. सू० सि० विज्ञान भाष्य पृ० ९

विश्वनाथ दैवज्ञ ने भी शक् १५५० में एक सोदाहरण टीका लिखी, इसके अतिरिक्त शक् १६४१ में दादाभाई द्वारा विरचित किरणावली नामक टीका है । इन सब में रंगनाथ द्वारा विरचित गूढ़ार्थ प्रकाशिका सर्वाधिक विस्तृत एवं सोपपत्तिक है ।

पं० वापूदेव शास्त्री ने सन् १८६० में सूर्यसिद्धान्त का अंग्रेजी अनुवाद किया था । विदेशी विद्वानों में रेवरेण्ड बर्जेस ने सूर्यसिद्धान्त का अंग्रेजी अनुवाद किया जिसका प्रकाशन अमेरिकन ओरियन्टल सोसाइटी १८६० ई० द्वारा हुआ था । प्रो० व्हिटने ने भी सूर्यसिद्धान्त पर विस्तृत टिप्पणी लिखी है । प्रो० व्हिटने ने लिखा है कि भारतीयों ने ज्यौतिष शास्त्र ग्रीक विद्वानों से सीखा है । जबकि वर्जेस का मत है कि ग्रीक वालों ने भारत से सीखा है । परवर्ती टीकाओं में म. म. पं. सुधाकर द्विवेदी की सुधावर्षिणी टीका है । नवीन टीकाओं में पं. कपिलेश्वर शास्त्री की सुस्पष्ट टीका है । जो काशी से सन् १९८३ में प्रकाशित हुई है ।

रंगनाथ—आचार्य रंगनाथ का जन्म शक् १५०० के आसन्न विदर्भ देश में पयोष्णी के तट पर दधिग्राम में हुआ था । इनके पिता का नाम बल्लाल तथा माता का नाम गोणि था । ये चार भाई थे जिनका नाम क्रमशः राम, कृष्ण, गोविन्द, रङ्गनाथ तथा महादेव था ।

रंगनाथ ने सूर्यसिद्धान्त पर गूढ़ार्थ प्रकाशिका नामक विस्तृत टीका लिखी है । साथ में उपपत्ति भी दे दिया है । उपपत्ति पाण्डित्य पूर्ण है जिससे इनके ज्यौतिष ज्ञान की प्रशंसा हुई है । गूढ़ार्थ प्रकाशिका टीका की रचना आचार्य ने काशी में ही की हैं । ये एक अच्छे अध्यापक के रूप में भी प्रतिष्ठित थे । गोल आदि यन्त्रों का निर्माण कर छात्रों का अध्यापन भी करते रहें । आचार्य भास्कर के सिद्धान्तों में इनको दक्षता प्राप्त थी ।

अपनी रचना का उल्लेख करते हुये रंगनाथ ने लिखा है—

शके तत्त्वतिथ्युन्मिते चैत्रमासे सिते शम्भुतिथ्यां बुधेऽर्कोदयान्मे ।
दलाढ्यद्विनाराचनाडीषु जातौ मुनीशार्कसिद्धान्त गूढप्रकाशौ ।।

अर्थात् शाके १५२५ चैत्र शुक्ल १४ बुधवार को सूर्योदय से ५२ घटी ३० पल पर मुनीश्वर नामक पुत्र और गूढ़ार्थ प्रकाशिका (टीका) दोनों हुये ।

चन्द्रिका (हिन्दी टीका)—कालक्रम के अनुसार हो रहे परिवर्तनों को दृष्टिगत रखते हुये सूर्यसिद्धान्त की हिन्दी टीका की आवश्यकता प्रतीत हुई । अतः इस कार्य को सम्पन्न करने का विचार आज से कुछ वर्ष पूर्व आया, किन्तु अनेक व्यवधानों के कारण यह कार्य तत्काल सम्पन्न नहीं हो सका । इस वर्ष सन् १९९८ में भगवान् भास्कर की अनुकम्पा हुई और यह कार्य सम्पन्न हो सका । केवल हिन्दी टीका से ग्रन्थ की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होती अथवा पाठक इस ग्रन्थ का पूर्ण उपयोग नहीं कर पाते । अतः साथ में यथा मति उपपत्ति भी देने का प्रयास

किया गया है सूर्यसिद्धान्त पाठ्यग्रन्थ भी है अतः इसकी उपपत्ति मैंने संस्कृत में दी है, ताकि छात्रों के पाठ्यक्रम में भी इसका समुचित उपयोग हो सके । ग्रन्थ के गौरव वृद्धि के लिए तथा एक प्रमाणिक संस्कृत टीका को प्रकाश में लाने के लिए आचार्य रंगनाथ कृत गूढ़ार्थप्रकाशिका का भी साथ में सम्पादन किया गया है । हिन्दी-संस्कृत दोनों टीकाओं से सुसज्जित यह ग्रन्थ छात्रों एवं विद्वानों दोनों के लिए ही अत्यन्त उपयोगी हो गया है । इन दोनों की संतुष्टि से ही ग्रन्थ प्रकाशन की सार्थकता सिद्ध होगी—

तुष्यन्तु सुजना बुद्ध्वा विशेषान् मदुदीरितान् ।
अबोधेन हसन्तो मां तोषमेष्यन्ति दुर्जनाः ।।

विषयानुक्रमणी

मध्यमाधिकारः—१ १-४८

मङ्गलाचरणम् १
मयासुरतपोवर्णनम् २
मयं प्रति सूर्योपदेशः ४
कालभेदः ७
चन्द्रसौरमासनिरूपणम् ८
सुरासुराणां दिनरात्रिव्यवस्था ९
महायुगप्रमाणम् १०
ससन्धिमनुप्रमाणम् १२
कल्पप्रमाणम् १३
ब्राह्मदिवसप्रमाणम् १३
ब्रह्मणः आयुषः प्रमाणम् १४
ग्रन्थारम्भकाले कल्पादितो गताब्दाः १४
सृष्टिकालप्रमाणम् १६
गहाणां गतिकारणम् १६
गतिभेदेन भगणकालः १८
भगणपरिभाषा १९
ग्रहाणां ग्रहोच्चादीनाञ्च युगे भगणप्रमाणम् १९
भभ्रमणं सावनदिनानि च २०
चान्द्रमासोधिमासश्च २१
सावनदिनस्य परिभाषा अवममानञ्च २२
महायुगे भूसावनादिनां संख्या २३
कल्पेऽधिमासादिनां मानानि २४
कल्पे निरग्रीया भगणाः २४
सृष्ट्यादितो गतवर्षानयनम् २६
अहर्गणसाधनम् २८
मासवर्षेशयोरानयनम् ३१
अहर्गणान्मध्यम ग्रहानयनम् ३३
बार्हस्पत्यवर्षानयनम् ३४
ग्रहानयने लाघवम् ३५
युगात् ग्रहानयने ग्रहाणां ध्रुवाः ३६
भूपरिधिमानम् ३७
स्पष्टभूपरिधि-देशान्तर-संस्कारश्च ३८
रेखादेशस्य नगराणि ४१
रेखादेशसापेक्षं पूर्वापरान्तरज्ञानम् ४१
वारप्रवृत्तिः ४४
इष्टकालिकग्रहसाधनम् ४५
चन्द्रादीनां परमाविक्षेपकलाः ४६

स्पष्टाधिकारः—२ ४९-१०५

शीघ्रोच्चादीनां प्रभावः ४९
गत्यन्तरे हेतुः ५०
ग्रहे धनर्णत्वम् ५१
पाताकर्षणम् ५१
बुधशुक्रयोः वैशिष्ट्यम् ५२
शीघ्रोच्च-मन्दोच्च-पातैरपकर्षणे हेतु ५३
ग्रहाणामष्टधा गतिः ५५
स्फुटीकरणप्रयोजनम् ५६
ज्यापिण्डानां साधनम् ५७
चतुर्विंशति ज्यापिण्डमानानि ६०
उत्क्रमज्यापिण्डसाधनम् ६१
साधितानि उत्क्रमज्यापिण्डानि ६२
इष्टक्रान्तिसाधनम् ६३
भुजकोटिज्ययोरानयनम् ६४

अभीष्टांशानां ज्यासाधनम्	६६
इष्टज्यातश्ज्याचापानयनम्	६७
ग्रहाणां मन्दपरिधिभागाः	६८
भौमादीनां शीघ्रपरिध्यंशाः	७०
इष्टपरिधिज्ञानम्	७१
मन्दफलसाधनम्	७२
शीघ्रकर्णानयनम्	७४
शीघ्रफलसाधनम्	७४
ग्रहाणां स्फुटीकरणार्थं संस्काराः	७७
शीघ्रमन्दकर्मणो धनर्णत्वम्	७८
भुजान्तरसंस्कारः	७९
ग्रहाणां मन्दस्पष्टगतिसाधनम्	८१
ग्रहाणां शीघ्रगतिफलानयनम्	८३
ग्रहाणां वक्रगतित्वे कारणम्	८७
ग्रहाणां वक्रारम्भे वक्रत्यागे केन्द्रांशाः	८७
मार्गारम्भ केन्द्रांशेषु हेतुः	८९
शरानयनम्	९०
क्रान्तिशरसंस्कारः	९२
ग्रहाणां स्फुटसावनदिनमानम्	९४
क्रान्तिज्या द्युज्याचराणां च साधनम्	९५
चर संस्कारः दिनरात्रिमानञ्च	९६
नक्षत्रादीनां मानानयनम्	९९
करणानि	१०२

त्रिप्रश्नाधिकारः—३ १०६-१५५

स्फुटदिग्ज्ञानम्	१०६
छायातः कर्णानयनम्	११२
अयनांशसाधनम्	११४
अयनचलनस्य दृक्प्रतीतिः	११७
पलभाज्ञानम्	११८
अक्षांशसाधनम्	११८
मध्याह्नछायया अक्षांशलम्बांश पलभामानज्ञानम्	१२०
मध्याह्नछायया रविज्ञानम्	१२२
मध्यनतांशात् छायाछायाकर्णयोरानयनम्	१२३
अग्रायाः कर्णवृत्ताग्रायांश्च साधनम्	१२५
समवृत्तस्थार्कस्य छायाद्यानयनम्	१२७
कर्णाग्रासाधनम्	१३०
अग्रावशात् कोणशङ्कुमाह	१३१
दृग्ज्या छायाकर्णयोरानयनम्	१३६
नतकालतश्छायानयनम्	१३७
छायातो नतकालज्ञानम्	१३८
कर्णगोलीयाग्रावशात् रविसाधनम्	१३८
छायाभ्रमणमार्गज्ञानम्	१४०
निरक्षे राश्युदयासुनां साधनम्	१४१
निरक्षोदयेभ्यः स्वदेशोदयसाधनम्	१४४
इष्टकाले लग्नानयनम्	१४७
सूर्यलग्नयोर्ज्ञानात् इष्टकालज्ञानम्	१५२

चन्द्रग्रहणाधिकारः—४ १५६-१७८

रविचन्द्रयोः विम्बप्रमाणम्	१५६
भूया विम्ब साधनम्	१६१
पर्वसम्भावना	१६७
रविचन्द्रयोः ग्रहणकालः	१६८
तात्कालिकरविचन्द्रयोः साधनम्	१६८
छाद्यछादकयोर्निर्णयः	१६९
ग्रासमानानयनम्	१६९
स्थितिविमर्दार्धयोरानयनम्	१७०
स्थितिविमर्दयोः स्थूलत्वनिराकरणम्	१७१
स्पर्शमोक्षयोः साधनम्	१७२
सम्मीलनोन्मीलनयोः साधनम्	१७३
इष्टग्रासानयनम्	१७३
इष्ट ग्रासानयने विशेषः	१७४
ग्रासादिष्टकालज्ञानम्	१७५
वलनसाधनम्	१७६
शरस्याङ्गुलात्मकीकरणम्	१७७

सूर्यग्रहणाधिकारः—५ १७९-१९७

लम्बननत्योरभावनिर्णयः	१७९
लम्बननत्योः सम्भावना	१८१
अग्रासाधनम्	१८१
नतांशज्यासाधनम्	१८२
दृक्षेपपदृग्गति-साधनम्	१८२
लम्बनानयनम्	१८४
नतिसाधनम्	१८८
स्पष्टनतिप्रयोजनम्	१९१
स्थितिविमर्दार्धयोः वैशिष्ट्यम्	१९२

छेद्यकाधिकारः—६ १९८-२११

छेद्यकप्रयोजनम्	१९८
वलनवृत्तम्	१९८
परिलेखप्रकारः	१९८
परिलेखे दिग्ज्ञानम्	१९९
वलनदानविधिः	२००
शरदान विधिः	२००
ग्राह्यवृत्ते स्पर्शमोक्षयोर्ज्ञानम्	२०१
शरदाने वैशिष्ट्यम्	२०२
ग्रहणपरिलेखः	२०४
परिलेखे दिग्व्यत्यासः	२०५
ग्रहणप्रमाणम्	२०५
ग्रहणे छादकमार्गज्ञानम्	२०६
इष्टग्रासार्थं परिलेखः	२०७
सम्मीलनोन्मीलनपरिलेखः	२०८
ग्रहणे चन्द्रस्य वर्णज्ञानम्	२१०
उपसंहारः	२१०

ग्रहयुत्यधिकारः—७ २१२-२३१

ग्रहयुतिभेदाः	२१२
युतेर्गतैष्यत्वम्	२१२
ग्रहयोस्तुल्यत्वं युतिकालञ्च	२१३
दृक्कर्मण उपकरणानि	२१५
दृक्कर्मसाधनम्	२१६
आयनदृक्कर्म साधनम्	२१८
दृक्कर्म प्रयोजनम्	२२१
ग्रहयुतिसाधने वैशिष्ट्यम्	२२२
ग्रहाणां कलाविम्ब-मानानि	२२३
युतिदर्शनप्रकारः	२२४
युतिकाले ग्रहयोर्दर्शनम्	२२५
युद्धसमागमादि लक्षणम्	२२७
पराजित-ग्रहलक्षणम्	२२८
जयी ग्रहस्य लक्षणम्	२२९
ग्रहयुद्धे वैशिष्ट्यम्	२२९
ग्रहयुद्धे वैशिष्ट्यम्	२२९
ग्रहयुद्धे शुक्रस्य वैशिष्ट्यम्	२३०
युतिसाधन-प्रयोजनम्	२३०

नक्षत्रग्रहयुत्यधिकारः—८ २३२-२४१

नक्षत्राणां ध्रुवानयनम्	२३२
नक्षत्राणां भोगकलाः विक्षेपाश्च	२३३
अगस्त्यादीनां ध्रुवा विक्षेपाश्च	२३६
रोहिणीशकट-भेदः	२३८
ग्रहनक्षत्रयोर्युति-साधनम्	२३८
नक्षत्राणां योगतारानिर्णयः	२३९
ब्रह्महृदयादीनां स्थानम्	२४०

उदयास्ताधिकारः—९ २४२-२५२

उदयास्तयोर्वैशिष्ट्यम्	२४२
उदयास्तयोर्दिग्ज्ञानम्	२४२
कालांशे इतिकर्त्तव्यताम्	२४४
कालांशानयनम्	२४५
उदयास्तयोरुपलब्धकालांशाः	२४६
कालांशानां प्रयोजनम्	२४७
ग्रहोदयास्तयोर्गतगम्यदिनादयः	२४८
नक्षत्राणां कालांशाः	२४९
प्रकारान्तरेणोदयास्तसाधनम्	२५०

नक्षत्राणामुदयास्तदिग्ज्ञानम् २५१
सदोदितनक्षत्राणि २५२

शृङ्गोन्नत्यधिकारः—१० २५३-२६६

चन्द्रस्य दृश्यादृश्यत्वम् २५३
सूर्यास्तानन्तरं चन्द्रास्तकालज्ञानम् २५४
सूर्यास्तादनन्तरं चन्द्रोदयज्ञानम् २५४
शृङ्गोन्नतिसाधने भुज-कोटि कर्णानामानयनम् २५५
शुक्लाङ्गुलसाधनम् २६१
शृङ्गोन्नतिपरिलेखः २६२
चन्द्रबिम्बेऽसितानयनम् २६४

पाताधिकारः—११ २६७-२८३

वैधृतिव्यतिपातयोर्लक्षणम् २६७
पातस्याशुभत्वम् २६८
व्यतिपात-वैधृतयोरन्वर्थता २६८
पातस्वरूपम् २६९
पातसाधनार्थमुपकरणम् २६९
पातस्य गतैष्यत्वसाधनम् २७०
पातस्य गतगम्यकालसाधनम् २७२
पातस्याद्यन्तकालयोः साधनम् २७६
पातस्थितिकालस्य फलम् २७८
पाते विशेषः २७९
योगान्तर्गतं पातज्ञानम् २८०
गण्डान्तलक्षणम् २८१
उपसंहारः २८२

भूगोलाध्यायः—१२ २८४-३२९

भूसम्बन्धिनः प्रश्नाः २८४
अहोरात्रव्यवस्थाप्रश्नः २८५
देवासुराणामहोरात्रव्यवस्था २८५
पैत्र्यमानुषदिनव्यवस्था २८६
दिनादीनामधीशसम्बन्धिप्रश्नः २८६
ग्रहाणां कक्षाविषयकप्रश्नः २८७
सूर्यावस्था-सम्बन्धि-प्रश्नः २८७
प्रश्नोपसंहारः २८८
सूर्यांशस्योत्तरक्रमः २८८
अध्यायमहात्म्यम् २८८
सृष्टिक्रमनिरूपणम् २८९
ब्रह्मणः कर्त्तव्यतानिरूपणम् २९२
पञ्चमहाभूतोत्पत्तिः २९३
राशिनां नक्षत्राणाञ्चोत्पत्तिः २९४
रचितपदार्थानामवस्थानम् २९५
ब्रह्माण्डाभ्यन्तरे सर्वेषामवस्थानम् २९६
भुवः स्थितिः २९८
पातालभूमयः २९८
मेरोः स्थितिः २९९
देवदानवयोः स्थितिः २९९
पृथिव्यां समुद्र-स्थितिः ३००
विषुवत् प्रदेशे स्थिताश्चतस्रो नगर्यः ३००
ध्रुवस्य स्थितिः ३०२
मेरौ रवेर्दर्शनम् ३०३
रविकिरणानां तीव्रत्वे मृदुत्वे हेतुः ३०४
देवासुराणामहोरात्रव्यवस्था ३०५
देवासुराणां दिनार्धं रात्र्यर्द्धञ्च ३०६
भूमेरुपरि ऊर्ध्वाधः स्थितिवर्णनम् ३०७
भूमौ मानवानां स्थितिवर्णनम् ३०७
भूमेः समत्वदर्शने कारणम् ३०८
भगोलभ्रमण-व्यवस्था ३०८
दिनमान-व्यवस्था ३०९
मध्याह्ने खमध्यगतरवेः स्थानम् ३११
षष्टिघट्यात्मक दिनमानस्थलानि ३११
षष्टिघट्यात्मक-दिनरात्रि-व्यवस्था ३१२
द्विमासात्मक-दिनारात्रि-व्यवस्था ३१३
मासचतुष्टयात्मकदिनरात्रिव्यवस्था ३१४

षण्मासात्मक-दिनरात्रि-व्यवस्था	३१४
सूर्यस्य स्थितिवशात् छायानिरूपणम्	३१५
निरक्षदेशीयनगरेषु सूर्योदयास्त—कालनिर्णयः	३१६
ध्रुवनक्षत्रचक्रयोरन्तरम्	३१७
भचक्रभ्रमणम्	३१८
देवासुरपितॄणां सूर्यदर्शनकालः	३१९
ग्रहगतौ न्यूनाधिकत्वे कारणम्	३२०
दिवसाब्दादीनां पतयः	३२१
भकक्षामानम्	३२३
ग्रहाणां दिनगतियोजनानि	३२४
योजनात्मकं गतेः कलाकरणम्	३२४
ग्रहकक्षाव्यासार्धानयनम्	३२६
ग्रहकक्षायोजनानि	३२६
रविकक्षायोजनानि	३२८

ज्यौतिषोपनिषदध्यायः—१३ ३३०-३४४

गोलरचनाप्रकारः	३३०
[illegible]गोलरचनाप्रकारः	३३१
अहोरात्रवृत्तस्य निर्माणम्	३३२
नाक्षत्राहोरात्रवृत्तम्	३३३
क्रान्तिवृत्तम्	३३४
ग्रहविमण्डलानि	३३५
उदयादिलग्नसंज्ञा	३३६
अन्त्याचरज्यादीनां स्थानम्	३३६
भूमगोलयोः भ्रमणविधानम्	३३७
विद्यालाभे सूर्यप्रसादः	३३९
स्वयंवहयन्त्राणां व्यवहारः	३३९
कालमापकयन्त्राणि	३४०
कपालाख्यं जलयन्त्रम्	३४२
नराख्यं शङ्कुयन्त्रम्	३४३
ग्रन्थमाहात्म्यम्	३४३

मानाध्यायः—१४ ३४५-३६०

नवविधकालमानानि	३४५
व्यावहारिकमानानि	३४६
सौरमानानां व्यवहारः	३४६
षडशीतिमुखसंक्रान्तिः	३४७
कन्याराशेरवशिष्टदिनमाहात्म्यम्	३४७
विषुवायनादिसंज्ञा	३४८
अयनऋतुमासादीनां साधनम्	३४९
सक्रान्तेः पुण्यकालः	३५०
चान्द्रमानं तिथिमानञ्च	३५१
चान्द्रमानस्योपयोगः, पितृमानम्	३५१
नाक्षत्रमानम्	३५२
गुरुवर्षाणां माससंज्ञा	३५०
सप्रयोजनं सावनमानम्, दिव्यमानम्	३५५
प्राजापत्यं ब्राह्ममानञ्च	३५५
मयं प्रति माहात्म्यकथनम्	३५६
उपसंहारः	३५८

— ✻ —

सम्पादकस्य परिचयः

काशीहिन्दूविश्वविद्यालयेऽस्मिन्
विद्वन्मान्यो ज्यौतिषाख्यो विभागः ।
तत्राध्यक्षो ज्यौतिषाचारपूतः—
श्रीबलदेवस्यौरसो रामचन्द्रः ।।
प्राच्यप्रतीच्योत्तरतः क्रमेण
भागीरथीनाद सुगोमतीभिः ।
ग्रामो वृत्तः धौरहराभिधानः
काश्यां हि यस्यामल जन्म भूमिः ।।
कृतोऽनुवादः निहितोपपत्तिः
सूर्योपरिष्टेषु च ज्यौतिषेषु ।
शास्त्रेषु सारात्मकमानभाजः
श्री सूर्य सिद्धान्त पराभिधस्य ।।

।। श्रीः ।।

सूर्यसिद्धान्तः

मध्यमाधिकारः - १

मङ्गलाचरणम्

अचिन्त्याव्यक्तरूपाय निर्गुणाय गुणात्मने ।
समस्तजगदाधार-मूर्तये ब्रह्मणे नमः ॥ १ ॥

गूढार्थप्रकाशिका

यत् स्मृत्याभीष्टकार्यस्य निर्विघ्नां सिद्धिमेष्यति ।
नरस्तं बुद्धिदं वन्दे वक्रतुण्डं शिवोद्भवम् ॥ १ ॥
पितरौ गोणिवल्लालौ जयतोऽम्बाशिवात्मकौ ।
याभ्यां पंचसुता जाता ज्योतिःसंसारहेतवः ॥ २ ॥
सार्वभौमजहाँगीरविश्वासास्पदभाषणम् ।
यस्य तं भ्रातरं कृष्णं बुधं वन्दे जगद्गुरुम् ॥ ३ ॥
नानाग्रन्थान् समालोच्य सूर्यसिद्धान्तटिप्पणम् ।
करोमि रङ्गनाथोऽहं नद्गूढार्थप्रकाशकम् ॥ ४ ॥

अथ ग्रहादिचरितजिज्ञासून् मुनींस्तत्प्रश्नकारकान् प्रति स्वविदितं यथार्थतत्वं सूर्यांशपुरुषमयासुरसंवादं वक्तुकामः कश्चिदृषिः प्रथममारम्भणीय तत्कथननिर्विघ्नसमाप्त्यर्थं कृतं ब्रह्मप्रणाममङ्गलं शिष्यशिक्षायै निबध्नाति ।

ब्रह्मणे बृहत्वादपरिच्छिन्नत्वाज्जगद्व्यापकाय ईश्वराय तस्मात् वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत इत्यादि श्रुतिप्रतिपाद्यायेत्यर्थः । नमः कायवाक् चेष्टोपलक्षितेन मानसेन्द्रियबुद्धिविशेषेण मत्तस्त्वमुत्कृष्टस्त्वत्तोऽहमपकृष्ट इत्यादिरूपेण नतोऽस्मीत्यर्थः । ननु व्यापकत्वेनाकाशस्यैव सिद्धिरत आह । समस्त जगदाधारमूर्तय इति । समस्तस्य स्थावरजङ्गमात्मकस्य जगत उत्पत्तिस्थितिविनाशवत आधारा आश्रयभूता ब्रह्मविष्णुशिवरूपा मूर्तयः स्वरूपाणि यस्य तस्मै ब्रह्मविष्णुशिवात्मकायेत्यर्थः । आकाशस्य तदात्मकत्वाभावान्न सिद्धिरिति भावः । नन्वेतादृशस्य स्वरूपध्यानं कर्तुं समुचितमित्यत आह । अचिन्त्याव्यक्तरूपायेति । अचिन्त्यश्चासावव्यक्तरूपस्तस्मै । अचिन्त्यो ध्यानाविषयः । अत्र हेतुरव्यक्तरूपः । न व्यक्तं प्रकटं रूपं स्वरूपं यस्य तथा च स्वरूपध्यानासम्भवान्नमस्कार एव समुचित इति भावः । नन्वव्यक्तरूपः कथमित्यत आह । निर्गुणायेति । निर्गता गुणाः सत्वरज-

स्तमोरूपा यस्मात् तस्मै गुणातीतायेत्यर्थः । तथा च गुणात्मकस्य व्यक्तरूपत्वेनायं तदभावादव्यक्तरूप इति भावः । नन्वेवमस्यारूपित्वमेव फलितं नाव्यक्तरूपित्वमित्यत आह । गुणात्मन इति । गुणा नित्यज्ञानसुखादय आत्मगुणा आत्मस्वरूपं यस्य तस्मै नित्यज्ञान सुखाय । सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेति श्रुतेरित्यर्थः। तथा चास्य रूपित्वमसिद्धमिति भावः । साक्षान्निर्गुणाय परम्परया गुणात्मने । कथमन्यथा जगत्कर्त्तृत्वं सम्भवति ।

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशः प्रकृतेर्वशात् ॥

इति भगवदुक्तेरित्यन्ये ॥ १ ॥

सिन्दूरारुणकारुणान्तरलसद् भक्तेषु मन्द्रध्वनत्
कण्ठानुश्रुतवामदक्षिणचलच्छुण्डारफूत्कारितम् ।
यातां ध्यानसमस्तकार्यकरणाभावप्रतीयोगि यद्
भालेन्दुप्रसरत्तमोऽपहननं चिन्ताम्यहं तन्महः ॥ १ ॥

नूनं किञ्चिच्छास्त्रतत्त्वं समापि
टीकाकृद्भिः शास्त्रमाटीकि-सद्भिः ।
हिन्दीटीकासंस्कृतेनोपपत्तिर्
नूत्नैवासां मुक्तपङ्कैन्दवीव ॥ २ ॥

भालं श्रित्वा रङ्गनाथानुनाथां
व्याख्यां गूढार्थप्रकाशाभिरामा ।
ग्रन्थं कुर्यात् सूर्यसिद्धान्तमेनं
शम्भुं लोकालोकभासिप्रकाशम् ॥ ३ ॥

अचिन्त्य, अनिर्वचनीय (कल्पना से परे) एवं अव्यक्त (निराकार) स्वरूप वाले, सत्व, रज, तम, गुणत्रय से रहित, (प्रकृति) स्वरूप (सगुण), समस्त सृष्टि के आधारभूत सृष्टि स्थिति विनाशरूप मूर्तित्रियात्मक उस परब्रह्म को नमस्कार है ॥ १ ॥

मयासुरतपो वर्णनम्

अल्पावशिष्टे तु कृते मयो नाम महासुरः ।
रहस्यं परमं पुण्यं जिज्ञासुर्ज्ञानमुत्तमम् ॥ २ ॥
वेदाङ्गमग्र्यमखिलं ज्योतिषां गतिकारणम् ।
आराधयन् विवस्वन्तं तपस्तेपे सुदुश्चरम् ॥ ३ ॥

अथ स्वोक्तस्य स्वकल्पिततत्वशङ्कावारणाय तत्संवादोपक्रमं विवक्षुः प्रथमं मयासुरेण तपस्तप्तमिति श्लोकाभ्यामाह । मयेति नाम यस्यासौ मयाख्यो महादैत्यः कश्चित् । तपोऽभिमतदेवताप्रीतिकरजपहोमध्यानादिना स्वशरीरादिक्लेशनियमरूपं तेपे कृतवान्। दैत्यानां तपश्चरणं पुराणेषु प्रतिपदं सुप्रसिद्धम् । ननु तत्र तेषां तपश्चरणस्य देवताविशेषमभिमतमुद्दिश्य प्रसिद्धेरनेन कं देवमुद्दिश्य तपस्तप्तमित्यत आह । आराधयन्निति । विवस्वन्तं सवितृमण्डलाधिष्ठातारं नारायणं

सेवयन् । ननु दैत्यारिः एनं स्वशत्रुं ज्ञात्वापि कथं स्वाभिमतसिद्ध्यर्थमारराध । न हि स्वशत्रुतः स्वहितसिद्धिरन्यथा शत्रुत्वव्याघात इत्यतस्तपोविशेषणमाह । सुदुश्चरमिति । सुतरां दुःखैरत्यन्तक्लेशैश्चरितुं कर्त्तुं शक्यमित्यर्थः । तथा च भक्तजनैकवत्सलतया तादृशतपश्चरणसुप्रसन्नो दैत्यानामप्यभिमतं पूरयतीति पुराणेषु शतशः प्रसिद्धम् । अतस्तत्प्रतीत्या राधयन्निति भावः । ननु पुराणेषु दैत्यानां तपश्चरणोक्तिप्रसंगे क्वचिदप्यस्यानुक्तेस्तत्तपश्चरणं कथं प्रमाणं ज्ञेयमित्यत आह। अल्पावशिष्ट इति । कृते कृताख्ये युगचरणे तुकारात् सन्ध्या सन्ध्यांशसहित इत्यर्थः, तेन सन्ध्यासन्ध्यांशसमेत केवलकृतरूपाभिमतकृतचरणे । न ग्रन्थान्तरोक्तकेवलकृत इति पर्यवसन्नम् । अल्पकालेन सन्ध्यांशान्तर्गतेन शेषिते । समाप्त्यासन्नाभिमतकृतयुगे मयासुरेण तपस्तप्तमित्यर्थः । तथा च साम्प्रतमेव म सुरेण तपस्तप्तमिति सर्वजनावगतप्रत्यक्ष प्रमाणसिद्धं नागमान्तरप्रामाणयमपेक्षत इति भावः । ननु मयासुरेण किमर्थं तपस्तप्तं न हि प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि प्रवर्त्तत इत्यतो मयासुरविशेषणमाह । जिज्ञासुरिति । ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानं शास्त्रं ज्ञातुमिच्छुः । तथा च शास्त्र ज्ञाननिमित्तं तेन तपस्तप्तमिति भावः । किं तच्छास्त्रमित्यतो ज्ञानविशेषणमाह । ज्योतिषामिति । प्रवहवायुस्थानां ग्रहनक्षत्राणां गतिकारणम् । ये गत्यर्थास्ते ज्ञानार्था इति गतेः संस्थानचलनमानादिज्ञानस्य कारणं प्रतिपादकं ज्योतिः शास्त्रं जिज्ञासुरिति फलितम् । ननु ज्योतिः शास्त्रज्ञानार्थमयमायासो न युक्तस्तस्य सर्वर्षिज्ञेयत्वेनादूरूहत्त्वादित्यत आह । अखिलमिति । समग्रं ज्योतिःशास्त्रमित्यर्थः । तथा चर्षीणां मानुषत्वेनैभ्यो मम ज्ञानमखिलं यथार्थं वा न भविष्यतीति दैत्यबुद्ध्यामत्वा निःशेषज्योतिःशास्त्रस्य दुरूहस्य विदिततत्वं भगवन्तमप्रतारकं सर्वज्ञं महागुरुं सेवयामासेति भावः । ननु तस्यासुरस्य ज्योतिः शास्त्रप्रवृत्तिर्न युक्ता फलाभावादित्यत आह । वेदाङ्गमिति । वेदस्याङ्गम् । तथा चाङ्गिनो यत् फलं तदेवाङ्गज्योतिः मोक्षरूपफलसद्भावादत्र प्रवृत्तिः युक्तेति भावः । अतएव पुण्यं पुण्यजनकं पुराणन्यायेत्यादिचतुर्दश विद्यान्तर्गतत्वात् । नन्विदं वेदाङ्गं कुत इत्यत आह । परममिति ।

कालोऽयं भगवान् विष्णुरनन्तः परमेश्वरः ।
तद्वेत्ता पूज्यते सम्यक् पूज्यः कोऽन्यस्ततो मतः ॥

इत्युक्तेः कालप्रतिपादकत्वेनोत्कृष्टमतो वेदाङ्गम् । एतेन पुराणादीनां निरास इति भावः । ननु व्याकरणादीनां षण्णां वेदाङ्गत्वादस्मिन्नेव प्रवृत्तिः कथमित्यत आह । अग्रमिति । षण्णां वेदाङ्गानां मध्ये श्रेष्ठम् । कुंत इत्यत आह । उत्तममिति । मुख्याङ्गं नेत्रमित्यर्थः । तथा च नेत्ररहितस्याकिञ्चित् करत्वादिदं ज्योतिःशास्त्रं वेदाङ्गेषु श्रेष्ठमिति भावः । ननु तथाप्येतस्य ज्ञानार्थमेतावानायासो न युक्त इत्यत आह । रहस्यमिति ।

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपायमाशेवधिष्ठेऽहमस्मि ।
असूयकायानृजवे यताय न मां ब्रूयादवीर्यवती तथा स्याम् ॥

इति श्रुत्युक्तेः गोप्यमित्यर्थः । तथा चास्य शास्त्रस्य अदेयत्वेन निश्चितत्वादनेन तत्प्राप्त्यर्थमेतावानपि आयासः कृत इति भावः ॥ २—३ ॥

सत्ययुग के स्वल्पकाल शेष रह जाने पर (सत्ययुग के अन्त में) मय नामक महान् असुर, ने समस्त वेदाङ्गों में श्रेष्ठ ज्योतिष्पिण्डों (ग्रहों) के गति के कारणभूत (प्रतिपादक) परम पवित्र एवं गूढ़ ज्यौतिष शास्त्र के उत्तम ज्ञान के प्रति जिज्ञासु होकर भगवान् सूर्य की आराधना करते हुये घोर तपस्या किया ॥ २—३ ॥

तोषितस्तपसा तेन प्रीतस्तस्मै वरार्थिने ।
ग्रहाणां चरितं प्रादान्मयाय सविता स्वयम् ॥ ४ ॥

ततस्तुष्टोऽर्को मयाय इदं दत्तवानित्याह । स्वयं स्वतः प्रीतः सुखरूपः । यद्वा शोभनोऽयं प्रत्यक्षः पीतः सन्तुष्टोऽपि सन् सविता सवितृमण्डलमध्यवर्ती । तेन सुदुश्चरेण तपसाराधनेन तोषितः अत्यन्तं सन्तुष्टः । तस्मै असुराय मयनाम्ने वरार्थिने, वरं स्वाभिमतं ज्योतिःशास्त्रमर्थयते ज्ञातुमिच्छते तस्मै ज्योतिःशास्त्र-जिज्ञासवे ग्रहाणां प्रवहवायुस्थग्रहताराणाम् चरितं ज्ञानं प्रादात् प्रकर्षेण साकल्येन यथार्थतत्वेन अदात् दत्तवान् ॥ ४ ॥

अनन्तर उसकी (मय की) तपस्या से सन्तुष्ट होकर ज्योतिष शास्त्र के ज्ञान रूपी वरदान की अभिलाषा रखने वाले मय दानव को अत्यन्त प्रसन्नता के साथ भगवान् सूर्य ने स्वयं ग्रहों के चरित्र (ज्योतिष शास्त्र के ज्ञान) को प्रदान किया ॥ ४ ॥

मयं प्रति सूर्योपदेशः
श्रीसूर्य उवाच

विदितस्ते मया भावस्तोषितस्तपसा ह्यहम् ।
दद्यां कालाश्रयं ज्ञानं ग्रहाणां चरितं महत् ॥ ५ ॥

नन्वयं सूर्यः स्वकार्यार्थं शरणागतमपि स्वशत्रुं प्रति कथमिदमुक्त-वानित्यतो मयं प्रति साक्षात् सूर्येणोक्तस्य वचनस्यानुवादार्थमुद्यतः प्रथमं तत्सङ्गतिप्रदर्शकमेतदाह । श्री सूर्यः उवाच इति । तेजः समूहैर्देदीप्यमानोऽर्को मयासुरं प्रत्यवददित्यर्थः । अन्यथा चतुर्थपञ्चमश्लोकयोः सङ्गत्यनुपपत्तेः । किमु-वाचेत्यतस्तद्वचनमनुवदति ।

हे मयासुर ! ते तव भावो मनोरथो ज्योतिःशास्त्रजिज्ञासा रूपः मया सूर्येण विदितस्त्वदकथितोऽपि स्वतो ज्ञातः । ततः किं न ह्येतावता मम तत्सिद्धिरत आह । अहमिति । ते इत्यस्यावृत्तेस्ते तुभ्यं ज्ञानं शास्त्रं कालाश्रयं कालप्रधानम् ग्रहाणां प्रवहवायुस्थानां महदपरिमेयं चरितम् माहात्म्यम् । ग्रहस्थितिचलनादिप्रतिपादकं ज्योतिः शास्त्रमिति फलितार्थः । अहं सूर्यमण्डलस्थः दद्यां दास्यामि । ननु मां दैत्यं प्रतीदं वाक्यं प्रतारकं भविष्यतीत्यतः स्वविशेषणमप्रतारणपूर्वकतत्कथने

हेतुभूतमाह । तोषित इति । हि यतस्तपसा त्वत्कृताराधनेन अत्यन्तं सन्तुष्टोऽतो दद्यामित्यर्थ: । तथा च त्वत्कर्मवश्येन मया भक्तजनवत्सलतया जातिवैरमुपेक्ष्य अनुकम्पितप्रह्लादवत् त्वमप्रतार्योऽनुकम्पित इति भाव: ॥ ५ ॥

श्री सूर्य ने कहा—मैंने तुम्हारे भाव (विचार) को समझ लिया है । तुम्हारी तपस्या से मैं सन्तुष्ट हूँ । अत: मैं काल के आश्रयभूत एवं ग्रहों के महान चरित्र (ग्रह, गति, युति आदि) से परिपूर्ण ज्योतिष शास्त्र के दिव्य ज्ञान को तुम्हें प्रदान करूँगा ॥ ५ ॥

न मे तेज: सह: कश्चिदाख्यातुं नास्ति मे क्षण: ।
मदंश: पुरुषोऽयं ते निश्शेषं कथयिष्यति ॥ ६ ॥

ननु सूर्यस्य सदा जाज्वल्यमानतया तत्सन्निधौ श्रवणकालपर्यन्तं मय: स्थातुं कथं शक्त: कथं वा अनवरतभ्रमस्य तस्य मयसंवादार्थं भ्रमणविच्छेद: सम्भवति । अतो दानासम्भवात् कथं दद्यामित्युक्तमित्यतस्तद्वचनान्तरमनुवदति । हे मय ! ते तुभ्यमयमग्रस्थ: पुरुषो नि:शेषं सम्पूर्णं ज्योति: शास्त्रं कथयिष्यति । नन्वयं तथ्यं न वदिष्यतीत्यत आह । मदंश इति । मम सूर्यस्यांश: सम्बन्धी मदुत्पन्न इत्यर्थ: । तथा च मदनुकम्पितं त्वां प्रति अयं तथ्यमेव वदिष्यतीति भाव: । एतेनाहं स्वांशद्वारादास्यामीत्यर्थो दद्यामिति पूर्वपद्योक्तस्य प्रकटीकृत: । ननु त्वयैव वक्तव्यमित्यत आह । नेति । कश्चिदपि जीवो मे सूर्यमण्डलस्थस्य तेज: सहस्तेजो धारको न । तथा च बहुकालं मत्समीपे स्थातुमशक्तस्त्वं कथं मत्त: श्रोष्यसीति भाव:। ननु स्वतप:सामर्थ्येनाहं त्वत्समीपे बहुकालं स्थातुं शक्तस्त्वत्त: श्रोष्यामीत्यत आह । आख्यातुमिति । मे सूर्यमण्डलस्थस्य प्रवहवायुना अनवरतं भ्रममाणस्य स्वशक्त्या कदापि अस्थिरस्य कथयितुं क्षण: कालो नास्ति । भ्रमणावसानासम्भवेनैकत्र स्थित्यसम्भवात् । तथा च स्थिरस्य तव बहुकालं मत्सङ्गासम्भवान्मत्त: श्रवणमसम्भावि । न हि त्वमपि मत् स्थानमधिष्ठातुं शक्तो येन मत्त: श्रवणं तव सम्भवति । ईश्वर नियोगाभावादिति भाव: ॥ ६ ॥

(मैं तुम्हें ज्योतिषशास्त्र का ज्ञान देना चाहता हूँ परन्तु) मेरे तेज को सहन करने की शक्ति किसी प्राणी में नहीं है तथा मेरे पास इतना समय भी नहीं है कि मैं ज्योतिष शास्त्र का व्याख्यान कर सकूँ । अत: मेरा यह अंशावतार पुरुष ही तुम्हें समग्र ज्योतिष शास्त्र का ज्ञान करायेगा ॥ ६ ॥

इत्युक्त्वाऽन्तर्दधे देव: समादिश्यांशमात्मन: ।
स पुमान् मयमाहेदं प्रणतं प्राञ्जलिस्थितम् ॥ ७ ॥

अथ सूर्यवचनानुवादमुपसंहरन् सूर्यांशपुरुषमयासुरसंवादोपक्रममाह । देव: सूर्यमण्डलस्थ: इति पूर्वोक्तमुक्त्वा कथयित्वा आत्मन: स्वस्यांशमग्रस्थमंशपुरुषं समादिश्य त्वं मयं प्रति सकलं ग्रहमाहात्म्यं कथय इति आज्ञाप्य विनाज्ञां स मयं

प्रति कथं कथयेत् । समुच्चयार्थश्चकारोऽनुसन्धेयः । अन्तर्दधे । अन्तर्द्धानं सूर्यांशपुरुषं मयनेत्रागोचरतां प्राप्तवान् । प्रकृतमाह । स इति । सूर्याज्ञप्तः सूर्यांशपुरुषो मया सुरं प्रति इदं वक्ष्यमाणमवदत् । ननु नापृष्टो वदेदित्युक्तेर्मय सुरापृष्टोऽयं कथं मयं प्रति अवदत् इत्यतो मय विशेषणद्वयमाह । प्रणतं प्राञ्जलिस्थितमिति । प्रकर्षेण भक्तिश्रद्धातिशयेन नतं नम्रं स्वनमस्कारकारकम् । प्रकृष्टो मानसचेष्टाद्योतको योऽञ्जलिः कराग्रयोः सम्पुटीकरणं तत्र चित्तैकाग्र्येण अवस्थितम् । एतेन अवनतशिरः करसम्पुटसंयोगः कायिकनमस्कार इति स्पष्टमुक्तम् । तथा च स्वामिन्नहं त्वां नतोऽस्मि मामनुगृहाण इदं कथय इत्युक्तिद्योतकनमस्कारोक्तेर्मयपृष्टोऽयं मयं प्रति अवददिति भावः ॥ ७ ॥

इस प्रकार कहकर तथा अंशावतार पुरुष को भली भाँति आदेश देकर भगवान् सूर्य अन्तर्ध्यान हो गये । अनन्तर उस अंशावतार पुरुष ने अत्यन्त विनम्र भाव से हाथ जोड़ कर खड़े हुये मय दानव से यह कहा ॥ ७ ॥

शृणुष्वैकमनाः पूर्वं यदुक्तं ज्ञानमुत्तमम् ।
युगे युगे महर्षीणां स्वयमेव विवस्वता ॥ ८ ॥

अथ प्रतिज्ञाततत्संवादानुवादे मयं प्रति ज्ञानं वक्तुकामः सूर्यांशपुरुषः सावधानतया मदुक्तं शृणु त्वम् इति आह । हे मय ! एकस्मिन्नेव मनो यस्य असौ । अन्य विषयेभ्यो मनः समाहृत्य मदुक्ते मनो ददानस्त्वं तज्ज्योतिःशास्त्रं शृणुष्व । श्रोत्रद्वारा आत्मनः संयोगेन प्रत्यक्षं कुरु इत्यर्थः । ननु त्वं स्वकल्पितं वदिष्यसि इत्यतस्तच्छब्दसम्बन्धमाह । पूर्वमित्यादि । यदुत्तमं नेत्ररूपं ज्ञानं शास्त्रं ज्योतिःशास्त्रमित्यर्थः । बहुकालान्तरेण पूर्वकाले कदेत्यत आह । युगे युगे इति। प्रतिमहायुगे महामुनीनां तान् प्रतीति तात्पर्यार्थः । सूर्येण स्वयमद्वारकेण साक्षादित्यर्थः । एवकारो यथा त्वां प्रति अहं द्वारं साक्षात् कथनासम्भवात् तथा तान् प्रति अहमन्यो वा द्वारमित्यस्य वारणार्थः, तेषां स्वतपः समाजवशीकृतेश्वराणां तत्प्रसादाधिगता प्रतिहतेच्छानां सूर्यमण्डलाधिष्ठानसम्भवात् । उक्तम् उपदिष्टम् । तथा च सूर्योक्तं त्वां प्रति कथ्यते न स्वकल्पितमिति भावः ॥ ८ ॥

पहले प्रत्येक युग में स्वयं भगवान सूर्य ने महर्षियों को जिस उत्तमज्ञान को बतलाया है उसे एकाग्रचित्त होकर सुनो ॥ ८ ॥

शास्त्रमाद्यं तदेवेदं यत्पूर्वं प्राह भास्करः ।
युगानां परिवर्तेन कालभेदोऽत्र केवलः ॥ ९ ॥

ननु प्रतियुगं सूर्योक्तस्यैक्याभावात् त्वया किं युगीयशास्त्रमुपदिश्यते। अन्यथैकदोक्त्या युगे युगे इत्यस्यानुपपत्तेरित्यत आह । इदं मया तुभ्यं वक्ष्यमाणं ज्योतिःशास्त्रं तत् सूर्योक्तम् । एवकारात् सूर्योक्ताभिन्नत्वेन त्वां प्रति अनुवादो न क्वचित् स्वकल्पनान्तरेणेत्यर्थः । आद्यं प्राक्काले सूर्येणोक्तम् । ननु आस-

न्युगीयसूर्योक्तस्यापि पूर्वकालोक्तस्याद्यत्वसम्भव इत्यतस्तत्पदापेक्षितमाद्यपद-विवरणरूपमाह । यदिति । शास्त्रं सूर्यः पूर्वं प्रथमं यस्मात् पूर्वमनुक्तमित्यर्थः। प्राह प्रकर्षेण विस्तरेण मुनीन् प्रति उक्तवान् । तथा च प्रथमातिरेके कारणाभावात् प्रथमस्य विस्तृतत्वाच्चानन्तरोक्तं पूर्वोक्ते गतार्थतया संक्षिप्तमुपेक्ष्य प्रथम-युगीय शास्त्रमुपदिश्यत इति भावः । ननु तर्हि अनन्तरयुगीयशास्त्राणां सूर्योक्तानां वैयर्थ्यप्रसङ्ग इत्यत आह । युगानामिति । महायुगानां परिवर्तेन पुनः पुनरावृत्या अत्र सूर्योक्तशास्त्रेषु केवलं स्वभिन्नाभावस्तन्मात्रामित्यर्थः । कालभेदः कालकृत-मन्तरम् । पूर्वशास्त्रकालादनन्तरशास्त्रकालो भिन्न इत्येषु शास्त्रेषु भेदो न शास्त्रोक्तरीतिभेद इत्यर्थः। तथा च कालवशेन ग्रहचारे किञ्चिद्वैलक्षण्यं भवतीति युगान्तरे तत्तदन्तरं ग्रहचारेषु प्रसाध्य तत्कालस्थितलोकव्यवहारार्थं शास्त्रान्तरमिव कृपालुरुक्तवानिति नानान्तरशास्त्राणां वैयर्थ्यम्। एवञ्च मया वर्तमानयुगीयसूर्योक्त-शास्त्रसिद्धग्रहचारमङ्गलीकृत्याद्यसूर्योक्तशास्त्रसिद्धं ग्रहचारं च प्रयोजनाभावादुपेक्ष्य तदुक्तमेव त्वां प्रति उपदिश्यत इति भावः । एवञ्च युगमध्येऽप्यवान्तरकाले ग्रहचारेषु अन्तरदर्शने तत्तत्काले तदन्तरं प्रसाध्य ग्रन्थांस्तत्कालवर्तमानाभियुक्ताः कुर्वन्ति । तदिदमन्तरं पूर्वग्रन्थे बीजमित्यामनन्ति । पूर्वग्रन्थानां लुप्तत्वात् सूर्यर्षि-संवादोऽपीदानीं न दृश्यत इति तदप्रसिद्धिः आगमप्रामाण्याच्च न आशङ्क्या ॥ ९ ॥

आदि (मूल) शास्त्र वही है जो पहले भगवान् भास्कर (सूर्य) ने बतलाया था । केवल युगों के परिवर्तन से इस शास्त्र में काल-भेद उत्पन्न हो गये हैं ॥ ९ ॥

कालभेदः

लोकानामन्तकृत् कालः कालोऽन्यः कलनात्मकः ।
स द्विधा स्थूलसूक्ष्मत्वान्मूर्तश्चामूर्त उच्यते ॥ १० ॥

अथ कालभेद इत्यनेनोपस्थितं कालं प्रथमं निरूपयिषुस्तावत् कालम् विभजते । कालो द्विधा तत्रैकः कालोऽखण्डदण्डायमानः शास्त्रान्तर प्रमाणसिद्धः । लोकानां जीवानामुपलक्षणादचेतनानामपि अन्तकृद्विनाशकः। यद्यपि कालस्तेषामुत्पत्ति-स्थितिकारकस्तथापि विनाशस्यानन्तत्वात् कालत्वप्रतिपादनाय चान्तकृदित्युक्तम्। अन्तकृदित्यनेनैवोत्पत्तिस्थितिकृदित्युक्तमन्यथा नाशासम्भवात् । अतएव ।

कालः सृजति भूतानि कालः संहरति प्रजाः ।

इत्याद्युक्तं ग्रथान्तरे । अन्यो द्वितीयः कालः खण्डकालः । कलनात्मको ज्ञानविषयस्वरूपः। ज्ञातुं शक्य इत्यर्थः स द्वितीयः कलनात्मकः कालोऽपि द्विधा। भेदद्वयात्मकः । तदाह। स्थूलसूक्ष्मत्वादिति । महत्वाणुत्वाभ्याम् । मूर्तः । इयत्ता-वच्छिन्नपरिमाणः । अमूर्तस्तद्भिन्नः कालतत्वविद्भिः कथ्यते । चकारो हेतुक्रमेण मूर्तामूर्तक्रमार्थकः । तेन महान् मूर्तः कालोऽणुरमूर्तः काल इत्यर्थः ॥ १० ॥

(काल दो प्रकार का होता है) एक काल प्राणियों (सृष्टि) का संहार करने वाला तथा दूसरा गणना करने वाला होता है । कलनात्मक काल (गणना करने

वाला) दो तरह का होता है । पहला स्थूल होने से मूर्त संज्ञक (व्यावहारिक) और दूसरा सूक्ष्म होने से अमूर्त संज्ञक (अव्यवहारिक) कहा जाता है ॥ १० ॥

प्राणादिः कथितो मूर्तस्त्रुट्याद्योऽमूर्तसंज्ञकः ।
षड्भिः प्राणैर्विनाडीस्यात्तत्षष्ट्या नाडिका स्मृता ॥ ११ ॥
नाडीषष्ट्या तु नाक्षत्रमहोरात्रं प्रकीर्तितम् ।
तत् त्रिंशता भवेन्मासः सावनोऽर्कोदयैस्तथा ॥ १२ ॥

अथोक्तं भेदद्वयं स्वरूपेण प्रदर्शयन् प्रथमभेदं प्रतिपिपादयिषुस्तदवान्तर-भेदेषु भेदद्वयमाह । प्राणः स्वस्थसुखासीनस्य श्वासोच्छ्वासान्तर्वर्ती कालो दश-गुर्वक्षरोच्चार्यमाण आदिर्यस्य एतादृशः प्राणानन्तर्गतो मूर्तः काल उक्तः । त्रुटि-राद्या यस्य एतादृशः काल एकप्राणान्तर्गतस्त्रुटितत्परादिकोऽमूर्तसंज्ञः । अथामूर्तस्य मूर्तादिभूतस्य व्यवहारायोग्यत्वेना प्रधान तयानन्तरोद्दिष्टस्य भेदप्रतिपादनमुपेक्ष्य मूर्तकालस्य व्यवहारयोग्यत्वेन प्रधानतया प्रथमोद्दिष्टभेदान् विवक्षुः प्रथमं पल-घट्यावाह । षड्भिरिति । षट्प्रमाणैरसुभिः पानीयपलं भवति पलानां षष्टया घटिकोक्ता कालतत्वज्ञैः ॥ ११ ॥

अथ दिनमासावाह । घटीनां षष्ट्याहोरात्रं नाक्षत्रमुक्तम् । तुकारादहोरात्रस्य नाक्षत्रत्वोक्तया उक्तघट्या अपि नाक्षत्रत्वमुक्तम् । एतत् षष्टिघटीभिर्भचक्रपरि-वर्तनात् । नाक्षत्रदिनानां त्रिंशत्संख्यया मासो नाक्षत्रः । मासानामनेकत्वेन सावन-मासस्वरूपमाह । सावन इति । तथा त्रिंशदहोरात्रैः सूर्योदयसम्बद्धैस्तदवधिकैः सूर्योदयादिसूर्योदयान्तकालरूपैकाहोरात्रमानमापितैरित्यर्थः । सावनोमासः ॥ १२ ॥

प्राण आदि मूर्त संज्ञक और त्रुटि आदि अमूर्त संज्ञक काल कहे गये हैं । ६ प्राण की एक विनाडी (पल), ६० विनाडी (पल) की १ नाडी, ६० नाडी (घटी) का एक नाक्षत्र अहोरात्र कहा गया है । ३० अहोरात्र का एक मास होता है । दो सूर्योदय के मध्य का काल सावन दिन होता है ॥ ११—१२ ॥

विमर्श—काल मान—

१० दीर्घाक्षर उच्चारण काल = १ प्राण = १० विपल
६ प्राण = (१० × ६) = ६० विपल = १ पल
६० पल = १ नाडी
६० नाडी = १ अहोरात्र (नाक्षत्र)
३० अहोरात्र = १ मास

चन्द्रसौरमासनिरूपणम्

ऐन्दवस्तिथिभिस्तद्वत् संक्रान्त्या सौर उच्यते ।
मासैर्द्वादशभिर्वर्षं दिव्यं तदह उच्यते ॥ १३ ॥

अथ चान्द्र सौरमासनिरूपणपूर्वकं वर्षं वदन् दिव्यदिनमाह—तद्वत् त्रिंशता तिथिभिश्चान्द्रो मासस्तत्र दर्शान्तावधिक: पूर्णिमान्तावधिकश्च शास्त्रे मुख्यतया प्रतिपादित: । अत्र शास्त्रे तु दर्शान्तावधिक एव मुख्य: । इष्टतिथ्यवधिकस्तु मासो गौण: । संक्रान्त्या संक्रान्त्यवधिकेन कालेन सौरो मासो मानज्ञै: कथ्यते । संक्रान्तिस्तु सूर्यमण्डलकेन्द्रस्य राश्यादि प्रदेशसञ्चरणकाल: । द्वादशभिर्मासैर्वर्षम् । यन्मानेन मासास्तन्मानेन वर्षं ज्ञेयम् । तद्वर्षं सौरमासस्यासन्नत्वात् सौरम् । अह: अहोरात्रं दिव्यम् । तद्वर्ष सौरमासस्यासन्नत्वात् सौरम् । अह: अहोरात्रं दिव्यम् । दिवि भवम् । सौरवर्षं देवानामहोरात्रमानं मानतत्वज्ञै: कथ्यत इत्यर्थ: ॥ १३ ॥

उसी प्रकार तीस तिथियों का एक चान्द्र मास, एक सङ्क्रान्ति से दूसरी संक्रान्ति पर्यन्त (जब तक सूर्य एक राशि पर रहता है ।) एक सौरमास कहा गया है । बारह मासों का एक वर्ष तथा एक वर्ष का १ दिव्य दिन होता है ॥ १३ ॥

विमर्श—जिस प्रकार तिथि एवं संक्रान्तियों से चान्द्रसौर मास बतलाये गये हैं उसी प्रकार ३० सावन दिनों का एक सावन मास, तथा १२ मासों का सावन वर्ष, १२ चान्द्र मासों का एक चान्द्र वर्ष तथा १२ सौर मासों से १ सौर वर्ष होता है । परन्तु समय के नियमन के लिए ज्योतिष शास्त्र में वर्ष गणना सौर वर्षों में, तथा मास गणना चान्द्र मासों एवं दिन गणना सावन दिनों में ही की गई है ॥ १३ ॥

सुरासुराणां दिन:रात्रिव्यवस्था

सुरासुराणामन्योन्यमहोरात्रं विपर्ययात् ।
तत्षष्टि: षड्गुणा दिव्यं वर्षमासुरमेव च ॥ १४ ॥

ननु देवानां यथाहोरात्रमुक्तं तथा दैत्यानामहोरात्रं कथं नोक्तमित्यतस्तदुत्तरं वदन् देवासुरयोर्वर्षमाह—देवदैत्यानां बहुत्वाद्बहुवचनम् । अन्योऽन्यम् परस्परं विपर्ययात् व्यत्यासात् । अहोरात्रम् । अयमर्थ: । देवानां यद्दिनं तदसुराणां रात्रि: । देवानां या रात्रिस्तदसुराणां दिनम् । दैत्यानां यद्दिनं तद्देवानां रात्रि: । दैत्यानां या रात्रिस्तद्देवानां दिनमिति । तथा च देवदैत्ययोर्दिनरात्र्योरेव व्यत्यासाद् भेदो न मानेनेति । तयोरहोरात्रस्यैक्याद् देवाहोरात्रमानकथनेनैव दैत्याहोरात्रमानमुक्तमिति भाव: । युगकथनार्थं दिव्यवर्षं परिभाषया सुगममपि विशेषद्योतनार्थं प्रकारान्तरेणाह—तत्षष्टिरिति । दिव्याहोरात्रषष्टि: । देवर्त्तुरूपा वर्षर्त्तुभि: षड्भिर्गुणिता दिव्यमासुरं दैत्यसम्बन्धि । च: समुच्चये । तेन द्वयोरित्यर्थ: । वर्षम् । एवकारस्तयोर्दिनरात्र्योर्भेदेन वर्षभेद: स्यादिति मन्दशङ्कानिवारणार्थम् ॥ १४ ॥

देवताओं और असुरों का अहोरात्र (दिन एवं रात्रि) एक दूसरे से विपरीत

क्रम से होता है । (जब देवताओं का दिन तब दैत्यों की रात्रि तथा जब देवों की रात्रि तब दैत्यों का दिन होता है) छ से गुणित उन साठ अहोरात्रों के तुल्य देवों का तथा दैत्यों का एक वर्ष होता है । अर्थात् ६ × ६० = ३६० सौर वर्षो का एक दिव्य वर्ष होता है ॥१४॥

उपपत्तिः—मेषादि षड्राशिषु रविरुत्तरगोले भ्रमति। सौम्ययाम्यध्रुवयोः क्षितिज-वृत्तं नाडीवृत्तमेव भवति । मेषादि कन्यान्तानि अहोरात्रवृत्तानि नाडीवृत्तादुदग्गतानि भवन्ति । अतः सौम्यध्रुवस्थानवासिनां कृते मेषादौ सूर्योदयः कन्यान्ते च सूर्यास्तो भवति ॥१४॥

महायुगप्रमाणम्

तद्द्वादशसहस्राणि चतुर्युगमुदाहृतम् ।
सूर्याब्दसङ्ख्यया द्वित्रिसागरैरयुताहतैः ॥ १५ ॥
सन्ध्यासन्ध्यांशसहितं विज्ञेयं तच्चतुर्युगम् ।
कृतादीनां व्यवस्थेयं धर्मपादव्यवस्थया ॥ १६ ॥

अथ कल्पमानं विवक्षुः प्रथमं युगमानमन्यदपि श्लोकाभ्यामाह। तेषां दिव्य-वर्षाणां द्वादशसहस्राणि चतुर्युगम् । चतुर्णां युगानां कृतत्रेताद्वापर-कल्याख्यानां समाहारो योगस्तदात्मकं महायुगमित्यर्थः । एतद्द्योतनार्थं चतुरित्युक्तिरन्यथा युग-मित्युक्त्या तद्वैयर्थ्यापत्तेः । मानाभिज्ञैरुक्तम् । अथ सौरमानेन तत्संख्यां विशेषं चाह—सूर्याब्दसंख्ययेति । तद्देवासुरमानेनोक्तं चतुर्युगं द्वादशसहस्रवर्षात्मकं महायुगं सन्ध्या-सन्ध्यांशसहितम् । युगचरणस्याद्यन्तयोः क्रमेण प्रत्येकं सन्ध्या सन्ध्यांशाभ्यां युक्तं तदेव सन्ध्यासन्ध्यांशौ अन्तर्गतौ न पृथक् यत्र एतादृशम् सौरवर्षप्रमाणेन द्वित्रिसागरैः । अङ्कानां वामतो गतिरित्यनेन द्वात्रिंशदधिकैः चतुः शतमितैः । अयुतेन दशसहस्रेण गुणितैः । खचतुष्कद्वात्रिंश्चतुर्भिः परिमितं ज्ञेयम् इत्यर्थः । अथ चतुर्युगान्तर्गतयुगाङ्घ्रीणां विशेषतो मानाश्रवणात् समं स्याद-श्रुतत्वादिति न्यायेन प्रत्येकं महायुगचतुर्थांशो मानमिति चतुर्युगमित्यनेन फलितं निषेधति । कृतादीनामिति । कृतत्रेताद्वापरकलियुगानाम् । धर्मपादव्यवस्थया धर्म-चरणानां स्थित्या । इयं वक्ष्यमाणा व्यवस्था स्थितिर्ज्ञेया न तु समकालप्रमाणं स्थितिः अयमर्थः । कृतयुगे चतुश्चरणो धर्म इति तस्य मानमधिकम् । ततः त्रेतायां धर्मस्य त्रिपादवत्त्वात् तदनुरोधेन त्रेतामानं न्यूनम्, एवं द्वापर-कल्योर्धर्मस्य क्रमेण द्व्येकचरणवत्त्वात् । कृतत्रेतामानाभ्यां क्रमेणोक्तानुरोधान्न्यूनमानम् । न तु समं मानमिति ॥ १५—१६ ॥

देवताओं और असुरों के वर्ष प्रमाण से १२ हजार वर्षों (१२ सहस्र दिव्य वर्षों) का एक चतुर्युग (महायुग) कहा गया है । सौरमान से दश हजार गुणित ४३२ अर्थात् ४३२०००० वर्षों का एक महायुग होता है ॥ १५ ॥

कृतयुगादि प्रत्येक युगों के सन्ध्या संध्यांशो से युक्त चतुर्युग का मान कहा गया है । कृत-त्रेता-द्वापर-कलियुगों की पाद (१२०० दिव्य वर्ष) व्यवस्था धर्मपाद के अनुरूप ही है ।

{ अर्थात् कृत (सत्य) युग में चार, त्रेता में तीन, द्वापर मे २ तथा कलियुग में १ पाद धर्म होता है । इसी के अनुरूप कृतयुग ४ पाद (४×१२०० दिव्य वर्ष), त्रेता तीन पाद, तथा कलियुग १ पादतुल्य (दिव्यवर्ष) होता है।} ॥ १६ ॥

उपपत्तिः—३६० सावनदिवसानां = १ वर्षम् = १ दिव्यदिनम् ।

अतः ३६० वर्षाणामेकं दिव्यवर्षम् ।

१२००० दिव्यवर्षाणामेकं महायुगम् ।

अतः १२००० × ३६० = ४३२०००० सौरवर्षाणि ॥ १६ ॥ उपपन्नम् ।

युगस्य दशमो भागश्चतुस्त्रिद्व्येकसंगुणः ।
क्रमात् कृतयुगादीनां षष्ठांशः सन्ध्ययोः स्वकः ॥ १७ ॥

अथ सर्वधर्मचरणयोगेन दशमितेन महायुगं भवति तर्हि स्वस्वधर्मचरणैः किमित्यनुपातेन पूर्वोक्तफलितेन कृतादि युगानां मानज्ञानं सविशेषमाह—प्रागुक्त-दिव्यवर्षद्वादश सहस्रमितस्य युगस्य दशमो भागो दशांश इत्यर्थः । चतुर्द्धा क्रमेण चतुस्त्रिद्व्येकैर्गुणितः । गुणक्रमात् कृतयुगादीनां कृतत्रेताद्वापरकलियुगानां मानं स्यात् इति शेषः । ननु मनुग्रन्थे कृतादिमानं दिव्यवर्षप्रमाणेन ४०००, ३०००, २०००, १०००, अत्र तु तन्मानं तद्वर्षप्रमाणेन ४८००, ३६००, २४००, १२००, इति विरोध इत्यत आह—षष्ठ इति । स्वकः स्वसम्बन्धी षष्ठो विभागः सन्ध्ययोः आद्यन्तसन्ध्ययोः ऐक्यकाल इति शेषः । तथा च मदुक्तमानानि ४८००, ३६००, २४००, १२००, एषां षडंशाः ८००, ६००, ४००, २००, एते स्वस्वयुगानाम् आद्यन्तयोः सन्ध्योर्योगा इत्येषामर्धं सन्धिकालः। प्रत्येकमाद्यन्तयोः सन्धिकालः ४००, ३००, २००, १००, अनेन प्रत्येकं मदुक्त मानं न्यूनीकृतं ग्रन्थान्तरोक्तं केवलं मानं भवति न स्वसन्धिभ्यां सहितम् । यथा कृतादिसन्धिः ४००, कृतमानम् ४०००, कृतान्तसन्धिः ४००, त्रेतादिसन्धिः ३००, त्रेतामानं ३०००, त्रेतान्तसन्धिः ३००, द्वापरादिसन्धिः २००, द्वापरमानं २०००, द्वापरान्तसन्धिः २००, कल्यादिसन्धिः १००, कलिमानं १०००, कल्यन्त-सन्धिः १००, एवं च स्वसन्धिभ्यां सहितं मयोक्तं स्वसम्बन्धात् सन्ध्ययोरन्त-दन्तर्गतत्वाच्चेति न विरोध इति भावः ॥ १७ ॥

महायुग के मान (१२००० दिव्य वर्ष) के दशमांश को क्रम से ४, ३, २ और १ से गुणा करने पर क्रम से कृत, त्रेता, द्वापर और कलियुग का मान होता है । अपने अपने युगमान के षष्ठांश तुल्य दोनों सन्धियाँ होती है ॥ १७ ॥

यथा—चतुर्युग (महायुग) = १२००० दिव्यवर्ष

		सौरवर्ष
१२००० × $\frac{१}{१०}$ = १२०० दिव्यवर्ष महायुग का दशमांश		
१२०० × ४ = ४८०० दिव्यवर्ष, कृत (सत्य) युग		१७२८०००.
१२०० × ३ = ३६०० दिव्यवर्ष त्रेतायुग		१२९६०००
१२०० × २ = २४०० दिव्यवर्ष द्वापरयुग		८६४०००
१२०० × १ = १२०० दिव्य वर्ष कलियुग		४३२०००

सन्धि

कृत युग ४८०० × $\frac{१}{६}$ = ८०० दिव्य वर्ष सन्धि
(४०० प्रथम सन्धि + ४०० द्वितीय सन्धि)

त्रेता ३६०० × $\frac{१}{६}$ = ६०० दिव्य वर्ष सन्धि (३०० + ३००)

द्वापर २४०० × $\frac{१}{६}$ = ४०० दिव्य वर्ष सन्धि (२०० + २००)

कलि १२०० × $\frac{१}{६}$ = २०० दिव्य वर्ष सन्धि (१०० + १००)

सन्ध्या सन्ध्यांश से रहित युगों के मान—

दिव्य वर्ष	सौरवर्ष	
४८०० — ८०० = ४०००	कृतयुग	१४४००००
३६०० — ६०० = ३०००	त्रेतायुग	१०८००००
२४०० — ४०० = २०००	द्वापरयुग	७२००००
१२०० — २०० = १०००	कलियुग	३६००००

ससन्धिमनुप्रमाणम्

युगानां सप्ततिः सैका मन्वन्तरमिहोच्यते ।
कृताब्दसङ्ख्यस्तस्यान्ते सन्धिः प्रोक्तो जलप्लवः ॥ १८ ॥

अथ कल्पमानार्थं मनुमानं तत्सन्धिमानं च आह—युगानां सैकासप्ततिरेक-सप्ततिर्महायुगमित्यर्थः । इह मूर्तकाले मन्वन्तरं मन्वारम्भतत् समाप्तिकालयोः अन्तरकालमानम् इत्यर्थः मूर्तकालमानभेदाभिज्ञैः कथ्यते । तस्य मनोः अन्ते विरामे जाते सति कृताब्दसंख्या मदुक्तकृतयुगवर्षमितिः सन्धिः कालविद्भिः प्रकर्षेण द्वितीयमन्वारम्भपर्यन्तं भूतभाविमन्वोः अन्तिमादि सन्धिरूपैककालेन कथितः । तत्स्वरूपमाह—जलप्लव इति । जलपूर्णा सकला पृथ्वी तस्मिन् लोकसंहारकाले भवति ॥ १८ ॥

मूर्त (व्यावहारिक) काल प्रमाण में ७१ महायुगों (चतुर्युगों) का एक मन्वन्तर कहा गया है । एक मनु के अन्त में कृतयुग (४८०० दिव्य वर्ष) तुल्य मनु की सन्धि होती है । सन्धि काल जलप्लव कहलाता है । अर्थात् एक मनु के समाप्ति और द्वितीय मनु के आरम्भ के पूर्व ४८०० दिव्य वर्षो तक पृथ्वी पर जल-प्लावन रहता है ॥ १८ ॥

कल्पप्रमाणम्

ससन्धयस्ते मनव: कल्पे ज्ञेयाश्चतुर्दश ।
कृतप्रमाण: कल्पादौ सन्धि: पञ्चदश: स्मृत: ॥ १९ ॥

अथ कल्पप्रमाणं सविशेषमाह—ते एकसप्ततियुगरूपा मनव: स्वायम्भुवाद्या: ससन्धय: स्वस्वसन्धिसहिताश्चतुर्दश संख्याका: कल्पकाले ज्ञातव्या: । स्वसन्धियुक्त चतुर्दशमनुभि: कल्प: स्यादित्यर्थ: । ननु ग्रन्थान्तरे कल्पमानं युगससहस्रं त्वया तु युगमानम् एकसप्ततिगुणं मनुमानं ३०६७२००००, कृताब्द १७२८०००, युक्तं ससन्धिमनुमानं ३०८४४८०००, इदं चतुर्दशगुणं कल्पप्रमाणं कृतोनं युगसहस्रमित्यत आह—कृतप्रमाण इति । कल्पादौ प्रथममन्वारम्भे कृतयुगवर्षमितो मनोश्चतुर्दशत्वेऽपि आद्य: पञ्चदशक: सन्धि: कालज्ञैरुक्त: । तथा च कृतवर्षानन्तरं प्रथममन्वारम्भ इति तद्वर्षयोजनेन अविरोध इति भाव: ॥ १९ ॥

एक कल्प में सन्धि सहित पूर्वोक्त १४ मनु होते हैं । कल्प के आदि में कृत (सत्य) युग के तुल्य सन्धि होती है । इस प्रकार १ कल्प में सत्ययुग के समान १५ सन्धियाँ होती हैं ॥ १९ ॥

विशेष:—७१ महायुग = १ मनु,

१४ मनु + १५ सन्धि (कृतयुग) = १ कल्प: ।

१ महायुग = १२००० दिव्यवर्ष = ४३२०००० सौर वर्ष

१ मनु = ७१ महायुग = ७१ × १२००० = ८५२००० दिव्य वर्ष

= ३०६७२०००० सौर वर्ष

१ कल्प = १४ मनु + १५ सन्धि (कृतयुग)

= (१४ × ८५२०००) + (१५ × ४८००)

= (११९२८०००) + (७२०००) = १२०००००० दिव्यवर्ष

= ४३२०००००० सौरवर्ष ।

ब्राह्मदिवसप्रमाणम्

इत्थं युगसहस्रेण भूतसंहारकारक: ।
कल्पो ब्राह्ममह: प्रोक्तं शर्वरी तस्य तावती ॥ २० ॥

अथ ब्रह्मणो दिनरात्र्यो: प्रमाणमाह—इत्थं पूर्वोक्तप्रकार सिद्धेन युगसहस्रेण भूतसंहारकारको ब्राह्मलयात्मक: कल्पकालो ब्राह्मं ब्रह्मण: सम्बन्ध्यहो दिनं कालज्ञैरुक्तम् । तस्य ब्रह्मण: तावती दिनपरिमिता शर्वरी रात्रि:, कल्पद्वयं तदहोरात्रमिति फलितार्थ: ॥ २० ॥

इस प्रकार एक हजार महायुग का सृष्टि संहारकारक १ कल्प ब्रह्मा का एक दिन कहा गया है। इतनी ही (१ कल्प तुल्य) ब्रह्मा की रात्रि भी होती है ॥ २० ॥

विशेषः—ब्रह्मा का दिन १ कल्प के तुल्य और रात्रि भी १ कल्प के समान अर्थात् २ कल्प का एक अहोरात्र होता है । ब्रह्मा के दिन का अन्त सृष्टि का नाशक होता है । ब्रह्मा समस्त सृष्टि को समेट कर एक कल्प तक निद्रा में रहते हैं। इसीलिए कल्पान्त में प्रलय होता है ।

ब्रह्मणः आयुषः प्रमाणम्

परमायुः शतं तस्य तयाऽहोरात्रसङ्ख्यया ।
आयुषोऽर्धमितं तस्य शेषकल्पोऽयमादिमः ॥ २१ ॥

अथ ब्रह्मण आयुः प्रमाणमतीतवयः प्रमाणं च आह—परम परं शृणु पूर्वोक्तं त्वया श्रुतमपरं च वक्ष्यमाणं शृणु त्वम् । यद्वा परमेति दैत्यवरार्थकं सम्बोधनम् । त्वं तस्य ब्रह्मणस्तया पूर्वोक्तया अहोरात्रमित्या कल्पद्वयरूपया शतं शतवर्षपरिमितमायुः शरीरधारणकालं जानीहि । एतदुक्तं भवति । अहोरात्रमानात् पूर्वपरिभाषया मासमानं तस्मात् पूर्वोक्तपरिभाषया ब्रह्मणो वर्षमानमेतत् शतसंख्यया ब्रह्मायुरिति । न तु यथा श्रुतार्थेन कल्पशतद्वयमायुः कीटादीनामपि दिनसंख्यया आयुषोऽनुक्ते सुतरां ब्रह्मणः शतदिनात्मकायुषोऽसम्भवात् । "निजेनैव तु मानेन आयुर्वर्षशतं स्मृतम् ।"

इति विष्णुपुराणोक्तेश्च । एतेन परमायुरिति निरस्तम् । ब्रह्मणोऽनियतायुर्दायासम्भवात् । तस्य ब्रह्मण आयुः शतवर्षरूपमस्यार्द्धं पंचाशद्वर्षपरिमितमितं गतम् । अयं वर्त्तमान आदिमः प्रथमः शेषकल्पः शेषायुर्दायस्य ब्रह्मदिवस उत्तरार्द्धस्य प्रथमदिवसो वर्तमान इति फलितार्थः ॥ २१ ॥

पूर्वोक्त ब्रह्मा के अहोरात्र (२ कल्प) प्रमाण से सौ वर्ष (३६० × २ कल्प × १००) ब्रह्मा की परमायु होती है । ब्रह्मा की आयु का आधा भाग (५० वर्ष) बीत चुका है । शेष आयु (५१ वें वर्ष) का यह प्रथम कल्प (दिन) है ॥ २१ ॥

ग्रन्थारम्भकाले कल्पादितोगताब्दाः

कल्पादस्माच्च मनवः षड् व्यतीताः ससन्धयः ।
वैवस्वतस्य च मनोर्युगानां त्रिघनो गतः ॥ २२ ॥
अष्टाविंशाद्युगादस्माद्यातमेतम् कृतं युगम् ।
अतः कालं प्रसङ्ख्याय सङ्ख्यामेकत्र पिण्डयेत् ॥ २३ ॥

अथ वर्तमानेऽस्मिन् दिवसेऽप्येतद्गतमित्याह । अस्माद्वर्त्तमानात् कल्पाद् ब्रह्म-

दिवसात् षट्संख्याका मनव एकसप्तति युगरूपाः ससन्धयः सप्तभिः सन्धिभिः कृतयुगप्रमाणैः सहिता व्यतीता गताः । चकार आयुषोऽर्द्धमितमिति प्रागुक्तेन समुंच्चयार्थकः । वर्तमानस्य सप्तमस्य मनोर्वैवस्वताख्यस्य युगानां त्रिघनः त्रयाणां घनः स्थानत्रयस्थित तुल्यानां घातः सप्त विंशतिसंख्यात्मको गतः । सप्तविंशतियुगानि गतानि इत्यर्थः । चः समुच्चये ॥ २२ ॥

अथ वर्तमानयुगस्यापि गतमेतदिति वदन् अभिमतकालेऽग्रतो वर्षगणः कार्य इत्याह। अष्टाविंशतितमाद्वर्त्तमानात् महायुगात् एतत् अल्पकालेन पूर्वकाले साम्प्रतं स्थितं कृतं युगं गतम् । अतः कृतयुगान्तानन्तरमभिमतकाले कालं वर्षात्मकं प्रसंख्याय गणयित्वा संख्यां पंचस्थानस्थितां भिन्नाम् एकत्रैकस्थाने पिण्डयेत् सङ्कलनविषयां कुर्यात् । सर्वेषां गतानां योगं कुर्यादित्यर्थः ॥ २३ ॥

इस वर्तमान कल्प में सन्धियों सहित ६ मनु बीत चुके हैं । सप्तम वैवस्वत नामक मनु के भी २७ महायुग बीत चुके हैं । वर्तमान अठ्ठाइसवें महायुग में कृत (सत्य) युग बीत चुका है । अतः कालमानों को एकत्र कर उनका योग कर लेना चाहिये ॥ २२—२३ ॥

कालगणना—६ मनु + ७ सन्धि + २७ महायुग + कृतयुग
= कल्पादि से सत्ययुग पर्यन्त काल ।

यथा—१ मनु = ८५२००० दिव्य वर्ष (= ३०६७२०००० सौरवर्ष)

मनु	६ × ८५२०००	=	५११२०००
सन्धि	७ × ४८००	=	३३६००
महायुग	२७ × १२०००	=	३२४०००
कृतयुग	४८००	=	४८००
	योग	=	५४७४४०० दिव्य वर्ष

कल्पादि से सत्ययुग पर्यन्त दिव्यवर्ष ।

सौर वर्षों में—

६ मनु	= ३०६७२०००० × ६	=	१८४०३२००००
७ सन्धि	= १७२८००० × ७	=	१२०९६०००
२७ महायुग	= ४३२०००० × २७	=	११६६४००००
१ कृतयुग	= १७२८०००	=	१७२८०००
	योग	=	१९७०७८४००० सौरवर्ष

कल्पारम्भ से सत्य युगान्त वर्षगण ।

सृष्टिकालप्रमाणम्

ग्रहर्क्ष-देव-दैत्यादि सृजतोऽस्य चराचरम् ।
कृताद्रिवेदा दिव्याब्दाः शतघ्ना वेधसो गताः ॥ २४ ॥

अथ कल्पादितो ग्रहादिभचक्रनियोजनकालं, ग्रहगतिप्रारम्भरूपमाह । अस्य वर्तमानस्य ब्रह्मणो ग्रहनक्षत्रदेवदैत्यमानवराक्षसभूपर्वतवृक्षादिकं चराचरं जङ्गम-स्थावरात्मकं जगत् सृजतः सृजतीति सृजन् तस्य जगन्निर्मायिकस्य शतसंख्या-गुणिताः चतुः सप्तत्यधिक चतुः शतसंख्या दिव्याब्दा गताः एभिर्दिव्यवर्षैः ग्रह-सृष्ट्यादि प्रवहवायुनियोजनान्तं कर्म ब्रह्मणाकृतमिति फलितार्थः ॥ २४ ॥

ग्रह, नक्षत्र, देव, दैत्य आदि चर (जङ्गम जीव-जन्तु) अचर (स्थावर वृक्ष, पर्वतादि) की रचना करने में ब्रह्मा को कल्पारम्भ से शत गुणित ४७४ दिव्य वर्ष (४७४ × १०० = ४७४०० दिव्य वर्ष) बीत गये । अर्थात् कल्पारम्भ से ४७४०० दिव्य वर्ष के अनन्तर सृष्टि काल का आरम्भ हुआ है ॥ २४ ॥

ग्रहाणां गतिकारणम्

पश्चाद् व्रजन्तोऽतिजवान्नक्षत्रैः सततं ग्रहाः ।
जीयमानास्तु लम्बन्ते तुल्यमेव स्वमार्गगाः ॥ २५ ॥
प्राग्गतित्वमतस्तेषां भगणैः प्रत्यहं गतिः ।
परिणाहवशाद् भिन्ना तद्वशाद् भानि भुञ्जते ॥ २६ ॥

अथ ग्रहपूर्वगत्युत्पत्तौ कारणमाह—पश्चादनन्तरं पुनरावृत्या पश्चात् पश्चिम-दिगभिमुखं नक्षत्रैः तारकादिभिः सह ग्रहाः सूर्यादयोऽतिजवात् प्रवहवायुसत्वर-गतिवशात् सततं निरन्तरं व्रजन्तो गच्छन्तः स्वमार्गगाः स्वकक्षावृत्तस्था जीयमाना नक्षत्रैः पराजिता नक्षत्राणामग्रे गमनात्। अतएव लज्जयेव गुरुभूता इति तात्पर्यार्थः। तुल्यं समम् । एवकारादधिकन्यूनव्यवच्छेदः । लम्बन्ते स्वस्थानात् पूर्वस्मिन् लम्बाय-माना भवन्ति । यथा लज्जितः पश्चाद् भवति नाग्रे । तुकारात् अधोऽधः कक्षाक्रमानुरोधेन शन्यादिग्रहाणां चन्द्रान्तानां गुरुतापचयः शनिरतिगुरुभूतस्तस्मात् किञ्चिन्न्यूनो गुरुस्तस्मादपि भौम इत्यादि यथोत्तरम् । यस्य कक्षा महती तस्य गुरुत्वाधिक्यं यस्य लघ्वी तस्य तदनुरोधेन गुरुताल्पत्वमिति । एतदुक्तं भवति । ब्रह्मणा प्रवहवायौ नक्षत्राधिष्ठितो मूर्तो गोलः स्थापितः तदन्तर्गताः स्वस्वाकाश-गोलस्थाः शन्यादयो नक्षत्राधिष्ठितमूर्त गोलस्थक्रान्तिवृत्तस्थरेवतीयोगतारा सन्नरूप-मेषादिप्रदेशासमसूत्रस्थाः स्थापिताः । क्रान्तिवृत्तं तु मेषतुलास्थाने विषुववृत्तलग्न-सम्पातात् त्रिभान्तरितक्रान्ति वृत्तप्रदेशौ स्वासन्नविषुवद्वृत्तप्रदेशाभ्यां चतुर्विंशत्यं-शान्तरेण दक्षिणोत्तरौ मकरकर्कादिरूपौ तदेव द्वादशराश्यात्मकं वृत्तं ग्रहचारभूतम् । विषुवद्वृत्तं तु ध्रुवमध्यस्थं निरक्षदेशोपरिगतम् ।

तत्र प्रवहवायुना स्वाघातेन मूर्तो नक्षत्रगोलो नाक्षत्रषष्टिघटीभिः परिवर्त्यते । तदन्तर्गतवायुभिः तदाघातेन वा ग्रहा भ्रमन्त्यपि नक्षत्रगोलस्थितक्रान्तिवृत्तीय मेषादि प्रदेशेन समं न गच्छन्ति वायूनां स्वल्पत्वात् तदाघातस्यापि अल्पत्वाद्बिम्बानां गुरुत्वाच्च । अतस्तत् स्थानाद् ग्रहाणां लम्बनं दृश्यते । अतएव नक्षत्रोदयकाले तेषां द्वितीयदिने न उदयः, किन्तु ग्रहो लम्बितप्रदेशेन वायुना तदनन्तरमूर्ध्वमागच्छतीति, अनन्तरमुदयः। लम्बनं तु शन्यादीनां कक्षानुरोधेन गुरुत्वाद्वायूनां तद्घातानां वा कक्षानुरोधेन बह्वल्पत्वात् तुल्यम् । यद्यपि वायोर्ध्रुवानुरोधेन सत्वाद् ग्रहावलम्बनं विषुवद्वृत्ते भवितुम् उचितं न क्रान्तिवृत्ते । तथा च—वक्ष्यमाणक्रान्त्यनुपपत्तिः क्रान्तिवृत्तस्थद्वादशराशिभोगेन वक्ष्यमाणानां भगणानामनुपपत्तिश्च । तथापि वायुना अवलम्बितो ग्रहो विषुवन्मार्गगोऽपि तद्विषुवप्रदेशासन्नक्रान्तिवृत्त प्रदेशेन ग्रहाकाशगोल एव स्वसमसूत्रेण आकृष्यत इति न अनुपपत्तिः । अतएव स्वमार्गगा इति क्रान्तिवृत्तानुसृतस्वाकाशगोलस्थ कक्षामार्गगता इत्यर्थकमुक्तम् इति संक्षेपः ॥ २५ ॥

अथात एव ग्रहाणां लोके प्राग्गतित्वं सिद्धमित्यत आह—अतोऽवलम्बनादेव तेषां ग्रहाणां प्राग्गतित्वं प्राच्यां दिशि गतिर्येषां ते प्राग्गतयस्तद्भावः प्राग्गतित्वं सिद्धम् । लम्बनस्वरूपा एव ग्रहाणां पूर्वगतिरुत्पन्ना लोकैः कारणानभिज्ञैः प्रत्यक्षावगततया तच्छक्तिजनिता कल्पिता इत्यर्थः । सा कियतीत्यत आह—भगणैरिति । वक्ष्यमाणभगणैः प्रत्यहं प्रतिदिनं गतिः प्राग्गमनरूपा भगणानां गत्युत्पन्नत्वाद् भगणसम्बन्धिवक्ष्यमाणदिनैः सूर्यसावनैर्ग्रहभगणा लभ्यन्ते तदा एकेन दिनेन केत्यनुपातात् ज्ञेया । ननु ग्रहभगणानां तुल्यत्वाभावात् प्रतिदिनं ग्रहगतिर्भिन्नेति पूर्वं लम्बनरूपा ग्रहगतिः अयुक्तोक्ता ग्रह लम्बनस्य अभिन्नत्वादित्यत आह—परिणाहवशादिति । परिणाहः कक्षापरिधिस्तद्वशात् तदनुरोधादियं ग्रहगतिर्भिन्ना तुल्या । अयमभिप्रायः । ग्रहाणां लम्बनं तुल्यप्रदेशेन परन्तु स्वस्वकक्षायां तत्प्रदेशे तुल्ये याः कलाः ताः गतिकलाः तास्तु महति कक्षावृत्तेऽल्पा लघुकक्षावृत्ते बह्व्यः सर्वकक्षापरिधीनां चक्रकलाङ्कितत्वात् । भगणास्तु गतिवशादेव यस्य कक्षावृत्तं महत् तस्य अल्पा यस्य च लघु कक्षावृत्तं तस्य बहवस्तदुत्पन्ना गतिरपि तथेति न विरोधः । ननु एकरूपगतिं विहाय भिन्न रूपाः गतिः कथमङ्गीकृता इत्यत आह—तद्वशादिति । भिन्न गतिवशाद् भानि राशीन् नक्षत्राणि भुञ्जते ग्रहा भुञ्जन्ति इत्यर्थः । तथा च ग्रहराश्यादिभोगज्ञानार्थमियमेव गतिरूप युक्ता न एकरूपेति भावः ॥ २६ ॥

प्रवह नामक वायु से प्रेरित होकर ग्रह निरन्तर अत्यन्त वेग से पश्चिम दिशा में जाते हुये दिखलाई पड़ते है । परन्तु नक्षत्रों से पराभूत होते हुये अपनी-अपनी कक्षा में सभी ग्रह समान योजन पूर्व दिशा में चलते हैं (अर्थात् ग्रह अपनी-अपनी कक्षा में समान गति से पश्चिम से पूर्व दिशा में भ्रमण करते हैं) । अतः इन ग्रहों का पूर्वाभिमुख गमन ही प्रमाणित होता है । अपनी-अपनी कक्षा के अनुसार इनकी

दैनिक गति भिन्न-भिन्न होती है तथा उसी (दैनिक) गति के अनुसार ग्रह राशिचक्र का भोग करते हुये भगण पूर्ण करते हैं ॥ २५—२६ ॥

उपपत्ति:—स्व-स्व कक्षायां ग्रहा: योजनात्मकमानेन तुल्यमेव क्षेत्रमाक्रमन्ति । परन्तु कक्षावृत्तस्य ऊर्ध्वोर्ध्वक्रमेण महत्वात् ग्रहाणां भगणकाल: भिन्नं भिन्नं भवति । कक्षावृत्ते समानयोजनं गच्छन्नपि तेषां कोणीयमानमधिकाल्पमेव भवति यथा क्षेत्रे प्रदर्शितम्—

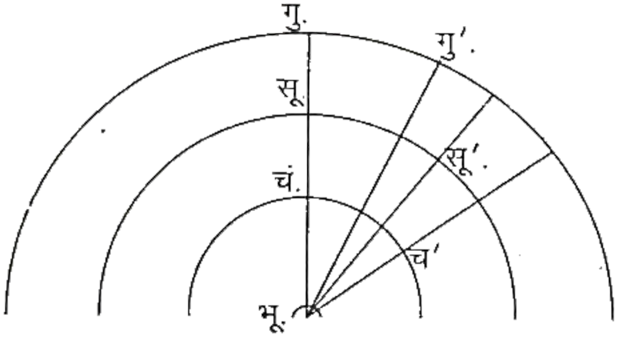

भू. = भूकेन्द्रम्, चं. = चन्द्रकक्षायां चन्द्र: ।
सू. = रविकक्षायां रवि:, गु. = स्वकक्षायां गुरु: ।

किञ्चित कालानन्तरं स्व स्व कक्षायां समानयोजनं क्रमेण चं, सूं, गुं स्थाने ग्रहा: अतिक्रान्ता: । परं कोणीयमानं चन्द्रस्य ∠ च भू च', > ∠ सू भू सू' > ∠ गु भु गु' अर्थात् कोणीयान गति: उर्ध्वोर्ध्व क्रमेण न्यूना ॥ २५-२६ ॥ उपपन्नम् ।

गतिभेदेन भगणकाल:

शीघ्रगास्तान्यथाऽल्पेन कालेन महताऽल्पग: ।
तेषां तु परिवर्तेन पौष्णान्ते भगण: स्मृत: ॥ २७ ॥

अथ भभोगे विशेषं वदन् वक्ष्यमाणभगणस्वरूपम् आह—अथशब्द: पूर्वोक्ते विशेषसूचक: शीघ्रगतिग्रह: तानि भानि अल्पेन कालेन भुनक्त्यल्पगति-ग्रहो बहुकालेन भुनक्ति तुल्यराश्यादिभोगो मन्दशीघ्रगतिग्रहयो: तुल्यकालेन न भवति इति विशेषार्थ: । तेषां राशीनां परिवर्तेन भ्रमणेन । तुकाराद् ग्रहादि गति-भोगजनितेन भगण: प्राज्ञैरुक्त:। क्रान्तिवृत्ते द्वादशराशीनां सत्वात् तद्भोगेन न्क्र-भोगसमाप्तेर्यत् स्थानमारभ्य चलितो ग्रह: पुनस्तत् स्थानमायाति स चक्रभोग: परिवर्तनसंज्ञोऽपि द्वादशराशि भोगाद् भगण इत्यर्थ: । ननु क्रान्तिवृत्ते सर्वप्रदेशेभ्य: परिवर्तनसम्भवात् अत्र क: परिवर्तनादिभूत: प्रदेश इत्यत आह—पौष्णान्त इति । सृष्ट्यादौ ब्रह्मणा क्रान्तिवृत्ते रेवतीयोगतारासन्नप्रदेशे सर्वग्रहाणां निवेशितत्वात् तदवधितो ग्रहचलनाच्च । पौष्णस्य रेवतीयोगताराया अन्ते निकटे प्रदेशे तथा च रेवतीयोगतारासन्नाग्रिमस्थानमेव आद्यन्तावधिभूतम् इति भाव: ॥ २७ ॥

शीघ्र गति वाले ग्रह अल्प काल में तथा मन्द गति वाले ग्रह अधिक काल में उन २७ नक्षत्रों का भोग करते हैं । इस प्रकार (नक्षत्रों में) भ्रमण करते हुये रेवती नक्षत्र के अन्त में ग्रहों का भगण पूर्ण होता है ॥ २७ ॥

भगण परिभाषा

विकलानां कला षष्ट्या तत्षष्ट्या भाग उच्यते ।
तत्त्रिंशता भवेद्राशिर्भगणो द्वादशैव ते ॥ २८ ॥

ननु परिवर्त्तस्य भगणसंज्ञा तु अयुक्ता त्र्यादिराशीनामपि भगणत्वादित्यतः परिभाषाकथनच्छलेन भगणस्वरूपमाह—यथा मूर्त्तकाले प्राणकाल आदिभूतस्तथा क्षेत्रपरिभाषायां विकलाः सूक्ष्मादिभूतास्तासां षष्ट्यैका कला कलानां षष्ट्या भोगोंऽशः क्षेत्रपरिभाषाभिज्ञैः कथ्यते । भागत्रिंशता राशिः स्यात् । ते राशयः सकला द्वादश । एवकारस्त्रिचतुरादीनां निरासार्थम् । तथा च साकल्ये गणपद प्रयोगाद् भगणस्य भोगेऽपि भगणव्यवहाराच्च पूर्वोक्तं युक्तमिति भावः ॥ २८ ॥

६० विकला की एक कला, ६० कला का १ अंश, ३० अंश की १ राशि तथा १२ राशियों का एक भगण होता है ॥ २८ ॥

ग्रहणां ग्रहोच्चादिनां युगे भगणप्रमाणम्

युगे सूर्यज्ञशुक्राणां खचतुष्करदार्णवाः ।
कुजार्किगुरुशीघ्राणां भगणाः पूर्वयायिनाम् ॥ २९ ॥

अथ भगणान् विवक्षुः प्रथमं सूर्यबुधशुक्राणां भौमगुरुशनिशीघ्रोच्चाना च भगणानाह । महायुगे सूर्यबुधशुक्राणां खानां चतुष्कमेकस्थानादिसहस्रस्थानान्तचतुःस्थानस्थितानि शून्यानि ततोऽयुतादि प्रयुतस्थानपर्यन्तं दन्तसमुद्रास्तथा च युगसौर वर्षाणि खाभ्रखाभ्रद्विरामवेदमितानि भगणा द्वादश राशिभोगात्मक परिवर्त्तानां संख्या भवन्तीति शेषः । भौम-शनि-बृहस्पतीनां यानि शीघ्राणि शीघ्रोच्चानि तेषामेतन्मिता भगणाः । चकारः समुच्चयार्थकोऽनुसन्धेयः । अत्र कक्षा क्रमेण चारक्रमेण वा गुरोः खलमध्यगता भवतीति न तथोद्देशः । स्वतन्त्रस्य नियोगानर्हत्वाद्वा । ननु आकाश एषां विम्बाभावादवलम्बनासम्भवेन गत्यभावात् कथं भगणा उक्ता इत्यत आह । पूर्वयायिनामिति पूर्वगामिनाम् । तथा च तेषाम् अदृश्यरूपाणां पूर्वगतिसद्भावाद् भगणोक्तौ न क्षतिः । एषां स्वरूपादिनिर्णयस्तु स्पष्टाधिकारे प्रतिपादयिष्यते ॥ २९ ॥

पूर्वाभिमुख गमन करने वाले सूर्य-बुध और शुक्र की तथा मङ्गल-शनि और गुरु के शीघ्रोच्चों की भगण संख्या ४३२०००० होती है ॥ २९ ॥

युगे ग्रह भगणाः

इन्दो रसाग्नित्रित्रीषु सप्तभूधरमार्गणाः ।
दस्रत्र्यष्टरसाङ्काक्षिलोचनानि कुजस्य तु ॥ ३० ॥
बुधशीघ्रस्य शून्यर्तुखाद्रित्र्यङ्कनगेन्दवः ।

बृहस्पतेः खदस्राक्षि-वेदषड्वह्नयस्तथा ॥ ३१ ॥
सितशीघ्रस्य षट्सप्तत्रियमाश्विखभूधराः ।
शनेर्भुजङ्गषट्पञ्चरसवेदनिशाकराः ॥ ३२ ॥
चन्द्रोच्चस्याग्नि शून्याश्विवसुसर्पार्णवा युगे ।
वामं पातस्य वस्वग्नियमाश्विशिखिदस्रकाः ॥ ३३ ॥

अथ चन्द्रभौमयोर्भगणानाह—पूर्वश्लोकोक्तभगणा इत्यत्रग्रिमश्लोकेषु अपि अन्वेति । भूधराः सप्त न तु पर्वतस्य धराभिधानत्वात् एकसप्ततिः । मार्गणाः शरास्तथा च चन्द्रस्य भगणाः षडग्निदेवपञ्चसप्तसप्तपञ्चमिताः । भौमस्य तुकारात् आकाशस्थ विम्बात्मकस्य इति पुनरुक्तिभ्रमवारणार्थं दन्ताष्टषडङ्काकृतिमिताः ॥ ३० ॥

अथ बुधशीघ्रोच्च गुर्वोर्भगणानाह—बुधशीघ्रोच्चस्य अदृश्य रूपस्य पूर्वगतेर्भगणाः षष्टिसप्ततित्र्यङ्कात्यष्टिमिता । बृहस्पतेस्तथा विम्बात्मकस्य इति पुनरुक्तिभ्रमवारणाय नखद्विवेदषड्रामिताः ॥ ३१ ॥

अथ शुक्रशीघ्रोच्चशन्योर्भगणानाह—शुक्रशीघ्रोच्चस्य अदृश्य रूपस्य पूर्वगतेर्भगणाः षट्सप्तत्रिद्विद्विखसप्त । एतेन भूधरा इत्यस्य एकसप्ततिरेकादश वार्थो निरस्तः । शनेर्विम्बात्मकस्य अष्टषट्पञ्चरसेन्द्रमिताः ॥ ३२ ॥

अथ चन्द्रस्योच्चपातयोर्भगणानाह—चन्द्रमन्दोच्चस्य पूर्वगतेरदृश्यरूपस्य भगणा महायुगे रामनखाष्टाष्टवेदमिताः । पातस्य चन्द्रशब्दस्य सन्निहितत्वात् चन्द्रपातस्य अदृश्यरूपस्य वामं पश्चिमगत्या द्वादशराशिभोगात्मकपरिवर्त्तरूपभगणा महायुग अष्टरामाकृतिरामद्विमिताः । अत्र युगग्रहणं वक्ष्यमाणग्रहोच्च पातभगणसम्बन्धि कल्पकालवारणार्थम् । ग्रहोच्चपातभगणास्तु युगे युगे नोत्पन्ना इति अस्मिन् युगसम्बन्धिप्रसङ्गेनोक्ताः। मन्दोच्चपातस्वरूपादिनिर्णयस्तु स्पष्टाधिकारे व्यक्तो भविष्यति ॥ ३३ ॥

एक महायुग में चन्द्रमा की भगणसंख्या ५७७५३३३६, मंगल की २२९६८३२, बुध शीघ्रोच्च की १७९३७०६०, गुरु की ३६४२२०, शुक्र शीघ्रोच्च की ७०२२३७६, शनि की १४६५६८, चन्द्रोच्च की ४८८२०३, तथा पात (राहु, केतु) की विपरीत गति से (पश्चिमाभिमुख) भगणों की संख्या २३२२३८ होती है ॥ ३०—३३ ॥

भभ्रमानि ग्रहसावनदिनानि च

भानामष्टाक्षिवस्वद्रित्रिद्विद्व्यष्टशरेन्दवः ।
भोदया भगणैः स्वैः स्वैरूनाः स्वस्वोदया युगे ॥ ३४ ॥

अथ युगे नाक्षत्रदिवसांस्तत्स्वरूपावगमाय ग्रहसावनदिनस्वरूपं स्वसंख्या ज्ञानहेतुकञ्च आह—भानां नक्षत्राणां स्वतो गत्यभावेऽपि प्रवहवायुना परिभ्रमणात्

तत्संख्यातुल्या भगणाः स्वदिनतुल्याः। अतएव अत्र वाममिति पूर्वोक्तस्य युक्तोऽन्वंयः। अष्टद्व्यष्टनगाग्निजातिगजदिनमिताः। ननु ग्रहाणामपि प्रवहवायुना परिभ्रमणेन उदयसद्भावात् तेषां दिवसाः कथं ज्ञेया इत्यत आह—भोदया इति । उदयो यस्मिन् अहनि स्वाद्यान्तावधिरूप इति व्युत्पत्त्योदयशब्देन दिनम् । तथा च भोदया नाक्षत्रदिवसा एत उक्ताः स्वैः स्वैः स्वकीयैः भगणैः प्रागुक्तैः वर्जिताः सन्तः स्वस्वोदया निजनिजसावनदिवसा युगे भवन्ति । युग इत्यनेन अभीष्टकाले नाक्षत्रदिवसा ग्रहगत भोगादिना भगणादिनोना ग्रहसावन दिवसा अभीष्टा भवन्ति । परन्तु राशीन् पञ्चगुणितानंशादिकं दशगुणितं कृत्वा घट्यादिस्थाने हीनं कार्यमन्यथा विजातीयत्वादन्तरानुपपत्तेरिति सूचितम् । अत्रोपपत्तिः । यदि ग्रहाणां प्राग्गमनावलम्बनं न स्यात् तर्हि ग्रहोदयनक्षत्रोदययोः एकहेतुत्वात् नाक्षत्र सावनदिवसयोः अभेदः स्यात् । अतो ग्रहाणां लम्बनेन नाक्षत्र दिवसेभ्यः सावनदिवसानामन्तरितत्वात् अवलम्बनजभगणान्तरेण युगे नाक्षत्रदिवसेभ्यो ग्रहसावनदिवसा न्यूना भवन्ति । प्रवहेण भगणतुल्यपश्चिमग्रहतुल्यानामकरणादित्युपपन्नं भोदया इत्यादि। अनेन एव भगणसावनयोगो नाक्षत्रदिवसा इत्यपि अर्थसिद्धम् ॥ ३४ ॥

एक महायुग में प्रवहवायु वश नक्षत्रों की भगण संख्या १५८२२३७८२८ होती है । नाक्षत्र उदय काल (नक्षत्र भगण) में से ग्रहों के अपने-अपने भगण घटाने पर शेष तत्तद ग्रहों के सावन दिन होते हैं ॥ ३४ ॥

स्पष्ट ज्ञान के लिए एक महायुग में ग्रहों की सावन दिन संख्या इस प्रकार है (सावन दिन का अभिप्राय ग्रहों के एक बार उदय होकर पुनः उदय होने तक के काल से है)

नक्षत्र भगण	ग्रहभगण	ग्रह सावन दिन संख्या	
१५८२२३७८२८ — ४३२००००	सू० भगण	= १५७७९१७८२८	सूर्य सावन
१५८२२३७८२८ — ५७७५३३३६	च० भगण	= १५२४८८४४९२	चन्द्र सा.
१५८२२३७८२८ — २२९६८३२	भौ० भगण	= १५७९९४०९९६	भौ. सा.
१५८२२३७८२८ — ४३२००००	बु० भगण	= १५७७९१७८२८	बु. सा.
१५८२२३७८२८ — ३६४२२०	गु० भगण	= १५८१९७३६०८	गु. सा.
१५८२२३७८२८ — ४३२००००	शु० भगण	= १५७७९१७८२८	शु. सा.
१५८२२३७८२८ — १४६५६८	श० भगण	= १५८२०९१२६०	श. सा.
१५८२२३७८२८ + २३२२३८	राहु भगण	= १५८२४७००६६	राः सा.

चान्द्रमासोऽधिमासश्च

भवन्ति शशिनो मासाः सूर्येन्दुभगणान्तरम् ।
रविमासोनितास्ते तु शेषाः स्युरधिमासकाः ॥ ३५ ॥

अथ वक्ष्यमाणचान्द्रदिवसाधिमासयोः संख्याज्ञानहेतुकं स्वरूपमाह—सूर्यचन्द्र-

भगणयोरन्तरं चन्द्रस्य मासा भवन्ति ते चान्द्रमासा रविमासोनिताः । अत्र प्रथमं तुकारान्वयाद् द्वादशगुणितरविभगणरूपवक्ष्यमाणार्कमासैरूनिताः सन्तः शेषा अवशिष्टा ये चान्द्रमासास्तेऽधिमासा एव भवन्ति न अन्ये । अनेन चान्द्रत्वमधिमासानां स्पष्टीकृतम् । अत्रोपपत्तिः त्रिंशत्तिथ्यात्मकस्य रवीन्दुयुतिकालरूपदर्शान्तावधेः चान्द्रमासस्य द्वादशराशिमितेन सूर्येन्द्वन्तरेण एव सिद्धिः । कथमन्यथा दर्शान्ते जातस्य मन्दशीघ्रयोः सूर्येन्द्वोर्योगस्य पुनर्दर्शान्ते सम्भवः । द्वादशराश्यन्तरं तु एकं भगणान्तरमतो भगणान्तरेण चान्द्रो मासः सिद्धः । सौरमासापेक्षया यदन्तरेण चान्द्रमासानामधिकत्वं त एव अधिमासा इति स्वरूपमेव वक्ष्यमाणोपयोगात् परिभाषितम् ॥ ३५ ॥

एक महायुग में सूर्य और चन्द्रमा के भगणों के अन्तर तुल्य चान्द्रमास होते हैं । युगचान्द्र मास से युग सौर मास घटाने से अधिमास होते हैं ॥ ३५ ॥

एक महायुग में चान्द्र भगण = ५७७५३३३६
सौर भगण = ४३२००००
दोनों का अन्तर = ५३४३३३३६ = चान्द्रमास
चान्द्रमास – सौरमास = अधिमास
{५३४३३३३६ – (४३२००००)१२} = (५३४३३३३६ – ५१८४००००)
= १५९३३३६ = अधिमास ।

उपपत्तिः—अमान्तादमान्तं यावत् कालश्चान्द्र मासो भवति । सूर्या चन्द्रमसो युत्यनन्तरं पुनर्यदा चन्द्रो द्रुतगत्या कदम्बाभिप्रायिकमेकसूत्रं याति तदैको चान्द्रमासः पूर्यते । एवं सूर्याचन्द्रमसोः द्वादशधा सङ्गमो भवति एकस्मिन् वर्षे । अतोऽनुपातः सूर्येन्द्वोः गत्यन्तरेणैकश्चान्द्रमासस्तदा युगभगणान्तरतुल्यगत्यन्तरेण किमिति—

$$\frac{(\text{चा. भ.} - \text{र. भ.}) \times १}{१} = \text{युगे चान्द्रमासाः}$$

अधिमासोपपत्तिः—'असङ्क्रान्तिमासोऽधिमासः ।' इत्यादिना अमान्तयोर्मध्ये सूर्य संक्रमणाभावाद् अधिमासः । मध्यममानेन सौरमासे ३० । २६ । १७ । ३७, सावयवा सावनदिवसाः भवन्ति । एवमेवैकस्मिन् चान्द्रमासे २९, २१, ५०, ६ सावयवा सावनदिवसाः भवन्ति । उभयोरन्तरेणावशिष्ट ४०, ५४, २७, ३१ दिवसाः ३२ मासानन्तरं एकेन चान्द्रमासेन समो भवति ॥ ३५ ॥

सावनदिनस्य परिभाषा अवममानं च

सावनाहानि चान्द्रेभ्यो द्युभ्यः प्रोज्झ्य तिथिक्षयाः ।
उदयादुदयं भानोर्भूमिसावनवासरः ॥ ३६ ॥

अथ वक्ष्यमाणावमसूर्यसावनयोः स्वरूपमाह । चान्द्रेभ्यो द्युभ्यो वक्ष्यमाण-

चान्द्रदिवसेभ्यः सकाशादित्यर्थः । सावनाहानि सावनदिनानि प्रोज्झ्य त्यक्तावशेषं तिथिक्षयाः । तिथिषु चान्द्रदिनेषु सावनदिनानामवशेषतुल्यः क्षयो न्यूनत्वम् । यद्वा तिथिशब्देन सावनो दिवसस्तस्य चान्द्रदिवसात् क्षय इति स्वरूपमेव वक्ष्यमाणोपयोगात् परिभाषितम् । ननु भोदया भगणैः इत्यादिना पूर्वं सर्वेषां सावनदिवसा उक्ता इत्यत्र कस्य ग्राह्या इत्यतः सूर्यसावन स्वरूपकथनच्छलेन उत्तरमाह— उदयादिति । सूर्यस्य उदयकालमारभ्य अव्यवहित तदुदयकालपर्यन्तं यः कालः स एको दिवसः । इति ये दिवसास्ते भूमिसावनवासराः । भूदिवसा उदयस्य भूसम्बन्धेन अवगमात् । सावनदिवसाश्च इत्यर्थः । तथा च निरुपपद सावन-भूमिशब्दाभ्यां सूर्यस्य वासरा एव न अन्येषां सोपपदत्वाभावादिति भावः ॥ ३६ ॥

चान्द्र दिवसों से सावन दिवसों को घटाने से शेष तिथि क्षय (अवम) होता है।

सूर्य के एक उदय काल से दूसरे उदय काल पर्यन्त, भूमि का सावन दिन होता है । (पृथ्वी पर व्यवहार में आने वाला दिन होता है) ॥ ३६ ॥

उपपत्तिः—तिथ्यन्त-सूर्योदययोर्मध्यवर्तीकालः अवशेषसञ्ज्ञको भवति । अयमेव कालः वर्धितः सन् यदैक तिथितुल्यो भवति तदा तिथिक्षयो (अवमः) भवति । अतः युगसावनदिवसानां युगचान्द्रदिवसानां चान्तरे कृते शेषतुल्या युगक्षयतिथयो भवन्ति ॥ ३६ ॥

महायुगे भूसावनादीनां संख्या

वसुद्व्यष्टाद्रिरूपाङ्कसप्ताद्रितिथयो युगे ।
चान्द्राः खाष्टखखव्योमखाग्निखर्तुनिशाकराः ॥ ३७ ॥
षड्वह्नित्रिहुताशाङ्कतिथयश्चाधिमासकाः ।
तिथिक्षया यमार्थाश्वि-द्व्यष्टव्योमशराश्विनः ॥ ३८ ॥
खचतुष्कसमुद्राष्ट-कुपञ्च रविमासकाः ।
भवन्ति भोदया भानु-भगणैरूनिताः क्वहाः ॥ ३९ ॥

ते कियन्त इत्यतस्तत्प्रमाणं चान्द्रदिनप्रमाणञ्च आह । अष्टाश्विगजसप्त-भूगोनगसप्तपञ्चभूमिता युगे सूर्यसावनदिवसाः। चान्द्रा दिवसा युगतिथय इत्यर्थः। अशीतिशून्य चतुष्कत्रिखनृपा एते त्रिंशद्भक्ताश्चान्द्रमासा उक्तप्रायाः । अनेन एव चान्द्रदिवसानामुपपत्तिः सूर्यचन्द्रयोर्भगणयोः अन्तररूप चान्द्रमासास्त्रिंशद्गुणिता इति स्पष्टीकृता ॥ ३७ ॥

अथाधिमासावमयोः संख्यामाह । अधिमासकाः प्रागुक्तस्वरूपाः चकाराद्युगे षड्देवरामगोशरेन्दुमितास्तिथिक्षया दिनक्षया अवमानीत्यर्थः अर्थाः पञ्च । एवं द्विशराकृत्यष्ट खतत्वानि ॥ ३८ ॥

ननु सूर्यमासानुक्तेः अधिमाससंख्या कथं ज्ञाता इत्यतो रविमाससंख्यां स्वरूपेण क्वहांश्च आह। सूर्यमासा द्वादशगुणितरविभगणानुरूपाः शून्यखाभ्रख-वेदधृतिशरमिताः । ननु सावनदिवससंख्या प्रागुक्ता कथमवगतेत्याह—भवन्तीति। भोदया नाक्षत्रदिवसाः प्रागुक्ताः, सूर्यभगणैः प्रागुक्तैर्वर्जिताः सन्तः क्वहा भूवासरा भवन्ति । भोदया इत्यादिप्रागुक्तेः ॥ ३९ ॥

एक महायुग में १५७७९१७८२८ सावन दिन, १६०३०००८० चान्द्र दिन (तिथियाँ), १५९३३३६ अधिमास, २५०८२२५२ तिथिक्षय (क्षयदिन) तथा ५१८४०००० सौरमास होते हैं । नक्षत्रों के उदय (भगण) से सौरभगण घटाने से शेष भूमि सावन दिन होते हैं । अर्थात् नाक्षत्र भगण — सौर भगण = सावन दिन ॥ ३७—३९ ॥

कल्पेऽधिमासादीनां मानानि

अधिमासोनरात्र्यर्क्षचान्द्रसावनवासराः ।
एते सहस्रगुणिताः कल्पे स्युर्भगणादयः ॥ ४० ॥

ननु सूर्यादिमन्दोच्चभौमादिपातानां युगे भगणानुत्पत्तेः कल्पभगणकथन-मावश्यकमतस्तत्पङ्क्तयां प्रागुक्ताः एते भगणादयः कल्प एव कथं न उक्ता इत्यत आह । एते प्रागुक्ता भगणादयो भगणा आदिर्येषां ते भगणादयः । अधि-मासोनरात्र्यर्क्ष चान्द्रसावनवासरा अधिमासाः षड्वह्नीत्यादि तिथिक्षया इत्याद्यून-रात्रयोऽवमानि । ऋक्षचान्द्रसावनानां प्रत्येकं वासर सम्बन्धः । नाक्षत्रदिवसा भानामित्यादि। चान्द्रदिवसाश्चान्द्राः खाष्टेत्यादि । सावनदिवसा वसुद्व्यष्टाद्रीत्यादि। अत्र सौरमासा अपि खचतुष्केत्यादि ग्राह्याः । सहस्रगुणिताः कल्पे भगणादय उक्ता भवन्ति युगसहस्रस्य कल्पत्वात् । तथा च लाघवार्थं युग उक्ता इति भावः ॥ ४० ॥

पूर्वोक्त अधिमास, दिनक्षय (क्षयतिथि), नाक्षत्र-चान्द्र-सावन दिनों की संख्या तथा ग्रहों की भगण संख्या को एक सहस्र (१०००) से गुणा करने पर एक कल्प में अधिमासादि की संख्या हो जाती है ॥ ४० ॥

उपपत्तिः—एकस्मिन् कल्पे १००० महायुगा भवन्ति । अतः सहस्रगुणिता महायुगीयदिवसा भगणादयश्च कल्पीया भवन्ति ।

युगभगणा × १००० = कल्पभागणाः
युगदिवसाः × १००० = कल्पदिवसाः इत्यादयः ।

कल्पे निरग्रीया (मन्दोच्चादीनां) भगणाः

प्राग्गतेः सूर्यमन्दस्य कल्पे सप्ताष्टवह्नयः ।
कौजस्य वेदखयमा बौधस्याष्टर्तुवह्नयः ॥ ४१ ॥

खखरन्ध्राणि जैवस्य शौक्रस्यार्थगुणेषवः ।
गोऽग्नयः शनिमन्दस्य पातानामथ वामतः ॥ ४२ ॥
मनुदस्रास्तु कौजस्य बौधस्याष्टाष्टसागराः ।
कृताद्रिचन्द्रा जैवस्य त्रिखाङ्काश्च तथा भृगोः ॥ ४३ ॥
शनिपातस्य भगणाः कल्पे यमरसर्तवः ।
भगणाः पूर्वमेवात्र प्रोक्ताश्चन्द्रोच्चपातयोः ॥ ४४ ॥

अथ श्लोकाभ्यां विचन्द्रसूर्यादिग्रहाणां मन्दोच्चभगणान् वदन् पातभगणान् प्रतिजानीते । प्राग्गतेः कल्प इत्यनयोः शनिमन्दान्तं प्रत्येकं सम्बन्धः । पूर्वगतेः सूर्यमन्दोच्चस्य कल्पे सप्ताष्टराममिताः शनिपातस्य भगणा इति वक्ष्यमाणस्य भगणा इति पदमत्र प्रत्येकमन्वेति । कौजस्य कुजसम्बन्धिनः सूर्यमन्दस्य इत्यस्य एकदेशो मन्दस्य इति मन्दोच्चस्य इत्यर्थकमत्रान्वेति । तथा च भौममन्दोच्चस्य चतुरधिकं शतद्वयम् । बौधस्य बुधमन्दोच्चस्य अष्टषट्त्रिमिताः । जैवस्य गुरुसम्बन्धिनः । अत्र शनिमन्दस्येति वक्ष्यमाणस्य एकदेशो मन्दस्य इति मन्दोच्चस्य इत्यर्थकमन्वेति एकवृत्तस्थत्वात् । यद्वा आद्यन्तयोर्मन्दस्य इत्युक्त्यैव मध्यस्थानामन्वयः सूपपन्न इति । तथा च गुरुमन्दोच्चस्य नवशतं शौक्रस्य शुक्रमन्दोच्चस्य पञ्चत्रिंशदधिकपञ्चशतं शनिमन्दोच्चस्य एकोनचत्वारिंशत्। अथ अनन्तरं पातानां भौमादिपातानां वामतः पश्चिमगत्या भगणा उच्यन्त इति शेषः ॥ ४१–४२ ॥

तान् श्लोकाभ्यामाह । कुजसम्बन्धिनः । तुकारात् पातस्य भौमपातस्य कल्पे भगणाश्चतुर्दशाधिकं शतद्वयम् । बौधस्य बुधसम्बन्धिनः शनिपातस्य इत्यस्य एकदेशः पातस्य इत्यत्रान्वेति । बुधपातस्य द्वादशोना पञ्चशती। जैवस्य गुरुपातस्य चतुः सप्तत्यधिकं शतम् । भृगोः शुक्रस्य तथा सम्बन्धिनश्चकारात् पातस्य शुक्रपातस्य इत्यर्थः । त्र्यधिका नवशती । शनिपातस्य द्विरसषट्का भगणाः कल्पे भवन्ति । ननु अस्मिन् प्रसङ्गे चन्द्रस्य उच्चपातयोर्भगणाः कथं न उक्ता इति मन्दाशङ्कापाकरणाय पूर्वोक्तं स्मारयति। भगणा इति । चन्द्रोच्चपातयोः चन्द्रस्य मन्दोच्चपातयोर्भगणा अत्र अस्मिन् अधिकारे पूर्वं ग्रहयुगभगणकथने । एवकारो विस्मरणनिरासार्थकः प्रोक्ताश्चन्द्रोच्चस्य इत्यादिश्लोकेनोक्ताः ॥ ४३–४४ ॥

पूर्वाभिमुख गमन करते हुये एक कल्प में सूर्य का मन्दोच्च ३८७ भगण, मंगल का मन्दोच्च २०४ भगण, बुध का मन्दोच्च ३६८, गुरु का मन्दोच्च ९०० भगण, शुक्र का मन्दोच्च ५३५ तथा शनि का मन्दोच्च ३९ भगण पूर्ण करता है । पात (ग्रहविमण्डल और क्रान्तिमण्डल का सम्पात) विपरीत दिशा में (पश्चिमाभिमुख) भ्रमण करता है । एक कल्प में मंगल का पात २१४, बुध का पात ४८८, गुरु का पात १७४, शुक्र का पात ९०३, एवं शनि का पात ६६२ भगण पूर्ण करता है । चन्द्रोच्च और चन्द्रमा के पात (राहु) का भगण पहले ही (द्र० श्लो० ३३) कहा जा चुका है ॥ ४१–४४ ॥

उपपत्ति:—स्व-स्व मन्दप्रतिवृत्ते भ्रमन्तो ग्रहा यदा मन्दोच्चस्थानं व्रजन्ति भुव:सापेक्षं दूरतमं स्थानं गच्छन्ति तदा ते मन्द स्पष्टा भवन्ति । पुन: शीघ्र-फलसंस्कारेण संस्कृता स्फुटग्रहा भवन्ति । अत्र मन्दोच्चस्य भगणज्ञानमनुपातद्वारा भवति । यथा—यदि कल्पकुदिनै: कल्पमन्दोच्चभगणा: लभ्यन्ते तदा अहर्गणै: किमिति (?)

$$\frac{\text{कल्पमन्दोच्चभगण:} \times \text{अहर्गण:}}{\text{कल्पकुदिनानि}}$$

$$\text{गतमन्दोच्चभगणा:} = \text{अहर्गण सम्बन्धिभगण:} + \frac{\text{भगणशेष:}}{\text{क. कु.}}$$

अग्रे $\frac{\text{भगणशेष:}}{\text{क. कु.}}$ अस्य मानज्ञानार्थं

$$\frac{\text{कल्पमन्दोच्चभगण} \times \text{अहर्गण:}}{\text{क. कु.}} = \text{ग. म. भ.} + \frac{\text{भगणशेष:}}{\text{क. कु.}}$$

$$\frac{\text{क. म. भ.} \times \text{अह.}}{\text{क. कु.}} = \frac{\text{क. कु.} \times \text{ग. भ.} + \text{भ. शे.}}{\text{क. कु.}}$$

उभयत्र हर नाशात्

$$\text{क. म. भ.} \times \text{अह.} - \text{क. कु.} \times \text{ग. भ.} = \text{भ. शे.}$$

$$\frac{\text{भ शे} \times \text{१२}}{\text{क. कु.}} = \text{राश्यादि मन्दोच्चम्}$$ ।। ४३—४४ ।।

उपपन्नम् ।

सृष्ट्यादितो गतवर्षानयनम्

षण्मनूनां तु सम्पीड्य कालं तत्सन्धिभि: सह ।
कल्पादिसन्धिना सार्धं वैवस्वतमनोस्तथा ॥ ४५ ॥
युगानां त्रिघनं यातं तथा कृतयुगं त्विदम् ।
प्रोज्झ्य सृष्टेस्तत: कालं पूर्वोक्तं दिव्यसङ्ख्यया ॥ ४६ ॥
सूर्याब्दसङ्ख्यया ज्ञेया: कृतस्यान्ते गता अमी ।
खचतुष्कयमाद्र्यग्निशररन्ध्रनिशाकरा: ॥ ४७ ॥

अथाभिमतकाले ग्रहगतभोगानयनं विवक्षुस्तदुपजीव्याहर्गणसाधनार्थं प्रवृत्त ग्रहचारकालाद्गताब्दज्ञानोपजीव्यं कृतयुगान्तीयगताब्दज्ञानं श्लोकत्रयेणाह। षण्मनूनां कालं सौरवर्षात्मकं तत्सन्धिभि: षण्मनूनां कृतयुगप्रमाणै: षड्भि: सन्धिभि: सह सार्द्धं कल्पादिसन्धिना कृतप्रमाण: कल्पादौ इत्यनेन कल्पप्रारम्भ सम्बद्धकृतयुग-मितसन्धिना सार्द्धं सार्द्धं सम्पीण्ड्यैकीकृत्य तुकारात् आयुषोऽर्द्धमितं तस्य इत्यस्य

निरासः । वैवस्वत मनोः वर्तमानसप्तम वैवस्वताख्यस्य मनोर्युगानां त्रिघनं यातं युगसप्तविंशति गतां तथैकीकृत्येदमष्टाविंशतियुगान्तर्गतं तुकारात् साम्प्रतं स्थितं कृतयुगं तथा गतत्वेनैकीकृत्य ततः सिद्धाङ्कात् सृष्टे कालं सृष्टिकरणार्थं यः कालो वर्षात्मकस्तं दिव्य संख्यया दिव्यमानेन पूर्वोक्तं कृताद्रिवेदा दिव्याब्दाः शतघ्ना इत्यनेनोक्तम् । सूर्याब्दसंख्यया सौरवर्षमानेन षष्ट्यधिकशतत्रयगुणितं कृत्वा इति तात्पर्यार्थः । एतेन प्रागुक्तैकीकरणं सौरवर्षप्रमाणेन न दिव्यवर्षप्रमाणेन इति व्यक्तीकृतम् । प्रोज्झय न्यूनीकृत्य चः समुच्चयार्थोऽनुसन्धेयः । अमी अवशिष्टाब्दाः खाभ्रखाभ्रद्विसप्तत्रिशरातिधृतयः कृतयुग चरणस्य अवसाने गता अतीता ज्ञातव्याः । ननु कल्पादस्माच्च मनव इत्यादिपूर्वोक्तसम्पिण्डितकालोक्त्येदं षण्मनूनामित्यादि पुनरुक्तमाभाति । न च पूर्वं ब्रह्मगतवयः प्रमाणज्ञानार्थमिदानीं च ग्रहसाधनार्थम् । अन्यथा गतब्रह्मवयः प्रमाणाद् ग्रहसाधनापत्तेरिति वाच्यम् । ब्रह्मगतवयः प्रमाणादेव ग्रहसाधनस्य युक्तत्वादिष्टापत्तेः । अन्यथा ग्रहचक्रादेर्ब्रह्मोत्पत्तितस्तदवसानपर्यन्तं सत्वाद्ब्रह्मदिनाधिककाले गताब्दज्ञानाभावाद् ग्रहसाधनानुपपत्तिरिति चेन्न । इत्थं युगसहस्रेण भूतसंहारकारकः कल्प इत्यनेन ब्रह्मदिनान्ते ग्रहचक्रादिनाशोक्तेः तद्दिनादौ ग्रहचक्रोत्पत्तेश्च ब्रह्मदिवस एव तदादिगताब्दा ग्रहचारोपजीव्या न ब्रह्मगतायुः प्रमाणाब्दाः । ग्रहासत्वे ग्रहसाधनापत्तेः । अतः पुनर्गताब्दा ग्रहचारोपजीव्या ब्रह्मदिवसे साधिताः । परन्तु ब्रह्मदिनादितो ग्रहचारप्रवृत्तिकालपर्यन्तं यः सृष्टि विलम्बितकालस्तदूना ब्रह्मदिनादिगताब्दाः सृष्टिगताब्दा ग्रहसाधनोपजीव्या इति तथोक्तम् । अन्यथा सृष्ट्यन्तर्गतकाले ग्रहचारासत्वे तत्साधनापत्तेः सृष्टिकालकथनानुपपत्तेश्च इति दिक् । यथा दिव्याब्दस्य सौरवर्षाणि ३६० द्वादशसहस्रगुणितानि महायुगम् ४३२०००० इदमेकसप्ततिगुणं मनुमानम् ३०६७२००००० इदं षड्गुणितं षण्मनुमानम् १८४०३२०००० इदं स्वसन्धिभिः कृतयुगप्रमाणैः सप्तभिरेभिः १२०९६००० युतम् १८५२४१६००० एतत् सप्तविंशतियुग ११६६४००००० सहितम् १९६९०५६००० कृतयुग १७२८००० युक्तं जातानि कल्पगतवर्षाणि १९७०७८४००० सृष्टिदिव्याब्दैः ४७४०० खषडग्निगुणितैरेभिः १७०६४००० हीनं सृष्टिगताब्दा ग्रहचारोपजीव्याः कृतयुगान्ते खचतुष्केत्यादि उपपन्नाः १९५३७२०००० ॥ ४५--४७ ॥

सन्धियों सहित ६ मनुओं के काल (सौरवर्ष प्रमाण) में कल्प के आदि की सन्धि जोड़कर वैवस्वत (सप्तम) मनु के २७ महायुगों एवं २८ वें महायुग के सत्ययुग के वर्ष मान को जोड़कर योगफल से सृष्ट्यारम्भ काल को घटाने से शेष सत्ययुग के अन्त में सृष्ट्यारम्भ से गतसौरवर्ष संख्या होगी । जिसका प्रमाण १९५३७२०००० सौरवर्ष है ॥ ४५--४७ ॥

स्पष्टार्थ——

कृत + त्रेता + द्वापर + कलि = १ महायुग

७१ महायुग = १ मनु

मनु की सन्धि = १ कृतयुग तुल्य

१४ मनु = १ कल्प

४८०० + ३६०० + २४०० + १२०० = १२००० दिव्य वर्ष

= १ महायुग

१ मनु = ७१ महायुग	= १२००० × ७१	= ८५२०००	दिव्यवर्ष
अतः ६ मनु	= ८५२००० × ६	= ५११२०००	दिव्यवर्ष (१)
७ मनु की सन्धियाँ	= ७ × ४८००	= ३३६००	दिव्यवर्ष (२)
२७ महायुग	= २७ × १२००	= ३२४०००	दिव्यवर्ष (३)
कृत युग	= ४८००	= ४८००	दिव्यवर्ष (४)

१ से ४ तक का योग = ५४७४४०० दिव्य वर्ष

यह कल्पादि से गत दिव्यवर्ष हुआ

५४७४४०० — ४७४०० = ५४२७०००

= सृष्ट्यादि से कृतयुगान्त तक दिव्यवर्ष

५४२७००० × ३६० = १९५३७२०००० गत सौरवर्ष ॥ ४५—४७ ॥

अहर्गणसाधनम्

अत ऊर्ध्वममी युक्ता गतकालाब्दसङ्ख्यया ।
मासीकृता युता मासैर्मधुशुक्लादिभिर्गतैः ॥ ४८ ॥
पृथक्स्थास्तेऽधिमासघ्नाः सूर्यमासविभाजिताः ।
लब्धाधिमासकैर्युक्ता दिनीकृत्य दिनान्विताः ॥ ४९ ॥
द्विष्ठास्तिथिक्षयाभ्यस्ताश्चान्द्रवासरभाजिताः ।
लब्धोनरात्रिरहिता लङ्कायामार्धरात्रिकाः ॥ ५० ॥
सावनो द्युगणः सूर्याद्दिनमासाब्दपास्ततः ।
सप्तभिः क्षयितः शेषः सूर्याद्यो वासरेश्वरः ॥ ५१ ॥

अथाभीष्टकालेऽहर्गणसाधनं ततो दिनमासाब्दपप्रतिज्ञां वासरेश्वरज्ञानं च श्लोकचतुष्टयेन आह । अतः कृतयुगान्तादूर्द्धमुपरि अनन्तरमित्यर्थः । अभीष्टकाले यो गतकालस्तस्य सौरवर्षसंख्यया अमी कृतयुगान्तीयसृष्ट्यब्दाः खचतुष्केत्यादि पूर्वोक्ता युक्ता अभीष्टकाले सौरगताब्दा भवन्ति । एते मासीकृता द्वादशगुणिता इत्यर्थः। अभीष्टकाले मधुशुक्लादिभिः चैत्रशुक्लाद्यवधिभूतैः गतैः मासैर्युताः । अत्र गतमासान्तर्गतोऽधिमासश्चेन्न ग्राह्यस्तस्योत्तरमासाह्वयत्वेन तदन्तर्गतत्वात् तन्मासस्य षष्टिदिनात्मकत्वाच्च। ते सिद्धाः पृथक्स्था युगाधिमास गुणिता युगसूर्यमासभक्ताः प्राप्ताधिमासकैः निरग्रैः सिद्धा युक्ताः । अत्र यदा स्पष्टोऽधिमासः पतित आनयने न लब्धस्तदानयनप्राप्ताधिमासैः सैकैर्युक्ताः । यदा तु स्पष्टोऽधिमासो न पतित आनयने प्राप्तस्तदानयनप्राप्ताधिमासैः निरेकैर्युक्ताः ।

अन्यथाभीष्ट कालसाधिताहर्गणस्य त्रिंशद्दिनान्तरितत्वापत्तेरिति ध्येयम् ।एते भिद्धा दिनीकृत्य त्रिंशता संगुण्येत्यर्थः । दिनान्विता वर्तमानमासस्य शुक्लप्रतिपदादिगत तिथिभिर्युक्ता इत्यर्थः। एते द्विष्ठाः स्थानद्वये स्थाप्या एकत्र युगावमैः गुणिता युग-चान्द्रदिनैर्भक्ताश्च प्राप्तावमैः निरग्रैः अपरत्र हीनाः सन्तो लङ्कादेशेऽर्द्धरात्रकालिकः सावनोऽहर्गणः स्यात् । ततः साधिताहर्गणात् सकाशात् सूर्यात् सूर्यमारभ्य दिन-मासाब्दपा वासरेश्वरमासेश्वरवर्षेश्वरा भवन्ति । तत्र वासरेश्वरज्ञामाह । सप्त-भिरिति । अयमहर्गणः सप्तभिः क्षयितो भक्त्वा शेषितः कार्यः । स शेषोऽवशिष्टः सूर्याद्यः सूर्यवारादिको वासरेश्वरो वारस्वामी गतो भवति । तदग्रिमो वर्तमानो वारेश इत्यर्थ सिद्धम् ।

अत्रोपपत्तिः । सौरवर्षाणां मासकरणे सृष्ट्याद्यधिगासान्तकालसम्बन्धि सावयवसौरमासा अव्यवहितपूर्वपतिता अधिमासान्तकालादिस्वाभीष्ट चैत्राद्यन्त-कालसम्बन्धि सावयवचान्द्रमासाः तयोर्योगः चैत्रादौ द्वादशगुणितसौरवर्षाणि जातानि कुत इति चेत् शृणु । द्वादशगुणित सौरवर्षाणि सौरवर्षादौ सौरमासा इति तु निर्विवादम् । ते स्वानीताधिमासैः सावयवैर्युताः चान्द्राः सावयवाः सौरवर्षादौ । एतेऽवयवहीनाः चैत्रादौ निरवयश्चान्द्रमासाः ।अवयवस्य चैत्रादिसौरवर्षाद्यन्तरकाल-रूपाधिशेषत्वात्। ते निरग्राधि मासोनाश्चैत्रादौ अधिमासोन चान्द्रा द्वादश गुणित सौरवर्षरूपा उक्तयोगस्वरूपाः सिद्धाः । कथमन्यथा निरग्राधिमासयोजनेन एषां चैत्रादौ चान्द्रमाससमानत्वसम्भवः । एते स्वाभीष्टमासादि कालसिद्ध्यर्थं चैत्र शुक्लादिगतमासैर्युक्ताः । एतेन द्वादशगुणितसौरवर्षमितसौरमासानां चैत्रादिगत चान्द्रमासाः कथं योजिता एकजातित्वाभावादिति दूषणाङ्गीकारो निरस्तः । उक्त-रीत्या तत्र चान्द्रमासानामपि सत्वादेकजातीयत्वेन योगसम्भवात् । न हि पूर्व-योगोऽस्माभिः कृतो येन विजातीययोगो दूषणं तस्य द्वादश गुणितसौरवर्षरूपत्वेन स्वतः सिद्धत्वात् ।अथ एषां निरग्राधिमासा योज्या इति सृष्ट्यादिपूर्व पतिताधि-मासान्तकालावधि ये सौरमासाः सावयवास्तेभ्यो युगसौरमासैर्युगाधिमासास्तदा एभिः सौरमासैः क इत्यनुपातेन निरग्राधिमासाश्चान्द्रा भवन्ति सौरेभ्यः साधि-तत्वात्। अथाभीष्टकालेऽधिमासावयवज्ञानार्थं युगचान्द्रमासैर्युगाधिमासास्तदा पूर्व-पतिताधिमासान्तकालाभीष्टमासाद्यन्तर स्थितचान्द्रमासैः सावयवैरेभिः क इत्यनुपातेनाधिमासाभावात् तदवयवः सौर आयाति चान्द्रात् साधितत्वात् । परन्तु अवयवावयविनोः एकजातित्वासिद्धिरतः तत्सम्पादनार्थमधिमासावयवस्य उक्तसौरस्य युगसौरमासैर्युगचान्द्रमासास्तदा उक्तसौराधिमासावयवेन किमित्यनुपातेन युग चान्द्रमासा गुणो युगसौरमासा हर इति तुल्ययोर्गुणहरयोर्युगचान्द्रमासयोर्नाशादिष्ट-चान्द्रमासानां युगाधिमासा गुणो युग सौरमासा हर इति फलमधिमासावयवश्चान्द्रः। अथ तादृशेष्ट सौरचान्द्रमासयोः पृथगज्ञानादधिमासतदवयवयोर्ज्ञानमशक्यमपि एको हरश्चेद्गुणकौ विभिन्नौ इत्यादिरीत्येष्टतादृश सौरचान्द्रमासयोर्योग एव अयं ज्ञातो-युगाधिमासगुणितो युग सूर्यमासभक्तः फलममिधमासाः । शेषात् तद्वयवोऽहर्गणा-नयनेऽनुपयुक्तः । तत्र केवलाधिमासानामेव न्यूनत्वेन तेषामेव योजनावश्यकत्वात्।

अयं सृष्ट्यादित इष्टमासादिपर्यन्तं चान्द्रमासगणः सिद्धः । बहवस्तु द्वादशगुणित सौरवर्ष रूपसौरमासाना सौरवर्षादितोऽभीष्टकालपर्यन्तं सौरमासानाम ज्ञानाजूज्ञात-चैत्रादिगत चान्द्रमासा एव योजिताः परमिष्टसौरमासेषु अधिमासशेषमधिकं तच्चाधिमासानयनेऽधिशेषत्यागेन केवलाधिमासयोजने निरन्तरं भवति। अधिमासा-नयनं च चान्द्रमिष्टसौरमासत्वेनैव अधिशेषाधिकेष्टसौरमासानामङ्गीकारादित्याहुः। तच्चिन्त्यम् । केवलेष्टसौरमासानीताधिमासानां निरग्राणामधिशेषाधिकसौरेष्टमासेषु योजनेनैव निरन्तरितत्वसिद्धेः। अन्यथाधिशेषगुणितयुगाधिमासेभ्यो युगार्कमास-भक्ताप्तफलेनाधिशेषमधिकमायातीति परमासन्नाधिशेषस्य अधिकत्वे भवद्रीत्यनुपाता नयनेन एकाधिकाधिकमासलब्ध्या योजितेन चान्द्रमासगण एकाधिकः स्यादिति । अथाभीष्टमासादिसिद्धचान्द्रमासाश्चान्द्रदिनकरणार्थं त्रिंशद्गुणिता अभीष्टदिने तत्सिद्ध्यर्थं शुक्लादिगत तिथयोऽत्र योजिता अभीष्टतिथ्यादौ चान्द्राहर्गणः । युग-चान्द्रदिनैः युगावमानि तदा अनेन किमित्यनुपातागतावमैः सावयवैः हीनाश्चान्द्रा-हर्गणस्तिथ्यन्ते सावनोऽहर्गणो यमकोटिदेशे सूर्योदयकाले ग्रहचारस्य प्रवृत्तेस्तदा-दितो निरवयवाहर्गणसिद्ध्यर्थं तिथ्यन्ततत्कालयोः अन्तरमवमावयवरूपं योज्यमतः पूर्वमेवावमावयवोऽनुपयुक्तोऽत्र न गृहीतोऽतः चान्द्राहर्गणः स्वानीतावमैः निरग्रै हीनोऽहर्गणः सावनो निरवयवो यमकोटिदेशीय सूर्योदयकाले तत्र तद्देशस्य अप्रसिद्धतया प्रसिद्धलङ्कादेशार्द्धरात्रस्य तद्रूपस्योक्तिः कृता । सृष्ट्यादौ अर्कवार-सद्भावात् तदाद्या दिनमासवर्षेश्वराः। ग्रहाणां सप्तसंख्यत्वात् सप्ततष्टोऽहर्गणः शेषं गतवारः ॥ ५१ ॥

इसके (पूर्वोक्त सृष्ट्यादि से कृत युगान्त सौर वर्ष में) अनन्तर गत वर्षों की संख्या को जोड़कर योग को १२ से गुणा कर मास बना ले तथा अभीष्ट समय तक के चैत्र शुक्लादि गत मासों की संख्या को जोड़कर दो स्थानों में रखें । एक स्थान पर मास संख्या को युगाधिमास से गुणाकर युग सौर मासों की संख्या से भाग दें । लब्धि सृष्ट्यादि से गत मासों में अधिमास संख्या होगी । अधिमास को दूसरे स्थान में स्थित मास में जोड़ने से चान्द्रमास होगें । इसमें ३० का गुणा कर दिनात्मक बना लें तथा उसमें गत तिथि जोड़ कर योगफल को दो स्थानों में रखें । एक स्थान पर दिन संख्या को युगक्षय तिथियों की संख्या से गुणा कर युगचान्द्र दिनों (युगतिथियां) से भाग देने पर लब्धि क्षयतिथियों की संख्या होगी । उसे द्वितीय स्थान में स्थित दिन संख्या से घटाने पर शेष सावन दिन संख्या होगी । सावन दिन संख्या में १ रात्रि (१ दिन) घटाने से लङ्का में अर्द्ध रात्रि कालिक सावन अहर्गण होता है ॥ ४८—५० ॥

उक्त अहर्गण द्वारा सूर्य से आरम्भ कर सूर्यादि ग्रह क्रम से दिन, मास और वर्ष के स्वामी होते हैं ।

अहर्गण को ७ से भाग देने पर शेष संख्या तुल्य सूर्यादिग्रह दिवा स्वामी होता है ॥ ५१ ॥

उपपत्तिः—पाठपठित भगणाधारेणानुपातद्वारा ग्रहज्ञानार्थमहर्गणः साध्यते । सृष्ट्यादितो कृतयुगान्तं सौरवर्षाणि पठितानि सन्ति । ततः अभीष्ट कालं यावद् गत सौराब्दा × १२ = सौरमासाः

सौरमासाः + चैत्र शुक्लादि गतमासाः = अभीष्टमासाः,

एते सौर संक्रान्ति पर्यन्तं मासाः भवन्ति । साधिमासाः सौरमासाश्चान्द्रमासा भवन्ति ।

अतोऽनुपातेनाधिमासाः साध्यन्ते—

$$\frac{\text{युगाधिमासाः} \times \text{इष्टसौरमासाः}}{\text{युगसौरमासाः}} = \text{इष्टाधिमासाः} + \frac{\text{अधिशेषः}}{\text{यु. सौ. मा.}}$$

$$\text{इष्टसौरमासाः} + \text{इष्टाधिमासाः} + \frac{\text{अ. शे.}}{\text{यु. सौ. मा.}} = \text{इष्ट चान्द्रमासाः संक्रान्तिकालिकाः}$$

दर्शाग्रतः संक्रमकालपूर्व सदैव तिष्ठत्यधिमासशेषं' इत्यादिना ते दर्शाग्र-संक्रान्तिकालयोर्मध्यवर्ति अधिशेषेणाधिका भवन्ति ।

अतोऽधिशेषेण हीनाश्चान्द्रमासाः दर्शान्तकालिकाः भवन्ति ।

अतः इष्टसौरमासाः + इष्टाधिमासाः = इष्टचान्द्रमासाः ।

इष्टचान्द्रमासाः × ३० = चान्द्रमाससम्बन्धितिथयः ।

चा. मा. सम्बन्धि तिथयः + गततिथयः = गततिथिसंख्या ।

सावनदिवसे परिवर्तनार्थमवमदिनानि साध्यन्तेऽनुपातेन

$$\frac{\text{युगावमदिवसाः} + \text{इष्टचान्द्रदिनानि}}{\text{युगचान्द्रदिवसाः}} = \text{इष्टावमानि} + \frac{\text{अवमशेषः}}{\text{यु. चा. दि.}}$$

गततिथयः — इष्टावमदिनानि = अभीष्टसावनाहर्गणः

उदयादुदयं भानोः भूमिसावनवासराः इत्यादिना अर्कोदयकालिकोऽहर्गणः

अहर्गणः — १ = लङ्कायामर्धरात्रिकालिकोऽहर्गणः । उपपन्नम् ।

सृष्ट्यारम्भः रविवासरे एवातोऽहर्गणः सप्ताभिर्भक्ते सति शेषमितो रव्यादिवासरेश्वरो भवति ॥ ४८—५१ ॥

मासवर्षेशयोरानयनम्

मासाब्ददिनसङ्ख्याऽप्तं द्वित्रिघ्नं रूपसंयुतम् ।
सप्तोद्धृतावशेषौ तु विज्ञेयौ मासवर्षपौ ॥ ५२ ॥

अथ प्रतिज्ञातयोर्मासवर्षप्रयोरानयनमाह । अहर्गणात् द्विष्ठादेकत्र मासदिनानां संख्यया त्रिंशता भक्तादाप्तं फलम् । अपरत्र वर्षदिनानां संख्यया षष्ट्यधिकशत-

त्रयेण भक्तादाप्तं फलम्। शेषयोरनुपयोगात् त्यागः। क्रमेण फलद्वयं द्वाभ्यां त्रिभिर्गुणितमुभयत्र एकसंख्यायुक्तं सप्तभागहारेण भक्तात् फलत्यागेन अवशिष्टौ क्रमेण मासस्वामिवर्षस्वामिनौ ज्ञातव्यौ तुकारात् यत्क्रमेण वारेश्वर गणना तत्क्रमेण अनयोर्गणना परमत्र वर्तमानेत्यर्थः ।

अत्रोपपत्तिः। सृष्ट्यादित्रिंशदहोरात्राणामेकः सौरसावनमासस्तस्य सूर्योऽधिपतिर्मासादि दिनेऽर्कस्याधिपतित्वात्। एवं द्वितीयमासादौ भौमस्य दिनाधिपतित्वाद्भौमो द्वितीयमासेश्वर इति प्रतिमासं मासेश्वरयोरन्तरं द्वयम्। त्रिंशद्दिनानां सप्ततष्टतया द्व्यवशेषात् । एवं षष्ट्यधिकशतत्रयाहोरात्राणामेकं सौरसावनवर्षं तस्याधिपोऽर्कः । वर्षादिदिनेऽर्कस्याधिपतित्वात्। एवं द्वितीयसावनवर्षादौ बुधस्य दिनाधिपतित्वाद् बुधो द्वितीयवर्षेश्वर इति प्रतिवर्षं वर्षेश्वरयोरन्तरं त्रयं षष्ट्याधिकशतत्रयदिनानां सप्ततष्टतया त्र्यवशेषात् । तथा च वर्तमानकाले तद्गणनया कियन्तो मासा गताः कियन्ति च वर्षाणि गतानीति ज्ञानार्थमहर्गणस्त्रिंशद्भक्तः फलं गतमासाः षष्ट्याधिकशतत्रयभक्तः फलं गतवर्षाणि । एकमासे द्वौ वारौ तदा गतमासैः क इति गतमासवारा वर्त्तमानार्थं सैकाः । एवम् एकवर्षे त्रयो वारास्तदा गतवर्षैः क इति गतवर्षवारा वर्त्तमानार्थं सैका वाराणां सप्तसंख्यत्वात् सप्ततष्टौ शेषौ सूर्यादिकौ मासवर्षेश्वरौ ॥ ५२ ॥

अहर्गण को दो स्थानों में रखकर एक स्थान में मास दिन संख्या अर्थात् ३० से तथा दूसरे स्थान पर वर्ष दिन (३६०) से भाग देने पर जो लब्धि हो उसमें क्रम से २ और ३ से गुणाकर १-१ जोड़ने से जो संख्या हो उसे पृथक्-पृथक् ७ से भाग देने पर क्रम से शेष तुल्य रव्यादि ग्रह मासेश और वर्षेश होते है ॥ ५२ ॥

उपपत्तिः—एक सावनमासान्तः पातिभिः सावनदिवसैरहर्गणे ततष्टिते सति द्वौ शेषः लभ्यते ।

अतस्तृतीयो मासेश्वरः यथा— $\frac{३०}{७}$ = लब्धिः ४ शेषः = २

अतः $\frac{\text{अहर्गणः}}{३०}$ = गतमासः + (शेषः वर्तमानः)

$\frac{\text{गतमासाः} \times २}{७}$ = शेषः मासेश्वरः

एवमेव वर्षान्तः पातिसावनदिवसाः ३६० सप्तभिर्भक्ते सति शेष '३' इति लभ्यतेऽतः चतुर्थो वर्षेश्वरः अतएव ३ एभिर्गुण्यते

$\frac{३६०}{७}$ = लब्धिः ५१ शेषः ३

$\frac{\text{अहर्गणः}}{३६०}$ = लब्धिः । $\frac{\text{लब्धिः} \times ३}{७}$ = शेषः वर्षेशः ॥ ५२ ॥

उपपन्नम्

अहर्गणान्मध्यमग्रहसाधनम्

यथा स्वभगणाभ्यस्तो दिनराशिः कुवासरैः ।
विभाजितो मध्यगत्या भगणादिर्ग्रहो भवेत् ॥ ५३ ॥

अथ ग्रहानयनमाह । दिनराशिरहर्गणो यथास्वभगणाभ्यस्तो यत्कालिक-निजोक्तभगणैर्गुणितो युगभगणै कल्पभगणैः वा इत्यर्थः । तथा कुवासरैस्तात्कालिकसावनदिनैर्युगसावनैः कल्पसावनैर्वा इति यथायोग्यमित्यर्थः । भक्तः फलं यस्य ग्रहस्य भगणा गुणनार्थं गृहीताः स ग्रहो भगणादिर्भगणराशिभाग कलाविकलात्मक भोगात्मकः । मध्यगत्या मध्यगतिमानेन न प्रतिदिनविलक्षण स्फुटगतिप्रमाणेन अग्रे तत्प्रमाणेन ग्रहभोग-ज्ञानस्योक्तेः । मध्यमो ग्रहः स्यादित्यर्थः ।

अत्रोपपत्तिः । युगादिसावनैर्युगादिभगणास्तदा एकेन दिनेन केति प्राप्ता मध्यमगतिस्तत एकेन दिनेन इयं गतिस्तदेष्टाहर्गणेन केति रूपयोस्तुल्यत्वेन विकाराजनकत्वाच्च नाशादुपपन्नमानयनम् । यद्यपि युगादिसासवनैर्युगादि भगणास्तदेष्टाहर्गणेन किमित्येकानुपातेनानयनमुपपन्नं लाघवात् तथापि मध्यगत्येत्यस्य प्रदर्शनार्थमनुपातद्वयं गुरुभूतमपि प्रदर्शितम् ॥ ५३ ॥

अहर्गण को अपने-अपने युग भगण से गुणा कर युग सावन दिवसों से भाग देने पर भगणादि मध्यम ग्रह होते हैं । (अर्थात् प्रथम लब्धि भगण, शेष को १२ से गुणाकर युग सावन दिनों से भाग देने पर द्वितीय लब्धि राशि एवमेव ३० × शेष ÷ युगसावन = अंश आदि) ॥ ५३ ॥

उपपत्तिः—युगे कल्पे वा ग्रहभगणा पठिताः सन्ति । अतः अनुपात द्वारा एकदिनस्य मध्यमग्रहः साध्यते । यदि कल्पकुदिनैः कल्प ग्रहभगणास्तदा अहर्गणेन किमिति—

$$\frac{\text{कल्पग्रहभगण} \times \text{अहर्गण}}{\text{कल्पकुदिनानि}} = \text{एकदिवसीयः मध्यमग्रहः भगणादिः ॥ ५३ ॥}$$

उपपन्नम् ।

एवं स्वशीघ्रमन्दोच्चा ये प्रोक्ताः पूर्वयायिनः ।
विलोमगतयः पातास्तद्वच्चक्राद् विशोधिताः ॥ ५४ ॥

अथामुं प्रकारमुच्चपातयोरानयनायातिदिशति । ये पूर्वयायिनः पूर्वदिग्गतयः स्वशीघ्रमन्दोच्चाः स्वेषां ग्रहाणां शीघ्रोच्चमन्दोच्चा ग्रहबहुत्वेन शीघ्रोच्चमन्दोच्चयोर्बहुत्वात् बहुवचनम् । प्रोक्ताः पूर्वं भगणोक्त्या कथितास्तेऽप्येवं ग्रहानयनरीत्या साध्याः । ननु पूर्वयायिन एवं साध्यास्तर्हि पश्चिमगतयः पाता कथं साध्या इत्यत आह । विलोमगतय इति । पश्चिम गतयः पाता अपि तद्वद्ग्रहानयनरीत्या

अत्र चन्द्रोच्चपातौ ग्रहानयनवत् युगकल्प भगणसावनाभ्यां सिद्धौ भवतोऽन्येषा-मुच्चपातौ तु कल्पसावनदिनहरेणेति ध्येयम् । ननु तर्हि पूर्वपश्चिमगत्योः को विशेष आनयन इत्यत आह । चक्रादिति । आगता राश्यादिपाता द्वादशराशिभ्यः शोध्याः पाता भवन्ति । एतावानेव विशेष इति भावः ।

अत्रोपपत्तिः । पूर्वयायिनो मेषवृषमिथुनादिक्रमेण गच्छन्ति पश्चिमगतयस्तु मेषमीनकुम्भेत्याद्युत्क्रमेण गच्छन्ति । तत्रोत्क्रमगणनाया लोकेऽनभ्यासाद्राशिक्रमेण तज्ज्ञानार्थं द्वादशराशिभ्यः शोधिताः पूर्वगति पङ्क्तिस्था भवन्ति ॥ ५४ ॥

पूर्वोक्त रीति से अनुपात द्वारा अपने अपने शीघ्रोच्च एवं मन्दोच्च, जिनकी गति पूर्वाभिमुख बतलाई गई है, उनका भी आनयन किया जा सकता है । तथा विलोम (वक्र) गति वाले पातों का भी साधन होता है । परन्तु साधित राश्यादि मान को चक्र (१२ राशि) में घटाने पर ही मेषादि राशियों के अनुसार पात ग्रह होता है ॥ ५४ ॥

उपपत्तिः—अत्रानुपातेन—कल्पकुदिनैः कल्पीयशीघ्रोच्चाः मन्दोच्चा वा भगणा लभ्यन्ते तदा अहर्गणेन किमिति—

$$\frac{\text{कल्पीया उच्चभगणा} \times \text{अहर्गणः}}{\text{कल्पकुदिनानिः}} = \text{अभीष्टभगणा शीघ्राख्या, मन्दाख्या वा}$$

एवमेव कल्पकुदिनैः कल्पीयपातभगणाः

तदा अहर्गणेन किमिति—

$$\frac{\text{कल्पीयापातभगणा} \times \text{अहर्गणः}}{\text{कल्पीययुगभगणा}} = \text{अहर्गण सम्बन्धि राश्यादयः पातभगणाः ।}$$

१२ − राश्यादयो पाताः = मेषादिका पाताः । उपपन्नम् ॥ ५४ ॥

बार्हस्पत्यवर्षानयनम्

द्वादशघ्ना गुरोर्याता भगणा वर्तमानकैः ।
राशिभिः सहिताः शुद्धाः षष्ट्या स्युर्विजयादयः ॥ ५५ ॥

अथ संवत्सरानयनमाह । अहर्गणानीतस्य भगणादिकस्य बृहस्पतेर्याता गता भगणा उपरिस्था द्वादशगुणिता वर्त्तमानकैः यस्मिन् अधिष्ठितः स वर्तमानस्त-त्सहितैः एकयुक्तैः इत्यर्थः । राशिभिर्गणितागतराशिभिर्यद्राशौ तिष्ठति तस्य मेषादि संख्यया इति फलितार्थः । युताः षष्ट्या शुद्धा भागावशेषिताः फलं भागाधिकं च अनुपयोगात् त्याज्यम् । विजयादयः संवत्सरा वर्तमानसङ्ख्यिता भवन्ति ।

अत्रोपपत्तिः । मध्यगत्या सभोगेन गुरोर्गौरववत्सराः ।

इति लघुवशिष्ठ सिद्धान्तोक्तेः गुरुमध्यराशिभोगकाल एकः संवत्सर इति सृष्ट्याद्यानीतभगणादिगुरोः सम्पूर्णराशिज्ञानार्थं भगणा द्वादशगुणा वर्तमानराशि संख्यायुताः षष्टितष्टाः शेषं विजयादिकः संवत्सरो वर्तमानो भवति । संवत्सराणां षष्टिसंख्यत्वात् । सृष्ट्यादौ विजयसंवत्सरसद्भावाच्च ॥ ५५ ॥

बृहस्पति के गत भगणों की संख्या को १२ से गुणा कर उसमें वर्तमान भगण की राशि संख्या को जोड़कर ६० से भाग देने पर शेष संख्या तुल्य विजयादि क्रम से संवत्सर होते हैं ॥ ५५ ॥

विजयादि संवत्सरों के नाम—

१ विजय	१६ कीलक	३१ रूधिरोद्गारी	४६ बहुधान्य
२ जय	१७ सौम्य	३२ रक्ताक्ष	४७ प्रमाथी
३ मन्मथ	१८ साधारण	३३ क्रोधन	४८ विक्रम
४ दुर्मुख	१९ विरोधकृत	३४ क्षय	४९ वृष
५ हेमलम्ब	२० परिधावी	३५ प्रभव	५० चित्रभानु
६ विलम्ब	२१ प्रमादी	३६ विभव	५१ सुभानु
७ विकारी	२२ आनन्द	३७ शुक्ल	५२ तारण
८ शर्वरी	२३ राक्षस	३८ प्रमोद	५३ पार्थिव
९ प्लव	२४ नल	३९ प्रजापति	५४ व्यय
१० शुभकृत्	२५ पिङ्गल	४० अंगिरा	५५ सर्वजित्
११ शोभन	२६ कालयुक्त	४१ श्रीमुख	५६ सर्वधारी
१२ क्रोधी	२७ सिद्धार्थी	४२ भाव	५७ विरोधी
१३ विश्वावसु	२८ रौद्र	४३ युवा	५८ विकृत
१४ पराभव	२९ दुर्मति	४४ धाता	५९ खर
१५ प्लवङ्ग	३० दुन्दुभि	४५ ईश्वर	६० नन्दन

उपपत्तिः—बृहस्पतेः मध्यमराशिभोगात् संवत्सराः प्रभवन्ति ।

अतः गतभगणाः × १२ + वर्तमानभगणराशिः = सृष्ट्यादितो भुक्तराशयः । संवत्सराणां सं. ६०

अतः $\frac{\text{भुक्तराशय}}{\text{६०}}$ = शेषः वर्तमानसंवत्सरः ॥ ५५ ॥ **उपपन्नम्**

ग्रहानयने लाघवम्

विस्तरेणैतदुदितं संक्षेपाद् व्यावहारिकम् ।
मध्यमानयनं कार्यं ग्रहाणामिष्टतो युगात् ॥ ५६ ॥

अथोक्तमुपसंहरन् लाघवेन ग्रहानयनमाह । एतत् षण्मनूनान्तु सम्पीड्येत्यादि

विस्तरेण गणितक्रियाबाहुल्येन उदितमुक्तं व्यावहारिकं लोकव्यवहारोपयुक्तमिदं ग्रहानयनं संक्षेपादल्पगणितप्रयासात् ज्ञेयम् । तदाह । मध्यमानयनमिति । ग्रहाणां मध्यमानयनं मध्यमानेन गणितमिष्टतो वर्त्तमानात् त्रेताख्यात् युगात् महायुगस्य चरणात् त्रेतायुगादितो गताब्दैः अल्पभूतैः एवोक्तरीत्याहर्गणमानीयोक्तरीत्या मध्य-ग्रहा कार्या इत्यर्थः ॥ ५६ ॥

यह सब मैने विस्तार पूर्वक कहा । अब युगारम्भ से सभी ग्रहों के मध्यम-मानानयन की संक्षिप्त एवं व्यावहारिक विधि बतला रहा हूँ ॥ ५६ ॥

युगात् ग्रहानयने ग्रहाणां ध्रुवाः

अस्मिन् कृतयुगस्यान्ते सर्वे मध्यगता ग्रहाः ।
विना तु पातमन्दोच्चान् मेषादौ तुल्यतामिताः ॥ ५७ ॥
मकरादौ शशाङ्कोच्चं तत्पातस्तु तुलादिगः ।
निरंशत्वं गताश्चान्ये नोक्तास्ते मन्दचारिणः ॥ ५८ ॥

ननु सृष्ट्यादितो ग्रहचार प्रवृत्तेस्तदादित आनीतस्य ग्रहस्य वास्तवत्वेन तत्तुल्योऽयं ग्रहः कथमवगत इत्यत आह । अस्मिन्निदानीन्तने कृतयुगस्य अव-सानसमये सर्वे सप्तग्रहाः सूर्यादयो मध्यगता मध्यमा मेषादौ मेषादिप्रदेशे तुल्यतां समानतां गणितागतराश्यादिभोगेनेताः प्राप्ताः । पातमन्दोच्चान् विना पातमन्दो-च्चास्तु न तुल्या न वा मेषादौ । तथा च ग्रहाणां शीघ्रोच्चानाञ्च भगणपूर्तित्वात् त्रेतादिसमयावगत गतकालादागतराश्यादयः सृष्ट्यादिगतकालावगतराश्यादिभिः तुल्या भगणानाञ्च प्रयोजनाभावादिति भावः ॥ ५७ ॥

अथ उच्चपातयोर्विशेषमाह । चन्द्रस्य मन्दोच्चं तदानीं मकरादौ अस्ति तत्पातश्चन्द्रपातस्तुलादिस्थोऽस्ति । तुकारात् अतस्तयोस्त्रेतादित आनयनं नवष-ड्राशियोजन विशेषेण सुगममित्यर्थः । ननु एवमन्येषामपि यद्राश्यादिस्थत्वं तत्कथनेन तेषामपि आनयनं सुगमं भविष्यतीत्यत आह । निरंशत्वमिति । अन्येऽवशिष्टा मन्दोच्चपाता ये मन्दचारिणोऽल्पगतय उक्ताः पूर्वं भगणोक्त्या कथितास्ते चकारात् अस्मिन् कृतयुगान्ते निरंशत्वमंशाभावतां न प्राप्ताः । तथा च तेषां राश्यादि कथने गौरवं मन्दगतित्वात् एकदानीताः सहस्रवर्षपर्यन्तमुपयुक्ता भवन्तीति निरन्तरं तत्साधनावश्यकताभावात् तेषाम् आनयनं त्रेतादिगताब्देभ्य उपेक्षितमिति भावः । यदि च तत आनीयन्ते तदा स्वस्वक्षेपयुक्ताः कार्याः । क्षेपकास्तु रविमन्दोच्चं राश्यादिकं ०, ७, २८, १२, भौमस्य ३, ३, १४, २४, बुधस्य ५, ४, ४, ४८ गुरोः ०, ९, ०, ०, शुक्रस्य ११, १३, २१, ० शनेः ४, २०, १३, १२, भौमपातस्य ९, ११, २०, १२, बुधस्य ८, ११, १६, ४८ गुरोः ८, ८, ५६, २४ शुक्रस्य ४, १७, २५, ४८, शनिपातस्य ४, २०, १३, १२ एवमिष्टकालादपि ग्रहाः साध्याः स्वस्वक्षेपयोजन पूर्वम् ॥ ५८ ॥

इस कृत युग (सत्य युग) के अन्त में पात एवं मन्दोच्चों को छोड़कर सभी ग्रहों के मध्यम मान समानता को प्राप्त कर मेष राशि के आरम्भ बिन्दु पर थे । चन्द्रमा का उच्च मकर राशि के आरम्भ बिन्दु पर तथा चन्द्रमा का पात (राहु) तुलाराशि के आरम्भ बिन्दु पर था । मन्द गति के कारण अन्य ग्रहों के पात पूर्णरूप से अंशो का उपभोग नहीं कर पाये थे, (फलत: वे राशियों के मध्यवर्ती अंशो में ही थे), इसलिए उनके सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा गया ॥ ५७—५८ ॥

उपपत्ति:—कृतान्ते सूर्यादीनां ग्रहाणां अनुपात द्वारा साधनं क्रियते—
यदि कल्पसौरवर्षै: कल्पग्रहभगणास्तदा कृतान्तीय युगवर्षे किमिति—

$$\frac{\text{कल्प ग्रह भगणा:} \times \text{कृतान्तीय युगवर्षाणि}}{\text{कल्पसौरवर्षाणि}} = \text{कृतान्ते ग्रहभगणा:},$$

द्वादशाघ्न: शेष: हरैस्तष्टे सति नि:शेषो भवति अत: सर्वे मेषादावेव ।

$$\text{एवमेव} \quad \frac{\text{कल्पचन्द्रोच्च-भगणा:} \times \text{कृतान्तीययुगवर्षाणि}}{\text{कल्पसौरवर्षाणि}} = \text{कृतान्ते चान्द्रभगणा:}$$

$$(= \frac{४८८२०३००० \times १५३७२००००}{४३२००००००} = २२०७८९८०६९)$$

अत: मकरादौ चन्द्रोच्च: ।

$$\text{एवमेव} \quad \frac{\text{कल्पचन्द्रपातभगण} \times \text{कृतान्तीययुगवर्षाणि}}{\text{कल्पसौरवर्षाणि}} = \text{पातभगणा:}$$

द्वादशभिस्तष्टं ६ राशिरवशिष्यतेऽत: तुलादौ पात: । **उपपन्नम्**

भूपरिधिमानम्

योजनानि शतान्यष्टौ भूकर्णो द्विगुणानि तु ।
तद्वर्गतो दशगुणात् पदं भूपरिधिर्भवेत् ॥ ५९ ॥

अथ ग्रहाणां देशान्तरफलानयनार्थं भूपरिधिं स्वोपजीव्यभूव्यासकथन पूर्वकमाह । अष्टौ शतानि द्विगुणानि षोडश शतं योजनानि भूकर्णो भुवो भूगोलस्य कर्णो वृत्तपरिधिमध्यभागसूत्रं परिध्यर्धमितचापस्य ज्यारूपं द्विगुण इत्यनेन शतानि अष्टौ केन्द्रात् परिधिपर्यन्तम् ऋजुसूत्रस्य मानमिति सूचितम् । कक्षाव्यासार्द्धस्य कर्णव्यवहारवदस्य अपि भूकर्णव्यवहार: । तुकारात् पुराण विरुद्धोऽपि प्रत्यक्षसहकृतागमप्रमाणसिद्ध: । अस्मात् परिधिज्ञानमाह । तद्वर्गत इति । भूव्यासवर्गात् तुल्ययो: घातरूपाद्दशगुणान्मूलम् । कस्यायं समद्विघात इति तन्मूलं तत्प्रकारश्च ग्रन्थान्तरे प्रसिद्ध: भूपरिधि: स्यात् ।

अत्रोपपत्ति: । गजाग्निवेदराममित ३४३८ त्रिज्याया: कक्षाव्यासार्द्धत्वाद्द्विगुणत्रिज्या रूपव्यासे चक्रकलातुल्य: परिधि: २१६०० तदेष्टव्यासे क इति गुण

२१६०० हरौ ६८७६ हरेण अपवर्तितौ हरस्थाने रूपं गुणस्थाने सार्द्धाष्टावयव-युताः त्रयः तथा च व्यासोऽनेन गुणितः परिधिर्भवति । तत्र भगवता गुणस्य एक स्थानकरणार्थं वर्गः कृतः ९, ५२, १२ अत्र स्वल्पान्तराद्दश गृहीताः । वर्गेण वर्गं गुणयेदित्युक्तवात् व्यासवर्गो दशगुणितस्तन्मूलं व्यासो मूलरूपगुणगुणितः सिद्धो भवति । यद्यपि वर्गस्थाने दशग्रहणेन स्थूलमिदमानयनं तथापि परम-कारूणिकेन भगवता लोकानुग्रहार्थं गणितलाघवाय अङ्गीकृतम् । वस्तुतो भगवता वेदमङ्गलविश्वरूपमितव्यासस्य ११३८४ परिधिर्गणितागतः प्रत्यक्षेण खखखर सराममितः ३६००० अत्र पूर्वोक्तरीत्यापवर्तने गुणः ३, ९, ४४ पादोनदशावयव-युतं त्रयमस्य वर्गो दशप्रायः ९, ५९, ५९ इत्युपपन्नमुक्तम् ॥ ५९ ॥

आठ सौ योजन का द्विगुणितमान अर्थात् १६०० योजन पृथ्वी का कर्ण (व्यास) होता है । उस (व्यास) के वर्ग को दश से गुणा कर गुणनफल का वर्गमूल लेने से भूपरिधि होती है ॥ ५९ ॥

उपपत्तिः—त्रिज्यामानज्ञानादनुपातेन परिधिमानमन्विष्यते—

यदि २ × त्रिज्यायां (व्यासे) चक्रकला लभ्यते तदा भूव्यासे किमिति

$$\text{जाता भूपरिधि} = \frac{२१६०० \times \text{भूव्या}}{२ \times \text{त्रिज्या}} = \frac{२१६०० \times \text{भूव्या}}{२\ (३४३८)}$$

भूपरिधि = (३।८।३४) भूव्या

वर्गे कृते $\text{भूपरिधि}^2 = ९।५२।३७ \times \text{भूव्या}^2$

अत्र स्वल्पान्तरत्वात् $१० \times \text{भूव्या}^2$ इति गृहीतम् ।

अतः $\text{भूपरिधि} = \sqrt{१० \times \text{भूव्या}^2}$ उपपन्नम् ॥ ५९ ॥

स्पष्टभूपरिधिः देशान्तरसंस्कारश्च

लम्बज्याघ्नस्त्रिजीवाप्तः स्फुटो भूपरिधिः स्वकः ।
तेन देशान्तराभ्यस्ता ग्रहभुक्तिर्विभाजिता ॥ ६० ॥
कलादि तत्फलं प्राच्यां ग्रहेभ्यः परिशोधयेत् ।
रेखाप्रतीचीसंस्थाने प्रक्षिपेत् स्युः स्वदेशजाः ॥ ६१ ॥

अथ स्फुटपरिध्यानयनं देशान्तराफलानयनं तत्संस्कारञ्च श्लोकाभ्यामाह। द्वादशपलभयोर्वर्गयोगमूलमक्षकर्णः । अनेन द्वादशगुणिता त्रिज्या भक्ता फलं लम्बज्या । अनया गुणितो भूपरिधिस्त्रिज्यया गजाग्निवेदराममितया भक्तः फलं स्वकः स्वदेशसम्बन्धी स्पष्टो भूपरिधिः स्यात् । ग्रहस्य गतिर्देशान्तराभ्यस्ता स्वरेखादेश स्वदेशयोरन्तरयोजनानि देशान्तरपदवाच्यानि तैर्गुणिता तेन स्पष्टेन भूपरिधिना भक्ता फलं कलादिकं तत् फलं प्राच्यां स्वरेखादेशात् स्वदेशस्य

पूर्वदिग् भागस्थितत्वे ग्रहेभ्यः कलादिस्थाने परिशोधयेत् वर्जयेत् हीनं कुर्यात् इत्यर्थः। रेखाप्रतीचीसंस्थाने स्वरेखादेशात् पश्चिम दिग्भागस्थिते स्वदेशे ग्रहेभ्यः कलादिस्थाने प्रक्षिपेत् योजयेत् युक्तं कुर्यात् गणक इति शेषः । ते सिद्धा ग्रहाः स्वदेशजाः स्वदेशीया भवन्ति । पूर्वमहर्गणस्य लङ्कादेशीयत्वेन तदुत्पन्नग्रहाणां लङ्कादेशीयत्वात् ।

अत्रोपपत्तिः—

यद्यपि भूमेः कन्दुकाकारत्वेन सर्वत्राभिन्नः परिधिरिति स्फुटपरिध्यसम्भवस्तथापि निरक्षदेशस्य मध्यत्वकल्पनेन उक्तो भूपरिधिः तद्देशानामेव तदन्यत्र तदनुरोधेन वृत्तानां लघुत्वसम्भवेन उत्तरोत्तरं न्यूनपरिधिः स्वदेशे स्फुटसंज्ञः । एवं नवत्यक्षांशे मेरूस्थाने वडवास्थाने च परिध्यभावः। निरक्षदेशे परम उक्तः परिधिः अतो यत्र अक्षांशाः परमा नवतिः । परमास्तत्र लंबांशाभावः । यत्र अक्षांशा भावस्तत्र लंबांशाः परमा नवतिः । लम्बांशाक्षांशौ तु वक्ष्यमाणस्वरूपौ । तथा च लम्बांशह्रासानुरोधेन परिधेः अपि ह्रास इति परमलम्बांशैः नवतिमितैः उक्तो भूपरिधिस्तदा स्वदेशीयलम्बांशैः क इत्यनुपात उपपन्नोऽपि वृत्ताश्रितांशेभ्योऽनुपातानामसम्भवेन सर्वैः उपेक्षितत्वाच्च ज्यानुपातस्य सर्वैः अङ्गीकृतत्वात् प्रमाणस्थाने प्रमाशणांशज्या परमा त्रिज्या । इच्छा स्थाने इच्छांशानां ज्या लम्बज्या इति युक्तमुक्तम् उपपन्नं स्पष्ट परिध्यानयनम् । देशान्तरोपपत्तिस्तु लङ्कादेशीयो ग्रहः स्वदेशतः समसूत्रेणयो दक्षिणोत्तरयोः निरक्षदेश आसन्नस्तत्र कार्यः । तदर्थं लङ्कादेशस्व निरक्षदेशयोः अन्तरयोजनज्ञानम् आवश्यकम् । एतत् तु अस्मादृशगमशक्यम् इति परिध्यपचयवत् तदन्तरतोपचितं लङ्कोत्तरदक्षिणसूत्रस्थ स्वरेखादेश स्वदेशयोः अन्तरं स्वपरिधिस्थं गणनया ज्ञातम् । अस्मात् स्वपरिधिनेदमन्तरं योजनात्मकं तदोक्तपरिधिना किमित्यनुपातेन लङ्का स्वनिरक्षदेशयोः अन्तरमुक्तपरिधिस्थं ज्ञातम् । ततोऽर्कोदय द्वयान्तरकालेन अर्को भूपरिधिं क्रामति तत्र ग्रहाः स्वां स्वां गतिं कलात्मिकामतिक्रामन्ति अत उक्त परिधिना ग्रहगतिकलाः तदा प्राक्सिद्धलङ्का स्वनिरक्षदेशान्तरयोजनैः केत्यनुपातेन उक्तपरिध्योः गुणहरयोः तुल्यत्वेन नाशात् स्वरेखादेश स्वदेशयोः अन्तरयोजनानि ग्रहगतिगुणितानि स्वपरिधिभक्तानि फलं ग्रहस्यान्तरकलाः । यद्यपि स्वपरिधिना गतिकलास्तदा स्वरेखादेश स्वदेशयोरन्तरयोजनैः केत्येकानुपातेन एव देशान्तरफलमुपपन्नं भवति तथापि निरक्षदेश पदार्थ सम्बन्धाभावात् इदमुपपन्नं फलं निरक्षदेशीयं कथमिति आग्रहनिरतातिमन्दस्य बोधार्थं गुरुभूतमपि अनुपातद्वयमुक्तम् । तद्धनर्णोपपत्तिस्तु लङ्का देशात् स्वनिरक्षदेशस्य पूर्वभागस्थितत्वे लङ्कादेशार्द्धरात्रात् स्वनिरक्ष देशार्द्धरात्रमर्वाग्भवति । तदुदयकालात् प्रवहानिलवेगेन पूर्वभागे पूर्ववोदयात् । अतोऽग्रिमकालीनग्रहस्य पूर्वकालिकत्वसिद्ध्यर्थं तत्फलं न्यूनं कार्यम् । एवं निरक्षदेशस्य लङ्कातः पश्चिमस्थत्वे लङ्कोदयानन्तरोदयसद्भावात् लङ्कार्द्धरात्रात् अग्रिमकालेऽर्द्धरात्रमतः पूर्वकालिकग्रहस्य अग्रिम कालिकत्वसिद्धार्थं तत्फलं योज्यम् । चक्रशोधितपातस्य अयं संस्कारो विपरीत इति ज्ञेयम् । स्वनिरक्षदेशस्य लङ्कातः

पूर्वापरभागस्थत्वं स्वरेखादेशात् स्वदेशस्य पूर्वापरभागस्थस्य अनुरोधेन इति स्वनिरक्ष-देश स्वदेशयोर्याम्योत्तरैक्यादर्द्धरात्रयोः अभिन्नत्वात् स्वदेशार्द्धरात्रेऽपि स्वनिरक्ष-देशार्द्धरात्रकालिका एव ग्रहा अविकृता इति सर्वमुक्तमुपपन्नम् ॥ ६०—६१ ॥

भूपरिधि को स्वदेशीय लम्बज्या से गुणाकर त्रिज्या से भाग देने पर लब्धि स्वदेशीय (इष्ट) भूपरिधि होती है। इष्टस्थान के देशान्तर योजन को ग्रहगति कला से गुणाकर स्वदेशीय भूपरिधि से भाग देने पर लब्ध कलादि फल को, रेखादेश से पूर्व में गणितागत ग्रह में घटाने तथा पश्चिम में जोड़ने से स्वदेशीय मध्यमग्रह होते हैं । (इष्टस्थान यदि रेखा देश से पूर्व हो तो मध्यमग्रह में घटाने तथा इष्टस्थान पश्चिम होने पर मध्यम ग्रह में जोड़ने से इष्ट स्थान के अर्धरात्रिकालिक ग्रह होते हैं ।) ॥ ६०—६१ ॥

उपपत्तिः—स्पष्ट भूपरिधिं नामेष्ट स्थानीया भूपरिधिः । निरक्ष देशीया शून्य अक्षांशगता भूपरिधिः मध्यमा । भूमौ विषुवद्वृत्ताद् सौम्ये याम्ये वा उत्तरोत्तरं भूपरिधिरपचीयमाना भवति । यथा-यथा अक्षांशानां वृद्धिस्तथा तथा लम्बांशानां ह्रासो भवति । ध्रुव प्रदेशे अक्षांशाः = ९०° लम्बांशा = ०° ।

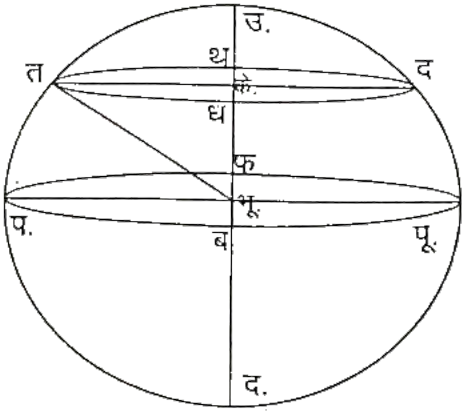

द्रष्टव्यम् क्षेत्रम्—

उ = उत्तर ध्रुवस्थानम्, द = दक्षिणध्रुवस्थानम्

भू = भूकेन्द्रम्, के = इष्टस्थानीयं भूकेन्द्रम्

प फ पू ब = विषुवद् वृत्तम = ०° अक्षांशाः = मध्यमा भूपरिधिः

त थ द ध = इष्ट स्थानीया भूपरिधिः = स्फुट भूपरिधिः

∠ त भू उ = अक्षांशाः त स्थानीयाः ।

∠ त ब उ = लम्बांशाः, ∠ त के भू = ९०°

भू त के △ त्रिभुजेऽनुपातः—

त के भू कोणज्यायां (९०°) भूव्यासार्धं लभ्यते तदा ∠ त भू के कोणज्यायां किमिति—

$$\frac{\text{त भू} \times \text{ज्या} \angle \text{ त भू के}}{\text{ज्या} \angle \text{ त के भू}} = \frac{\text{भूव्यासार्ध} \times \text{लम्बज्या}}{\text{त्रिज्या}} = \text{स्प. व्या. } \frac{१}{२}$$

परिध्योर्निष्पतिः व्यासयोर्निष्पत्ति समा भवतीति सिद्धान्तेन—

$$\frac{\text{म० प०}}{\text{स्प० प०}} = \frac{\text{म० व्या०}}{\text{स्प० व्या०}}$$

अतः म० भूव्यासार्धेन मध्यम परिधिस्तदा स्प. व्यासार्धेन स्पष्टभूपरिधिः

$$\frac{\text{म० भू० प० × स्प० परिधिव्यासार्ध}}{\text{म० भूव्यासार्ध}} = \text{स्पष्टभूपरिधिः}$$

उत्थापनेन——

$$\frac{\text{म० भू प० × भूव्यासार्ध × लम्बज्या}}{\text{म० भू व्यासार्ध × त्रिज्या}} = \frac{\text{म० भूपरिधि × लम्बज्या}}{\text{त्रिज्या}}$$

= स्फुटभूपरिधिः उपपन्नम् ।

देशान्तरसंस्कारोपपत्तिः——

$$\frac{\text{भूपरिधि × लम्बज्या}}{\text{त्रिज्या}} = \text{स्फुटभूपरिधिः}$$

$$\frac{\text{देशान्तरयोजनानि × ग्रहगतिकला}}{\text{स्फुटभूपरिधि}} = \text{देशान्तरफलकला}$$

लङ्कार्धरात्रि कालिका ग्रहा ± देशान्तरफलकला

= स्वदेशेऽर्धरात्रिकालिकाः ग्रहाः ॥ ६०—६१ ॥ उपपन्नम् ।

रेखादेशस्य नगराणि

राक्षसालयदेवौकः शैलयोर्मध्यसूत्रगाः ।
रोहीतकमवन्ती च यथा सन्निहितं सरः ॥ ६२ ॥

अथ रेखास्वरूपं तद्देशांश्च कांश्चिदाह । राक्षसालयं लङ्का देवानां गृहरूपः पर्वतो मेरूः अनयोः मध्ये ऋजुसूत्रं तत्र स्थिता देशा रेखाख्या लङ्कादक्षिण सूत्रस्थास्तु अनुपयुक्ताः तत्र मनुष्या गोचरत्वादिति न उक्ताः । ज्ञानार्थम् उदाहरति। रोहीतकमिति । यथा रोहीतकं नगरमवन्ति उज्जयिनी सन्निहितं सरः कुरुक्षेत्रम् । चकारस्तथा इति अव्ययपरः। तथा अन्यानि परस्परं सन्निहिततया ज्ञेयानि ॥ ६२ ॥

राक्षसों के आवास लङ्का, देवताओं के स्थान सुमेरु पर्वत (उत्तरी ध्रुव) के मध्यगत सूत्र (रेखा) पर स्थित रोहीतक (रोहतक), अवन्ती (उज्जैन), सन्निहित सरोवर (कुरुक्षेत्र) नामक स्थान रेखा देश कहे जाते हैं । (रेखादेश का अभिप्राय है शून्य देशान्तर "रेखान्तर" भूमध्य स्थित याम्योत्तर रेखा) ॥ ६२ ॥

रेखादेशसापेक्षं पूर्वापरान्तरज्ञानम्

अतीत्योन्मीलनादिन्दोर्दृक्सिद्धिर्गणितागतात् ।
यदा भवेत् तदा प्राच्यां स्वस्थानं मध्यतो भवेत् ॥ ६३ ॥
अप्राप्य च भवेत् पश्चादेवं वापि निमीलनात् ।

तयोरन्तरनाडीभिर्हन्याद् भूपरिधिं स्फुटम् ॥ ६४ ॥
षष्ट्या विभज्य लब्धैस्तु योजनैः प्रागथापरैः।
स्वदेशः परिधौ ज्ञेयः कुर्याद्देशान्तरं हि तैः ॥ ६५ ॥

ननु येन स्वस्थानं रेखापुरात् पूर्वतोऽपरत्र वा कियत् योजनान्तरेण अस्तीति न ज्ञायते तेन देशान्तरफलादिकं कथं कार्यमित्यतः श्लोकत्रयेण आह । चन्द्रस्य सर्वग्रहणान्तर्गतोन्मीलनकालात् विना देशान्तरं गणितागतात् चन्द्रग्रहणोक्तप्रकार गणितज्ञानात्। अतीत्य तत्कालस्य अतिक्रमणं कृत्वा पश्चादनन्तरकाले मन्दबोधार्थ-मिदम्। अन्यथातीत्य पश्चादिति अनयोः एकतरस्य वैयर्थ्यापत्तेः । तच्चन्द्रविम्बस्य उन्मीलनं यदा यदि इत्यर्थः । स्यात् तदा तर्हि इत्यर्थः । स्वाभिमतस्थानं मध्यतो मध्य रेखादेशात् पूर्वदिशि भवेत् तिष्ठति इत्यर्थः । पश्चात् तदित्यत्र दृक्सिद्ध-मिति पाठे तु प्रत्यक्षम् उन्मीलनमित्यर्थः । अप्राप्य तदतिक्रमणमकृत्वा पूर्वकाल एव । चकारात् चन्द्रोन्मीलनं यदि स्यात् तर्हि मध्यरेखातः स्वस्थानम् इत्यर्थः । पश्चात् पश्चिमदिग्भागे भवेत् तिष्ठतीत्यर्थः । ननु चन्द्रस्य स्पर्शमोक्षसम्मीलनो-न्मीलनकालेषु उन्मीलनकाल एव कथं गृहीत इत्यत आह । एवमिति । वा प्रकारान्तरेण निर्मीलनाच्चन्द्र सम्मीलन कालात् । एवं चन्द्रग्रहणाधिकारोक्त गणित प्रकारज्ञानादनन्तरकाले सम्मीलनं यदि तर्हि मध्य रेखादेशात् स्वस्थानं पूर्व दिग्भागे तिष्ठति पूर्वकाले सम्मीलनं यदि तर्हि मध्यरेखा देशात् स्वस्थानं पश्चिमादिग्भागे तिष्ठति इत्यर्थः । अपिशब्दो निश्चयार्थे । तेन उन्मीलन सम्मीलनकालयोर्भिन्न रीतिव्युदासः । तथा च उन्मीलनग्रहणम् उपलक्षणार्थं तत्रापि स्पर्शमोक्षयोः ग्रहणाद्यन्तरूपयोः अनिश्चयत्व सम्भावनयोक्तिमुपेक्ष्य ग्रहण-मध्यस्थ्योः सम्मीलनोन्मीलनयोः निश्चयत्वेनोक्तिः कृतेति भावः । अथ देशान्तर योजनपुरः सरं देशान्तरफलं सिद्धमित्याह । तयोरिति । प्रत्यक्षोन्मीलनकाल गणितागतोन्मीलनकालयोः सम्मीलनकालयोस्तादृशायोर्वा अन्तरघटीभिर्भूपरिधिं स्पष्टं स्वदेशभूपरिधिं लम्बज्याघ्न इत्याद्यवगतं हन्याद्गुणयेत् तादृशं गुणितस्पष्ट परिधिं षष्ट्या भक्ता लब्धैः प्राप्तैः योजनैः पूर्वभागयोजनैः । अथ अथवा अपरैः पश्चिम विभागस्थितैः योजनैः स्वदेशपरिधिः स्वदेशस्य परिधिरवधिः स्वदेश-स्थानमण्डलरूपस्तुकारात् रेखादेशादन्तरित इत्यर्थः । ज्ञेयो गणकेनेति शेषः । स्वरेखा स्वदेशयोरन्तरयोजनानि फलमिति फलितार्थः । तैः अन्तरयोजनैः देशान्तरं तेन देशान्तराभ्यस्तेत्यादि प्रागुक्तप्रकारेण ग्रहाणां देशान्तरफलं कलात्मकं कुर्यादगणक इति शेषः । हिकारात् तत्संस्कारोऽपि अभिन्न प्रकारत्वात् अभिन्न इत्यर्थः ।

अत्रोपपत्तिः । विना देशान्तरसंस्कारं ग्रहगणितं स्वरेखादेशीयं भवति । अतो गणितसाधितोन्मीलन सम्मीलनादि कालाः स्वरेखादेशे सिद्ध्यन्ति । स्वदेशे पूर्वविभागस्थे प्रथमं स्वस्य सूर्योदयादिकलास्तदनन्तरं रेखाया इति चन्द्रग्रहणस्य सर्वदेशे युगपत् सम्भवात् । गणितागतकालात् रेखादेशस्थादनन्तरं स्पर्शादिकालो

भवति। एवं स्वदेशे पश्चिमविभागस्थे प्रथमं रेखादेशेऽर्कोदयादि कालास्तदनन्तरं स्वदेश इति रेखास्थगणितागत स्पर्शादि कालाद्घट्यात्मकात् पूर्वमेव स्पर्शादि-कालो भवति । अतः सम्युगुपपन्नमतीत्येत्यादि सार्द्धश्लोकोक्तम् । स्वदेश रेखादेश सूर्योदयाद्यवधिक घट्यात्मककालयोरन्तरं देशान्तरघटिकाः सिद्धाः सूर्योदयद्वयान्तरकालेन अर्को भूपरिधिं क्रामतीति षष्टिसावनघटीभिर्भूपरिधि-योजनानि स्वदेशीयानि तदा तत्कालान्तररूपदेशान्तरघटीभिः कानि इत्यनुपातेन स्वरेखा देश स्वदेशयोरन्तरयोजनानि । ज्ञातेभ्यः एभ्यः पूर्वदिशैव देशान्तरं भवति, सूर्यग्रहणस्य सर्वदेशे युगपद् सम्भवात् तदुन्मीलनकालादिना उक्तदिशा न एतज् ज्ञानमित्यनुक्तिरिति ध्येयम् ॥ ६३—६५ ॥

पूर्णग्रस्त (खग्रास चन्द्र ग्रहण के समय) चन्द्रमा जब भूमि की छाया से बाहर निकलने लगता है तो उसे उन्मीलन काल कहा जाता है । यदि गणितागत उन्मीलन काल के बाद वेधसिद्ध (दृश्य) उन्मीलन काल हो तो स्वस्थान मध्य रेखा देश से पूर्व में स्थित समझना चाहिये । यदि गणितागत काल से पहले ही उन्मीलन दृश्य हो तो स्वस्थान रेखा देश से पश्चिम में समझना चाहिए । इस उन्मीलन काल से भी इष्ट स्थान का पूर्वापर ज्ञान किया जा सकता है ।

गणितागत एवं दृक्सिद्ध समयान्तर (देशान्तर काल) को स्पष्ट भूपरिधि से गुणाकर ६० से भाग देने से लब्धि देशान्तर योजन होती है । लब्धि तुल्य योजन स्वदेशीय (स्फुट) परिधि में मध्यरेखा से पूर्व या पश्चिम में स्वस्थान होता है ॥ ६३—६५ ॥

उपपत्तिः—"अत उर्ध्वममीयुक्ता" इत्यादिना साधितोऽहर्गणः लङ्कायामर्धरात्रि-कालिकः । अतः अहर्गणोत्पन्नौ सूर्याचन्द्रमसौ रेखादेशीयौ भवतः । तयोः स्वदेशीय करणार्थं देशान्तरसंस्कारः क्रियते । सर्वग्रासग्रहणे दृष्ट्युपलब्धौ सम्मीलनोन्मीलन कालौ यदि गणितागतादधिकौ भवतस्तदा स्वदेशः रेखादेशात् प्राच्यां स्वल्पौ चेत् तदा प्रतीच्यामिति अवगन्तव्यम् । गणितागत दृष्ट्युपलब्ध कालयोरन्तरं देशान्तरमिति । तद्यथा—

षष्टिभिर्घटिकाभिः स्पष्टभूपरिधियोजनानि अभीष्टदेशान्तरघटीभिः किमिति—

$$\frac{\text{स्पष्ट-भूपरिधि-योजनानि} \times \text{इष्ट-देशान्तर-घटीभिः}}{६०} = \text{रेखादेशान्तरयोजनानि ।}$$

देशान्तरयोजनस्य कलाकरणायानुपातः—

स्फुटभूपरिधियोजनैः ग्रहगति कला तदा अभीष्ट देशान्तरयोजनैः किमिति—

$$\frac{\text{ग्र. गति कला} \times \text{अभीष्ट देशान्तरयो.}}{\text{स्प. भू. प.}} = \text{कलात्मकं देशान्तरम् ।। ६३—६५ ।।}$$

उपपन्नम्

वारप्रवृत्तिः

वारप्रवृत्तिः प्राग्देशे क्षपार्धेऽभ्यधिके भवेत् ।
तद्देशान्तरनाडीभिः पश्चादूने विनिर्दिशेत् ॥ ६६ ॥

अथ वारप्रवृत्तिकालज्ञानमाह । रेखातः पूर्वभागस्थित स्वाभिमतदेशे तद्-देशान्तरनाडीभिः पूर्वप्रकारज्ञातदेशान्तर नाडीभिः अभ्यधिकेऽर्द्धरात्रे युक्तार्द्धरात्रसमये-ऽर्द्धरात्रादनन्तरं देशान्तरघटीकाल इत्यर्थः। वारप्रवृत्तिः वारस्यादिभूतः कालः स्यात्। रेखातः पश्चिमभागस्थदेशे पूर्वप्रकारंज्ञातदेशान्तर घटीभिरूनेऽर्द्धरात्रेऽर्द्धरात्रात् पूर्वमेव देशान्तरघटीकाले वारप्रवृत्तिं विनिर्दिशेद् भगणकः कथयेत् ।

अत्रोपपत्तिः । यमकोटि सूर्योदयकालो लङ्कार्द्धरात्रसमयरूपो ग्रहचार प्रवृत्ति-रूपः स्वदेशे कदेति रेखातः पूर्वापरभागयोः स्वार्द्धरात्रकालादनन्तरं पूर्वक्रमेण तदर्द्धरात्रं देशान्तरघटीभिर्भवति। स्वनिरक्षदेशस्वदेशार्द्ध रात्रयोः युगपत् सम्भवात्। अत उपपन्नं वारप्रवृत्तिरित्यादि। ननु एतत्कालज्ञानं किमर्थमुक्तं प्रयोजनाभावादिति। चेत् न । अहर्गणोत्पन्नग्रहस्य तात्कालिकत्वात् तत्कालज्ञानेन स्वार्द्धरात्र समयस्य तत्कालस्य च यदन्तरं तेन तात्कालिकस्य ग्रहस्य चालने कृते सति स्वार्द्धरात्रसमये ग्रहः पूर्वसाधित एव भवतीति मन्दप्रत्ययस्य एव प्रयोजनत्वात् । तत्कालज्ञानेन ग्रहस्यदेशान्तरसंस्काराकरणमिति लाघवाच्च । अतएव समनन्तरमेव ग्रहस्य इष्टकालिकत्वसिद्ध्यर्थं चालनोक्तिः सङ्गच्छते। एतेन तत् ततोऽर्द्धरात्रात् क्षपार्द्धे निरक्षरात्र्यर्द्धे पञ्चदशघटिकात्मककाल उत्तरगोलेऽर्कोदयाच्चरघटीमिता-ग्रिमकाले दक्षिण गोलेऽर्कोदयाच्चरघटीमितपूर्वकाल इति फलितम् । पूर्व पश्चिम देशयोर्देशान्तरघटीभिरधिकोने काले क्रमेण वार प्रवृत्तिरिति व्याख्यानं लङ्का-सूर्योदयकालरूपवार प्रवृत्तिबोधकमपास्तम् । तच्छब्दस्य पूर्वपरामर्शकत्वादर्द्ध-रात्रादित्यस्य अनुपपत्तेः पञ्चदशघटिका कालस्य क्षपार्द्धशब्देन असिद्धेश्च । श्री भगवताहर्गणस्य लङ्कायामार्द्धरात्रिक इत्यनेन लङ्कार्द्धरात्रकालिकत्वोक्तेः स्वदेशे तत्कालरूपवारप्रवृत्तिकाल ज्ञानस्योक्तस्य सङ्गत्यनुपपत्तेः । व्यवहारयोग्यलङ्का-सूर्योदयकालवार प्रवृत्तेरत्र सङ्गत्यभावाच्च ॥ ६६ ॥

रेखादेश से पूर्ववर्ती देशों में रेखादेशीय मध्यरात्रि काल से देशान्तर नाडी तुल्य अधिककाल में (मध्यरात्रि काल) वारप्रवृत्ति होती है। इसी प्रकार पश्चिमस्थ देशों में देशान्तर घटी तुल्य पहले वार प्रवृत्ति (मध्यरात्रि काल में) होती है ॥ ६६ ॥

विमर्श—रेखादेश से पूर्व स्थित देश का देशान्तर वश जितना मिनट सेकेण्ड का अन्तर होगा उतने मिनट सेकेण्ड बाद पूर्व देशों में मध्यरात्रि काल होगा तथा पश्चिम देशों में देशान्तर तुल्य मिनट सेकेण्ड पूर्व मध्यरात्रि काल होगा । यथा रेखा देश में १२।०० बजे मध्य रात्रि काल होता है । रेखा देश से १० मिनट समयान्तर पर जो नगर होगा वहाँ का मध्यरात्रि काल १२।१० बजे तथा इतनी ही दूरी पर पश्चिम में स्थित नगर का मध्य रात्रि काल ११।५० बजे होगा ।

उपपत्ति:—'लङ्कायामार्धरात्रिक' इत्यादिना अहर्गणादीनां साधनमार्धरात्रिकालिकमेव भवति । अत: वार प्रवृत्तिरपि अर्धरात्रि कालादेव युक्तियुक्त: । रेखा देशे सर्वत्रैव अर्धरात्रिकाल: समकालिक: । अत: रेखा देशात् प्राच्यामभीष्ट देशे देशान्तर घटी तुल्याधिककालेन प्रतीच्यां च देशान्तरघटीतुल्याल्पकालेन मध्यरात्रिकालो भवति । अर्थात् रेखा देशात् प्राच्यां पूर्वं, प्रतीच्यां च पश्चाद्वारारम्भ: इत्युपपन्नम् ।

इष्टकालिकग्रहसाधनम्

इष्टनाडीगुणा भुक्ति: षष्ट्या भक्ता कलादिकम् ।
गते शोध्यं युतं गम्ये कृत्वा तात्कालिको भवेत् ॥ ६७ ॥

अथ ग्रहस्य तात्कालिक करणमाह । यत्कालिको ग्रहस्तत्कालात् पूर्वमपरत्र अभीष्टकाले या इष्टघट्यस्ताभिर्गुणिता ग्रहमध्यगति: षष्ट्या भक्ता फलं कलादिकं गते गताभीष्टकाले पूर्वकालेऽभीष्टे सतीत्यर्थ: । शोध्यं ग्रहे हीनं गम्येऽग्रिमाभीष्टकाले सति ग्रहे युतं कृत्वा गणकेन विधाय तात्कालिक: स्वाभीष्टसामयिको ग्रहो भवेत् । गणकेन ज्ञातो भवेत् ।

अत्रोपपत्ति: । षष्टिसावनघटीभिर्गतिकलास्तदाभीष्टगतैष्यघटीभि: का इत्यनुपातेन अवगतकलात्मकचालनेन ग्रह: क्रमेण युतोनस्तात्कालिको ग्रहो भवति। चक्रशोधितपातस्य विपरीतमिति ज्ञेयम्। चालितस्पष्ट ग्रहापेक्षया चालित-मध्यग्रह: स्पष्ट: कृतश्चेत् सूक्ष्म इति सूचनार्थमत्र ग्रहचालनमुक्तम् ॥ ६७ ॥

ग्रह की मध्यम गति कला को इष्ट घटी से गुणा कर ६० का भाग देने से जो कलादि लब्धि हो उसे गत इष्ट घटी होने पर मध्यरात्रि कालिक ग्रह में घटाने तथा गम्य इष्टघटी हो तो मध्यरात्रि कालिक ग्रह में जोड़ने से इष्टकालिक ग्रह होता है ॥ ६७ ॥

विशेष:—गत-गम्य इष्ट घटी का निर्धारण मध्यरात्रि काल से करना चाहिये । मध्यरात्रि से जितने घटी-पल पूर्व ग्रहसाधन अभीष्ट हो उतने घटी पल गत इष्ट घटी तथा मध्य रात्रि के बाद गम्य इष्टघटी होती है ।

उपपत्ति:—गणितागता: ग्रहा: (अहर्गणोत्पन्ना) लङ्कायां मध्यरात्रिकालिका भवन्ति । तत: प्राक् गतेष्ट काल:, पश्चाच्च गम्येष्टकाल: । इष्टकालिकं गत्यन्तरं अनुपातेन साध्यते = षष्टिघटीभिर्ग्रहगतिकलास्तदा इष्टघटिभि: किमिति—

$$\frac{\text{ग्र० ग० क०} \times \text{इष्टघटी}}{\text{६०}} = \text{इष्टघटीसम्बन्धिगतिकला}$$

मध्यरात्रिकालिक ग्रह: $\pm$ इष्टकालिका ग्र० ग० कला

= इष्टकालिको ग्रह: ॥ ६७ ॥ उपपन्नम् ।

चन्द्रादीनां परमा विक्षेपकला

भचक्रलिप्ताशीत्यंशं परमं दक्षिणोत्तरम् ।
विक्षिप्यते स्वपातेन स्वक्रान्त्यन्तादनुष्णगुः ॥ ६८ ॥
तन्नवांशं द्विगुणितं जीवस्त्रिगुणितं कुजः ।
बुधशुक्रार्कजाः पातैर्विक्षिप्यन्ते चतुर्गुणम् ॥ ६९ ॥
एवं त्रिघनरन्ध्रार्करसार्कार्का दशाहताः ।
चन्द्रादीनां क्रमादुक्ता मध्यविक्षेपलिप्तिकाः॥ ७० ॥

॥ सूर्यसिद्धान्ते मध्यमाधिकारः सम्पूर्णः ॥ १ ॥

अथ चन्द्रस्य परमविक्षेपमानमाह । अनुष्णगुश्चन्द्रः स्वक्रान्त्यन्ताद्विषुवद्-वृत्तानुकारेण अवलम्बितश्चन्द्रः स्वासन्नक्रान्तिवृत्त प्रदेशेनाकृष्यते तथा तत्-स्थानात् स्वभोगमितरेवत्यासन्नाद्यवधिकाभीष्टस्थानभूतक्रान्तिवृत्तप्रदेशादपि स्वपातेन चन्द्रपातेन दक्षिणोत्तरं दक्षिणस्यामुत्तरस्यां वा तत् सूत्रेण विक्षिप्यते त्यज्यते स्वभोगस्थानक्रान्तिवृत्तप्रदेशे चन्द्रविम्बं स्थातुं पातेन न दीयते, ततोऽपि चन्द्रविम्बं स्थलान्तरे दक्षिणोत्तरसूत्रेण किञ्चिदन्तरेण त्यज्यत इत्यर्थः । एतेन सूर्यस्य पाताभावात् स्वभोगस्थानीयक्रान्तिवृत्तप्रदेशे विम्बं भवति न विक्षिप्तमित्यनुष्णगुरित्यनेनापि सूचितम्। परमविक्षेपणं दक्षिणोत्तरमित्यस्य विशेषणा-न्याह । भचक्रेति द्वादशराशि कलानां षट्शताधिकैकविंशतिसहस्रमितानांतेषां २१६०० अशीतिभागः खसप्तयमकलामितः परमं यस्य तद्दक्षिणोत्तरमित्यर्थः । चन्द्रस्य परमो विक्षेपः खभमित इति फलितम् । केचित् अत्र सूर्यस्य शराभावात् तत्कक्षातो भचक्रस्य पञ्चमकक्षत्वात् ततोऽपि चन्द्रकक्षाया अष्टमत्वात् तत्र दक्षिणोत्तररूपदिग्द्वये चन्द्रस्य विक्षेपणात् पञ्चाष्टद्विघातरूपाशीत्यंशो भचक्र-लिप्तानां परमचन्द्रविक्षेप इत्युपपत्तिमाहुः ॥ ६८ ॥

अथ एवं भौमादयोऽपि स्वपातैः विक्षिप्यन्त इत्येषामपि परमविक्षेपानाह । तन्नवांशं तस्य चन्द्रपरमविक्षेपस्य नवभागं त्रिंशतं द्विगुणितं षष्टिकलामितं परमेण तदन्तरेण इत्यर्थः । पातेन गुरुर्दक्षिणोत्तरयोः क्रमेण विक्षिप्यते । भौमः पातेन त्रिगुणितं त्रिंशतं नवति कलामितपरमान्तरेण विक्षिप्यते । चतुर्गुणं त्रिंशतं विंशत्य-धिक शतकलामितपरमान्तरेण बुध शुक्रशनैश्चराः स्वस्वपातैः प्रत्येकं विक्षिप्यन्ते स्वभोगक्रान्तिवृत्त प्रदेशात् त्यज्यन्ते । केचित् अत्रापि त्रयस्त्रिंशत्कलाविम्बात् चन्द्रान्नवांशद्विगुणेन सत्र्यंशकलासप्तकस्य गुरुविम्बस्य तद्रूपं विक्षेपणं युक्त-मस्माद्भौमस्याधस्थत्वात् त्रिगुणं परमविक्षेपणम् अस्मादपि बुधशुक्रयोः लघुपृथु-विम्बयोः अधःस्थत्वात् चतुर्गुणं परमविक्षेपणं तुल्यं न अल्पाधिकमेवं शनेरुच्च-कक्षास्थत्वेऽपि मन्दत्वात् बुधशुक्रविक्षेपण तुल्यं परमविक्षेपणं युक्त-मित्युपपत्तिमाहुः ॥ ६९ ॥

ननु एषामत्र कथने का सङ्गतिरित्यतः पूर्वोक्तमुपसंहरन्नाह । एवं पूर्व-श्लोकाभ्यां त्रिघनः सप्तविंशती रन्ध्राणि नवद्वादश षट् द्वादश द्वादशैते दश-गुणिताः क्रमादुक्तांकक्रमात् चन्द्रादीनां वारक्रमात् चन्द्रभौमबुध गुरुशुक्रशनीनां विक्षेपकला मध्या अग्रे परमशरकलानामनियतत्वेन उक्तेः । कथिता । तथा च मध्यत्वेन एषामत्र प्रसङ्ग सङ्गत्या कथनमिति भावः ॥ ७० ॥

अथ पूर्वापरग्रन्थयोः असङ्गतिनिवारणायाधिकार समाप्तिं फक्किकया आह । मयं प्रति सूर्यांशपुरुषेण सूर्योक्तस्यैव कथनादेतत् उक्तस्यापि सूर्यसिद्धान्तत्वम् । तत्र मध्यममानेन गणितमधिक्रियते यस्मिन् एतादृशो ग्रन्थैकदेशः परिपूर्तिमाप्त इत्यर्थः॥

रङ्गनाथेन रचित सूर्यसिद्धान्तटिप्पणे ।
मध्याधिकारः पूर्णोऽयं तद्गूढार्थप्रकाशके ॥

॥ इति श्रीसकलगणकसार्वभौमवल्लालदैवज्ञात्मजरङ्गनाथगणकविरचिते गूढार्थप्रकाशके मध्यमाधिकारः पूर्णः ॥ १ ॥

चन्द्रमा अपने पात (क्रान्ति मण्डल चन्द्रविमण्डल के सम्पात) स्थान के प्रभाव से क्रान्ति वृत्तीय अपने मध्य स्थान से भचक्रकला (२१६०० कला) के ८०वें (अर्थात् २१६०० ÷ ८० = २७०) भाग तुल्य दूरी तक उत्तर और दक्षिण में विक्षिप्त होते (बलात् हट जाते) हैं । चन्द्रमा के विक्षेप (२७०′) के द्विगुणित नवमांश $\frac{२७०\times२}{९}$ = ६०′ तुल्य गुरु उत्तर एवं दक्षिण तक आकृष्ट होता है । चन्द्र विक्षेप के त्रिगुणित नवमांश $\frac{२७०\times३}{९}$ = ९०′ तुल्य स्वस्थान से मंगल उत्तर एवं दक्षिण अपकृष्ट होता है । इसी प्रकार बुध, शुक्र और शनि चन्द्र विक्षेप के चतुर्गुणित नवमांश तुल्य अर्थात् $\frac{२७०\times४}{९}$ = १२०′ तुल्य स्वक्रान्ति स्थान से उत्तर और दक्षिण अपने-अपने पातों द्वारा हटा दिये जाते हैं ।

इस प्रकार ३ का घन अर्थात् २७, ९, १२, ६, १२, १२ को दश से गुणा करने पर क्रम से चन्द्रादि ग्रहों की विक्षेप कला होती है । यथा—

चन्द्रमा की	२७ × १० = २७०′
मंगल की	९ × १० = ९०′
बुध की	१२ × १० = १२०′
गुरु की	६ × १० = ६०′
शुक्र की	१२ × १० = १२०′
शनि की	१२ × १० = १२०′

विक्षेप कला सिद्ध होती है ॥ ६८—७० ॥

उपपत्तिः—ग्रहोपरिगत कदम्बप्रोतवृत्ते ग्रहविमण्डल क्रान्तिमण्डलयोरन्तरं विक्षेपो भवति । यथा क्षेत्रेण प्रदर्श्यते—

ध्रु. = ध्रुवस्थानम्

क = कदम्बस्थानम्

तग्रन = ग्रहविमण्डलम्

स′ प स = नाडीवृत्तम्

स′ र स = क्रान्तिवृत्तम्

क ग्र स्था = कदम्बप्रोतवृत्तम् ।

ग्र स्था = ग्रहविक्षेपः

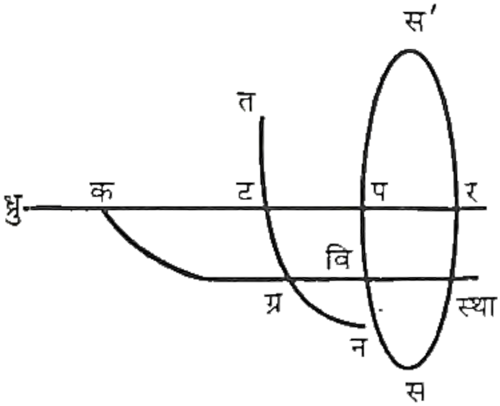

अथ क्रान्तिवृत्तीय 'स्था' स्थानादुत्तरे ग्रस्था तुल्यान्तरे ग्रहः स्वफलैर्विक्षिप्तः त्रिराशितुल्यान्तरे अर्थात् 'ट' स्थाने ग्रहे सति शरस्य परमत्वम् । ट र तुल्यो विक्षेपो शरो वा भवति ।

उपपन्नम् ।

॥ पण्डितवर्य बलदेवदैवज्ञात्मज प्रो० रामचन्द्रपाण्डेय द्वारा विरचित सूर्यसिद्धान्त के मध्यमाधिकार का हिन्दीभाषानुवाद एवं संस्कृतोपपत्ति सम्पूर्ण ॥ १ ॥

स्पष्टाधिकारः - २

शीघ्रोच्चादीनां प्रभावः

अदृश्यरूपाः कालस्य मूर्त्तयो भगणाश्रिताः ।
शीघ्रमन्दोच्चपाताख्या ग्रहाणां गतिहेतवः ॥ १ ॥
तद्वातरश्मिभिर्बद्धास्तैः सव्येतरपाणिभिः ।
प्राक्पश्चादपकृष्यन्ते यथासन्नं स्वदिग्मुखम् ॥ २ ॥

अथ स्पष्टाधिकारो व्याख्यायते । तत्र ग्रहाणां मध्यमातिरिक्तस्पष्टक्रियायां कारणमाह। शीघ्रोच्च मन्दोच्चपातसंज्ञकाः पूर्वोक्तपदार्था जीवविशेषाः सूर्यादिग्रहाणां गतिकारणभूताः सन्ति । ननु कालेन एव ग्रहचलनं भवतीति कालो गतिहेतुर्नैते इत्यत आह । कालस्य इति । पूर्वप्रतिपादित कालस्य स्वरूपाणि तथा च एषां कालमूर्तित्वेन ग्रहगति हेतुत्वं नासम्भवतीतिभावः । ननु कालस्य घट्यादिमूर्तित्वात् एषां तदात्मकत्वाभावात् कथं कालमूर्तित्वमित्यत आह । भगणाश्रिता इति। भगोलस्थक्रान्तिवृत्तानुसृत ग्रहगोलस्थक्रान्तिवृत्तप्रदेशाश्रिता राश्यात्मका इत्यर्थः। तथा च ग्रह राश्यादिभोगानां कालवशेन एव उत्पन्नत्वात् तदात्मकानां कालमूर्तित्वमिति भावः। ननु दृश्यन्ते कुतो न इत्यत आह । अदृश्यरूपा इति। वायवीयशरीरा अव्यक्तरूपत्वात् अप्रत्यक्षा इति भावः । एवं च ग्रहाणामुच्चादिसद्भावात् स्पष्टक्रियोत्पन्नेति तात्पर्यम् ॥ १ ॥

अथ अनयोरूच्चपातयोर्मध्य उच्चयोः गतिहेतुत्वं प्रतिपादयति । तेषामुच्चसंज्ञकजीवानां वायुरूपा ये रश्मयो रज्जवस्ताभिर्बद्धा विम्बात्मकग्रहास्तैः उच्चसंज्ञकजीवैः सव्यवामहस्तैः उच्चबहुत्वेन हस्तबाहुल्यात् बहुवचनं हस्ता""यामित्यर्थः । स्वदिङ्मुखं स्वाभिमुखं यथासन्नं ग्रहविम्बं भवति तथा प्राक् पश्चात् पूर्वपश्चिममार्गाभ्यामित्यर्थः । अपकृष्यन्ते आकर्ष्यन्ते । अयमभिप्रायः। भचक्रगोलस्थक्रान्ति वृत्तानुसृतग्रहाकाशगोलान्तर्गतक्रान्तिवृत्ते कक्षारूपे स्वस्वप्रदेशे ग्रहोच्चपातास्तिष्ठन्ति । तत्र विम्बव्यासोनकक्षाकारसूत्रं प्रवहवाय्वतिरिक्तवायुरूपं स्वतोगति स्वस्थाने कम्पमानं ग्रहविम्बव्यासे पूर्वापरे प्रोतमुच्चजीवहस्तद्वयान्तर्गतमस्ति । अथ ग्रहविम्बमुच्चस्थानात् पूर्वस्मिन् स्वशक्त्या गच्छन् अपि वामहस्तस्थित सूत्रेण उच्चस्थानात् पूर्व रूपेण ग्रहस्थानात् पश्चिमरूपेण बृहत्सूत्रावयवात्मकेन स्वस्थानात् पश्चात् स्वाभिमुखमपकृष्यते निरन्तरमुच्चदैवतैः स्वशक्त्या यावत् षड्भान्तरं तयोः अनन्तरं तन्मार्गेण आकर्षणसम्भवात् पूर्वस्मिन् गच्छद्

ग्रहविम्बं सव्यहस्तस्थित सूत्रेण उच्चस्थानात् पश्चिमरूपेण ग्रहस्थानात् पूर्वरूपेण वृहत्सूत्रावयवात्मकेन स्वस्थानात् पूर्वस्मिन् स्वाभिमुखमाकृष्यते स्वशक्तया निरन्तरं यावदन्तराभावस्तयोरिति ॥ २ ॥

भगण (क्रान्तिवृत्त) पर आश्रित शीघ्रोच्च, मन्दोच्च एवं पात संज्ञक काल की अदृश्य मूर्तियाँ ग्रहों की गति का कारण होती हैं । अर्थात् इन्हीं अदृश्य मूर्तियों के कारण ग्रहपिण्डों में गति उत्पन्न होती है । इन शीघ्रोच्च मन्दोच्च पात संज्ञक अदृश्य शक्तियों की वायुरूपी रस्सी से बँधे हुये ग्रह उन्हीं शक्तियों द्वारा वामदक्षिणहस्त से अपनी दिशा में अपने समीप अपकृष्ट होते (खींच लिए जाते) हैं ॥ १—२ ॥

गत्यन्तरे हेतुः

प्रवहाख्यो मरुत् तांस्तु स्वोच्चाभिमुखमीरयेत् ।
पूर्वापरापकृष्टास्ते गतिं यान्ति पृथग्विधाम् ॥ ३ ॥
ग्रहात् प्राग्भगणार्धस्थः प्राङ्मुखं कर्षति ग्रहम् ।
उच्चसंज्ञोऽपरार्धस्थस्तद्वत्पश्चान्मुखं ग्रहम् ॥ ४ ॥

अथात एव एकरूपां पूर्वाधिकारावगतां गतिं त्यक्त्वा प्रत्यहं विलक्षणां गतिं प्राप्ता ग्रहा इत्यत आह। प्रवहाख्यः प्रवहसंज्ञको मरुद्वायुः पश्चिमाभिमुखभ्रमस्तान् ग्रहान् तुकारात् उच्चानि स्वोच्चाभिमुखं स्वस्य प्रवहभ्रमणेन उच्चं भावप्रधान निर्देशादुच्चता यस्यां दिशि तत् स्वोच्चं पूर्वदिक् पूर्वभाग एव ग्रहाणां प्रवहभ्रमेण उच्चगमनदर्शनात् तत्सम्मुखं पूर्वदिशीति तात्पर्यार्थः। ईरयेत् पश्चिमाभिमुखभ्रमण सिद्धप्रागुक्तग्रहावलम्बनरूपेण चालयतीत्यर्थः । अतः कारणात् ते ग्रहाः पूर्वापराप-कृष्टा उच्चदैवतैः पूर्वपश्चिमदिशोराकृष्टाः पृथग्विधां प्रथमावगतैकरूपभिन्न प्रकारा-वगतां प्रतिक्षणविलक्षणां गतिं गमनक्रियां यान्ति प्राप्नुवन्ति । अवलम्बनाकर्ष-णाभ्यां प्रतिदिनं ग्रहाणां गतेरन्यादृशत्वं तदनुसारेण ग्रहचारज्ञानं युक्तमिति ग्रहाणां स्पष्टक्रियोत्पन्नेति भावः। यद्वा । ननु वायुरज्जुभिः कथं ग्रहाणामाकर्षणं सम्भवति तत् रज्जूनां विरलतया घनीभूतत्वाभावेन आकर्षणायोग्यत्वादित्यत आह। प्रवहाख्य इति। उच्चदेवताहस्तद्वयस्थितकक्षाकारसूत्रं वायुः प्रवहवायु सम्बन्धात् प्रवहसंज्ञो न पश्चिमाभिमुख भ्रमप्रवहात्मकस्तान् ग्रहान् स्वोच्चाभिमुखं स्वोच्चदेवता स्थन-सम्मुखमीरयेत् प्रेरयति चालयति । तुकारात् उच्चस्थानात् पूर्वस्मिन् ग्रहे वायुः पश्चिमगत्या ग्रहं चालयति पश्चिमस्थे वायुः पूर्वं गत्या ग्रहं चालयतीत्यर्थः । तथा च कक्षाकारसूत्रं तदा तथा तथा भ्रमतीति दैवतैः आकृष्यत इत्युपचारादुच्यत इति भावः । अतएव ग्रहाणां स्पष्टक्रियोत्पन्नेत्याह । पूर्वापरापकृष्टा इति । उच्च-दैवतैः पूर्वापरदिशयोः आकृष्टा ग्रहाः पृथग्विधां मध्यमातिरिक्तप्रकारां गतिं गमन-क्रियां यान्ति । अतो न केवलं मध्यक्रियया निर्वाहः ॥ ३ ॥

अथ प्राक् पश्चात् अपकृष्यन्त इत्युक्तं विशदयति। ग्रहस्थानात् पूर्वभागस्थ-

राशिषट्कस्थित उच्चसंज्ञो जीवो ग्रहविम्बं पूर्वदिगभिमुखं स्वाभिमुखं कर्षत्याकर्षति। अपरार्द्धस्थो ग्रहस्थानात् पश्चिमभागस्थराशिषट्कस्थित उच्चसंज्ञो जीव इत्यर्थः। ग्रहविम्बं पश्चान्मुखं पश्चिमदिगभिमुखं स्वाभिमुखं तद्वदाकर्षति इत्यर्थः ॥ ४ ॥

प्रबह नामक वायु (सूर्यादि) ग्रहों को उनके उच्चों की तरफ प्रेरित करती है (ढकेल देती हैं) । पूर्व और पश्चिम की ओर खिचें हुये ग्रहों की भिन्न-भिन्न गति होती जाती है ॥ ३ ॥

ग्रहों का उच्च संज्ञक स्थान यदि पूर्व दिशा में ६ राशि (१८०°) से अल्प दूरी पर हो तो ग्रह को पूर्व दिशा में तथा यदि पश्चिम में हो तो पश्चिम दिशा में खींच लेता है ॥ ४ ॥

ग्रहे धनर्णत्वम्

स्वोच्चापकृष्टा भगणैः प्रागुमुखं यान्ति यद् ग्रहाः ।
तत् तेषु धनमित्युक्तं फलं पश्चान्मुखेष्वृणम् ॥ ५ ॥

अथ पूर्वोक्तसिद्धं फलितमाह। स्वोच्चजीवाकर्षिता ग्रहाः पूर्वाभिमुखं भगणैः राशिभिः भगोलस्थक्रान्तिवृत्तानुसृत स्वाकाशगोलान्तर्गतक्रान्तिवृत्ते द्वादशराश्यन्तिके यद् राशिविभागैः इत्यर्थः । यद्यत्संख्यामितं गच्छन्ति तत्तत्संख्यामितं भागादिकं फलरूपं तेषु पूर्वावगतग्रहराश्यादिभोगेषु धनं योज्यम् । पश्चान्मुखेषु पश्चिमाकर्षित ग्रहपूर्वावगतराश्यादि भोगेषु तुकारात् यत्संख्यामितं फलरूपं पश्चिमतो गच्छन्ति तदित्यर्थः । ऋणं हीनमिति । एतत् पूर्वैः कथितम् ॥ ५ ॥

अपने अपने उच्च स्थानों से अपकृष्ट ग्रह अपने मध्यम स्थान से जितने राश्यादि तक पूर्व दिशा में जाते हैं उतने राश्यादि मान (उच्चाकर्षण फल) मध्यम ग्रह में जोड़े जाते हैं अतः इसे धन संस्कार कहते हैं तथा पश्चिम दिशा में उच्चाकर्षण फल घटाया जाता है अतएव उसे ऋण संस्कार कहते हैं ॥ ५ ॥

पाताकर्षणम्

दक्षिणोत्तरतोऽप्येवं पातो राहुः स्वरंहसा ।
विक्षिपत्येष विक्षेपं चन्द्रादीनापक्रमात् ॥ ६ ॥
उत्तराभिमुखं पातो विक्षिपत्यपरार्धगः ।
ग्रहं प्रागुभगणार्धस्थो याम्यायामपकर्षति ॥ ७ ॥

अथ पातानां ग्रहविक्षेपरूपगतिहेतुत्वं प्रतिपादयति। चन्द्रादीनां विरविग्रहाणामपक्रमात् क्रान्तिवृत्तस्थ स्पष्टग्रह भोगस्थानात् दक्षिणोत्तरतो दक्षिणस्याम् उत्तरस्यां वा दिशि । अपि शब्दः पूर्वापराभ्यां समुच्चयार्थकः । एष गणितागतः पातः पातराश्यादिभोगस्थानम् । अत्रापि अपिशब्द उच्चेन समुच्चयार्थकोऽन्वेति । एवमुच्चेन

पूर्वापरयोः फलान्तरं भवति तथेत्यर्थः। विक्षेपं विक्षेपणं स्वरंहसात्मवेगेन विक्षिपति करोति। विशिष्टवाचकानां पदानां विशेषणवाचकपद समवधाने विशेष्यमात्रार्थत्वात्। चन्द्रादीन् विक्षिप्तीति तात्पर्यार्थः । ननु उच्चेन स्वाधिष्ठितजीवद्वारा ग्रहाकर्षणं क्रियते तथा पातेन अचेतनत्वाद्वेगाभावेन ग्रहविक्षेपणं कर्त्तुमशक्यम् इत्यत आह । राहुरिति । पातस्थानाधिष्ठात्री देवता राहुः जीवविशेषः चन्द्रपातस्तु दैत्यविशेषो राहुः । रहति त्यजति ग्रहमिति राहुरिति व्युत्पत्तेः ॥ ६ ॥

अथ एतद्विशदयति । अपरार्द्धगो ग्रहस्थानात् पश्चिमविभागस्थित भगणार्द्धात्मकराशिषट्कस्थितो राहुः ग्रहविम्बं स्वराश्यादिभोगस्थानीय प्रदेशाद् उत्तर दिगभिमुखं विक्षिपति विक्षेपान्तरेण त्यजति। प्राग्भगणार्द्धस्थः पातः ग्रहस्थानात् पूर्व विभागस्थित राशि षट्कमध्यस्थितो दक्षिणस्यां दिशि अपकर्षति विक्षिपति ॥ ७ ॥

इसी प्रकार (पूर्वोक्त कारणों की तरह) राहु नामक पात (स्वविमण्डल एवं क्रान्ति मण्डल का सम्पात) भी क्रान्त्यन्त बिन्दु से ग्रह को अत्यन्त वेग से उत्तर और दक्षिण दिशा में विक्षेप तुल्य दूरी तक विक्षिप्त करता है । यदि पातस्थान ग्रह से पश्चिम दिशा में ६ राशि से अल्प दूरी पर होता है तो ग्रह को उत्तर दिशा में और यदि ६ राशि से अल्प पूर्व दिशा में होता है तो ग्रह को दक्षिण दिशा में आकर्षित कर लेता है ॥ ६—७ ॥

बुध शुक्रयोः वैशिष्ट्यम्

बुधभार्गवयोः शीघ्रात् तद्वत् पातो यदा स्थितः ।
तच्छीघ्राकर्षणात् तौ तु विक्षिप्येते यथोक्तवत् ॥ ८ ॥

अथ बुधशुक्रयोः विशेषमाह । बुधशुक्रयोः शीघ्रोच्चात् जात्यभिप्रायेण एकवचनम्। बुध शुक्रयोः पातो जात्यभिप्रायेण एकवचनम् । तद्वत् परार्द्धपूर्वार्द्ध-भगणार्द्धमध्ये यदा यत्काले स्थितस्तुकारात् तत्काले पाताभ्यामित्यर्थः । तौ बुध शुक्रौ यथोक्तवत् पूर्वार्द्धपरार्द्धक्रमेण दक्षिणोत्तरयोः विक्षिप्येते विक्षेपान्तरेण त्यज्येते। ननु उच्चात् तादृगवस्थितपातौ सम्बन्धाभावात् बुधशुक्रौ दक्षिणोत्तरयोः कथं त्यजतोऽन्यथा वैयधिकरण्येन अतिप्रसङ्गापत्तेरित्यतः कारणमाह । तच्छीघ्राकर्षणादिति । बुधशुक्रयोः शीघ्रोच्चे तयोः आकर्षणाभ्यां जात्यभिप्रायेण एक वचनम् । तथा च तदुच्चाभ्यां तादृगवस्थितपातौ तदुच्च जीवौ दक्षिणोत्तरयोः त्यजत इति पूर्वोक्तरीत्या न्यायसिद्धमतस्तदुच्चसूत्रबद्धत्वात् बुधशुक्रयोस्तथा विक्षेपणं न्यायसिद्धमेव इति भावः। ननु भौमगुरुशनीनामेवं कथं न उक्तमनयोः वा कथमेतदुक्तं सर्वेषामेकरीतिकथनस्य समुचितत्वात् । किञ्च गुरुभौमशनीनामुच्चदेवताः स्स्वकक्षास्था इति फलमुपपन्नं भवति बुधशुक्रयोः उच्चदेवतयोः कक्षातो दक्षिणोत्तरयोः स्थितत्वेन पूर्वोक्तरीत्या फलानुपपत्तिर्विलक्षणप्रवहवायुसूत्रस्थ देवता सम्बद्धस्य स्पष्टभूपरिध्याकारत्वेन कक्षाकारत्वाभावात् । बिना कक्षाकारतां फलो-

त्पादनस्य ब्रह्मणोऽपि अशक्यत्वाच्च । न च विलक्षण प्रवहवायुसूत्रं देवतासम्बद्धं ग्रहाकाशगोले कक्षाकारत्वाभावेऽपि कक्षातुल्यं स्थानान्तर इति फलोत्पत्तिर्याम्योत्तरान्तरसत्वेऽपि कल्पनया इति वाच्यम् । उच्चदेवता स्थानस्य कक्षातो दक्षिणत्वे तत्षड्भान्तरप्रदेशस्य उत्तरत्वावश्यम्भावेनोच्चबुधशुक्रयोः । एकदिग्विक्षेपतुल्यत्वनियमानुपपत्तेः । तत्कथमिदं सङ्गतं भगवदुक्तमिति चेत् । अत्रोच्यते । स्वरूच्या सङ्गतार्थमङ्गीकृत्य तद्दूषणोद्घाटनेन भगवदुपालम्भनकर्तुः रसनाच्छेदस्तत्तत्त्वार्थप्रकाशेन अवश्यं करणीयः। तथाहि स्वशीघ्रोच्चाद् बुध शुक्रयोर्यदन्तरं राश्यात्मकं तद्वत् पातस्तेनान्तरेण युक्तः पूर्वानीतपात इत्यर्थः। यथा बुधशुक्रयोः अपरपूर्वार्धक्रमेण स्थितोऽवस्थितस्तुकारात् तथेत्यर्थः । तच्छीघ्राकर्षणात् तादृशपाताभ्यां शीघ्रं वेगेन आकर्षणं तस्मात् पातस्थानाधिष्ठातृ देवताभ्यां स्वहस्तस्थित ग्रहसम्बद्धवायु सूत्रस्य अतिवेगाकर्षणरचनादित्यर्थः । तौ बुधशुक्रौ उक्तवदुत्तरदक्षिण क्रमेण विक्षिप्येते । अत्र पातशब्देन चक्रशोधितपातो बोध्यः । अन्यथा ग्रहोनशीघ्रोच्चरूपकेन्द्रयोजनस्योपपत्ति सिद्धत्वेन शीघ्रोच्चोन ग्रहरूप केन्द्र योजनोक्त्यनुपपत्तेः। तथा च सर्वग्रहसाधारणं विक्षेपकथनं पातभेद्दर्शनार्थं बुधशुक्रयोः पृथगुक्तम् । न हि अन्यस्मिन् पक्ष उच्चयोर्विक्षेपणं प्रतीयते येन प्रागुक्तसर्वविलोपाशंकनं शंकनीयम्। पातभेदोक्तिकारणच्च ।

ये चात्र पातभगणाः कथिता ज्ञभृग्वो-
स्ते शीघ्रकेन्द्रभगणैरधिका यतः स्युः ।
स्वल्पाः सुखार्थमुदिताश्चलकेन्द्रयुक्तौ
पातौ तयोः पठितचक्रभवौ विधेयौ ।

इति भास्कराचार्योक्तमिति दिक् ॥ ८ ॥

बुध और शुक्र के शीघ्रोच्चों से इनके पात (बुध और शुक्र के विमण्डल और क्रान्तिमण्डल के सम्पात) पूर्वोक्त नियमानुसार पूर्व दिशा में यदि ६ राशि से अल्प दूरी पर हों तथा पश्चिम दिशा में भी ६ राशि से अल्प हों तो क्रम से उत्तर एवं दक्षिण में आकर्षित करता है ॥ ८ ॥

शीघ्रोच्चमन्दोच्च पातैरपकर्षणे हेतुः

महत्वान्मण्डलस्यार्कः स्वल्पमेवापकृष्यते ।
मण्डलाल्पतया चन्द्रस्ततो बह्वपकृष्यते ॥ ९ ॥

स्यादेतत्परमुच्चदेवतयोरविशेषात् सूर्यचन्द्रयोः समं फलं कुतो न भवतीत्यत आह। सूर्यो मण्डलस्य विम्बस्य महत्वात् गुरुत्ववत्वात् स्वल्पमितर ग्रहापेक्षयाल्पं परमफलम् । एवकारो निर्द्धारणेऽपकृष्यते उच्चजीवेन आकृष्यते । चन्द्रो मण्डलाल्पतया विम्बस्य लघुत्वेन ततः सूर्यफलात् बह्वधिकं परमफलमुच्चजीवेन आकृष्यते ॥ ९ ॥

सूर्य का विम्बमान बृहद होने से सूर्य अपने मन्दोच्च पात द्वारा अल्प आकर्षित होता है किन्तु विम्बमान लघु होने से चन्द्रमा अपने मन्दोच्च से सूर्य की अपेक्षा अत्यधिक आकर्षित हो जाता है ॥ ९ ॥

भौमादयोऽल्पमूर्त्तित्वाच्छीघ्रमन्दोच्चसंज्ञकैः ।
दैवतैरपकृष्यन्ते सुदूरमतिवेगिताः ॥ १० ॥

अथ अतएव भौमादीनामल्पमूर्तित्वादाभ्यां फलाधिकत्वं सम्भवतीत्याह । भौमादयः पञ्चग्रहा अल्पमूर्तित्वात् लघुतरविम्बत्वात् शीघ्रमन्दोच्चसंज्ञकैः शीघ्रोच्चमन्दोच्च संज्ञैर्दैवतैः सुदूरमत्यन्तं बह्वपकृष्यन्ते । अत एवाति वेगिता अत्यन्तवेगः सञ्जातो येषां ते विम्बलघुत्वेन उच्चद्वयाकर्षणेन च बहुपरमफला इत्यर्थः । ननु सूर्यचन्द्रयोः कक्षाकारविलक्षणप्रवहवायु चलनेन फलोत्पादनं युक्तं भौमादीनां तु प्रत्येकमुच्चद्वयसद्भावात् वायुरश्म्याकर्षणासम्भवेन कक्षाकार-प्रवहविलक्षण वायुचलनेन फलोत्पादनार्थमङ्गीकृतं कथं सम्भवति । उच्चद्वय-स्थानस्य एकत्वाभावात्। न हि एकमेव वायुमण्डलं युगपद्विरुद्धगत्योराश्रयं स्वतो भवितुमर्हतीति चेन्न भौमादीनां शीघ्रमन्दोच्चदेवताद्वयेन तत् सूत्रमार्गेण ग्रहबिम्बा-कर्षणस्य एव स्वशक्त्या रचनात् । न वायुमण्डलचलनकल्पनं सूर्य चन्द्रयोरपि एवमेवाङ्गीकारे बाधकाभावात् च । वायुमण्डलकल्पनं तु तद्वातरश्मीत्युक्तानुपपत्यानति प्रयोजनम् । तद्वातरश्मिभिर्बद्धा इत्यस्य पश्चिमभ्रमात्मकप्रवहवायौ स्व स्वाकाश-गोले समसूत्रसम्बन्धेन स्थिता इति ग्रहस्थितिस्वरूपोक्त्या समर्थनात् न हि तदत्र हेतुगर्भं येनानुपपत्तिः शंकनीया । उच्चदेवता कल्पनेन आकाशस्थ ग्रहाणां तथा तथा स्वशक्त्या तदाकर्षणात् फलद्वयसंस्कार रूपैकफलोत्पादनं सङ्गच्छते अतएव सूत्रं ग्रहबिम्बप्रोतं कक्षाकारमिति कल्पनमपि निरस्तम् । उच्चद्वयात् तुल्यकर्षणेन विरुद्धकर्षणेन च सूत्रमण्डलभङ्गापत्तेरिति ॥ १० ॥

भौमादि पञ्चताराग्रह लघु विम्बात्मक होने के कारण अपने-अपने शीघ्रोच्च और मन्दोच्च रूपी अदृश्य दैवी शक्तियों द्वारा अत्यन्त वेग पूर्वक सूदूर (अधिक दूरी तक) अपकृष्ट हो जाते हैं ॥ १० ॥

अतो धनर्णं सुमहत् तेषां गतिवशाद्भवेत् ।
आकृष्यमाणास्तैरेवं व्योम्नि यान्त्यनिलाहताः ॥ ११ ॥

अथ एतदुपसंहरति । अतः पूर्वोक्तसुदूराकर्षणप्रतिपादनात् तेषां भौमादीनां गतिवशात् आकर्षणोत्पन्नचलनवशात् सुमहत् अत्यधिकं फलं धनर्णं स्वोच्चाप-कृष्टेत्यादिना भवति । ननु आकर्षणोत्पन्नचलनं कथं न प्रत्यक्षमित्यत आह । आकृष्यमाणा इति । तैः उच्चपातदैवतैः एवमुक्तप्रकारेण आकृष्टमाणा आकर्षिता एते भौमादयो व्योम्नि स्वस्वाकाशगोलेऽनिलाहताः पश्चिमाभिमुखानवरता प्रवह-वाय्वाघाता यान्ति गच्छन्ति । तथा च अवलम्बनोत्पन्नपूर्वगतिर्यथा न प्रत्यक्षा

तथा पूर्वगतिविकृत्यात्मकमेतत् आकर्षणचलनमनियतं प्रवहवायुभ्रमण प्राबल्यात् अप्रत्यक्षमिति भावः ॥ ११ ॥

यही कारण है कि भौमादि ग्रहों में उनकी गतियों के कारण धन एवं ऋण संस्कार अधिक होते हैं । इस प्रकार प्रबह वायु के वेग से आहत होकर अपने अपने पातों से आकृष्ट होते हुये भौमादि ग्रह आकाश में अपनी-अपनी कक्षा में भ्रमण करते हैं ॥ ११ ॥

ग्रहाणामष्टधा गतिः

वक्राऽतिवक्रा[1] कुटिला मन्दा मन्दतरा समा ।
तथा शीघ्रतरा शीघ्रा ग्रहाणामष्टधा गतिः ॥ १२ ॥

अथ एवं गतिकारणसञ्चयैर्ग्रहाणां भौमादीनां फलितैका गतिरष्टभेदात्मिका इत्याह। भौमादि ग्रहाणां विरविचन्द्राणामष्टप्रकारा गतिः फलिता । तत्र वक्रेत्यादि समेत्यन्तं षट्प्रकारा गतिः शीघ्रतरा शीघ्रेति गतिद्वयम् । तथा समुच्चये । आसां स्वरूपज्ञानमग्रे स्फुटम् ॥ १२ ॥

वक्र (अनुलोम), अनुवक्र, कुटिल, मन्द, मन्दतर, सम, शीघ्रतर तथा शीघ्र, ये आठ प्रकार की ग्रहों की गतियाँ होती हैं ॥ १२ ॥

तत्रातिशीघ्रा शीघ्राख्या मन्दा मन्दतरा समा ।
ऋज्वीति पञ्चधा ज्ञेया या वक्रा सातिवक्रगा ॥ १३ ॥

अथ एनामष्टधा गतिं भेदद्वयेन क्रोडयति। तत्र अष्टविधगतिषु अतिशीघ्रेत्यादि समेत्यन्ता इत्येवं पञ्चधा गतिः । ऋज्वी मार्गी गतिर्ज्ञेया या गतिः सानुवक्र-गानुवक्रगमनेन सह वर्तमाना पूर्वश्लोकेऽनुवक्रगतेर्वक्रकुटिलमध्याभिधानाद् उभय-थासन्नत्वाच्च वक्रानुवक्रा कुटिला इति गतिर्वक्रा ज्ञेया तथा च ग्रहाणां मार्गी वक्रेति गतिद्वयम् ॥ १३ ॥

इन आठ प्रकार की गतियों में अतिशीघ्र, शीघ्र, मन्द, मन्दतर और सम ये पाँच प्रकार की मार्गी (ऋजुमार्गी) गतियाँ है । जो वक्रगति है, वहीं अनुवक्र भी हैं अर्थात् वक्र अनुवक्र एवं कुटिल (विकल) ये तीनों गतियाँ वक्र (अनुलोम) गति संज्ञक होती हैं । इस प्रकार गतियों के मार्गी और वक्री प्रमुख दो भेद होते हैं ॥ १३ ॥

विशेष—सभी ग्रह अपनी-अपनी कक्षा में समान काल में समान दूरी पूर्ण करते हैं । अर्थात् इनकी योजनात्मिका गति समान होती है । किन्तु कक्षा के दूरस्थ एवं समीपस्थ होने से ग्रहगति के कोणीय मान में न्यूनाधिकता आती है । जिससे

---

१. वक्रागतिवक्रा विकला "इति पाठान्तरम् ।।"

प्रत्येक ग्रह की गति भिन्न-भिन्न होती है । यथा—समान काल में समान दूरी आक्रमित करने पर भी लघुकक्षा में कोणीय गति = ∠ त, भू ध, उससे बृहद् कक्षा में कोणीय मान = ∠ त भू द, तथा दूरस्थ कक्षा में कोणीय मान--∠ त भू थ होता है। यही कारण है कि अति समीपस्थ होने से चन्द्रमा की गति सर्वाधिक तथा अतिदूरस्थ होने से शनि की गति अत्यल्प होती है ।

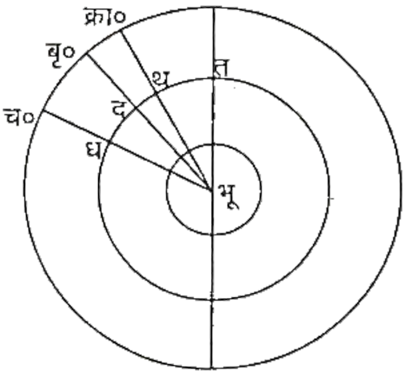

वस्तुत: ग्रह अपनी कक्षा में समान गति से पूर्वाभिमुख गमन करते हैं । परन्तु दृग्भ्रमवशात् अतिचारी एवं वक्री आदि विभिन्न प्रकार गतियाँ परिलक्षित होती हैं । वक्रगति का अनुभव कैसे होता है उसे चित्र द्वारा प्रदर्शित किया गया है ।

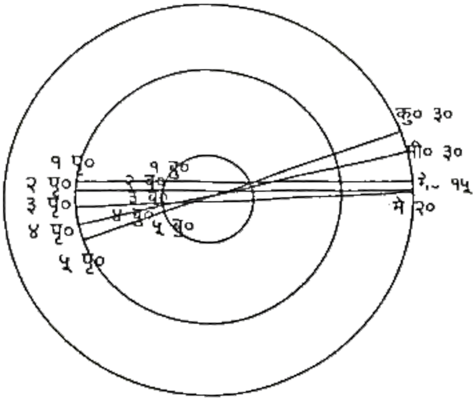

चित्र में १ पृ.,एवं १ बु. से ३ पृ. एवं ३ बुध की द्योतक रेखायें मार्गत्व तथा ४ पृ. एवं ४ बु. ५ पृ. एवं ५ बुध वक्रत्व बोधक रेखायें हैं । 'तत्तद स्थानों में ग्रहों की स्थिति रहने पर मार्गत्व एवं वक्रत्व का बोध होता है ॥ १३ ॥

स्फुटीकरण प्रयोजनम्

तत्तद्गतिवशान्नित्यं यथा दृक्तुल्यतां ग्रहाः ।
प्रयान्ति तत् प्रवक्ष्यामि स्फुटीकरणमादरात् ॥ १४ ॥

अथ ग्रहाणां स्पष्टक्रियां प्रतिजानीते । नित्यं प्रत्यहं तत्तद्गतिवशात् तास्ता गतय एकस्मिन् दिने शीघ्रापरदिनेऽतिशीघ्रेत्यादिना यस्मिन् दिने या गतिस्तत्सम्बन्धानुरोधाद् इत्यर्थः । ग्रहाः सूर्यादयो यथा येन प्रकारेण दृक्तुल्यतां वेधितग्रहसमतां गच्छन्ति तत् तादृशं स्फुटीकरणं स्पष्टक्रिया गणितप्रकारमादरात् अत्यन्ताभिनिवेशात् एतेन असङ्गतत्वनिरासः । प्रवक्ष्यामि सूक्ष्मत्वेन कथयामि ॥ १४ ॥

उन (पूर्वोक्त) गतियों के अनुसार प्रतिदिन ग्रह जिस प्रकार दृक्तुल्य हो जाते हैं (अर्थात् जिस स्थान पर वेध द्वारा दृग्गोचर होते हैं) उस स्पष्टीकरण प्रक्रिया को मैं आदरपूर्वक कह रहा हूँ ॥ १४ ॥

विशेष:—आकाश में सभी ग्रह अपनी अपनी कक्षा में एक दूसरे से

ऊर्ध्वाधः स्थित हैं । अपनी कक्षा में ग्रहों की स्थिति मध्यम कहलाती है जो अहर्गण द्वारा अनुपात सिद्ध होती है । किन्तु सभी ग्रह एक धरातल पर (दृश्य क्षितिज पर) दिखलाई पड़ते है । जहाँ ग्रह दृग्गोचर होता है वही उसका स्पष्ट स्थान होता है ॥ १४ ॥

ज्यापिण्डानां साधनम्

राशिलिप्ताष्टमो भागः प्रथमं ज्यार्धमुच्यते ।
तत्तद्विभक्त लब्धोनमिश्रितं तद् द्वितीयकम् ॥ १५ ॥
आद्येनैवं क्रमात् पिण्डान् भक्त्वा लब्धोनसंयुताः ।
खण्डकाः स्युश्चतुर्विंशज्ज्यार्धपिण्डाः क्रमादमी ॥ १६ ॥

अथ तत्र प्रथमं ज्यासाधनार्थं ज्यार्द्धपिण्डान् विवक्षुस्तदानयनं श्लोकाभ्यामाह । एकराशिकलानाम् अष्टादशशतानाम् अष्टमोऽशस्तत्वाश्विमितः प्रथममाद्यं ज्यार्द्धं सम्पूर्णजीवार्द्धपिण्डकः कथ्यते तदभिज्ञैः। ततः प्रथमज्यार्द्धात् तेन प्रथमज्यार्द्धेन भक्तालब्धेन हीनमन्यस्य अप्रसङ्गात् प्रथमज्यार्द्धमनेन युक्तं तत् प्रथमज्यार्द्धं द्वितीयकं ज्यार्द्धं भवति । द्विगुणप्रथममेकोनं तृतीयादीनामानयनार्थमुक्तप्रकारम् । अतिदिशति । आद्येनेति । प्रथमज्यार्द्धपिण्डेन । एवमुक्तरीत्या क्रमात् सिद्धपिण्डान् भक्ता लब्धैरूनमाद्यं खण्डमनेन युताः खण्डका असिद्धाव्यवहित सिद्धज्यार्द्धपिण्डा असिद्धपिण्डा भवन्ति । यथा प्रथम खण्डं २२५ प्रथमभक्तं फलं १ द्वितीयखण्डं ४४९ प्रथमभक्तं फलं द्वयं २ अर्द्धाधिकावयवस्य एकाधिकत्वेन ग्रहस्य साम्प्रदायिकत्वात् । फलैक्योनं प्रथमं २२२ अनेन द्वितीयखण्डो ४४९ युतस्तृतीयं ६७१ एवमिदं प्रथमखण्डभक्तं फलं ३ अनेन पूर्वफलैक्यं ३ युतं जातं ६ सर्वफलैक्यमनेन प्रथमं खण्डं हीनं २१९ अनेन तृतीयं ६७१ युतं चतुर्थं ८९० एवमिदं प्रथमखण्डभक्तं फलं ४ पूर्वलब्धैक्योन प्रथमखण्डरूपं २१९ ज्यान्तररूपखण्डकमनेन ४ हीनं २१५ अनेन चतुर्थं युतं पञ्चमं ११०५ एवमग्रेऽपि । अथोक्तरीत्यासंख्यखण्डानां सम्भवात् खण्डनियममाह । स्युरिति । एवं चतुर्विंशत्संख्याका ज्यार्द्धपिण्डाः कार्या न तदधिकाः अत्र ।

एकविंशाच्च विंशाच्च षष्ठात् पञ्चदशादपि ।
सप्तमाद्द्वादशात् सप्तदशन्नार्द्धोत्तरं मतम् ॥

इति ब्रह्मासिद्धान्तोक्तस्थलेऽर्द्धाधिकावयवस्य एकाधिकत्वेन न ग्रह इति ध्येयम् । गणितस्य अविकृतत्वात् सिद्धाः पिण्डाः कथं न उक्ता इत्यत आह । क्रमादिति । अमी सिद्धाः पिण्डाः क्रमात् समनन्तरमेव उच्यन्ते ।

अत्रोपपत्तिः । समायां भूमौ वृत्तं भगणकलाङ्कितं तिर्यगूर्द्धाधरव्यासमितरेखाभ्यां चतुर्भागं कार्यं तत्रोर्द्धरेखासक्तपरिधिप्रदेशात् उभयत्र समविभागं विगणय्य तदग्रयोर्बद्धं सूत्रं वृत्ते द्विगुणविभागमितसम्पूर्णचापस्य सम्पूर्णज्या । अत्र

गणित उर्द्धरेखातोऽर्द्धज्याया एव प्रयोजनात् तदर्द्धचापस्य तदर्द्धमर्द्धज्या । एवं वृत्तचतुर्थांश उर्द्धरेखातोऽभीष्टांशानां चापार्द्धाकाराणामर्द्धज्या अभीष्टा गण्याः । तत्र भगवता स्वेच्छया वृत्त चतुर्थांशे त्रिराशिमिते चतुर्विंशज्ज्याः कल्पितास्तज्ज्ञानं तु वृत्ते चक्र कलानामङ्कितत्वात् तत्परिधिव्यासार्द्धं त्रिराशिज्यान्तिमा । भनन्दाग्निमित-परिधौ खबाणसूर्यमितो व्यासस्तदा चक्रकलापरिधौ क इत्यनुपातेन व्यासानयनम् । यथा चक्रकला: २१६०० खबाणसूर्यगुणा: २७०००००० भनन्दाग्नि ३९२७ भक्ता व्यास: ६८७६ एतदर्द्धमन्तिमा ज्या ३४३८ अथ वृत्ते चापज्ययोर्विवेके तयोरतुल्यत्वमपि भगवता कोऽपि वृत्तभागः समोऽस्त्यन्यथामलकादौ सर्षपाद्यव-स्थानं न स्यादिति मत्वा तद्भागस्य ज्या तत्तुल्या एव इति ।

वृत्तस्य षण्णवत्यंशो दण्डवद्दृश्यते तु सः ॥

इति शाकल्योक्तेः प्रथमज्या चक्रकलाद्वादशांश रूपैकराशि कलानामष्टभाग-स्तत्वाश्विमितः । एतन्मितमेव प्रथमचापमत एतदन्तरेण अभीष्टा ज्याश्चतुर्विंशत्। अथ चतुर्विंशति जीवानां यथोत्तरमुपचयात् तदन्तररूपखण्डानां यथोत्तरमपच५स्य वृत्ते ज्याङ्कनेन प्रत्यक्षत्वाज्यान्तररूपखण्डानामन्तरं यथोत्तरमुपचितमिति द्वाविंशति-त्रयोविंशतिचतुर्विंशतिज्यानामन्तरयोरन्तरमिदं परमं खण्डान्तरं सूक्ष्मज्योत्पत्ति प्रकारेण अवगतं १५, १६, ४८ अथ त्रिज्यया इदं खण्डकान्तरं तदा प्रथमज्यया किमित्यनुपातेन फलप्रमाणयोः फलेनापवर्त्य प्रमाणस्थाने तत्वाश्विनोऽनेन भक्ता प्रथमज्या फलं पूर्वद्वितीय खण्डयोरन्तरम् । अनेन पूर्वखण्डं हीनं द्वितीयं खण्डं भवति । तत्र पूर्वखण्डं प्रथमज्यातुल्यमेव। द्वितीयखण्डं प्रथमज्यायां युतं द्वितीय-ज्या एवमस्यास्तत्वाश्विभागलब्धं द्वितीयतृतीयखण्डकयोरन्तरमनेन द्वितीयखण्ड-मूनं तृतीयखण्डमित्यनेन द्वितीयज्यायुता तृतीयज्या । एवं चतुर्थाद्याः । तत्र पूर्व मर्द्धाभ्यधिक ग्रहणेन उत्तरत्राधिकान्तरपातसम्भावनया क्वचित् क्वचिदर्द्धाभ्यधि-कावयवस्य एकाधिकत्वेनाग्रह इत्युपपन्नं श्लोकद्वयम् ॥ १५-१६ ॥

एक राशि में जितनी कलाएं होती है उनके अष्टमांश को प्रथम ज्यार्ध कहते हैं । (अर्थात् १ राशि × ३० = ३० × ६० = १८०० कला । १८०० का $\frac{१}{८}$ = २२५ कला = १ ज्यार्ध) प्रथम ज्यार्ध को प्रथम ज्यार्ध से ही भाग देकर लब्धि को प्रथम ज्यार्ध में घटाकर शेष को प्रथम ज्यार्ध में जोड़ने से द्वितीय ज्यार्ध का मान होता है ।

आद्य (प्रथम) ज्यार्ध से अग्रिम पिण्डों को विभक्त कर लब्धि से रहित ज्याखण्डों को ज्यार्ध में जोड़ने से अग्रिम ज्यापिण्ड होता है । इसी प्रकार क्रम से २४ ज्यार्ध पिण्डों के मान होते हैं । यथा—राशि लिप्ता = १८०० कला । १८०० × $\frac{१}{८}$ = २२५ = प्रथम ज्यार्द्ध पिण्ड ।

$$२२५ \div २२५ = \frac{२२५}{२२५} = १$$ । २२५ — १ = २२४ प्रथम ज्याखण्ड

२२५ + २२४ = ४४९ द्वितीय ज्यार्धपिण्ड ।

$$४४९ \div २२५ = \frac{४४९}{२२५} = २ \text{ स्वल्पान्तरात्}$$

ज्याखण्ड २२४ − २ = २२२ द्वितीय ज्याखण्ड

४४९ + २२२ = ६७१ तृतीयज्यार्ध पिण्ड

इसी प्रकार अन्य ज्यापिण्डों का साधन होगा ॥ १५–१६ ॥

उपपत्तिः—कस्यचिद् चापस्योभयदिशि परिधिप्रान्तस्पर्शिनी रेखा चापस्य पूर्णज्या भवति । तस्यार्ध ज्या अर्धज्या वा भवति । "वृत्तस्य षण्णवत्यंशो दण्डवत् परिदृश्यते" इति शाकल्य सिद्धान्तानुसारं $\frac{\text{वृत्तपरिधि}}{९६}$ = सरल रेखा ।

अत्र परिधिरेव ज्या । अतः प्रथमं ज्यार्धम् ज्या वा—

$$= \frac{६० \text{ (परिध्यंशा)}}{९६} = \frac{६० \text{ (३६०)}}{९६} = \frac{२१६००}{९६} = \frac{१८००}{८}$$

अतः 'राशिलिप्ताष्टमो भागः प्रथमं ज्यार्धमुच्यते' इत्युपपन्नम्

एकस्मिन् वृत्तपादे चतुर्विंशज्या पिण्डाः भवन्ति । यतो हि चक्रकला परिधौ ३४३८ त्रिज्याः संसाधिता ।

अत्र यदि चतुर्विंशज्या पिण्डेषु कस्यचिन्मानम्

ज्या इ कल्प्यते तदा गत ज्या = ज्या (इ. − प्र.)

एवमेव ऐष्य ज्या = ज्या (इ + प्र.)

अत्र प्रथम ज्या = २२५

अतः गत ज्या पिण्डा = गतखण्डम् = ज्या इ − ज्या (इ − प्र.) = ग ख

ऐष्यखण्ड = ज्या (इ + प्र०) − ज्या इ = ए ख

अतः त्रैकोणमितिक सिद्धान्तेन—

ग ख − ए ख = २ ज्या इ − [ज्या (इ. + प्र.) + ज्या (इ. − प्र.)]

$$= \text{अन्तरम्} = \text{अं.} = २ \text{ ज्या इ} = \frac{२ \text{ ज्या इ} \times \text{कोज्या प्र}}{\text{त्रि.}}$$

$$= \frac{२ \text{ ज्या इ} \times \text{उ ज्या प्र.}}{\text{त्रि.}}$$

यदि त्रिज्या = ३४३८ तदा उत्क्रमज्या ७।३० स्वल्पान्तरतः ।

२ × उत्क्रमज्या प्र. = २ (७।३०) = १५

अतः उत्यापनेन—

$$\text{अन्तरम्} = \frac{\text{ज्या इ} \times १५}{३४३८} = \frac{\text{ज्या इ}}{२२९ \mid १२}$$

$$\text{स्वल्पान्तरात्} \ \frac{\text{ज्या इ}}{२२९}$$

सर्वत्र ज्यापिण्डा निरवयवा एव पठिता अतोऽत्रपि अवयवानां परित्यागः । अत्र स्थाने ५ एव गृहीता । अर्थात् ($\frac{\text{ज्या इ}}{२२५}$) इति ।

एवं कृते निरग्रलब्धौ अन्तरं भवति । अत अवशिष्टमप्युपपन्नम् । अर्धाधिके रूपं ग्राह्यं अर्धाल्पे च त्याज्यमिति नियमेन हारद्वयेन निरग्रा लब्धिरानीयते चेत् तदा लब्धि द्वयं समानमेव आयाति । यदि परमज्या त्रिज्या ३४३८ गृह्यते तदा उभयत्र १५ लब्धिरायाति । यदि भास्करस्य सूक्ष्मविधिना प्रथमोत्क्रमज्या $\frac{\text{त्रिज्या}}{४६७}$ गृह्यते । तदा वास्तविको हरः २३३ । ३० इति सिध्यति । अनेनापि त्रिज्या परमज्या भक्ता लब्धिरर्धाधिके रूपं ग्राह्यमिति नियमेन—

$$\frac{३४३८}{२३३ \mid ३०} = \frac{६८७६}{४६७} = १४ \ \frac{३३८}{४६७} = १५ \ \text{स्वल्पान्तरतः ।}$$

एवं अर्धाधिक-अर्धाल्पग्रहणे परित्यागे च सर्वत्र '१' सममेवान्तरमायाति ॥ १५—१६ ॥

उपपन्नम् ।

चतुर्विंशति ज्यापिण्डानां मानानि

तत्वाश्विनोऽङ्काब्धिकृता रूपभूमिधरर्तवः ।
खाङ्काष्टौ पञ्चशून्येशा बाणरूपगुणेन्दवः ॥ १७ ॥
शून्यलोचनपञ्चैकाश्छिद्ररूपमुनीन्दवः ।
वियच्चन्द्रातिधृतयो गुणरन्ध्राम्बराश्विनः ॥ १८ ॥
मुनिषड्यमनेत्राणि चन्द्राग्निकृतदस्रकाः ।
पञ्चाष्टविषयाक्षीणि कुञ्जराश्विनगाश्विनः ॥ १९ ॥
रन्ध्रपञ्चाष्टकयमा वस्वद्र्यङ्कयमास्तथा ।
कृताष्टशून्यज्वलना नगाद्रिशशिवह्नयः ॥ २० ॥
षट्पञ्चलोचनगुणाश्चन्द्रनेत्राग्निवह्नयः ।
यमाद्रिवह्निज्वलना रन्ध्रशून्यार्णवाग्नयः ॥ २१ ॥
रूपाग्निसागरगुणा वस्वग्निकृतवह्नयः ।

अथ एताः सिद्धाः श्लोकषट्केन कथयन् उत्क्रमज्यार्द्धपिण्ड ज्ञानमाह ।

तथा समुच्चये। एतान् उक्तान् क्रमज्यार्द्धपिण्डान् । उत्क्रमेणोपान्त्य पिण्डादिप्रथम-पिण्डान्तं प्रत्येकं व्यासार्द्धात् त्रिज्यारूपपरमपिण्डात् प्रोज्झय् न्यूनीकृत्य क्रमेण उत्-क्रमज्यार्द्धपिण्डा भवन्ति । यथा त्रयोविंशतितमं ज्यार्द्धमुक्तं रूपाग्निसागरगुणा इति वस्वग्निकृतवह्नय इति चरमपिण्डादूनं सप्त प्रथम उत्क्रमज्यार्द्धपिण्ड: । एवं द्वारविंशतितमं चरमाच्छुद्धं द्वितीय उत्क्रमज्यार्द्धपिण्ड: । एवमग्रेऽपीति चतुर्विंशत् उत्क्रमज्यार्द्धपिण्डा: ।

अत्रोपपत्ति: । ज्याचापयो: बाणरूपमन्तरमुत्क्रमज्या । यद्यपि पूर्वार्द्धज्यावत् बाणस्यार्द्धं न सम्भवति इति उत्क्रमज्यापिण्डा इति वक्तुमुचितं न उत्क्रमज्यार्द्ध पिण्डा इति । तथापि भगवतानुगतपरिभाषार्थं चापवाह्यशराग्राभावेन उत्क्रम-ज्याया: पूर्णशरांशत्वात् उत्क्रमज्यार्द्धमित्युक्तम् । अथ वृत्तचतुर्थांशे सर्वज्याङ्केन यदंशानां ज्या त्रिज्यातो हीना तत्कोट्यंशनामुत्क्रमज्येति स्फुटं दृश्यत अत उक्तज्यार्द्ध क्रमेण उत्क्रमज्याज्ञानार्थं व्युत्क्रमेण त्रिज्याशुद्धा उक्तपिण्डा उत्क्रमज्या पिण्डा इत्युपपन्नं प्रोज्झयेत्यादि ॥ १७-२१ $\frac{१}{२}$ ॥

एक वृत्तपाद में साधित २४ ज्या पिण्डों के मान क्रम से इस प्रकार हैं ।

(१) तत्वाश्विन: = २२५	(२) आङ्काब्धिकृत: = ४४९
(३) रूपभूमिधरर्त्तव: = ६७१	(४) खाङ्काष्टौ = ८९०
(५) पञ्चशून्येशा: = ११०५	(६) बाणरूपगुणेन्दव: = १३१५
(७) शून्यलोचनपञ्चैक: = १५२०	(८) छिद्ररूपमुनीन्दव: = १७१९
(९) वियच्चान्द्रातिधृतय: = १९१०	(१०) गुणरन्ध्राम्बराश्विन: = २०९३
(११) मुनिषड्यमनेत्राणि = २२६७	(१२) चन्द्राग्निकृतदस्रका: = २४३१
(१३) पञ्चाष्टविषयाक्षीणि = २५८५	(१४) कुञ्जराश्विनगाश्विन: = २७२८
(१५) रन्ध्रपञ्चाष्टकयमा: = २८५९	(१६) वस्वद्रयङ्कयमा = २९७८
(१७) कृताष्टशून्यज्वलन = ३०८४	(१८) नगाद्रिशशिवह्नय: = ३१७७
(१९) षट्पञ्चलोचनगुणा: = ३२५६	(२०) चन्द्रनेत्राग्निवह्नय: = ३३२१
(२१) यमाद्रिवह्निज्वलना: = ३३७२	(२२) रन्ध्रशून्यार्णवाग्नय: = ३४०९

(२३) रूपाग्निसागरगुणा: = ३४३१

(२४) वस्वग्निकृतवह्नय: = ३४३८ ॥ १७—२२ ॥

उत्क्रमज्या पिण्डसाधनम्

प्रोज्झ्योत्क्रमेण व्यासार्धादुत्क्रमज्यार्धपिण्डका: ॥ २२ ॥

उत्क्रम (अर्थात् विपरीत क्रम से) ज्यार्ध पिण्डों को व्यासार्ध (त्रिज्या) से घटाने पर २४ उत्क्रमज्याओं के मान ज्ञात हो जाते हैं ॥ २२ ॥

विशेष:—वृत्तपाद का चौबीसवाँ ज्यापिण्ड त्रिज्या ही होता है । अत: त्रिज्या

मान ३४३८ से तेइसवीं ज्या घटाने से प्रथम उत्क्रमज्या =

३४३८ – ३४३१ = ७	प्रथम उत्क्रमज्या ।
३४३८ – ३४०९ = २९	द्वितीय उत्क्रमज्या ।
३४३८ – ३३७२ = ६६	तृतीय उत्क्रमज्या ।

इसी प्रकार अन्य सभी उत्क्रमज्याओं का साधन होता है ।

उपपत्ति:—त्रैकोणमितिकसिद्धान्तेन उत्क्रज्या = त्रिज्या – कोज्या । वृत्त पादे २२५ कलात्मकस्य कोणस्य ज्यामानम् = २२५, कोटिज्यामानम् = ३४३१ अत: त्रिज्या – कोज्या = ३४३८ – ३४३१ = ७ = उत्क्रमज्या । अत्र क्षेत्रद्वारा प्रदर्श्यते—

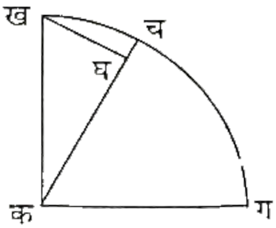

क ख ग एको वृत्तपादः

∠ ख क च = ३° ४५′ = २२५′

ख घ = ज्या ∠ ख क च

क ख = क च = क ग = त्रिज्या

च घ = उत्क्रमज्या ।

क घ = कोज्या ∠ ख क च

उत्क्रमज्या ∠ ख क च = त्रिज्या – कोज्या ∠ ख क च

च घ = त्रिज्या – क घ = क च – क घ

उपपन्नम् ॥ २२ ॥

साधितान्युत्क्रमज्या पिण्डान्याह

मुनयो रन्ध्रयमला रसषट्का मुनीश्वराः ।
द्व्यष्टैका रूपषड्दस्राः सागरार्थहुताशनाः ॥ २३ ॥
खर्तुवेदा नवाद्र्यर्था दिङ्नगास्त्र्यर्थकुञ्जराः ।
नगाम्बरवियच्चन्द्रा रूपभूधर शंकराः ॥ २४ ॥
शरार्णवहुताशैका भुजङ्गाक्षिशरेन्दवः ।
नवरूपमहीध्रैका गजैकाङ्कनिशाकराः ॥ २५ ॥
गुणाश्विरूपनेत्राणि पावकाग्निगुणाश्विनः ।
वस्वर्णवार्थयमलास्तुरङ्गर्तुनगाश्विनः ॥ २६ ॥
नवाष्टनवनेत्राणि पावकैकयमाग्नयः ।
गजाग्निसागरगुणा उत्क्रमज्यार्धपिण्डकाः ॥ २७ ॥

अथ श्लोकपञ्चकेन उत्क्रमज्यापिण्डान् पूर्वोक्तसिद्धान् निबध्नाति । एते

उत्क्रमज्यापिण्डाः पूर्वसिद्धा निबद्धा महीध्रः पर्वतो भुजज्याभावे कोट्युत्क्रमज्यायाः परमत्वात् शून्यज्योना त्रिज्या परमोत्क्रमज्यापिण्डस्त्रिज्याया उभयत्र परमत्वेन अर्थसिद्धमन्त्यपिण्डत्वं वा इति ध्येयम् ॥ २३-२७ ॥

(१) मुनयः = ७	(२) रन्ध्रयमला = २९
(३) रसषट्काः = ६६	(४) मुनीश्वराः = ११७
(५) द्व्यष्टैका = १८२	(६) रूपषड्दस्त्र = २६१
(७) सागरार्थहुताशना = ३५४	(८) खर्तुवेदाः = ४६०
(९) नवाद्र्यर्थाः = ५७९	(१०) दिङ्नगाः = ७१०
(११) त्र्यर्थकुञ्जरः = ८५३	(१२) नगाम्बरवियच्चन्द्राः = १००७
(१३) रूपभूधरशंकराः = ११७१	(१४) शरार्णवहुताशैकाः = १३४५
(१५) भुजङ्गाक्षिशरेन्दवः = १५२८	(१६) नवरूपमहीध्रैका = १७१९
(१७) गजैकाङ्कनिशाकरा = १९१८	(१८) गुणाश्विरूपनेत्राणि = २१२३
(१९) पावकाग्निगुणाश्विनः = २३३३	(२०) वस्वर्णवार्थयमला = २५०८
(२१) तुरङ्गर्तुनगाश्विनः = २७६७	(२२) नवाष्टनवनेत्राणि = २९८९

(२३) पावकैकयमाग्नयः = ३२१३

(२४) गजाग्निसागरगुणाः = ३४३८ ॥ २३—२७ ॥

परमक्रान्तिज्यां निर्दिश्य-इष्टक्रान्तिसाधनम्

परमापक्रमज्या तु सप्तरन्ध्रगुणेन्दवः ।
तद्गुणा ज्या त्रिजीवाप्ता तच्चापं क्रान्तिरुच्यते ॥ २८ ॥

अथ प्रसङ्गात् परमक्रान्तिज्यां वदन् क्रान्त्यानयनमाह । त्र्यूनं चतुर्दशशतं १३९७ परमक्रान्तिज्या तुकारात् चतुर्विंशत्यंशानां वक्ष्यमाणज्यानयन प्रकारसिद्धेत्यर्थः । अभीष्टाज्या परमक्रान्तिज्यया गुणिता त्रिज्या भक्ता फलस्य वक्ष्यमाण प्रकारेण धनुः क्रान्तिः कलात्मिका तत्वज्ञैः कथ्यते ।

अत्रोपपत्तिः । विषुवद्वृत्तात् क्रान्तिवृत्तभागस्य याम्योत्तरस्यान्तरं ध्रुवाभिमुखं वृत्ताकारसूत्रे क्रान्तिः तत्र सायनमेषतुलादि स्थाने तयोरन्तराभावात् कर्कमकरादौ तयोः परमान्तरत्वात् अभीष्टभुजज्यावशात् क्रान्तिरूपपन्नेति त्रिज्यातुल्यभुजज्यया परमक्रान्तिज्या तदेष्टभुजज्यया केत्यनुपातेन फलं ध्रुवाभिमुखसूत्रे तदन्तररूपार्द्ध चापस्यार्द्धज्या विषुवद्वृत्तोर्द्धाधरमध्य सूत्रात् तच्चापं तदन्तरकलात्मिका क्रान्तिः ॥ २८ ॥

परमक्रान्तिज्या का मान १३९७ कला होता है । परमक्रान्तिज्या से इष्टज्या को गुणाकर गुणनफल में त्रिज्या (३४३८) से भाग देने से लब्धि इष्ट क्रान्तिज्या होती है इसका चाप मान इष्टक्रान्ति होता है ॥ २८ ॥

उपपत्तिः——ग्रहोपरिगत ध्रुवप्रोतवृत्ते नाडी-क्रान्तिवृत्तयोरन्तरं क्रान्तिर्नाम ।

क्रान्तिर्द्विविधा । याम्यासौम्येति । यदा क्रान्तिवृत्तं नाडीवृत्तात् सौम्ये तदा सौम्या क्रान्तिः यदा च याम्ये तदा याम्या क्रान्तिर्भवति । गोलसन्धौ क्रान्तेरभावो भवति । सम्पातात् त्रिभेऽस्य परमत्वम् । इष्टक्रान्तिर्नाम यत्र—कुत्रापि (क्षितिज-याम्योत्तर-योर्मध्ये स्वविमण्डले) स्थिते सायनग्रहे (इष्टकाले वा) ग्रहोपरिगतध्रुवप्रोते-नाडी-क्रान्तिवृत्तयोरन्तरम् । अस्य ज्ञानं क्षेत्रद्वारा प्रदर्श्यते—

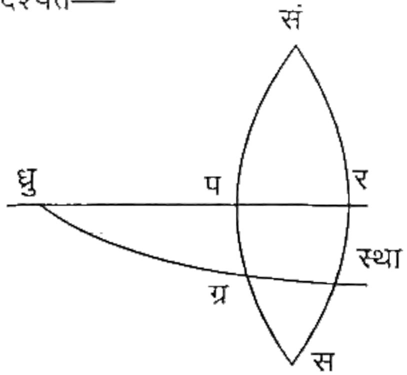

क्षेत्र परिचयः—

सं प स = नाडीवृत्तम्

सं र स = क्रान्तिवृत्तम्

ध्रु प र = अयनप्रोतवृत्तम्

ग्र = ग्रहस्थानम्

स = गोलसन्धिः (अत्र क्रान्तेरभावः)

ध्रु ग्र स्था = ध्रुवप्रोतवृत्तम्

पर = परमाक्रान्तिः (नाडी-क्रान्तिवृत्तयोः परमान्तरम्)

ग्र स = विषुवांशाः (नाडी वृत्ते); स स्था = भुजांशाः (क्रान्ति वृत्ते)

ग्र स्था = इष्टक्रान्तिः (अभीष्टा)

इष्टक्रान्तिज्ञानायानुपातः—

Δ स प र, Δ स ग्र स्था त्रिभुजयोः साजात्यादनुपातः क्रियते—

स र ज्यायां पर ज्या तदा स स्था ज्यायां किमितिः ?

$$\frac{\text{परज्या} \times \text{स स्था}}{\text{सरज्या}} = \text{ग्रस्था ज्या ।}$$

अत्र स प = स र = ९०° = त्रिज्या, परज्या = २४°

अतोत्थापनेन $$\frac{\text{परमक्रान्तिज्यां } (२४^\circ) \times \text{भुजज्या}}{\text{त्रिज्या}} = \text{इष्टक्रान्तिज्या}$$

अस्या चापऽमिष्ट क्रान्तिः ॥ २८ ॥ उपपन्नम् ।

केन्द्रनिर्देशपुरस्सरं भुजकोटिज्ययोरानयनम्

ग्रहं संशोध्य मन्दोच्चात् तथा शीघ्राद् विशोध्य च ।
शेषं केन्द्रं पदं तस्माद् भुजज्या कोटिरेव च ॥ २९ ॥
गताद् भुजज्या विषमे गम्यात् कोटिः पदे भवेत् ।
युग्मे तु गम्याद् बाहुज्या कोटिज्या तु गताद् भवेत् ॥ ३० ॥

अथ फलानयनार्थं केन्द्रपदात् भुजकोटिज्ये कार्ये इत्याह । ग्रहं राश्यादिकं मन्दोच्चात् प्रागानीतस्वकीय राश्यादिकमन्दोच्चभोगात् संशोध्योनीकृत्य शीघ्रात्

प्रागानीतराश्यादि शीघ्रोच्चात् । चः समुच्चये। उनीकृत्य शेषं राश्यात्मकं तथोच्च-सम्बन्धेन केन्द्रं मन्दोच्चात् हीनो ग्रहो मन्दकेन्द्रम् । शीघ्रोच्चाद्धीनो ग्रहः शीघ्रकेन्द्रं भवतीत्यर्थः । तस्मात् केन्द्रात् पदं राशित्रयात्मकं विषमं समं पदं ज्ञेयम् । त्रिराश्यन्तर्गतं चेत् प्रथमं विषमं पदम् । ततः षड्राश्यन्तर्गतं चेत् त्र्यूनं केन्द्रं द्वितीयं समं पदम् । ततो नवराश्यन्तर्गतं चेत् षडूनं तृतीयं विषमं पदम् । ततो नवोनं चतुर्थं पदं सममित्यर्थः । तस्मात् पदात् भुजस्य ज्या कोटिः कोटेर्ज्या चः समुच्चये । एवकारात् एकाद्द्वयं साध्यमित्यर्थः ।

अत्रोपपत्तिः । उच्चस्थानाभिमुखमुच्चदैवतैः ग्रहाणामाकर्षणोक्तेः उच्चाद्ग्रहः कियदन्तरेणेति ज्ञानार्थमुच्चहीनो ग्रहः केन्द्रमुच्चग्रहणवशात् तदाख्यम्। तत्र भगवता स्वेच्छया ग्रहादुच्चं यदन्तरेण तत् केन्द्रं कृतम् । उभयथा भुजकोटयोस्तुल्यत्वात्। द्वादशराश्यङ्किते वृत्ते उच्चस्थानात् चतुर्विभागात्मक एकैको भागो राशित्रयात्मकः पदसंज्ञः। अथोच्चस्थानाद्ग्रहः कस्मिन् पदेऽस्तीति शून्यत्रिषण्णवोनं केन्द्रं कृतं ज्यानां पदान्तर्गतत्वात् । ग्रहाधिष्ठितपदाद्भुजज्याकोटिज्ययोर्ज्ञानम् ॥ २९ ॥

ननु पदे ग्रहस्य राशिविभागात्मकेन एकत्वाद्भुजकोटिज्ययोरतुल्ययोः साधनं कथमित्यत आह । विषमे पदे गताद् ग्रहस्य पदादितो यद्गतं राशिविभागात्मकं प्राग् ज्ञातं तस्मात् इत्यर्थः । भुजज्या स्यात् । गम्याद्गतोनं त्रिभं ग्रहात् पदान्तौ अधिकमेष्यम् । तस्मात् कोटिः कोटिज्या स्यात्। युग्मे समे तुकारात् पद एष्याद्-भुजज्यागतात् कोटिज्या स्यात् । तुकारो विशेषद्योतकः । एकस्मादेवोक्तरीत्या द्वयं साधितमित्यर्थः ।

अत्रोपपत्तिः । विषमपदे ग्रहोच्चोर्ध्वाधररेखान्तरानुसारेण फलमुत्पद्यते ततो वृत्तान्तस्तदन्तरमर्द्धज्या भुजरूपा तदर्द्धचापं तदन्तरांशा वृत्तभागस्था गताः । ऊर्ध्वाधररेखा मत्स्यसम्पन्नतिर्यक्रेखाग्रहयोः अन्तरसूत्रमर्द्धज्यापदान्तः कोटिज्या भुजोत्क्रमज्योनव्यासार्द्धरेखारूपकोटितुल्यत्वात् । तदर्द्धचापं भुजांशोनं त्रिभमिति गम्यात् कोटिज्या । समपदे ग्रहोर्ध्वाधररेखान्तरं तिर्यगर्द्धज्या भुजज्येति तदर्द्धं चापं यदैष्यं तिर्यग्रेखाग्रहान्तरं तिर्यगर्द्धज्याकोटितुल्यत्वात् कोटिस्तच्चापं पदगतमित्युपपन्नं गतादित्यादि ॥ ३० ॥

(अहर्गणोत्पन्न) मध्यमग्रह को अपने अपने मन्दोच्च एवं शीघ्रोच्च से घटाने पर शेष क्रमशः मन्द केन्द्र और शीघ्र केन्द्र होते हैं । (अर्थात् मन्दोच्च – मध्यम ग्रह = मन्द केन्द्र, शीघ्रोच्च – मध्यमग्रह = शीघ्रकेन्द्र) केन्द्र से पद ज्ञान तथा पद से भुज और कोटि का ज्ञान किया जाता है ।

विषम पद में गत चाप की जीवा भुजज्या तथा गम्य चाप की जीवा कोटि संज्ञक होती है । सम पद में (विपरीत) गम्य चाप की जीवा भुजज्या तथा गत चाप की ज्या कोटिज्या होती है ॥ २९–३० ॥

उपपत्तिः—मन्दोच्चात् शीघ्रोच्चाच्च ग्रहाणामाकर्षणं भवति । मन्दोच्चात् शीघ्रोच्चाद् वा मध्यमग्रहो यावानन्तरितो भवति तावानेवाकर्षण केन्द्रमिति । अतः मन्दोच्चात् शीघ्रोच्चान् मध्यमग्रह विशोधनेन मन्दकेन्द्रं शीघ्रकेन्द्रं वा भवति । राशि-त्रयात्मकं पदमिति । एकस्मिन् वृत्तपादे त्रयःराशयो भवन्ति । अतश्चत्वारि पदानि । राशित्रयान्तरे फलानां धनर्णत्वे अन्तरमवलोक्य पदानि कल्पितानि । क्षेत्रद्वारा पद ज्या—कोटिज्याश्च प्रदर्श्यन्ते ।

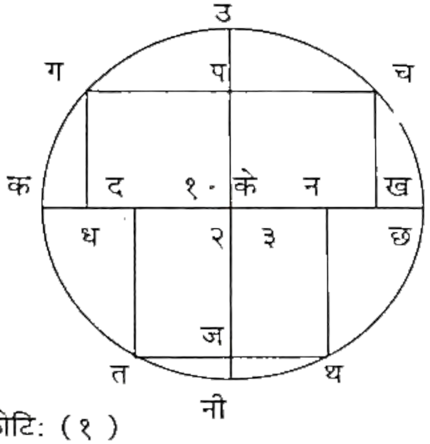

उ क नी ख एकं वृत्तम् ।
तत्र उ के क = प्रथम पदम
क के नी = द्वितीयं पदम्
के नी ख = तृतीयं पदम्
ख के उ = चतुर्थ पदम्
प्रथम पदे उ ग = गत चापम्
अतः उग चापज्या = ग प = ज्या ;
क ग = गम्यं चापम्
अतः = क ग चापज्या = ग ध = कोटिः (१)
एवमेव द्वितीय पदे क त = गत चापम्
अतः क त चापज्या = प त = कोटिः त नी गम्यचापम्
अतः तनी चापज्या = ज्या तज
एवमेव तृतीय पदे ज थ ज्या, थ न कोज्या
चतुर्थपदे च छ = कोज्या, प ब = ज्या ॥ २९—३० ॥ उपपन्नम् ।

अभीष्टांशानां ज्यासाधनम्

लिप्तास्तत्वयमैर्भक्ता लब्धं ज्यापिण्डकं गतम् ।
गतगम्यान्तराभ्यस्तं विभजेत् तत्वलोचनैः ॥ ३१ ॥
तदवाप्तफलं योज्यं ज्यापिण्डे गतसंज्ञके ।
स्यात् क्रमज्या विधिरयमुत्क्रमज्यास्वपि स्मृतः ॥ ३२ ॥

अथाभीष्टकलानां ज्यासाधनं श्लोकाभ्यामाह। यस्य राश्यात्मकस्य पदान्तर्गतस्य ज्या कर्त्तुमिष्टा तस्य कलाः कार्याः । तत्वाश्विभिर्भक्ता लब्धं चतुर्विंश-ज्यापिण्डेषु पूर्वोक्तेषु लब्धसंख्याकः पिण्डो गतो भवति तदग्रिमपिण्ड एष्यः पूर्वं तु स्वरूपोक्त्यर्थं पिण्डानां ज्यार्द्धेत्युक्तिरिदानीं तु तेषामेव अर्द्धत्यागेन ज्यापिण्ड-त्वोक्तिः । अर्द्धग्रहणे गणितक्रियायां व्याकुलतापत्तेः । न तु पूर्वपिण्डाद्द्विगुणाः गणितक्रियायां ग्राह्या इत्याशयेन अर्द्धानुक्तिर्गौरवात्। भागेऽवशिष्टं तद्गतैष्य पिण्ड-योरन्तरेण गुणितं तत्वाश्विभिर्भजेत् तस्मात् प्राप्तं यत् कलादिकं फलं तद्गते ज्यापिण्डे युक्तं कार्यम् । उत्क्रमज्याभीष्टांशकलानामर्द्धज्यारूपा क्रमज्या भवति ।

अयमुक्तः प्रकार उत्क्रमज्यापिण्डेषु कथितः । अभीष्टांशकलानामुत्क्रमज्यापिण्डैः उक्तविधिनोत्क्रमज्या स्यादित्यर्थः ।

अत्रोपपत्तिः । तत्वाश्विकलाभिरेका ज्या तदाभीष्टकलाभिः केत्यनुपातेन गतज्या ततस्तत्वाश्विकलाभिर्गताग्रिमज्यान्तरं लभ्यते तदा शेषकलाभिः केत्यनुपातागतलब्धेन युक्ताभीष्टज्या ॥ ३१-३२ ॥

जिस चाप की ज्या अभीष्ट हो, उस चाप की कला को २२५ से भाग देने पर लब्धि गत ज्यापिण्ड होता है । शेष को ऐष्य (अग्रिम) ज्या पिण्ड और गत ज्या पिण्ड के अन्तर से गुणा कर गुणन फल को २२५ से भाग देने पर जो लब्धि प्राप्त हो उसे गत ज्यापिण्ड में जोड़ने से अभीष्ट चाप की ज्या होगी । यही ज्या साधन की विधि हैं तथा इसी प्रकार उत्क्रमज्या का भी साधन किया जाता है ॥ ३१—३२ ॥

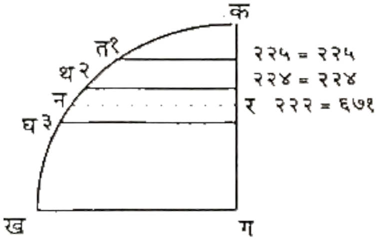

उपपत्तिः—क ख ग अत्रैकः वृत्तपादः

क त प्रथम ज्यापिण्डः = २२५

त थ द्वितीयज्यापिण्डः = २२४

आदितः क थ = ४४९

क न चापस्य ज्या अभीष्टा अग्रिम

क ध चापस्य ज्यापिण्डा = ६७१

$$\frac{\text{अभीष्ट चापकला}}{२२५} = \text{लब्धि, गतज्यापिण्डाः, शेषः अवशिष्टचापस्य कलाः}$$

$$\frac{(\text{ऐष्यज्यापिण्डाः} - \text{गतज्यापिण्डाः}) \times \text{शेषकलाः}}{२२५} = \text{लब्धिः शेषकलासम्बन्धि ज्या}$$

गतज्या + लब्धज्या = अभीष्टचापस्य ज्या ।

यथा क न चापस्य ज्या अभीष्टा । कन चापस्य कला = ५५०

$$\frac{५५०}{२२५} = \text{लब्धि} = २ \text{ गतज्या पिण्डाः, शेषः} = १००$$

ऐष्यज्या पिण्डाः — गतज्यापिण्डाः = ६७१ — ४४९ = २२२

$$\frac{२२२ \times १००}{२२५} = \frac{२२२००}{२२५} = ९८.४०$$

गतज्या ४४९ + ९८.४० = ५४७.४० । अभीष्ट क न चापस्य ज्या = ५४७.४०

उपपन्नम् ॥ ३१—३२ ॥

इष्टज्यातश्चापानयनम्

ज्यां प्रोज्झ्य शेषं तत्वाश्विहतं तद्विवरोद्धृतम् ।
सङ्ख्यातत्वाश्विसंवर्गे संयोज्य धनुरुच्यते ॥ ३३ ॥

अथ ज्यातो धनुः आनयनमाह । यस्य धनुः कर्त्तुमिष्टं तस्मिन् अशुद्धपूर्वं ज्यापिण्डं न्यूनीकृत्य शेषं पञ्चाकृतिगुणं तद्विवरोद्धृतं तयोः शुद्धाशुद्धपिण्डयोः अन्तरेण भक्तं फलं शुद्धज्या यतमा ततमसंख्या तत्वाश्विनोः संवर्गे घाते संयोज्य सिद्धं धनुः कथ्यते ।

अत्रोपपत्तिः। ज्या यतमा शुद्धयति ततमायाः चापकलाः ततमसंख्यागुणित-तत्वाश्विनः । ज्यान्तरेण तत्वाश्विकलास्तदा शेषज्यया केत्यनुपातागतफलयुता इति वैपरीत्येन सुगमतरा ॥ ३३ ॥

इष्टज्या से जितनी ज्या घट सके उन्हें घटाकर शेष को २२५ से गुणा कर उसमें दोनों (गत और गम्य) ज्या के अन्तर से भाग देने पर प्राप्त लब्धि को, शुद्ध ज्या संख्या और २२५ के गुणनफल में जोड़ देने पर अभीष्ट चाप का मान ज्ञात हो जायेगा ॥ ३३ ॥

उपपत्तिः—अभीष्ट ज्यामानात् गतज्यां विशोध्य शेषेनानुपातः क्रियते । गतगम्यज्ययोरन्तरेण २२५ कलासम्बन्धि चापा लभ्यन्ते तथा शेषकलाभिः किमिति ?

$$\frac{\text{२२५} \times \text{शेषकला}}{\text{गम्यज्या} - \text{गतज्या}} = \text{शेषसम्बन्धिकला ।}$$

गतज्या सम्बन्धि चापकलाः + शेष सम्बन्धि फलकला = अभीष्टचापकलाः ।

उपपन्नम् ॥ ३३ ॥

ग्रहाणां मन्दपरिधिभागाः

रवेर्मन्दपरिध्यंशा मनवः शीतगो रदाः ।
युग्मान्ते, विषमान्ते च नखलिप्तोनितास्तयोः ॥ ३४ ॥
युग्मान्तेऽर्थाद्रयः खाग्नि-सुराः सूर्या नवार्णवाः ।
ओजे द्व्यगा वसुयमा रदा रुद्रा गजाब्धयः ॥ ३५ ॥

अथ ग्रहाणां मन्दपरिध्यंशान् विवक्षुः प्रथमं सूर्यचन्द्रयोः आह । सूर्यस्य परमाकर्षणोत्पन्नपरमपूर्वा परगमनरूपपरममन्दफलांशानां ज्या परमफलज्या तत्तुल्यव्यासार्द्धेनोत्पन्नवृत्ते कक्षावृत्तस्थितांश प्रमाणेन येऽंशास्ते मन्दपरिध्यंशाः केन्द्र-युग्म पदान्ते नीचोच्चसमेऽर्के चतुर्दश चन्द्रस्य तत्र ते द्वात्रिंशत् । केन्द्रविषमपदान्ते नीचोच्चाभ्यां त्रिभान्तरिते चकारादुक्ता मन्दपरिध्यंशा विंशतिकलोनाः सन्तः सूर्य-चन्द्रयोर्मन्दपरिध्यंशा भवन्ति ॥ ३४ ॥

अथ भौमादीनामाह । भौमस्य पञ्चसप्ततिः बुधस्य त्रिंशत् । गुरोः त्रयस्त्रिंशत् । शुक्रस्य द्वादश । शनेः एकोनपञ्चाशत् । पूर्वोक्तमन्दपरिध्यंशा इति वक्ष्यमाणकुजादीनामिति च अत्रान्वेति । एते युग्मपदान्ते । ओजे विषमपदान्ते

भौमस्य द्विसप्ततिः । बुधस्य अष्टाविंशतिः । गुरोः द्वात्रिंशत् । शुक्रस्य एकादश। शनेः अष्टचत्वारिंशत् ॥ ३५ ॥

सम पदान्त में सूर्य का १४ एवं चन्द्रमा का ३२ अंश मन्द परिध्यंश होता है । विषम पद में समपद की अपेक्षा २० कला न्यून अर्थात् सूर्य का मन्द परिध्यंश १३ अंश ४० कला तथा चन्द्रमा का ३१ अंश ४० कला होता है । भौमादि पाँच ग्रहों के क्रम से समपदान्त में ७५, ३०, ३३, १२, ४९ अंश मन्द परिध्यंश होते हैं तथा विषम पदान्त में क्रम से ७२, २८, ३२, ११ एवं ४८ मन्द परिध्यंश होते है ॥ ३४—३५ ॥

परिभाषा—वृत के चतुर्थांश को पद कहते हैं । प्रथम तृतीय विषमपद तथा द्वितीय चतुर्थ समपद होते हैं । द्रष्टव्य व्याख्या २।३० ।

मन्दपरिधि—मध्यम और स्पष्ट ग्रह का अन्तर मन्दफल होता है । परममन्दफल की ज्या को मन्दान्त्यफलज्या कहते हैं । मन्दान्त्य फलज्या को व्यासार्ध मानकर निर्मित किये गये वृत्त को मन्दनीचोच्च वृत्त तथा वृत्त की परिधि को मन्द परिधि कहा जाता है ।

उपपत्तिः—मन्दान्त्यफलज्या व्यासार्धेन निर्मितवृत्तस्य परिधिः मन्दपरिधिरिति । तस्य ज्ञानमनुपातद्वारा क्रियते । त्रिज्याव्यासार्धेन ३६० अंशाः लभ्यन्ते तदा मन्दान्त्यफलज्या व्यासार्धेन किमिति जातम् $= \frac{\text{मन्दान्त्यफलज्या} \times ३६०}{\text{त्रिज्या}}$

= मन्द परिध्यंशाः । एवमनुपातलब्धा परिधिः नीचोच्चस्थान भेदाद् भिन्ना भिन्ना भवति । यतोहि तत्र मन्दफलस्याविभिन्नत्वं जायते ।

सम पदान्ते रवेः परमं मन्दफलम् = २।१३ ।४२ कलाकरणेन

$$(२ \times ६० + १३) + \frac{४२}{६०} = (१२० + १३) + \frac{४२}{६०} = १३३ + \frac{७}{१०}$$

$$= \frac{१३३७}{१०} \text{ कला} = \text{अन्त्यफलज्या ।}$$

अतोऽनुपातः — त्रिज्यायां ३६० परिध्यंशास्तदान्त्यफलज्यायां

$$\text{किमिति} = \frac{३६० \times १३३७}{३४३८ \times १०} = १४^\circ$$

रवेर्मन्द परिध्यंशाः ।

विषमपदान्ते च रवे. परमं मन्दफलम् = २° ।१०′ ।४२″

$$\text{अस्य ज्या} = १३० ।४२ \text{ कलाकरणेन} = १३० + \frac{४२}{६०}$$

$$= \frac{१३०}{१०} + \frac{७}{१०} = \frac{१३०७}{१०}$$ = रवेः मन्दान्त्यफलज्या

पूर्वोक्त रीत्याऽनुपातेन— $\frac{३६० \times \text{मन्दान्त्यफलज्या}}{\text{त्रिज्या}}$ = मन्दपरिधिः

$$= \frac{३६० \times १३०७}{३४३८ \times १०} = १३०^\circ\ ४०'$$

एवमेवान्यत्रापि । उपपन्नम् ॥ ३४—३५ ॥

ग्रहों के मन्दपरिध्यंश—

सूर्य	चन्द्र	भौम	बुध	गुरू	शुक्र	शनि	ग्रहः
१४	३२	७५	३०	३३	१२	४९	समपद
१३।४०	३१।४०	७२	२८	३२	११	४८	विषमपद

भौमादीनां शीघ्रपरिध्यंशाः

कुजादीनामतः शैघ्र्या युग्मान्तेऽर्थाग्निदस्रकाः ।
गुणाग्निचन्द्राः खनगा द्विरसाक्षीणि गोऽग्नयः ॥ ३६ ॥
ओजान्ते द्वित्रियमला द्विविश्वे यमपर्वताः ।
खर्तुदस्रा वियद्वेदाः शीघ्रकर्मणि कीर्त्तिताः ॥ ३७ ॥

अथ भौमादीनां युग्मपदान्ते शैघ्र्यपरिध्यंशानाह। भौमादीनामतो मन्दपरिध्यंश-कथनानन्तरं शैघ्र्याः शीघ्रपरिध्यंशा युग्मपदान्ते भौमस्य पञ्चत्रिंशदधिकं शत-द्वयम् । बुधस्य त्रयस्त्रिंशदधिकं शतम् । गुरोः सप्ततिः । शुक्रस्य द्विषष्ट्यधिकं शतद्वयम् । शनेः एकोनचत्वारिंशत् ॥ ३६ ॥

अथ एतेषां विषमपदान्ते शैघ्र्यपरिध्यंशानाह । विषमपदान्ते शीघ्रकर्मणि शीघ्रफलसाधनार्थं परिधय उक्ताः । एते शीघ्रपरिधयः कुजादीनामिति पूर्वोक्तमत्रा-न्वेति । भौमस्य दन्ताश्विनः । बुधस्य दन्तेन्दवः । गुरोः द्विसप्ततिः । शुक्रस्य षष्ट्यधिकं शतद्वयम् । शनेः चत्वारिंशत् । अत्र कीर्तिता इत्यनेन युग्मान्ते फला-भावात् एव परिधयः कथं सम्भवन्ति । अतो विषमपदान्ते परमफलस्य सत्वात् तत्र एव युक्ताः परिधयः शनिमन्दशीघ्रपरिध्योः क्रमेण अधिकन्यूनत्वं च संज्ञा व्याघातात् अयुक्तमित्यादि न आशङ्कनीयमागमप्रामाण्यात् ।

श्रुतिर्यत्र प्रमाणं स्याद्युक्तिः का तत्र नारद ! ।
इति ब्रह्मसिद्धान्तोक्तेश्चेति सूचितम् ॥ ३७ ॥

समपदान्त में भौमादि ग्रहों के शीघ्र परिध्यंश क्रम से २३५, १३३, ७०, २६२, ३९ अंश होते हैं तथा विषम पदान्त में क्रमशः २३२, १३२, ७२, २६०, ४० अंश शीघ्रफल साधन हेतु शीघ्र परिध्यंश कहे गये हैं ।

अर्थात् समपद (२, ४) में भौम का शीघ्र परिध्यंश २३५, बुध का १३३, गुरू का ७०, शुक्र का २६२ तथा शनि का ३९ तथा विषम पद (१, ३) में भौम का २३२, बुध का १३२, गुरू का ७२, शुक्र का २६० तथा शनि का ४० अंश कहा गया है ॥ ३६—३७ ॥

उपपत्तिः—शीघ्रफलस्य ज्या शीघ्रान्त्यफलज्या भवति । तस्या व्यासार्धेन निर्मितं वृत्तं शीघ्रनीचोच्चवृत्तं भवति । शीघ्रनीचोच्चवृत्तस्य परिधिः शीघ्रपरिधिः रिति । परिध्यंशानां ज्ञानार्थमनुपातः

त्रिज्या तुल्य व्यासार्धेन ३६०० परिधिस्तदा शीघ्रान्त्यफल्यज्या तुल्य व्यासार्धेन परिधिमानं किमिति —

$$\frac{\text{३६० × शीघ्रान्त्यफलज्या}}{\text{त्रिज्या}} = \text{शीघ्रपरिधिः}$$

उपपन्नम् ॥ ३६—३७ ॥

इष्ट परिधिज्ञानम्

ओजयुग्मान्तरगुणा भुजज्या त्रिज्ययोद्धृता ।
युग्मवृत्ते धनर्णं स्यादोजादूनेऽधिके स्फुटम् ॥ ३८ ॥

अथाभीष्टकेन्द्रसम्बन्धेन परिधिभागानयनमाह। भुजज्या यत्परिधिः स्फुटीकर्त्तुमिष्यते तत्केन्द्रस्य मन्दशीघ्रान्यतरस्य भुजज्यौजयुग्मान्तरगुणा विषमसमपदान्तीय केन्द्रीय परिध्योः अन्तरेण गुणिता त्रिज्यया भक्ता फलं युग्मवृत्ते केन्द्रयुग्मपदान्तीयपरिधौ। ओजात् केन्द्रीय विषम पदान्तीय परिधेः सकाशात् ऊनाधिके क्रमेण धनर्णं हीने युक्तमधिके हीनं स्फुटं परिधिमानं स्यात् ।

अत्रोपपत्तिः। युग्मपदान्तीयस्थात् परिधेर्विषमपदान्तीय परिधिर्यावता न्यूनाधिकस्तदन्तरं विषमपदत्वाद्भुजज्ययोपचितमतस्त्रिज्या तुल्य भुजज्यया इदमन्तरं तदा इष्टभुजज्यया किमिति फलं युग्मपरिधौ। ओजपरिधेः न्यूनत्वे ऋणमधिकत्वे धनमिति । विषमपदपरिधेः अधिक न्यूनयुग्म परिधावेवर्णधनं कृतमित्युपपन्नम् ॥ ३८ ॥

विषम और समपदान्त की मन्द अथवा शीघ्र परिधियों के अन्तर को मन्दकेन्द्र या शीघ्रकेन्द्र की भुजज्या से गुणा कर त्रिज्या से भाग देने पर प्राप्त लब्धि को समपदान्त परिधि में धन ऋण करने से स्फुट परिधि होती है । यदि केन्द्र समपदान्त में हों और विषमपदान्त की परिधि से समपदान्त की परिधि अल्प हो तो लब्ध फल का समपदान्त परिधि में धन संस्कार अधिक होने पर ऋण संस्कार होगा ॥ ३८ ॥

उपपत्तिः—मन्द परिधेः शीघ्रपरिधेर्वा प्रमाणं तयोः पृथक्-पृथक् केन्द्र भुजज्ययोराधारेण निश्चीयते । विषम समपदान्ते परिधयः पठितास्सन्ति । पदान्तातिरिक्तेषु स्थानेषु परिधिज्ञानायनुपातः क्रियते—

यदि त्रिज्या तुल्यया केन्द्रभुजज्यया ओजयुग्मान्तरपरिध्यायोरन्तरमुपलभ्यते तदाऽभीष्ट केन्द्रज्यया किमिति जातम्—

$$\frac{\text{ओजयुग्मान्तपरिध्यन्तरं} \times \text{केन्द्रभुजज्या}}{\text{त्रिज्या}} = \text{फलम्}$$

लब्धस्य फलस्य संस्कारः युग्मान्तपरिधौ चयापचयवशात् क्रियते—

यदि युग्मान्तपरिधौः विषमान्तपरिधेरधिकेसति युग्मान्तपरिधि + फलम्
= अभीष्टपरिधिः

यदि युग्मान्तपरिधिः विषमान्तपरिधेरल्पस्तदा युग्मान्तपरिधिः – फलम्
= अभीष्टपरिधिः ॥ ३८ ॥ उपपन्नम् ।

मन्दफलसाधनम्

तद्गुणे भुजकोटिज्ये भगणांशविभाजिते ।
तद्भुजज्याफलं धनुर्मान्दं लिप्तादिकं फलम् ॥ ३९ ॥

अथ भुजकोटिफलानयनं मन्दफलानयनं च आह। भुजकोटिज्ये मन्दशीघ्रान्यतर सम्बन्धेन केन्द्रभुजकोटिज्ये तद्गुणे स्वीयस्फुटपरिधिना गुणिते भगणांशैः षष्ट्यधिक शतत्रयेण भक्ते भुजफलकोटिफले भवतः मन्दकेन्द्र भुजज्योत्पन्नफलस्य धनुः कलादिकं मान्दं फलं भवति ।

अत्रोपपत्तिः—

कक्षास्थोच्च स्थानस्थितदेवतया स्वहस्तस्थितसूत्रप्रोतं ग्रहबिम्बं स्वाभिमुखाकर्षणेन कक्षास्थमध्यग्रहस्थानात् परमफलज्यान्तरितस्थान आकर्षण सूत्रमार्ग रूपतिर्यककर्णमार्गेणाकर्ष्यते। तेन मध्यग्रहस्थानीय कक्षाप्रदेशात् अन्त्यफलज्या व्यासार्धेनोत्पन्नवृत्ते भगणांशाङ्किते भूमध्यग्रहस्पृग्रेखासक्ततद्वृत्तप्रदेशरूपोच्चस्थानात् केन्द्रान्तरेण कक्षाविपरीतमार्गेण तद्वृत्त परिधौ ग्रहो भवति । तस्मिन् नीचोच्चवृत्त उर्द्धरेखाग्रहयोः तिर्यगन्तरसूत्रमर्द्धज्याकारं परमफलज्यानुरूद्धं भुजफलम् । तस्मिन् एव वृत्ते व्यासमिततिर्यग्रेखा ग्रहयोः अन्तरमूर्द्धाधरमर्द्धज्याकारं परमफलज्यानुरुद्धं कोटिफलम् । एते तत्र कक्षास्थभुजज्याकोटिज्यावद् भुजकोटिरूपे इति कक्षास्थभगणांश प्रमाणेन एते भुजज्याकोटिज्यारूपे भुजकोटी तदा कक्षास्थ भागप्रमाणानुरुद्धप्रागुक्तनीचोच्चपरिधिभागैः केत्यनुपातेन फलवृत्तस्थत्वाद् भुजफल कोटिफले । तत्र नीचोच्चपरिधिवृत्तस्थ ग्रहमध्यसूत्रं कर्णरूपं कक्षावृत्ते यत्र लग्नं तत्र स्पष्टो ग्रहभोगः । नीचोच्चवृत्तमध्यस्पष्टग्रहभोगस्थानयोः कक्षावृत्ते यदन्तरांशमानं तत्फलं तदर्द्धज्या तिर्यक्सूत्रं मध्यग्रहस्थोर्ध्वाधररेखारूपमध्यसूत्रात् स्पष्टग्रहभोग स्थानासक्तं फलज्या। कर्णाग्रे भुजफलं तदा त्रिज्याग्रे किमित्येतदनुपातावगतास्याश्चापं फलम्। तत्र मन्दफलज्या भुजफलरूपा कर्णानुपातोपेक्षया भगवता अङ्गीकृता। मन्दकर्णस्य त्रिज्यासन्नत्वेन स्वल्पान्तरेण त्रिज्यातुल्यत्वेनाङ्गी कारात्।

तच्चापं मन्दफलमित्युपपन्नं सर्वमुक्तम् । बोधार्थं छेद्यकन्यासश्च यथा ॥ ३९ ॥

इष्ट स्थानीय स्पष्ट परिधि से मन्दकेन्द्र भुजज्या को तथा केन्द्र कोटिज्या को गुणा कर भगणांश ३६० से भाग देने पर क्रम से भुजफल एवं कोटिफल सिद्ध होंगे । अर्थात्—

$$\frac{\text{इ. स्था. भूपरिधि} \times \text{भुजज्या}}{३६०} = \text{भुजफल}$$

इसी प्रकार $$\frac{\text{इ. स्था. स्प. परिधि} \times \text{कोटिज्या}}{३६०} = \text{कोटिफल}$$

भुजफल के चाप का कलादि मान मन्दफल होता है ।

भूगर्भ से मन्दप्रतिवृत्त स्थित ग्रह पर्यन्त जाने वाला सूत्र मन्दकर्ण होता है । दृश्य ग्रह की स्थिति प्रतिवृत्त में तथा मध्यम ग्रह की स्थिति कक्षा वृत्त में होती है । कक्षा वृत्त और प्रतिवृत्त के केन्द्रों एवं परिधि को स्पर्श करने वाली ऊर्ध्वाधः रेखा को नीचोच्च सूत्र कहा जाता है । भूगर्भ से दृश्य ग्रह तक जाने वाले सूत्र और कक्षा वृत्त के सम्पात विन्दु पर मन्दस्पष्ट ग्रह होता है । दृश्य ग्रह से नीचोच्च रेखा के समानान्तर कक्षा वृत्तव्यास पर लम्ब रूप रेखा का सम्पात विन्दु कक्षावृत्त में मध्यम ग्रह होता है । मध्यम और मन्द स्पष्ट ग्रह का अन्तर मन्दफल होता है । चित्र से स्पष्ट है ॥ ३९ ॥

उपपत्ति:—गणितागता ग्रहाः स्व स्व मन्दोच्चेन चापकृष्टा यावदन्तरिता भवन्ति तावदेव मन्दफलम् । अत्र हेतुः—प्रतिवृत्ताख्यस्य कक्षा वृत्तस्य केन्द्रं भूगर्भात् मन्दफलज्या तुल्यान्तरे भवति अतः गणितागताः ग्रहाः दृष्ट्युपलब्धा न भवन्ति । वस्तुतस्ते मन्दफलतुल्यान्तरे तिष्ठन्तिः। अतएव दृक्प्रत्ययकारकत्वसिद्धये मन्दफल संस्कारः क्रियते । द्रष्टव्यम् क्षेत्रम्—

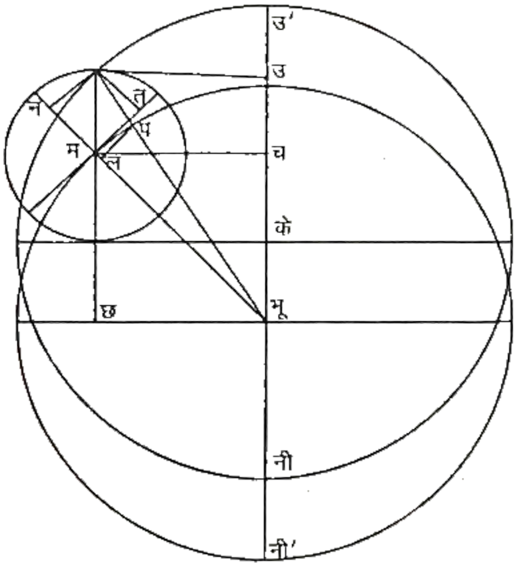

क्षेत्र परिचयः—

भू = भू केन्द्रम्;
के = प्रतिवृत्तकेन्द्रम्;
भू के = मन्दान्त्यफलज्या;
उ. उ' = उच्च स्थाने;
नी नी' = नीचस्थाने
म = मध्यमग्रहः,
प = स्पष्टग्रहः

ग्र = प्रतिवृत्ते ग्रहस्थानम् ; ग्र म = अन्त्यफलज्या ;
भू ग्र = मन्दकर्णः ; मच = भू छ = मन्दकेन्द्रज्या ;
मछ = भूच = मन्दकेन्द्रकोज्या ; मप = कक्षावृत्ते मन्दफलम् ;
ग्र म = मन्द भुजफलम् ; ग्र त = कोटिफलम् ;
भू म = त्रिज्या; Δ भू म छ, Δ ग्र म न त्रिभुजयोः साजात्यादनुपातः—
त्रिज्यायां केन्द्रज्या तदा अन्त्यफलज्यायां किमिति जातम्

$$\frac{\text{केन्द्रज्या} \times \text{अन्त्यफलज्या}}{\text{त्रिज्या}} = \frac{\text{भू छ} \times \text{ग्र म}}{\text{भू म}}$$

$$= \text{ग्र न} \quad = \text{भुजफलम्} \text{ ।}$$

त्रिज्यापरिध्योर्निष्पत्ति साम्यात्—

$$\frac{\text{केन्द्रज्या} \times \text{मन्दपरिधि}}{३६०} = \text{भुजफलम्} \text{ ।}$$

अस्य चापं मन्दफलमिति (स्वल्पान्तरतः) सिद्धम् एवमेव कोटिफलमपि—
त्रिज्यायां केन्द्रकोज्या तदा अन्त्यफलज्यायां किमिति

$$\frac{\text{केन्द्रकोटिज्या} \times \text{अन्त्यफलज्या}}{\text{त्रिज्या}} = \frac{\text{म छ} \times \text{ग्र म}}{\text{भू म}}$$

$$= \text{मन} = \text{कोटिफलम्} \text{ ।}$$

उपपन्नम्सर्वम् ॥ ३९ ॥

शीघ्रफलोपयोगि शीघ्रकर्णानयनम्

शैघ्र्यं कोटिफलं केन्द्रे मकरादौ धनं स्मृतम् ।
संशोध्यं तु त्रिजीवायां कर्क्यादौ कोटिजं फलम् ॥ ४० ॥
तद्बाहुफलवर्गैक्यान्मूलं कर्णश्चलाभिधः ।

शीघ्रफलसाधनम्

त्रिज्याभ्यस्तं भुजफलं चलकर्णविभाजितम् ॥ ४१ ॥
लब्धस्य चापं लिप्तादि फलं शैघ्र्यमिदं स्मृतम् ।
एतदाद्ये कुजादीनां चतुर्थे चैव कर्मणि ॥ ४२ ॥

अथ शीघ्रफलं श्लोकत्रयेण आह । शीघ्रसम्बन्धि कोटिफलं मकरादि षड्भे शीघ्रकेन्द्रे त्रिज्यायां योज्यमुक्तम् । कर्कादि षड्भे शीघ्रकेन्द्रे शीघ्रकेन्द्रकोट्युत्पन्नं फलं त्रिज्यायां हीनं कार्यम् । तुर्विशेषे । तेन मन्दकर्मणि एतत् क्रियानिरासः । कोटिफलसंस्कृत त्रिज्याभुजफलयोः वर्गयोः योगात् मूलं शीघ्रसंज्ञः कर्णः । भुजफलं त्रिज्यया गुण्यं शीघ्रकर्णेन भक्तं फलस्य धनुः कलादि । इदं सिद्धं शीघ्रसम्बन्धिफलं कथितम् । भौमादीनामेतत् शीघ्रफलमाद्ये प्रथमे कर्मणि चतुर्थे

कर्मणि । च: समुच्चये । कार्यमेवकारात् द्वितीय तृतीयकर्मणो: न इत्यर्थ: । अर्थात् तत्र मन्दफलं संस्कार्यमिति सिद्धम् ।

अत्रोपपत्ति: । मन्दस्पष्टभोगस्थानीयकक्षावृत्तप्रदेशात् ग्रहविम्बं शीघ्रोच्च-स्थान स्थिततद्देवतया स्वहस्तस्थितसूत्रेण स्वाभिमुखं शीघ्रान्त्यफलज्यान्तरेण आकर्ष्यते । तेन मन्दस्पष्टस्थानाद् शीघ्रान्त्यफलज्यया वृत्ते भांशाङ्किते शीघ्रनी-चोच्चसंज्ञे पूर्वरीत्या शीघ्रोच्चस्थानात् शीघ्रकेन्द्रान्तरेण कक्षामार्गवैपरीत्येन ग्रहविम्बं भवति । तत्र पूर्ववत् कोटिफलभुजफले कोटिभुजौ कक्षास्थतिर्यग्रेखात: शीघ्रनी-चोच्चवृत्ततिर्यग्व्यासरेखा त्रिज्यान्तरेणेति त्रिज्याकोटिफलयोगो मकरादौ । कर्कादौ कोटिफलोनत्रिज्या शीघ्रनीचोच्चपरिधिस्थ ग्रहकक्षातिर्यग्रेखयो: अन्तरर्जुसूत्ररूपा कोटि: । कोटिमूलमध्ययो: अन्तरं कक्षातिर्यग्रेखान्तर्गतं भुजफलतुल्यं भुजो ग्रह-भूमध्यस्थसूत्रं तिर्यक् कर्ण: । कोटिभुजफलयो: वर्गयोगमूलं तत: कक्षायां कर्णसूत्रं यत्र लग्नं तत्र स्पष्टो ग्रहभोग: कक्षामध्यसूत्रात् ग्रहसक्तात् स्पष्टभोग स्थान पर्यन्तमर्द्धज्याकारं सूत्रं शीघ्रफलज्या शीघ्रकर्णाग्रे भुजफलं तदा त्रिज्याग्रे किमित्यनुपातज्ञाता । अस्या: चापं मन्दस्पष्टस्पष्टग्रहभोगस्थानयो: अन्तररूपं शीघ्रफलम् । अथ नीचोच्चवृत्तमध्यज्ञानाय मन्दस्पष्टज्ञानमावश्यकम् । तत: शीघ्र-फलसंस्कारेण स्पष्टज्ञानम् । तत्र स्फुट साधितमन्दफलसंस्कृत मध्यग्रहो मन्दस्फुट: सूक्ष्म इति पूर्वं मध्यग्रहस्यासन्नस्फुटत्वसिद्ध्यर्थं फलयो: संस्कार आवश्यक: तत्रापि प्रथमं मन्दफलं शीघ्रफलसंस्कृतान्मध्यग्रहसाधितमन्दफलापेक्षया सूक्ष्ममिति प्रथमं शीघ्रफलसंस्कृतमध्यग्रहान्मन्दफलं शीघ्रफलसंस्कृत मध्यग्रहे संस्कार्यं स्फुटासन्नो भवति ॥ ४०-४२ ॥

मकरादि (मकर राशि के आरम्भ से मिथुन राशि के अन्त तक) छ राशियों में यदि शीघ्रकेन्द्र हो तो शीघ्रकोटिफल का त्रिज्या में धन संस्कार करने से (अर्थात् त्रिज्या + शीघ्रकोटिफल) तथा कर्कादि (कर्क राशि के आरम्भ से धनु राशि के अन्त पर्यन्त) छ: राशियों में शीघ्र केन्द्र हो तो शीघ्रकोटिफल का त्रिज्या में ऋण संस्कार (अर्थात् त्रिज्या — शीघ्रकोटिफल) करने से स्पष्ट शीघ्रकोटि होती है ।

शीघ्र भुजफल और शीघ्रकोटि फल के वर्ग योग का वर्गमूल स्फुट शीघ्रकर्ण होता है । $\sqrt{(\text{शी. भुजफल}^2 + \text{शीघ्रकोटिफल}^2)}$ = स्फुट शीघ्र कर्ण ॥ ४० ॥

उपपत्ति:—शीघ्रकर्ण नाम शीघ्रप्रतिवृत्त स्थित ग्रह स्थानावधि भूगर्भात् नीतं सूत्रम् । शीघ्रभुजफलशीघ्रकोटिफलयो: वर्गयोगमूलं कर्ण इति । द्रष्टव्यं क्षेत्रम्—

भूत = स्पष्टा कोटि: ग्रत = भुजफलम्

$$\therefore \text{भू त}^2 + \text{ग्र त}^2 = \text{भू ग्र}^2$$

$$= (\text{स्पष्टा कोटि:}^2 + \text{भुजफलम्}^2) = \text{भू ग्र}^2 \text{ ।}$$

$$\therefore \sqrt{\text{भू ग्र}^2} = \text{भू ग्र} = \text{स्प. शीघ्रकर्ण:} \text{ ॥ } ४० \tfrac{१}{२} \text{ ॥}$$ **उपपन्नम्**

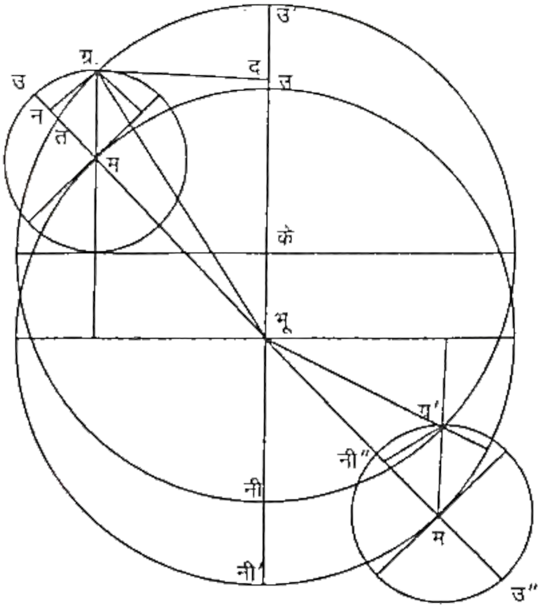

शीघ्रफलसाधन—भुजफल को त्रिज्या से गुणाकर चलकर्ण (शीघ्रकर्ण) से भाग देने पर लब्धि (शीघ्रफलज्या) का चाप (धनु) कलादि शीघ्रफल होता है ।

{अर्थात् पूर्वोक्त (श्लोक ३९) की विधि द्वारा साधित भुजफल को त्रिज्या से गुणाकर शीघ्र कर्ण से भाग देने पर—

$$\frac{\text{भुजफल} \times \text{त्रिज्या}}{\text{शीघ्रकर्ण}} = \text{लब्धि} = \text{शीघ्रफलज्या} ।$$

शीघ्रफलज्या का चापात्मक कलादि मान = शीघ्रकर्मोत्पन्न शीघ्रफल }

यह शीघ्रफल भौमादि पञ्चताराग्रहों के प्रथम और चतुर्थ कर्म (संस्कार) में उपयोगी होता है ॥ ४१,४२ ॥

उपपत्तिः—शीघ्रफलं नाम कक्षावृत्ते मध्यमस्पष्टग्रहयोरन्तरम् ।

अस्यज्ञानार्थं द्रष्टव्यं क्षेत्रम्

ग्र = प्रतिवृत्ते ग्रहः ; य = कक्षा वृत्ते मध्यमग्रहः ।

न = कक्षावृत्ते स्पष्टग्रहः ; मन = शीघ्रफलम्

ग्र त = शीघ्रभुजफलम् ; भू ग्र = शीघ्रकर्णः

ग्र त = भू र = शीघ्र केन्द्रज्या ; ग्र म = शीघ्रान्त्यफलज्या

Δ भू म र, Δ ग्र म त त्रिभुजयोः साजात्यादनुपातः —

अत्र भू म = त्रिज्या

अतः त्रिज्यायां शीघ्र केन्द्रज्या तथा शीघ्रान्त्य फलज्यायां किमिति जातम्

$$\frac{\text{शीघ्रकेन्द्रज्या} \times \text{शीघ्रान्त्यफलज्या}}{\text{त्रिज्या}} = \frac{\text{भू र} \times \text{ग्र म}}{\text{भू म}} = \text{ग्र त} = \text{शीघ्रभुजफलम्}$$

एवमेव Δ भू ग्र त, Δ भू म न त्रिभुजयोरनुपातः—

$$\frac{\text{ग्र त} \times \text{भू म}}{\text{भू ग्र}} = \frac{\text{भुजफलम्} \times \text{त्रिज्या}}{\text{शीघ्रकर्णः}} = \text{म न} = \text{शीघ्रफलज्या}$$ ।

अस्याश्चापं शीघ्रफलम् ॥ ४१, ४२ ॥ उपपन्नम् ।

ग्रहाणां स्फुटीकरणार्थ संस्काराः

मान्दं कर्मैकमर्केन्द्वोर्भौमादीनामथोच्यते।
शैघ्र्यं मान्दं पुनर्मान्दं शैघ्र्यं चत्वार्यनुक्रमात् ॥ ४३ ॥
मध्ये शीघ्रफलस्यार्धं मान्दमर्धफलं तथा।
मध्यग्रहे मन्दफलं सकलं शैघ्र्यमेव च ॥ ४४ ॥

ननु सूर्येन्द्वोः शीघ्रफलाभावात् कथं स्पष्टत्वं भवतीत्यतः तदुत्तरं वदन् एतदाद्ये कुजादीनामित्यर्थं स्फुटयति । सूर्यचन्द्रयोर्मान्दं कर्मैकं तथा च अनयोः शीघ्रफलाभावात् केवलेन मन्दफलेन एव स्पष्टत्वम् । एकमित्यनेन सकृन्मान्दं फलं साध्यं मध्यग्रहेण एव मन्दनीचोच्चमण्डलमध्यज्ञानात् न कर्मान्तरापेक्षेत्युपपत्तिः स्पष्टा । अथ अनन्तरं भौमादीनामुच्यते । प्रागुक्तं स्फुटतया कथ्यते तदाह । शैघ्र्यमिति । प्रथमतो मध्यग्रहात् साधितशीघ्रफलं मध्यग्रहे संस्कार्यमस्मात् मन्दफलमस्य एव संस्कार्यमस्मात् पुनर्द्वितीयवारं मन्दफलं साधितं मध्यग्रहे संस्कार्यं मन्दस्पष्टो भवति । अस्मादपि शीघ्रफलं साधितमस्य एव संस्कार्यमेवमनुक्रमात् चत्वारि कर्माणि भवन्तीति प्रागुक्त तात्पर्यम् ॥ ४३ ॥

अथ अत्रापि विशेषमाह । मध्यग्रहे स्वसाधित शीघ्रफलस्यार्द्धं संस्कार्यम् । अस्मात् साधितं मन्दसम्बन्ध्यर्द्धफलं साधितमन्दफलस्यार्द्धमित्यर्थः। तथा यस्मात् साधितं तस्यैव संस्कार्यं शीघ्रफलार्द्ध संस्कृते संस्कार्यमिति फलितार्थः । अस्मात् साधितं मन्दफलं सम्पूर्णं मध्यग्रहे संस्कार्यं मन्दस्पष्टो भवति । अस्मात् साधितं शीघ्रफलं सम्पूर्णम् । चः समुच्चये । तेन मन्दस्पष्टे संस्कार्यम् एवकारादुक्तरीत्या सिद्धो ग्रहः स्पष्टो नान्यथा इति ।

अत्रोपपत्तिः । मन्दफलं स्फुटसाधितं वास्तवं स्फुटस्तु मन्दफलसापेक्ष इत्यन्योऽन्याश्रयात् सूक्ष्ममन्दफलसाधनमशक्यमपि भगवता तदासन्नसाधनार्थमर्द्धस्फुटादेव मन्दफलं साधितं मध्य ग्रहसाधित मन्दफलापेक्षया सूक्ष्मम् । अर्द्धस्फुटस्तु फलद्वयार्द्धसंस्कृतो मध्यग्रहः अत्रापि मन्दफलस्यार्द्धं शीघ्रफलार्द्ध संस्कृतात् किञ्चित् सूक्ष्मत्वार्थं साधितमित्युपपन्नं मध्ये शीघ्रफलस्येत्यादि ॥ ४४ ॥

सूर्य और चन्द्रमा को स्पष्ट करने के लिए केवल एक ही मन्दफल संस्कार किया जाता है । शेष भौमादि पञ्चतारा ग्रहों के लिए संस्कार विधि कह रहा हूँ ।

पहले शीघ्रफल पश्चात् मन्दफल पुनः मन्दफल तदनन्तर शीघ्रफल का संस्कार क्रम एवं अनुक्रम से करना चाहिये । मध्यम ग्रह में पहले शीघ्रफल का आधा तदनन्तर मन्दफल का आधा पश्चात् समग्र मन्दफल एवं समग्र शीघ्रफल का संस्कार किया जाता है ।

अर्थात्—मध्यम ग्रह से साधित शीघ्रफल के आधे से संस्कृत मध्यम ग्रह से मन्दफल लाकर उसके आधे से पूर्व संस्कृत ग्रह में संस्कार (धन या ऋण) करना चाहिये । इस प्रकार शीघ्र फलार्ध और मन्दफलार्ध संस्कृत ग्रह से पुनः मन्दफल साधित कर पूर्व संस्कृत ग्रह में धन या ऋण संस्कार करने से मन्दफल संस्कृत (मन्दस्पष्ट) ग्रह होगा । अनन्तर मन्दफल संस्कृत ग्रह से शीघ्रफल साधित कर पूर्णशीघ्रफल का संस्कार मन्दस्पष्ट ग्रह में करने से स्पष्ट (पञ्चतारा) ग्रह होंगे ।

उपपत्तिः—ग्रहाणां स्फुटीकरण विषये प्रायशः सर्वेषामाचार्याणां मतमस्ति यत् येन संस्कारेण गणितागता ग्रहाः दृश्य क्षितिजे आयान्ति ते एव संस्काराः स्फुटीकरणोपयुक्ताः । अर्थात् "अत्रोपलब्धिरेवासना" ग्रहाणां प्रत्यक्षीकरणमेव वासनोपपत्तिरिति । द्रष्टव्यम् संस्कृत टीका गूढ़ार्थ प्रकाशिका ॥ ४३, ४४ ॥

शीघ्रमन्दकर्मणोः धनर्णत्वम्

अजादिकेन्द्रे सर्वेषां शैघ्र्ये मान्दे च कर्मणि ।
धनं ग्रहाणां लिप्तादि तुलादावृणमेव च ॥ ४५ ॥

ननु फलयोः संस्कारः कथं कार्य इत्यत आह । सर्वेषां ग्रहाणां शैघ्र्ये कर्मणि मान्दे कर्मणि चकारः समुच्चये कलात्मकं फलं मेषादिषड्भान्तर्गतकेन्द्रे युतं कार्यं तुलादिषड्भान्तर्गत केन्द्रे हीनं कार्यम् । चकारो व्यवस्थार्थकः एवकारः फलयोरानयनप्रकारभेदेऽपि धनर्णरीतिभेदव्यवच्छेदार्थकः ।

अत्रोपपत्तिः। पूर्वाकर्षणे ग्रहस्य फलं धनं पश्चादाकर्षण ऋणमिति प्रागुक्तम्। तत्र ग्रहादुच्चपर्यन्तं केन्द्रे गृहीते पूर्वाकर्षणे मेषादिकेन्द्रं भवति पश्चादाकर्षणे तुलादिकेन्द्रं भवतीति तथोक्तमुपपन्नम् ॥ ४५ ॥

सूर्यादि सभी ग्रहों के मन्द केन्द्र और शीघ्र केन्द्र मेषादि ६ राशियों में हो तो मध्यम ग्रह में कलादि मन्दफल और शीघ्रफल का धन संस्कार तथा तुलादि केन्द्र होने पर मध्यम ग्रह में ऋण संस्कार किया जाता है ।। ४५ ।।

उपपत्तिः—मन्दोच्चात् शीघ्रोच्चाद् वा ग्रहं संशोध्य मन्दकेन्द्रं शीघ्रकेन्द्रं वा ज्ञायते । केन्द्रमिदं षड्भादल्पं तदा इदं ज्ञायते यत् ग्रहः मन्दोच्चात् शीघ्रोच्चाद् वा पृष्ठे ग्रहो भवति । स्थितावस्यां मध्यमग्रहः पृष्ठे स्पष्टग्रहश्चाग्रे भवति । अतः

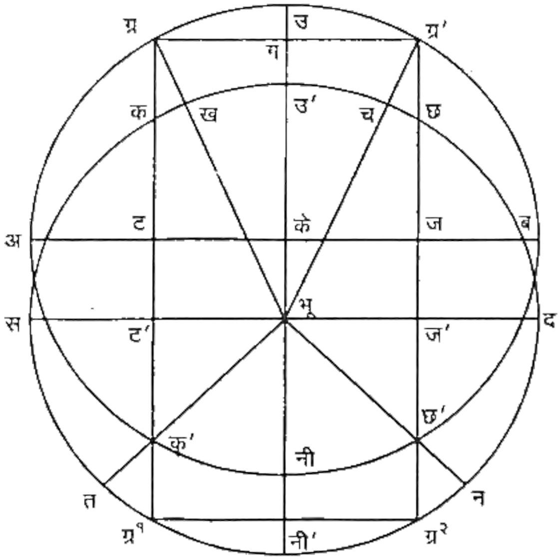

षड्भाल्पे मेषादि केन्द्रे फलं धनम् । एवं तुलादि केन्द्रे विपरीतं भवति । अर्थात् षड्भान्तरिते कक्षावृत्ते यदा मन्दकेन्द्रं शीघ्र केन्द्रं वा षड्-राश्यधिकं भवति तदा स्पष्ट ग्रह: पृष्ठतो मध्यमश्चाग्रतो भवति। अत: तुलादि केन्द्रे मध्यम ग्रहाद् फलं विशोध्य स्फुटग्रहमानीयते । अर्थात् तुलादि केन्द्रे फलं ऋणमिति । द्रष्टव्यं क्षेत्रम्—

क्षेत्रे क = मध्यम ग्रह:

ख = स्फुट ग्रह: मेषादि षड्भादल्पे सति मध्यम ग्रह: पृष्ठे स्पष्टश्चाग्रे एवं तुलादि केन्द्रे ।

ग्र = मध्य ग्रह: अग्रे ; न = स्पष्ट ग्रह पृष्ठे

अत: तुलादौ ऋणम् फलम् ॥ ४५ ॥ **उपपन्नम् ।**

भुजान्तरसंस्कार:

अर्कबाहुफलाभ्यस्ता ग्रहभुक्तिर्विभाजिता ।
भचक्रकलिकाभिस्तु लिप्ता: कार्या ग्रहेऽर्कवत् ॥ ४६ ॥

अथ ग्रहाणां भुजान्तरफलमाह । स्पष्टा सूर्यादिग्रहगति: सूर्यस्य भुज-फलेन मन्दफलेन कलात्मकेन गुणिता द्वादशराशिकलाभि: षट्शतयुतैकविंशति सहस्रमिताभिर्भक्ता प्राप्तफलकला ग्रहे सूर्यादिग्रहेऽर्कवत् सूर्यमन्दफलधनर्णव-शादित्यर्थ: । कार्या: । तुकाराद्धनर्णं संस्कार्या: ।

अत्रोपपत्ति: । अहर्गणस्य एकरूपमध्यममानेन सत्वात् तदुत्पन्न ग्रहाणां मध्यममानेन यदर्द्धरात्रं तात्कालिकत्वं सिद्धम् मध्यममानार्द्धरात्रे तु मध्यमसूर्यमित-क्रान्ति वृत्तप्रदेशोऽधो याम्योत्तरवृत्ते भवति । अस्मात् कालात् स्पष्टार्द्धरात्रं स्पष्ट सूर्यमित क्रान्तिवृत्तप्रदेशाधो याम्योत्तरवृत्तसंयोगरूपं मन्द फलधनर्णक्रमेणानन्तर पूर्वकाले भवति । अतो मन्दफलकला भोगसम्बन्धिकालेन ग्रहोऽनन्तरपूर्वकालयो-श्चाल्य: स्पष्टार्द्धरात्रसमये भवति । एतेन अनेन कर्मणा स्फुटार्द्धरात्रकालीन-ग्रहा: क्रियन्ते । सूर्यश्च स्फुटार्द्धरात्रकालीन एव अत: सूर्यस्य नायं संस्कार इति पर्वतोक्तं निरस्तम् । सूर्यव्यतिरिक्त ग्रहा मध्यार्द्धरात्रे सूर्यस्तु स्फुटार्द्धरात्र इत्यत्र अहर्गणोत्पन्नत्वेन सर्वेषामेककालिकत्वसिद्ध्या हेत्वभावादिति । तत्र मन्दफल कलानां कालस्त्वेकराशि कलाभि: सायनस्पष्टार्का क्रान्तरराश्युदयासवो लभ्यन्ते तदा मन्दफलकलाभि: क इत्यनुपातेन ततोऽहोरात्रासुभिर्गतिकलास्तदा फलकलासुभि:

का इति मन्दफलकलाग्रहे धनर्णं मन्दफलवशार्द्धनर्णं कार्या इति सिद्धम् । तत्रापि भगवता लोकानुकम्पया स्वल्पान्तरेण नाक्षत्रदिने ग्रहगतिभोगमङ्गीकृत्य चक्र कलापरिवर्तात्मकनाक्षत्राहोरात्रेण गतिकलास्तदा सूर्यमन्दफलकलाभ्रमणेन क इत्येकानुपातात् लाघवादानीताश्चालनकला इत्युपपन्नम् ॥ ४६ ॥

सूर्य के भुजफल (मन्दफल) को ग्रहगतिकला से गुणाकर गुणनफल को भचक्रकला (३६० × ६० = २१६०० कला) से भाग देने पर जो कलात्मक लब्धि हो उसे भुजान्तर कहते हैं। उसका संस्कार अभीष्ट ग्रह में सूर्य मन्दफल के अनुसार करना चाहिये । अर्थात् सूर्यमन्दफल धन हो तो ग्रह में लब्धि जोड़ने से मन्दफल ऋण हो तो ग्रह से लब्धि को घटाने से अर्धरात्रिकालिक स्पष्ट ग्रह होता है ॥ ४६ ॥

उपपत्ति—यथा मध्यमार्कस्फुटार्कयोरन्तरं मन्दफलं भवति तथैव मध्यार्क मध्यरात्रिकालिकस्फुटार्क मध्यरात्रिकालिक ग्रहयोरन्तरं भुजान्तरं नाम । अर्थात् भुजान्तरेण मध्यार्कमध्यरात्रिकालिका ग्रहाः स्फुटार्क मध्यरात्रिकालिका जायन्ते । इदमन्तरमनुपात-द्वारा साध्यते—

एकस्मिन राशौ ३०° भवन्ति । एषां कलात्मकं मानम् ३० × ६० = १८०० कलाः । अतोऽनुपातः

यदि राशिकलाभिः राश्युदयासवस्तदा रविमन्दफलकलाभिः किमिति जातम्—

$$\frac{\text{राश्युदयासवः} \times \text{रवि मन्दफलकला}}{१८००} = \text{मन्दफलासवः}$$

अत्र स्वल्पान्तरात् राश्युदयासवः राशिकलासममेव स्वीकारेण जातम्—

$$\frac{१८०० \times \text{रविमन्दफलकला}}{१८००} = \text{रविमन्दफलकला}$$
$$= \text{रविमन्दफलासवः}$$

मन्दफलासुभिः ग्रहगतिकलाज्ञानायानुपातः—

अहोरात्रासुभिः ग्रहगतिकला लभ्यन्ते तदा मन्दफलकलासुभिःका ?

$$\frac{\text{ग्रहगतिकला} \times \text{मन्दफलकला}}{\text{अहोरात्रासवः}} = \text{मन्दफलोत्थासवः ।}$$

अत्र अहोरात्रासूनां स्थाने भचक्रकलानामुत्थापनेन जातम्—

$$\frac{\text{ग्रहातिकला} \times \text{मन्दफलकला}}{\text{भचक्रकला}} = \text{भुजान्तरकला}$$

रविमन्दफलस्य धनत्वे भुजान्तरमपि धनम् ऋणत्वे च ऋणम् ।

उपपन्नम् ॥ ४६ ॥

ग्रहाणां मन्दस्पष्टगतिसाधनम्

स्वमन्दभुक्तिसंशुद्धा मध्यभुक्तिर्निशापतेः ।
दोर्ज्यान्तरादिकं कृत्वा भुक्तावृणधनं भवेत् ॥ ४७ ॥
ग्रहभुक्तेः फलं कार्यं ग्रहवन्मन्दकर्मणि ।
दोर्ज्यान्तरगुणा भुक्तिस्तत्वनेत्रोद्धृता पुनः ॥ ४८ ॥
स्वमन्दपरिधिक्षुण्णा भगणांशोद्धृताः कलाः ।
कर्कादौ तु धनं तत्र मकरादावृणं स्मृतम् ॥ ४९ ॥

अथ स्पष्टगतिं विवक्षुश्चन्द्रस्य प्रथमं विशेषमाह । ग्रह गतिसाधने वक्ष्यमाणे गतिफलं ग्रहगतेः साधितं तथा चन्द्रगतेः चन्द्रगतिफलं न साध्यं किन्तु चन्द्रस्य मध्यमगतिः स्वस्य चन्द्रस्य मन्दं मन्दोच्चं तस्य दिनगत्या हीना कार्या तादृशगतेः सकाशाद्दोर्ज्यान्तरादिकं दोर्ज्यान्तरमादिभूतं यस्य एतादृशं गतिफलं वक्ष्यमाणप्रकारे दोर्ज्यान्तरगुणा भुक्तिरित्यादौ दोर्ज्यान्तरादेव गतिफलोत्पत्तेः । सिद्धं कृत्वा चन्द्र मध्यमगतावृणधनं वक्ष्यमाणरीत्या भवति ।

अत्रोपपत्तिः । वक्ष्यमाणं गति फलं केन्द्रगत्योपपन्नमित्यनेन सूर्यादिग्रहाणां विचन्द्राणां मन्दोच्चगतेः अत्यल्पत्वात् स्वगत्यैव गतिफलमुक्तम्। तत्र चन्द्रस्य तथा साधने बह्वन्तरपातात् तस्य मन्दोच्चगत्यूनस्वगतिरूप केन्द्रगतेः फलं साधितं गतिफलं यद्गतेः साध्यं तद्गतौ एव संस्कार्यमिति वक्ष्यमाणरीतिव्युदासाय चन्द्रभुक्तौ इत्युक्तमन्यथा केन्द्रगतेरेव स्फुटत्वं स्यात् न चन्द्रगतेरिति ॥ ४७ ॥

अथ ग्रहाणां मन्दस्पष्टगतिं वासना सूचनपूर्वगतिफलानयनपूर्विकां श्लोकाभ्यामाह । मन्दकर्मणि गतिमन्दफल क्रियानिमित्तमित्यर्थः । ग्रहवत् ग्रहमन्द फलानयनरीत्या परिधिगुणनभगणांशभजनाप्त चापमित्यात्मिकया ग्रहगतेः सकाशात् फलं ग्रहमन्दगतिफलं साध्यम् । तथा ग्रहमन्दफलं केन्द्रभुजज्यातः साधितं तथा इदं गतिफलं ग्रहगतेः साध्यमित्यर्थः । तथाहि ग्रहमन्दफलान्तरस्य एकदिनान्तरीयस्य ग्रहगतिमन्दफलत्वाद्भुजज्ययोः एकदिनान्तरयोः अन्तरात् फलं मन्दगतिफलं पर्यवसितं तत्र केन्द्रयोरन्तरस्य केन्द्रगतित्वात् तज्ज्ययोरन्तरं तत्वाश्विप्रमाणेन उक्तज्यापिण्डान्तरं गतिकला परिणामितं भवति । तदेवाह । दोर्ज्यान्तरगुणेति । ग्रहमध्यगतिः केन्द्रगतिरूपा । उच्चगतेः अत्यल्पत्वात् दोर्ज्यान्तर गुणा भुजज्यानयनावसरे यज्ज्यापिण्डान्तरं तेन गुणिता पञ्चाकृतिभिर्भक्ता पुनः अनन्तरमित्यर्थः । ग्रहमन्दपरिधिना स्फुटेन गुणिता षष्टियुतशतत्रयेण भक्ता फलं गतिमन्दफलकलाः । यद्यपि गतिज्यातः फलज्यानयनं कृत्वा तत् चापं गति फलं समुचितम् । तथापि ग्रहगतेस्तत्वाश्विभ्यो न्यूनत्वात् ज्याचापयोः तुल्यत्वेन तदनुक्तावक्षतिः । चन्द्रस्य तु स्वल्पान्तरात् तत्करणमुपेक्षितम्। मन्दस्पष्ट गतिसिद्ध्यर्थं मध्यगतौ फल संस्कारमाह । कर्कादाविति । तत्र ग्रहमध्यगतौ पूर्वानीतफलं कर्कादिषड्भान्तर्गत केन्द्रे धनं मकरादि षड्भान्तर्गतकेन्द्रं ऋणमुक्तम् । तुकारान्मन्दस्पष्टगतिः सिद्धा भवतीत्यर्थः ॥ ४८, ४९ ॥

अत्रोपपत्तिः । ऋणफलोपचये पूर्वफलादग्रिमफलमधिकं हीनमिति फलान्तरं गतावृणम्। ऋणफलापचये पूर्वफलादग्रिमफलं न्यूनं हीनमिति फलान्तरं गतौ धनम्। धनफलोपचये पूर्वफलात् अग्रिमफलमधिकं युतमिति फलान्तरं गतौ धनम् । ऋणफलापचयस्तु मकरादितः प्राक् त्रिभे । धनफलोपचयस्तु तुलादितः प्राक् त्रिभ इति कर्कादि केन्द्रे गतिफलं धनम्। धनफलापचये पूर्वफलादग्रिमं फलं न्यूनं हीनामिति फलान्तरं गतावृणम्। धनफलापचयस्तु कर्कादितः प्राक् त्रिभ ऋणफलोपचयस्तु मेषादितः प्राक् त्रिभ इति मकरादि केन्द्रे गतिफलमृणं सिद्धम् ॥ ४८-४९ ॥

चन्द्रमा की मन्दोच्चगति से चन्द्रमा की मध्यम गति घटाने से शेष केन्द्र गति होती है । चन्द्र केन्द्र गति से आगे कही गई विधि द्वारा (दोर्ज्यान्तर गुणा इत्यादि) चन्द्रगतिफल का साधन कर चन्द्रमा की मध्यम गति में आगे निर्दिष्ट विधि द्वारा धन-ऋण करने से चन्द्रमा की स्पष्टगति होती है ।

स्पष्ट ग्रहसाधन हेतु जिस प्रकार मन्दफल का साधन किया जाता है उसी प्रकार मन्दगतिफल का भी साधन करना चाहिये । चन्द्रगतिफल साधन में चन्द्रमा की मन्दकेन्द्रगति तथा अन्यग्रहों की मध्यमा गति को गत-गम्य भुजज्याओं के अन्तर से गुणाकर २२५ से भाग देने पर जो लब्धि प्राप्त हो उसे मन्दपरिधि से गुणाकर भगणांश ३६०° से भाग देने पर प्राप्त कलादि लब्धि को कर्कादि केन्द्र होने पर मध्यम गति में जोड़ने (धनसंस्कार) तथा मकरादि केन्द्र होने पर मध्यम गति से घटाने पर ग्रहों की स्पष्टा गति होती है ॥ ४७—४९ ॥

उपपत्तिः—मन्दफल संस्कृताः ग्रहाः मन्दस्पष्टा भवन्ति । तत्राद्यतन श्वस्तन ग्रहयोरन्तरं मन्द स्पष्टा गतिर्भवति । अथवा मन्दफल संस्कृत मध्यम गतिः = मन्द-स्पष्टागतिः = मध्यमगतिः ± मन्दफलम् । ग्रहः एक दिवसात्मकेन ६० घटिकात्मकेन कालेन यावदन्तरितो भवति तावदेव तस्य गतिः । अस्य साधनार्थ अद्यतन श्वस्तन ग्रहयोरन्तरं क्रियते । मध्यमग्रहगति — मन्दोच्चगति = मन्दकेन्द्रगतिः । चन्द्रगतेर्बाहुल्यात् केन्द्रगतिश्चन्द्रस्यैव ग्राहया ।

अद्यतन श्वस्तनमन्दफलान्तरज्ञानार्थ मन्दफलज्यासाधनं क्रियते-भगणांशैर्मन्दपरिध्यंशास्तदा अद्यतन-श्वस्तनकेन्द्रज्यायां किमिति जातं क्रमेण——

$$\frac{\text{मन्दपरिध्यंशाः} \times \text{अद्यतनकेन्द्रज्या}}{३६०} = \text{अद्यतनमन्दफलज्या} \ ।$$

$$\frac{\text{मन्दपरिध्यंशाः} \times \text{श्वस्तनकेन्द्रज्या}}{३६०} = \text{श्वस्तनमन्दफलज्या} \ ।$$

अद्यतनश्वस्तनमन्दफलज्ययोरन्तरम् = मन्दगतिफलम्

अत्र ज्याचापयोरभेदात् फलं गृहीतमतो सूक्ष्मफलानयनार्थं पुनरनुपातः क्रियते—

यदि भांशैः मन्दपरिध्यंशास्तदा अद्यतनश्वस्तनमन्दफलज्ययोरन्तरेण किम् ?

$$\frac{\text{मन्दपरिध्यंशा} \times \text{केन्द्रज्यान्तरम्}}{360} = \text{अन्तरसम्बन्धिगतिफलम्}$$

अद्यतनश्वस्तनकेन्द्रयोरन्तरं केन्द्रगति: । अतोऽनुपात: २२५ ज्यापिण्डे गत-गम्य ज्यान्तररूपं भोग्यखण्डं लभ्यते तदा केन्द्रगत्या किमिति—

$$\frac{(\text{ऐष्यज्या} - \text{गतज्या}) \times \text{केन्द्रगति:}}{225} = \text{अन्तरज्या सम्बन्धि भोग्यखण्डम्}$$

अत्रान्तरसम्बन्धि गतिफलस्योत्थापनेन—

$$\frac{(\text{ऐष्यज्या}-\text{गतज्या})\ \text{केन्द्रगति} \times \text{मन्दपरिधि:}}{225 \times 360} = \text{स्फुटं मन्दगतिगतिफलम्}$$

उपपन्नम् ॥ ४७—४९ ॥

ग्रहाणां शीघ्रगतिफलानयनम्

मन्दस्फुटीकृतां भुक्तिं प्रोज्झ्य शीघ्रोच्च भुक्तित: ।
तच्छेषं विवरेणाथ हन्यात् त्रिज्यान्त्यकर्णयो: ॥ ५० ॥
चलकर्णहृतं भुक्तौ कर्णे त्रिज्याऽधिके धनम् ।
ऋणमूनेऽधिके प्रोज्झ्य शेषं वक्रगतिर्भवेत् ॥ ५१ ॥

अथ श्लोकाभ्यां स्पष्टगतिसाधनमाह । मन्दस्पष्टां गतिं प्राक् सिद्धां शीघ्रोच्चगते: पातयित्वा तत्रावशिष्टं त्रिज्यान्त्यकर्णयो: त्रिराशिज्या द्वितीय-शीघ्रकर्णयो: ग्रन्थान्तरैकवाक्यतार्थं त्रिज्याशब्देन द्वितीयशीघ्रफलकोटिज्या ग्राह्येति ध्येयम् । अन्तरेण गुणयेत् तत्र यत् सिद्धं तच्छीघ्रकर्णेन द्वितीयेन भक्तं फलं मन्दस्पष्टगतौ द्वितीयशीघ्रकर्णे त्रिज्याधिके गृहीत फलकोटिज्यातोऽधिके सति हीने च सति धनमृणं क्रमेण कार्यं स्पष्टगति: स्यात् । ननु यदा मन्दस्पष्टगतितो गति शीघ्रफलमधिकं तदा मन्दस्पष्टगतौ फलमूनं न स्यादिति तत्र स्पष्टगतिज्ञानं कथम् । न च एतदसम्भव इति वाच्यम् । नीचासन्ने ग्रहे फलकोटिज्या शीघ्र-कर्णान्तरात् शीघ्रकर्णस्य न्यूनत्वात् फलस्यावश्यं मन्दस्पष्टगत्यधिकत्व सम्भवा-दित्यत आह । अधिक इति । मन्दस्पष्टगति: । अधिके फले पातयित्वा शेषं वक्रगति: विपरीतगति: पश्चिमगति: स्यात् । तथा च न क्षति: । अत्रोपपत्ति: । फलांशखांकान्तरशिञ्जिनीघ्नी द्राक्केन्द्रभुक्ति: श्रुतिहृद्विशोध्या। स्वशीघ्रभुक्ते: स्फुट-खेटभुक्ति: शेषं च वक्रा विपरीतशुद्धौ ।

इति सिद्धान्तशिरोमणौ वृद्धवशिष्ठ सिद्धान्तोक्ते: सूक्ष्मप्रकार: तस्योपपत्तिस्तु तट्टीकायां व्यक्ता । तत्र द्राक् केन्द्रभुक्त्यर्थं प्रथमार्द्धमुक्तम् । इयं गति: फलकोटिज्यया गुण्या कर्णभक्ता फलं स्वशीघ्रोच्चगते: शोध्यम् तत्र प्रथममेव समच्छेदपूर्वकशोधनार्थं शीघ्रोच्चगते: कर्णो गुण: । तत्रापि शीघ्रोच्चगते: केन्द्र-ग्रहगतियोगरूपत्वात् खण्डद्वयं केन्द्रगतौ एव फलं हीनं कृतमिति कर्णगुणितकेन्द्र

गतिफल कोटिज्या गुणित केन्द्रगत्योः अन्तरं तत्रापि गुणितयोः अन्तरेऽन्तरे वा गुणिते समत्वात् लाघवाच्च फलकोटिज्या कर्णान्तरेण केन्द्रगतिर्गुणिता कर्णभक्ता इति तच्छेषमित्यादिहृतमित्यन्तमुपपन्नम् । अथ फलकोटिज्या तुल्यकर्णे मुख्य प्रकारेण गतेर्मन्दस्पष्ट गति तुल्यतया सिद्धत्वात् फलाभावः कर्णस्य न्यूनत्वे फलस्य शीघ्रकेन्द्रगत्यधिकत्वात् तदूने शीघ्रोच्चगतौ शीघ्रकेन्द्र गतिनाशात् अधिकस्य गतिफलरूपस्य मन्दस्पष्टगतौ हीनत्वं पर्यवसन्नम् । कर्णस्य अधिकत्वे पूर्व प्रकार फलस्य शीघ्रकेन्द्रगतितो न्यूनत्वात् तदूने शीघ्रोच्चगतौ यत् न्यूनं तदधिका मन्दस्पष्टगतिः स्पष्टगतिरिति पर्यवसन्नम् । तदत्र शीघ्रोच्चगतिस्थाने शीघ्रकेन्द्र गति ग्रहणेन फलं गतिफलमेवोत्पन्नं तन्मन्दस्पष्टगतौ फलकोदिज्यातः कर्णस्य अधिकन्यूनत्वक्रमेण धनमृणमित्युपपन्नं कर्ण इत्याद्यून इत्यन्तम् । ऋणफलस्य मन्दस्पष्टगतितोऽधिकत्वे विपरीतशोधनाच्छेषं पश्चिमगतिरेव स्पष्टेति सर्वमनवद्यम् ॥ ५०-५१ ॥

ग्रहों की मन्दस्पष्ट गति को अपनी-अपनी शीघ्रोच्चगति से घटाकर शेष को त्रिज्या और अन्त्य कर्ण के अन्तर

$$\left[\{(९० - \text{शीघ्रफल}) - \text{फलकोज्या}\} \sim \text{अन्त्य कर्ण} = \text{शेष}\right]$$

से गुणाकर चलकर्ण (शीघ्र कर्ण) से भाग देने पर प्राप्त लब्धि शीघ्रगतिफल होती है । शीघ्रकर्ण यदि त्रिज्या से अधिक हो तो फल धन अल्प हो तो फल ऋण होता है । मन्दस्पष्ट गति में शीघ्र गतिफल का धन ऋण संस्कार करने से स्पष्ट गति होती है । यदि ऋण शीघ्रगतिफल मन्दस्पष्ट गति से अधिक हो तो शीघ्र गतिफल से मन्द स्पष्ट गति को घटाने पर जो शेष रहे वह ग्रह की वक्रगति होती है ॥ ५०—५१ ॥

उपपत्तिः——अत्र त्रिज्यापदेन शीघ्रफलकोटिज्या गृह्यते । श्री सुधाकर द्विवेदिभिः प्रतिपादितं यत् ''त्रिषुराशिषु शीघ्रफलस्य विशोधनेन या ज्या सा त्रिज्येति व्युत्पत्या त्रिज्याशब्देनात्र फलकोटिज्या भवितुमर्हति ।'' उक्तञ्चात्र भास्करेण——''फलांश खाङ्कान्तर शिञ्जिनिघ्नी'' इत्यादिः ।

अतोऽनुपातद्वारा स्फुटकेन्द्रगतिः साध्यते——

$$\frac{\text{शीघ्रफलकोज्या} \times \text{शीघ्रकेन्द्रगतिः}}{\text{शीघ्रकर्णः}} = \text{स्फुटकेन्द्रगतिः}$$

$$\text{म. शीघ्रकेन्द्रगति} - \text{स्फुटकेन्द्रगतिः} = \text{शीघ्रगतिफलम्}$$

$$= \text{शीघ्रकेन्द्रगति} - \frac{\text{शीघ्रफलकोज्या} \times \text{शीघ्रकेन्द्रगति}}{\text{शीघ्रकर्णः}}$$

$$= \frac{\text{शीघ्रकर्ण} \times \text{शीघ्रकेन्द्रगति} - \text{शीघ्रफलकोज्या} \times \text{शीकेन्द्रगति}}{\text{शीघ्रकर्णः}}$$

$$= \frac{\text{शीघ्रकेन्द्रगति (शीघ्रकर्ण – शीघ्रफलकोज्या)}}{\text{शीघ्रकर्णः}}$$

उपपन्नम्।

अत्र शीघ्रकर्णः – शीघ्रफलकोज्या अस्य धनत्वे शीघ्र गतिफलं धनमृणत्वे ऋणम् । ऋणाधिक्ये विपरीत शोधनेन (शीघ्रफलकोज्या – शीघ्रकर्णः) = वक्रगति – फलमिति । विशेषार्थ द्रष्टव्यं क्षेत्रम्—

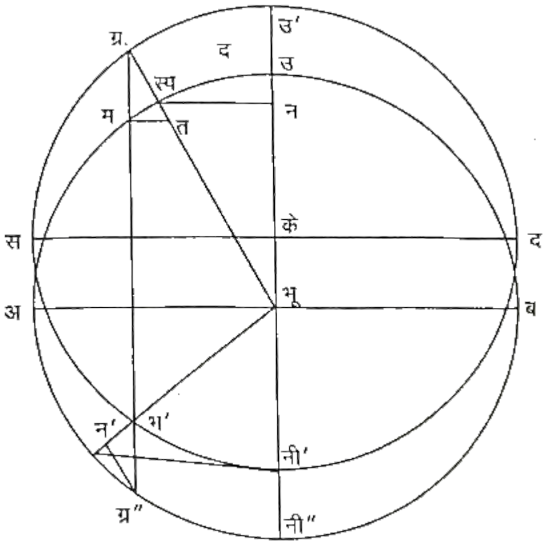

उ' स नी' द = कक्षा वृत्तम्,
उ अ नी ब = कक्षा प्रतिवृत्तम्,
भू = भूकेन्द्रम्,
उ, उ' = उच्चस्थानम्,
नी, नी' = नीच स्थानम्,
ग्र = प्रतिवृत्ते ग्रहस्थानम्,
भ' = कक्षावृत्ते मध्यमग्रहः,
स्प = स्पष्ट ग्रहः,
मत = शीघ्रफलज्या,
स्प न = स्पष्टकेन्द्रज्या,
ग्र म त Δजे ग्र म = कर्णः,
(अन्यफलज्या तुल्यः)
ग्रत = कोटिः,
मतः = भुजः,

एवमेव भू स्प न Δजे –

स्प० केन्द्रज्या = स्पन = भुजः, स्प. के. कोज्या भू न = कोटिः,

भू स्प (त्रिज्या) = कर्णः

अतः उक्तत्रिभुजयोः साजात्यादनुपातः—

अन्त्यफलज्यायां शीघ्रफलज्या लभ्यते तदा त्रिज्यायां किमिति जातम्—

$$\frac{\text{शीघ्रफलज्या} \times \text{त्रिज्या}}{\text{अन्त्यफलज्या}} = \frac{\text{मत}}{\text{मग्र}} = \text{स्पन} = \text{स्पष्टकेन्द्रज्या ।}$$

चापं स्प. केन्द्रगतिः ।

फलांशखांकान्तरशिञ्जिनिघ्नी इत्यादि भास्करोक्त्या—

शीघ्रोच्चगतिः – स्फु. के. गतिः = स्पष्टागतिः ।

$$\text{शीघ्रकर्ण} \times \text{शी. उ. ग.} - \frac{\text{शी. के. ग.} \times \text{शीफलकोज्या}}{\text{शीघ्रकर्ण}}$$

$$= \frac{\text{शीक} \times \text{शीउग} - \text{शी. के. ग.} \times \text{शीफकोज्या}}{\text{शीघ्रकर्ण}}$$

शी उ ग − शीकेग + म. स्प. गतिः

शी उ ग = शीकेग + म. स्प. गति

अतः स्प. गतिः =

$$\frac{\text{शीक} \times \text{शीकेग} + \text{शीक} \times \text{मंस्पग.} - \text{शी. के. ग.} \times \text{शी. फ. कोज्या}}{\text{शी. क.}}$$

स्प. गतिः =

$$\frac{\text{शीक} \times \text{शी. के. ग.} + \text{शी. फ.} \times \text{म. स्प. ग.} - \text{शी. के. ग.} \times \text{शी फ कोज्या}}{\text{शी. क.}}$$

$$= \frac{\text{शीक} \times \text{म. स्प. ग.}}{\text{शी. क.}} \pm \frac{\text{शीक} \times \text{शी.के.ग.} \sim \text{शी.के.ग.} \times \text{शीफ कोज्या}}{\text{शी. क.}}$$

$$= \frac{\text{शीकेग (शी.क.} \sim \text{शीफ कोज्या)}}{\text{शी. क.}} = \text{स्प. गतिः।}$$

उपपन्नम्।

धनर्णोपपत्तिः

$$\text{शीघ्रफलज्या} = \frac{\text{शीके भुजज्या} \times \text{अन्त्यफलज्या}}{\text{शीघ्रकर्णः}}$$

अत्र फलस्य धनर्णत्वम् शीघ्रकर्णस्याधिकत्वेऽल्पत्वे च क्रमेण मकरादौ कर्कादौ च भवति । अत्र शीकर्णस्य शीकेन्द्र भुजज्यया च समत्वे अति तुल्यांशहरयोर्नाशात् शीफलज्या = अन्त्यफलज्या अतोऽत्र शीघ्रफलस्य परमत्वम् ।

शीघ्रोच्चगति − स्प.के. गतिः = स्पष्टागतिः ।

$$\text{शीउग} - \frac{\text{शी.के. गति} \times \text{शीघ्रकोज्या}}{\text{शी. क.}} = \text{स्पगतिः ।}$$

कक्षा मध्यगतिर्यग्रेखा प्रतिवृत्त सम्पाते शीफकोज्या शीकर्णयो समत्वेजात —

शीके गति = स्प. केन्द्र गतिः

अतः शीउग − शीकेग = स्पष्टागतिः

परं परिभाषया शीउग − शीके गति = मन्दस्पष्टागतिः

अतः स्पष्टागति = मन्दस्पष्टागतिः

अत्र मन्दस्पष्टा गतिरेव स्फुटागतिरिति । यतो हि उच्चासन्ने ग्रहे स्पष्टागतिः सर्वाधिको फलञ्च परमं धनम्, तथा च नीचासन्ने ग्रहे स्पष्टा गतिश्चाल्पा परं फलस्य परमत्वं ऋणात्मकञ्च भवति । कक्षामध्यगतिर्यग्रेखा प्रतिवृत्तसम्पाते केन्द्र-ज्यायाः परमत्वे शीफलस्य परमत्वं परं शीघ्रफल कोटिज्या शीकर्णयोस्तुल्यत्वात् शीघ्रगतिफलं शून्यमतः—

मस्पगति ± शीघ्रगतिफलम् = स्पष्टागतिः उपपन्नम् ॥ ५०, ५१ ॥

ग्रहाणां वक्रगतित्वे कारणम्

दूरस्थितः स्वशीघ्रोच्चाद् ग्रहः शिथिलरश्मिभिः ।
सव्येतराकृष्टतनुर्भवेद् वक्रगतिस्तदा ॥ ५२ ॥

अथ वक्रगत्युपपत्तिमाह । स्वशीघ्रोच्चात् दूरस्थितः त्रिभाधिकान्तरितो ग्रहो भौमादिकः शिथिलरश्मिभिः शीघ्रोच्च देवताहस्त स्थित ग्रहविम्बप्रोतरज्जुभिः सव्येतराकृष्टतनुर्देवतायाः सव्यवामभाग आकर्षिता तनुः शरीरं विम्बरूपं यस्य असौ यदा तदा वक्रगतिः स्यात् । अयं भावः । त्रिभादूनान्तरितो ग्रहो वृत्ताकार-सूत्रैः अशिथिलैः दैवतैः यथाकर्षितुं शक्यते तथा त्रिभाधिकान्तरितो ग्रहो दैवतैः वृत्ताकारसूत्रैः शिथिलैः आकर्षितुं न शक्यतेऽतोऽल्पधनर्णफलस्थाने ग्रहो वक्रीभवति । आकर्षणोत्कर्षाभावेन वृत्तमार्गे वस्तुनो नीचगामित्वसम्भवात् इति ॥ ५२ ॥

अपने शीघ्रोच्च से दूर (३ राशि अर्थात् ९० से अधिक दूरी पर) स्थित होने पर शीघ्रोच्च रश्मियों के शिथिल हो जाने से अर्थात् शीघ्रोच्चजन्य आकर्षण शक्ति के शिथिल हो जाने पर ग्रह वाम भाग में (अन्य नीच स्थानीय) आकर्षण शक्ति के प्रभाव से) आकृष्ट हो कर वक्री हो जाते हैं ॥ ५२ ॥

ग्रहों का वक्रत्व दृष्टिजन्य दोष है । वस्तुतः ग्रह अपनी कक्षा में पश्चिम से पूर्व की ओर ही भ्रमण करता है किन्तु अन्य ग्रह पिण्ड पर अवस्थित द्रष्टा को कभी कभी एक निश्चित अवस्था में जाने पर ग्रह वक्री (विपरीत गतिक) दिखलाई पड़ता है ।

ग्रहाणां वक्रारम्भे वक्रत्यागे केन्द्रांशाः

कृतर्तुचन्द्रैर्वेदेन्द्रैः शून्यत्र्येकैर्गुणाष्टिभिः ।
शररुद्रैश्चतुर्थेषु केन्द्रांशैर्भूसुतादयः ॥ ५३ ॥
भवन्ति वक्रिणस्तैस्तु स्वैः स्वैश्चक्राद् विशोधितैः ।
अवशिष्टांशतुल्यैःस्वै केन्द्रैरुज्झन्ति वक्रताम् ॥ ५४ ॥

अथ यत्केन्द्रांशेषु गतिफलमृणं मन्दस्पष्टगतितुल्यं भवति तान् वक्रारम्भ

भागान् तदन्तभागांश्च विना गतिसाधन प्रकारं ग्रहवक्रतदन्त ज्ञानार्थं श्लोकाभ्यामाह । भौमाद्या ग्रहाश्चतुर्थ कर्मसु केन्द्रांशैः शीघ्रकेन्द्रांशैः कृतर्त्तुचन्द्रै-रित्याद्युक्तरूपैः क्रमेण वक्रिणो भवन्ति । स्वकीयैः स्वकीयैः तैः केन्द्रांशैः उक्ततुल्यैः चक्राद्द्वादशराशिभगेभ्यः षष्टियुतशतत्रयेभ्यो विशोधितैः हीनैः । अवशेषसमानैः स्वकीयैः चतुर्थकेन्द्रांशैः । तुकारः क्रमार्थे । भौमादयो वक्रत्वं त्यजन्ति । परिवर्ते वारद्वयं भुजतुल्यत्वेन नीचासन्ने मन्दस्पष्ट गति तुल्यगति फलस्य सम्भवादिति ॥ ५३-५४ ॥

भौमादि ग्रह अपने अपने चतुर्थ शीघ्रकेन्द्र से क्रमशः १६४, १४४, १३०, १६३, तथा ११५ अंशों पर होते हैं तो इनका वक्रगतित्व आरम्भ होता है । उक्त शीघ्र केन्द्रांशों को चक्र (३६०°) में घटाने से अवशिष्ट अंशों के तुल्य ग्रह होने पर ग्रह वक्रगति का त्याग करते हैं अर्थात् मार्गी हो जाते हैं ॥ ५३—५४ ॥

अभिप्राय यह है कि भौमादि ग्रहों के स्पष्टी करण में दो बार मन्दफल का तथा दो बार शीघ्र फल का संस्कार किया जाता है । "शैघ्र्यं मान्दं पुनर्मान्दं शैघ्र्यं चत्वार्यनुक्रमात् ।" इस प्रकार चतुर्थ संस्कार द्वितीय शीघ्रफल का होता है । इसी फल के केन्द्रांश ग्रहों के वक्रत्व एवं मार्गत्व के नियामक होते हैं । यदि भौम का केन्द्रांश १६४° हो तो भौम वक्री तथा (३६०—१६४ =) १९६° हो तो भौम वक्र त्याग (मार्गी) करता है । इसी प्रकार बुध १४४° पर वक्री २१६° पर मार्गी, गुरू १३०° पर वक्री तथा २३०° पर मार्गी, शुक्र १६३° पर वक्री तथा १९७° पर मार्गी तथा शनि ११५° पर वक्री तथा २४५° पर मार्गी होता है ।

उपपत्तिः—यदा ग्रहाणां मन्द स्फुटा गतिः स्फुटा गति समा भवति तदा वक्रत्वं सम्भवति । अतस्तदानीं स्फुटमन्दस्पष्ट ग्रहयोरन्तरं शून्यमेव भवति ।

शी.उ.ग. — स्प.के.ग. = स्प. गतिः

वक्रारम्भे स्फुटागतिः = ०

अतः शी.उ.ग. = स्प.के.ग. । अत्र $\text{स्प.के.ग.} = \dfrac{\text{शी.के.ग.} \times \text{शीफकोज्या}}{\text{शी.क.}}$

उत्थापनेन—

$$\text{शी.उ.ग.} = \frac{\text{शी.के.ग.} \times \text{शी.फ. कोज्या}}{\text{शी क}} = \text{स्प.ग.} = 0$$

$$\text{अतः शी.उ.ग} = \frac{\text{शी.के.ग.} \times \text{शी.फ. कोज्या}}{\text{शीक}}$$

$$\text{शीफकोज्या} = \frac{\text{त्रि}^2 - \text{शीकेकोज्या} \times \text{अंफज्या}}{\text{शीक.}}$$

$$\text{शीक}^2 = \text{त्रि}^2 + \text{अंफज्या}^2 - \text{अंफज्या} \times 2\ \text{शीके कोज्या}$$

$$\text{शीउग} = \frac{\text{शीकेग}\ (\text{त्रि}^2 - \text{शीके कोज्या} \times \text{अंफज्या})}{\text{शीक}^2}$$

$$\text{शीउग} \times \text{शीक}^2 = \text{शीकेग}\ (\text{त्रि}^2 - \text{शीके. कोज्या} \times \text{अंफज्या})$$

$$\text{शीउग}\ (\text{त्रि}^2 + \text{अंफज्या}^2 - 2\ \text{शीके कोज्या} \times \text{अंफज्या})$$

$$= \text{शीउग} \times \text{त्रि}^2 + \text{शीउग} \times \text{अंफज्या}^2 - \text{शीउग} \times 2\ \text{शीके कोज्या} \times \text{अंफज्या।}$$

$$= \text{शीकेग} \times \text{त्रि}^2 - \text{शीकेग} \times \text{अंफज्या ।}$$

$$= \text{शीउग} \times \text{त्रि}^2 - \text{शीकेग} \times \text{त्रि}^2 + \text{शी उ ग} \times \text{अंफज्या}^2$$

$$= 2\ \text{शीके कोज्या} \times \text{अंफज्या} \times \text{शीउग} - \text{शीके कोज्या} \times \text{शीकेग} \times \text{अंफज्या।}$$

$$= \text{त्रि}^2\ (\text{शीउग} - \text{शीकेग}) + \text{शीउग} \times \text{अंफज्या}^2$$

$$= \text{शीके कोज्या} \times \text{अंफज्या}\ (2\ \text{शीउग} - \text{शीकेग})$$

$$= \text{त्रि} \times \text{मग} + \text{शीउग} \times \text{अंफज्या}^2\ \text{।}$$

$$= \text{शीके कोज्या} \times \text{अंफज्या}\ (\text{शीउग} + \text{शीउग} - \text{शीकेग})$$

$$= \text{शीके कोज्या} \times \text{अंफज्या}\ (\text{शीउग} + \text{म ग})$$

$$= \text{शीके कोज्या} = \frac{\text{त्रि}^2 - \text{म ग} + \text{शीउग} \times \text{अंफज्या}^2}{\text{अंफज्या}\ (\text{शीउग} + \text{म ग})}$$

$$= \text{शीके कोज्या}$$

अस्याश्चापं = चा; ९० + चा = वक्रकेन्द्रांशाः । उपपन्नम् ॥ ५३,५४ ॥

मार्गारम्भ केन्द्रांशेषु हेतुमाह

महत्वाच्छीघ्रपरिधेः सप्तमे भृगुभूसुतौ ।
अष्टमे जीवशशिजौ नवमे तु शनैश्चरः ॥ ५५ ॥

अथ वक्रान्त भागानामतुल्यत्वे कारणान्तरमपि आह । शीघ्र केन्द्रस्य सप्तमे राशौ शुक्रभौमौ वक्रत्वं त्यजतः । अष्टमे राशौ गुरुबुधौ वक्रत्यजनार्हौ। अत्र शुक्रगुर्वोः पूर्वोद्देश इतरापेक्षयाभ्यर्हितत्वज्ञापकः । नवमे राशौ शनिर्वक्रत्वं त्यजति। तुरेवार्थे । तेन शनिरेव तत्र वक्रत्वं त्यजति न अन्ये । अत्र कारणमाह। महत्वादिति। अन्येषां शीघ्रपरिधेः प्रागुक्तस्य महत्वात् शनिशीघ्रपरिधेः अधिकत्वात्। तथा च परिध्यधिकत्वेन पूर्वमेव वक्रत्यजनमत एव भौमशुक्रयोर्बुधगुरुभ्यां प्रथमोद्देशः शनेस्तु सुतरां बुधगुर्वोः शनितः पूर्वोद्देशः । भृगु भूसुतौ जीवशशिजौ इत्यत्र परिध्यधिकत्वेन शुक्रगुर्वोः प्रथमं केवलमुद्देशो न भागानामल्पत्वक्रम इति भावः । ननु परिध्यधिकत्वे पूर्वं पूर्वराशौ वक्रत्यजने कोपपत्तिरिति चेत् शृणु । शून्यगति सम्बद्धशीघ्रकर्णात् फलांशखांकान्तरेत्यादेः विलोम

विधिना शीघ्रोच्चगतेः फलकोटिज्या अस्याः फलज्या अस्याः त्रिज्याभ्यस्तं भुजफलं चलकर्णविभाजितमित्यस्य विलोम विधिना भुजफलमस्मात् तद्गुणे 'भुजकोटिज्ये भगणांशविभाजिते' इत्यस्य विलोम प्रकारेण भुजांश ज्ञानार्थं भौमादीनां भुजज्या उत्तरोत्तरमधिकाः शीघ्रपरिधिभ्यो यथोत्तरमपचयवद्भ्यो हरेभ्यो लब्धत्वाद्धराधिकन्यूनत्वाभ्यां फलयोः न्यूनाधिकत्वनिश्चयात् तासां चापानि भुजभागा यथोत्तरमधिका वक्रारम्भे तदन्ते च तुल्या अतएव तृतीयपदे वक्रान्तत्वात् भुजभागाः षड्युता यथोत्तरमधिकं शीघ्रकेन्द्रं तेषां वक्रान्ते भवति । वक्रारम्भस्य द्वितीयपदे सम्भवाद् भुजभागहीनाः षड्राशयस्तेषां वक्रारम्भे यथापचितं केन्द्रं भवति । तत् तु उक्त रीत्या भौमशुक्रयोः षष्ठराशौ बुधगुर्वोः पञ्चमराशौ शनेश्चतुर्थ राशौ इति ज्ञेयम् । इदं भगवता विना चक्रशोधनम् आपाततः शीघ्रकेन्द्रराशिज्ञानात् वक्रान्तज्ञानं लोकानुकम्पार्थम् अनतिप्रयोजनमुक्तमिति ध्येयम् ॥ ५५ ॥

मन्दपरिधि की अपेक्षा शीघ्रपरिधि के बड़ी होने से शुक्र और मंगल अपने केन्द्र से सातवीं राशि में, गुरु और बुध आठवीं राशि में, तथा शनि नवम राशि में अपना वक्रत्व त्याग देते हैं ॥ ५५ ॥

ग्रहों की शीघ्र परिधि जितनी ही अधिक होती है उतनी ही शीघ्रता से वक्रत्याग होता है । शुक्र की शीघ्र परिधि सर्वाधिक है अतः सर्वप्रथम शुक्र तदनन्तर भौम का वक्रत्याग होता है अन्तर क्रम से गुरु, बुध और शनि का होता है । नवमराशि का अभिप्राय तृतीय पद से है । तृतीय पद में मन्दस्पष्ट गति और स्पष्ट गति तुल्य हो जाती है तथा शीघ्रफल भी परम होता है। परिणामतः शीघ्रफल की अधिकता से केन्द्रांश में न्यूनता आती है । इसीलिए जिस ग्रह का शीघ्रफल परमाल्प होता है । उसका वक्रत्याग नवमराशि के आसन्न तृतीय पदान्त में होता है । उससे अधिक फलवाले ग्रह का आठवीं राशि के आसन्न (पदमध्य में) तथा सर्वाधिक फल वाले ग्रह का सातवीं राशि के आसन्न तृतीय पदादि में वक्रत्याग होता है । अर्थात ग्रह मार्गी हो जाता है ।

शरानयनमाह

कुजार्किगुरुपातानां　ग्रहवच्छीघ्रजं　फलम् ।
वामं तृतीयकं　मान्दं　बुधभार्गवयोः　फलम् ॥ ५६ ॥
स्वपातोनाद् ग्रहाज्जीवा शीघ्राद्भृगुजसौम्ययोः ।
विक्षेपघ्नान्त्यकर्णाप्ता विक्षेपस्त्रिज्यया विधोः ॥ ५७ ॥

अथ चन्द्रादिग्रहाणां विक्षेपसाधनं श्लोकाभ्यामाह। भौमशनिगुरूणां ये पाता मध्याधिकारावगतास्तेषां शीघ्रजं फलं स्वग्रहसम्बन्धि चतुर्थ कर्मस्थ शीघ्रफलं पूर्वसिद्धं ग्रहवत् ग्रहे यथा संस्कृतं तथा संस्कार्यम् । ग्रहशीघ्रफलं ग्रहे चेत् युतं

तदा तत्पाते तदेव फलं योज्यं चेद्धीनं तदा हीनं कार्यमित्यर्थः बुध शुक्रयोस्तृतीयकं तृतीयकर्म सम्बन्धि मान्दं फलं तत्पातयोः विपरीतं संस्कार्यं बुध शुक्रयोः मन्दफलं धनमृणं चेत् तत्पातयोः तदेव फलमृणधनं क्रमेण कार्यमित्यर्थः । अनुक्तत्वात् चन्द्रस्य यथागत एव पातो ज्ञेयः । स्पष्टग्रहात् स्वस्य फलसंस्कृतो यः पातस्तेन हीनाद्भुजज्या । बुध शुक्रयोः विशेषमाह । शीघ्रादिति शुक्रबुधयोः शीघ्रोच्चात् पातेन हीनाद्भुजज्या न पातोन बुध शुक्राभ्यां भुजज्या । विशेषस्य सामान्य बाधकत्वात् । अर्थात् पूर्वोक्तं चन्द्रभौमगुरुशनीनां सिद्धम् । मध्याधिकारोक्त स्वमध्यमविक्षेपकलाभिर्गुण्या चतुर्थकर्मणि यः शीघ्रकर्णस्तेन भक्ता फलं ग्रहाणां विक्षेपकलाः स्फुटा भवन्ति । ननु चन्द्रस्य शीघ्रकर्णासम्भवात् तत्पातोनतद्भुजज्या खभ गुणिता केन भाज्येत्यत आह । त्रिज्ययेति । चन्द्रस्य विक्षेपसाधने तादृशी भुजज्या त्रिज्यया भाज्येत्यर्थः ।

अत्रोपपत्तिः । यथा विषुवद् वृत्तात् क्रान्तिवृत्तयाम्योत्तरभागौ यदन्तरेण याम्योत्तर सूत्रे सा ध्रुवाभिमुखी क्रान्तिस्तथा क्रान्तिवृत्ताद्विक्षेपवृत्तभागौ यदन्तरेण याम्योत्तरसूत्रे स विक्षेपः कदम्बाभिमुखः । तथाहि । विक्षेपवृत्तानि ग्रहविम्बाधिष्ठतानि सूर्यव्यतिरिक्तग्रहाणां षण्णां स्वस्वगोले भिन्नानि सूर्यस्य नित्यं कान्तिवृत्त स्थत्वमेव तानि क्रान्तिवृत्ते स्वस्वगत्या प्रोतान्येव गच्छन्ति। तत्र विक्षेपक्रान्ति वृत्तसम्पाते पातस्थाने तत्षड्भान्तरप्रदेशे च स्थिते ग्रहविम्बे वृत्तप्रदेशैक्यादन्तराभावेन ग्रहविक्षेपाभावः। यथा तस्माद् ग्रहबिम्बं गच्छति तथा ग्रहबिम्बक्रान्ति वृत्तस्थ चिन्हयोः याम्यमुत्तरं वान्तरं क्रान्तिवृत्तात ग्रहस्य भवति तदेव विक्षेपसंज्ञम् । स च पातात् त्रिभान्तरे ग्रहे मध्याधिकारोक्तः। अन्तराले पातस्थानात् ग्रहचिन्हं क्रान्तिवृत्ते यदन्तरेण तदन्तरं राश्याद्यात्मकं पातोन ग्रहरूपं तद्भुजज्ययानुपातः । त्रिज्याभुजज्यया परमविक्षेपस्तदेष्टया भुजज्यया क इति । एवं चन्द्रस्य एव त्रिज्याव्यासार्द्धगोले परमशरस्य गणितागत पातस्य च लक्षितत्वात् । अन्येषां तु परमशराः शीघ्रोच्चदेवताकृष्टग्रहबिम्बाधिष्ठितकल्पितवृत्ते शीघ्रकर्णव्यासार्द्धे लक्षिताः । कथमन्यथा शीघ्रफलसंस्कारेण ग्रहस्य स्पष्टत्वं युक्तम् । ग्रहविम्बस्य तत्स्थत्वे तत्पातस्य अपि तत्स्थत्वं युक्तम् । ग्रह विम्बाधिष्ठितवृत्ते ग्रहभोगस्य मन्दस्पष्टत्वेन गणितागतपातान् मन्दस्पष्टात् शरसाधनमुपपन्नम् । तदुक्तं सिद्धान्तशिरोमणौ।

मन्दस्फुटो द्राक्प्रतिमण्डले हि ग्रहो भ्रमत्यत्र च तस्य पातः ।
पातेन युक्ताद् गतिणातागतेन मन्द स्फुटात् खेचरतः शरोऽस्मात् ।। इति ।

तत्र स्पष्टात् शरसाधनार्थं शीघ्रफलं पाते संस्कृतं शीघ्र फलव्यस्तसंस्कृत स्पष्ट ग्रहस्य मन्दस्पष्टत्वात् यथोक्त संस्कृतपातोने स्पष्टग्रहे पातोनमन्द स्फुटग्रहस्य सिद्धेः । अथ बुधशुक्रपातभगणौ वास्तवौ नोक्तौ । तौ तु शीघ्रकेन्द्रभगणाधिकावतो गणितागतपातयोः मध्यग्रहोन शीघ्रोच्चरूप शीघ्रकेन्द्र युतयोः द्वादशराशिशुद्धयोः पातत्वम् । तत्र पूर्वपातस्य द्वादश शुद्धत्वात् शीघ्रकेन्द्रं चक्रशुद्धं योज्यमतो लाघवाद्गणितागतपातस्य शीघ्रोच्चोन मध्यग्रहरूपं केन्द्रं

योज्यमयं पातो मन्दस्पष्टे मन्दफलसंस्कृत मध्यरूपे हीन इति ग्रहयोर्मध्ययोः नाशात् यथागत मन्द फलसंस्कृतं शीघ्रोच्चं पातोनमिति सिद्धम् । तत्रापि मन्दफलं पाते व्यस्तं कृत्वा तदूनं शीघ्रोच्चं कृतं संस्कृतपातपङ्क्त्यां संस्कृतपातयोर्युक्तत्वात् । अथ, एतदानीतविक्षेपः' कर्णव्यासार्द्धवृत्ते न त्रिज्यावृत्ते स्फुटग्रहस्थान अतः कर्णाग्रेऽयं पूर्वानुपातानीतविक्षेपस्तदा त्रिज्याग्रे क इत्यनुपातेन त्रिज्यागुणः कर्णो हरः पूर्वं त्रिज्याहर इति त्रिज्ययोर्नाशाद्भुजज्या परम विक्षेपगुणिता शीघ्रकर्णभक्तेति सर्वमुक्तमुपपन्नम् ॥ ५६-५७ ॥

अहर्गणोत्पन्न भौम शनि और गुरु के पातों में ग्रहवत् शीघ्र फल का संस्कार करना चाहिये । अर्थात् ग्रहस्फुटीकरण में चतुर्थसंस्कार शीघ्रफल को धन हो तो धन, ऋण हो तो ऋण करने से स्फुट शरसाधनोपयोगी पात होता है । बुध और शुक्र के पातों का तृतीयसंस्कार अर्थात् मन्दफल का विपरीत संस्कार करना चाहिये। यदि ऋण हो तो धन, धन हो तो ऋण करना चाहिये । यहाँ चन्द्रमा के पात का उल्लेख नहीं है अतः चन्द्रमा का गणितगत पात ही ग्राह्य है ।

स्पष्ट भौम, गुरु और शनि ग्रहों को अपने अपने संस्कृत पातों से रहित कर (स्प. ग्रह-पात =) शेष की जीवा साधन करनी चाहिये तथा बुध और शुक्र के शीघ्रोच्चों से उनके पातों को घटाकर शेष की जीवा साधन करनी चाहिये । इस प्रकार साधित जीवा, को विक्षेप (परमशर) से गुणाकर गुणनफल में अन्त्य कर्ण (चतुर्थ कर्म में प्रयुक्त होने वाले शीघ्रकर्ण) से भाग देने से कलात्मक लब्धि क्रान्तिसंस्कार योग्य शर होता है ।

चन्द्रमा के साधन में शीघ्रकर्ण का उपयोग न होने से स्पष्टचन्द्र से पात को घटाकर शेष की जीवा को विक्षेप से गुणा कर त्रिज्या से भाग देने पर लब्धि चन्द्रमा का कलात्मक विक्षेप होता है ॥ ५६—५७ ॥

क्रान्तिशरसंस्कारः

विक्षेपापक्रमैकत्वे क्रान्तिर्विक्षेपसंयुता ।
दिग्भेदे वियुता स्पष्टा भास्करस्य यथाऽगता ॥ ५८ ॥

अथ दिनरात्रिमानज्ञानार्थं चरानयनं विवक्षुः प्रथमं तदुपयुक्तां स्पष्टक्रान्तिमाह। यस्य ग्रहस्य स्पष्ट क्रान्तिरभीष्टा तस्य ग्रहस्यायनांशसंस्कृतस्य भुजज्यातः परमापक्रमज्येत्यादिना क्रान्तिरयनांश संस्कृतग्रहगोलदिक्का ज्ञेया। तस्य विक्षेपेऽपि पूर्वोक्तप्रकारेण पातोन गोलदिक्को ज्ञेयः । गोलस्तु मेषादिषट्कमुत्तरस्तुलादिषट्कं दक्षिणः । अथ शरक्रान्त्योरेकदिक्त्वेन क्रान्तिः कलाद्या कलात्मक विक्षेपेण युता तयोर्दिगन्यत्वे क्रान्तिर्विक्षेपेण वियुतान्तरिता शेषदिक्का स्पष्टा क्रान्तिः स्यात् । ननु सूर्यस्य विक्षेपाभावात् कथं स्पष्टा क्रान्तिर्ज्ञेया इत्यत आह । भास्करस्य इति । सूर्यस्य यथागता पूर्वागता क्रान्तिरेव स्पष्टा क्रान्तिः ।

अत्रोपपत्तिः । विषुवद् वृत्तात् ग्रहविम्ब केन्द्रपर्यन्तं याम्यमुत्तरं वान्तरं स्पष्टक्रान्तिरिति तयोरेकदिक्त्वे तद्योगतुल्यमन्तरं भिन्नदिक्त्वे तदनन्तरमितमन्तरमिति । अत्र शरस्य क्रान्तिसंस्कारयोग्यत्वसम्पादिका क्रिया लोकश्रमभयात् स्वल्पान्तरत्वाच्चोपेक्षिता भगवता कृपावता । अन्यथा शरस्य ध्रुवाभिमुखत्वे भगवदुक्तमायनदृक्कर्म कथमव्याहतं स्यादिति अलम् ॥ ५८ ॥

विक्षेप (शर) और मध्यमक्रान्ति की एक ही दिशा हो तो विक्षेप और क्रान्ति का योग करने से स्पष्ट क्रान्ति होती है । विक्षेप और क्रान्ति की दिशा भिन्न होने पर क्रान्ति और विक्षेप का अन्तर करने से स्पष्ट क्रान्ति होती है ।

सूर्य की गणितागत (परमापक्रमज्या तु सप्तरन्ध्रगुणेन्दवः । २८ वें श्लोकोक्त विधि से प्राप्त) क्रान्ति ही स्फुट क्रान्ति होती है । क्योंकि क्रान्ति वृत्त में भ्रमण करने से सूर्य का विक्षेप नहीं होता ॥ ५८ ॥

उपपत्तिः—ग्रहा स्व स्व विमण्डले भ्रमन्ति । ग्रहविम्ब नाडीवृत्तयोरन्तरं ध्रुवप्रोतवृत्ते स्फुटाक्रान्तिर्भवति । तत्र विम्बोपरिगतकदम्बप्रोतवृत्तं क्रान्तिवृत्ते यत्र लगति तत्र ग्रहस्थानम् । ग्रहस्थानोपरिगतं ध्रुवप्रोतवृत्तं नाडीवृत्ते यत्र लगति ततः ग्रहस्थानं यावत् मध्यमा क्रान्तिः ध्रुव प्रोते भवति । ग्रहस्थान ग्रहविम्बयोरन्तरं कदम्बप्रोते शरो भवति । शर साधनार्थ क्षेत्रं प्रदर्श्यते—

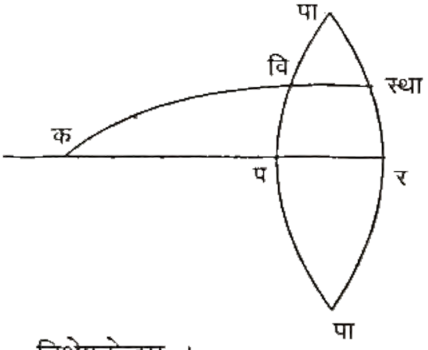

क्षेत्र परिचयः —

पा प पा′ = विमण्डलवृत्तम्

पा र पा′ = क्रान्तिमण्डलम् ;

वि = ग्रहबिम्बकेन्द्रम्

पा = पा′ = सम्पातस्थाने ;

प र = परमशरः ।

विस्था = इष्टशरः ;

विपास्था Δजे विपा = विमण्डले कर्णः = विक्षेपकेन्द्रम् ।

विस्था = कदम्बप्रोते भुजः ; पास्था = क्रान्ति वृत्ते कोटिः ।

$\angle$ विपास्था = परमशरः ; $\angle$ पा स्था वि = ९०° = त्रिज्या ।

अतः चापजात्ये कोणीयानुपातः—

यदि त्रिज्यायां विक्षेपकेन्द्रज्या लभ्यते तदा परमशरज्यायां किमिति—

$$\frac{\text{विक्षेपकेन्द्रज्या} \times \text{परमशरज्या}}{\text{त्रिज्या}}$$

$$= \frac{\text{पाविज्या} \times \text{विपास्था कोणज्या}}{\text{विस्था पा कोणज्या}} = \text{विस्थाज्या} = \text{इष्टशरज्या}$$

अस्याश्चापं इष्टः शरः ।

अयं शरः शीघ्रकर्णाग्रे भवति अतः त्रिज्याग्रे करणार्थमनुपातः—

शीघ्र करणाग्रे साधिता शरज्या तदा त्रिज्याग्रे किमिति—

$$\frac{\text{इष्टशरज्या} \times \text{त्रिज्या}}{\text{शीक.}} = \frac{\text{विक्षेप केन्द्रज्या} + \text{प श.} \times \text{त्रिज्या}}{\text{त्रिज्या} \times \text{शीक.}}$$

$$= \frac{\text{विक्षेप केन्द्रज्या} \times \text{पश}}{\text{शीक.}} = \text{कदम्बप्रोते इष्टः शरः}$$ उपपन्नम् ॥ ५८ ॥

ग्रहाणां स्फुटसावनदिनमानम्

ग्रहोदयप्राणहता खखाष्टैकोद्धृता गतिः ।
चक्रासवो लब्धयुताः स्वाहोरात्रासवः स्मृताः ॥ ५९ ॥

अथ दिनरात्रि मानज्ञानार्थमहोरात्रासून् साधयति । ग्रहस्य येऽयनांश संस्कृतराशेः वक्ष्यमाणनिरक्षोदयासवस्तैर्गुणिता निजस्फुटगतिः कलाद्यष्टादश शत-भक्ता फलेन युताश्चक्रासवः षष्टिघटिकानामसवः षट्शतयुतैकविंशतिसहस्र-मिताः स्वस्वग्रहस्य अहोरात्रासवः कालतत्वज्ञैः कथिताः ।

अत्रोपपत्तिः । ग्रहः पूर्वगत्या लम्बितः प्रवहेण गतिभोगकालेन भचक्र-परिवर्त्तानन्तरमुदेत्यतो भचक्रपरिवर्तकालः षष्टिघटिकासुमितो ग्रहगतिकला सम्बद्धा स्वात्मककालेनाधिको ग्रहाहोरात्रमस्वात्मकं नाक्षत्रप्रमाणेन भवति । तत्र एकराशि-कलाभिः ग्रहसम्बद्ध राश्युदयप्राणास्तदा गतिकलाभिः कः इत्यनुपातेन गत्यसव इत्युपपन्नं ग्रहोदयेत्यादि । अनेन एव श्लोकेन ग्रहाणामुदयान्तर कर्मास्तीत्युक्तं भगवता। तथाहि । अनुपातानीत मध्यग्रहाणां नियताहोरात्रमानान्तरकाले सिद्धत्वात् न मध्य रात्रकाले ग्रहाणां सिद्धिः। रविमध्यगत्यसूनां प्रतिराशौ भिन्नत्वेन मध्यम-सूर्याहोरात्रमानस्य नियतत्वाभावात् अतः त्रैराशिकावगतग्रहा अनियतमध्यार्काहोरात्र-मानान्तरेण अर्द्धरात्रे यत्संस्कारेण भवन्ति तदेवोदयान्तरं तत्साधनं भगवता स्वल्पान्तरत्वादुपेक्षितम् । कथमन्यथा गतिकलासूनां समत्वमुपेक्ष्य गतिकलानाम-सवो भगवदुक्ताः सङ्गच्छन्ते । उदयान्तरस्य गतिकलासुभेदोत्पन्नत्वात् ॥ ५९ ॥

अभीष्ट ग्रह की स्पष्टगति को ग्रहनिष्ठ राश्युदयासुओं (सायन ग्रह जिस राशि पर हो उस राशि के उदयमान) से गुणाकर १८०० से भाग देने पर जो लब्धि प्राप्त हो उसे चक्रकला (२१६००) में जोड़ने पर अभीष्ट ग्रह के अहोरात्रासु होते है ॥ ५९ ॥

ग्रहों की गति के अनुसार प्रत्येक ग्रह के अहोरात्र भिन्न भिन्न होते हैं । ग्रह के एक उदय काल से द्वितीय उदय काल तक का समय उस ग्रह का एक

अहोरात्र होता है । प्रत्येक ग्रह के अहोरात्र का ज्ञान नाक्षत्र काल के आधार पर ही होता है । नक्षत्र स्थिर होते हैं, अतः उनका अहोरात्र भी निश्चित है । २१६०० कला या ६० घटी का एक नाक्षत्र अहोरात्र होता है । ग्रहों के मार्गी और वक्री होने पर उनके अहोरात्र मान भी नक्षत्रमान से अधिक एवं न्यून होते रहते हैं । इसी प्रकार शीघ्रगामी और मन्दगामी ग्रहों के अहोरात्र भी न्यूनाधिक होते हैं । अतः प्रत्येक ग्रह का अहोरात्र मान ज्ञात करने के लिए उक्त विधि दर्शायी गई है । संक्षेप में अहोरात्र साधन का नियम इस प्रकार है—

$$\text{श्वस्तन ग्रह} - \text{अद्यतन ग्रह} = \text{ग्रहगति}$$

$$\frac{\text{ग्रहगति} \times \text{ग्रहनिष्ठराश्युदयासु}}{१८००} = \text{लब्धि}$$

$$\text{नाक्षत्र चक्रकला } २१६०० \pm \text{लब्धि} = \text{ग्रहसम्बन्धि अहोरात्र}$$ ।। ५९ ।।

उपपत्तिः—केनचिन्नक्षत्रेण सह यदि कश्चिद् ग्रह उदितस्तदाऽपरदिने स ग्रह स्व स्फुटगतिकलोत्पन्नासुभिरन्तरितो भवति। अर्थात् यदि ग्रहो मार्गगतिकस्तदा नाक्षत्र-षष्टिघटिकानन्तरं ग्रहस्योदयः यदि च वक्रगतिकस्तदा गतिकलोत्पन्नासुभिः पूर्वमेव उदितो भवति ।

अतो मार्गग्रहे नाक्षत्रषष्टिघटिका + ग्रहगतिकलोत्पन्नासवः = ग्रहाहोरात्रासवः

वक्रत्वे च नाक्षत्रषष्टिघटिका — ग्रहगतिकलोत्पन्नासवः = ग्रहाहोरात्रासवः

अतोऽत्र ग्रहगतिकलोत्पन्नासूनां साधनं क्रियते तत्रानुपातः—

यदि एकराशिसम्बन्धिकलाभिः (१८०० असुभिः) ग्रहनिष्ठराश्युदयासवः लभ्यन्ते तदा स्फुटगति कलाभिः किमिति—

$$\frac{\text{ग्रहनिष्ठराश्युदयासवः} \times \text{स्फुट गतिकलासुभिः}}{१८००}$$

= स्फुटगतिकलोत्पन्नासवः

चक्रासवः २१६०० अतः २१६०० + स्फुटगतिकलोत्पन्नासवः

= ग्रहसम्बन्धि अहोरात्रासवः । अत्र ग्रहस्य वक्रत्वे चक्रासवः

२१६०० — स्फु. ग. कलोत्पन्नासवः = अहोरात्रासवः । **उपपन्नम्** ॥ ५९ ॥

क्रान्तिज्या द्युज्या-चराणाञ्च साधनम्

क्रान्तेः क्रमोत्क्रमज्ये द्वे कृत्वा तत्रोत्क्रमज्यया ।
हीना त्रिज्या दिनव्यासदलं तद्-दक्षिणोत्तरम् ॥ ६० ॥
क्रान्तिज्या विषुवद्भाघ्नी क्षितिज्या द्वादशोद्धृता ।
त्रिज्यागुणाऽहोरात्रार्धकर्णाप्ता चरजाऽसवः ॥ ६१ ॥

चरसंस्कारः दिनरात्रिमानञ्च

तत्कार्मुकमुदक्क्रान्तौ धनहानी पृथक् स्थिते ।
स्वाहोरात्र—चतुर्भागे दिनरात्रिदले स्मृते ॥ ६२ ॥
याम्यक्रान्तौ विपर्यस्ते द्विगुणे तु दिनक्षपे ।
विक्षेपयुक्तोनितया क्रान्त्या भानामपि स्वके ॥ ६३ ॥

अथ चरोपयुक्तां क्रान्तिज्यां द्युज्यां च आह । स्पष्टक्रान्तेः क्रमोत्क्रमज्ये द्वे अपि प्रसाध्य तत्र तन्मध्ये क्रान्त्युत्क्रमज्यया त्रिज्या हीना दिनव्यासदलमहोरात्रवृत्तस्य व्यासार्धं द्युज्येत्यर्थः । तद्दिनव्यासार्द्धं दक्षिणोत्तरं दक्षिणगोले उत्तरगोले च स्यात् क्रान्तेर्गोलद्वयेऽपि सत्वात् । अपरा क्रान्तिज्यैव ।

अत्रोपपत्तिः । क्रान्त्यंशानां क्रमज्या क्रान्तिज्या भुजो विषुवद्वृत्तानुकाराणि अहोरात्रवृत्तानि उभयगोले तदुभयतः तद्व्यासार्द्धं द्युज्या कोटिस्त्रिज्या कर्ण इति गोले प्रत्यक्षम् । त्रिज्यावृत्त उन्मण्डले याम्योत्तरवृत्ते वा प्रत्यक्षम् । तत्र भुजकर्णयोर्वर्गान्तरपदं कोटिरिति क्रान्तिज्यावर्गोनात् त्रिज्यावर्गान्मूलं द्युज्या। तत्रापि भुजोत्क्रमज्यया हीना त्रिज्या कोटि क्रमज्या स्यादिति वृत्ते प्रत्यक्षदर्शनात् क्रान्त्युत् क्रमज्ययोना त्रिज्या द्युज्या स्यादिति लाघवेन वर्गमूलनिरासेनोक्तं भगवता क्रान्तेरित्यादि ।

अथ चरानयन पूर्वकदिनरात्रिमानसाधनं श्लोकत्रयेण आह । क्रान्तिज्या विषुवद्दिनीयमध्याह्नेन द्वादशांगुलशंकोश्छायया गुण्या द्वादशभक्ता फलं कुज्या स्यात् । सा त्रिज्यया गुणिताहोरात्रार्द्ध कर्णाप्ताहोरात्र वृत्तस्य अर्द्धकर्णेन व्यासदलेन द्युज्यया भक्तां फलं चरजा ज्या चरज्येत्यर्थः । अस्याश्चरज्याया धनुरसवश्चरासवो भवन्ति । स्वाहोरात्रचतुर्भागे स्वस्य चरसम्बन्धिनो ग्रहस्य प्रागुक्ताहोरात्रासवस्तेषां चतुर्थांशे पृथक् स्थिते स्थानद्वयस्थे उत्तरक्रान्तौ सत्यां चरासू धनहानी युतहीनौ कार्यौ तौ क्रमेण दिनरात्रिदले दिनार्द्ध रात्र्यर्द्धे कालविद्भिरुक्ते । दक्षिणक्रान्तौ सत्यां विपर्यस्ते दिनरात्रिदले यत्र हीनं तद्दिनार्द्धं यत्र युतं तद्रात्र्यर्द्धमित्यर्थः । तुकारात् ते दिनरात्र्यर्द्धे द्विगुणे दिनक्षपे दिनमान रात्रिमाने ग्रहस्य स्तः। उक्त रीत्या नक्षत्राणामपि दिनरात्रिमाने साध्ये इत्याह । विक्षेपेत्यादि। नक्षत्रध्रुवाणामानीतया क्रान्त्या नक्षत्रविक्षेपेणैकभिन्ना दिक्क्रमेण युक्तया अन्तरितया उक्तप्रकारेण सिद्धया स्वके नक्षत्रदिन रात्रिमाने साध्ये इत्यर्थः ।

अत्रोपपत्तिः। द्वादशांगुलशंकु कोटिः फलभा भुजोऽक्षकर्णः कर्णः क्रान्तिज्या कोटिः कुज्या भुजोग्राकर्ण इत्यक्षक्षेत्रद्वयं प्रसिद्धम् । तत्र द्वादशकोटौ फलभा भुजः क्रान्तिज्याकोटौ को भुज इत्यनुपातेन कुज्या । तत्स्व रूपं तु निरक्ष देश क्षितिज स्वदेश क्षितिजान्तरालस्थिताहोरात्र वृत्तप्रदेशस्य द्युज्याप्रमाणेन ज्येति त्रिज्याप्रमाणेन तज्ज्या चरज्येति द्युज्याप्रमाणेन कुज्या त्रिज्याप्रमाणेन केत्यनुपातेन चरज्या तद्धनुश्चरासवोऽहोरात्रवृत्तखण्डप्रदेशो निरक्षस्वक्षितिजान्तराल उत्तरगोले

स्वक्षितिजस्य निरक्षक्षितिजादधः स्थत्वात् निरक्षक्षितिज-याम्योत्तरवृत्तान्तरालेऽहो-रात्रवृत्तचतुर्थांशत्वाद् अहोरात्रासु चतुर्थांशे चरासवो युता दिनार्द्धं हीना रात्र्यर्द्धं दक्षिणगोले स्वक्षितिजस्य निरक्षक्षितिजादूर्ध्वस्थत्वात् हीना दिनार्द्धं युता रात्र्यर्द्ध-मित्युपपन्नं सर्वं क्रान्तिज्येत्यादि ॥ ६०-६३ ॥ •

स्फुटक्रान्ति से ज्या (क्रान्तिज्या) और उत्क्रमज्या दोनों का साधन कर त्रिज्या में से उत्क्रमज्या को घटाने से शेष अहोरात्रवृत्त का व्यासार्द्ध होता है, इसे द्युज्या भी कहते हैं । यह व्यासार्द्ध, दक्षिणक्रान्ति होने पर दक्षिणगोल का, उत्तराक्रान्ति होने पर उत्तरगोल का होता है ।

क्रान्तिज्या को पलभा से गुणाकर गुणनफल में १२ का भाग देने पर लब्धि क्षितिज्या (कुज्या) होती है । कुज्या (क्षितिज्या) को त्रिज्या से गुणाकर गुणनफल को अहोरात्र के व्यासार्धरूपी कर्ण (अर्थात् द्युज्या) से भाग देने पर लब्धि चरज्या होती है इसका चाप चर संज्ञक होता है ॥ ६०—६१ ॥

द्युज्या और चर का उपयोग दिनमान और रात्रिमान साधन में किया जाता है। इनके साधन का संक्षिप्त नियम इस प्रकार है—

त्रिज्या (९०° अंश की ज्या) = ३४३८ कला

क्रान्ति की क्रमज्या = क्रान्तिज्या, क्रान्ति की उत्क्रमज्या = उ ज्या

(१) त्रिज्या − उ.ज्या = ३४३८ − उत्क्रमज्या = द्युज्या

(२) $\frac{\text{क्रान्तिज्या} \times \text{पलभा}}{१२}$ = कुज्या

$\frac{\text{कुज्या} \times \text{त्रिज्या}}{\text{द्युज्या}}$ = चरज्या, चाप करने से चरकला ॥ ६०, ६१ ॥

उपपत्ति:—द्युज्योपपत्ति:—ग्रहोपरिगत ध्रुवप्रोतवृत्ते ध्रुवात् ग्रहास्थानावधि द्युज्या-चापोभवति । द्युज्याचाप व्यासार्द्धेन निर्मितं वृत्तं अहोरात्र वृत्तं द्युज्यावृत्तं वा भवति । क्रान्तिज्या, त्रिज्या, द्युज्यात्मके जात्यक्षेत्रे क्रान्तिज्या भुजः, त्रिज्या कर्णः, द्युज्या कोटिः । अतः भुजोत्क्रमज्या हीना त्रिज्या कोटिज्या स्यादित्यादिना ।

त्रिज्या − क्रान्त्योत्क्रमज्या = कोटिज्या = द्युज्या

अस्या दिग्ज्ञानं क्रान्त्यनुरूपमेवेदिति ।

चरज्योपपत्ति:—अहोरात्रवृत्ते क्षितिजोन्मण्डलयोरन्तरं चरखण्डाः भवन्ति तेषां ज्या कुज्या । इयं कुज्या त्रिज्यावृत्ते परिणता सति चरज्या भवति । अर्थात् नाडीवृत्ते अहोरात्रक्षितिजयोः सम्पातगतं ध्रुवप्रोतवृत्तं यत्र स्पृशति ततः पूर्वस्वस्तिकं यावत् चरः तस्य चापस्य ज्या चरज्या भवति । तथा चोक्तसम्पातात् पूर्वस्वस्तिकं यावत् क्षितिजे अग्रांशाकाः । एवं अग्रा कर्णः, कुज्या भुजः, क्रान्तिज्या कोटिः इति जात्य त्रिभुजे

पलभा, पलकर्ण, १२ (द्वादशांगुल) इति अक्षक्षेत्रस्य च परस्परानुपातेन—

यदि १२ कोटौ पलभाभुजस्तदा क्रान्तिज्या कोटौ किमिति लब्धम्

$$\frac{\text{पलभा} \times \text{क्रान्तिज्या}}{१२} = \text{कुज्या} \quad ।$$

एवमेव द्युज्या, कुज्या, त्रिज्याकोटिरिति जात्यत्र्यस्रे द्युज्याग्रीयकरणार्थं प्रयासः —

$$\frac{\text{कुज्या} \times \text{त्रिज्या}}{\text{द्युज्या}} = \text{चरज्या}$$

अत्र उत्थापनेन $$\frac{\text{पलभा} \times \text{क्रांज्या} \times \text{त्रिज्या}}{\text{द्युज्या} \times १२}$$

= चरज्या । अस्य चापांशाः चरः । **उपपन्नम् ॥ ६०,६१ ॥**

चरसंस्कार और दिनरात्रिमान—उक्त चरज्या को चापात्मक बनाने से चरासु होते हैं । उत्तरक्रान्ति होने पर चरासु को अहोरात्रासु के चतुर्थांश में (इनके घट्यात्मक मान को अहोरात्र के चतुर्थांश घटी में) जोड़ने से दिनार्ध तथा घटाने के रात्र्यर्ध काल होता है । दक्षिण क्रान्ति होने पर विपरीत संस्कार करने से, अर्थात् अहोरात्र के चतुर्थांश में चरघटी के ऋण संस्कार करने से दिनार्ध तथा धन संस्कार करने से रात्र्यर्द्ध मान होता है । दोनों को द्विगुणित करने पर क्रम से दिनमान और रात्रिमान होते हैं ।

इसी प्रकार विक्षेप को क्रान्ति में धन ऋण कर (चर साधन द्वारा) नक्षत्रों का दिनरात्रि मान ज्ञात करना चाहिये ॥ ६२—६३ ॥

अहोरात्रासु का अभिप्राय चक्रकला से है । सूर्य के एक उदय से द्वितीय उदय पर्यन्त जितनी कलायें या घटी मान होते है उतना ही अहोरात्र का मान होता है । चक्रार्ध (स्थूल रूप से) दिनमान तथा रात्रिमान होता है । चर संस्कृत चक्रार्ध स्पष्ट दिनमान तथा रात्रि मान होते है । चक्रार्ध का आधा अर्थात् चक्र का $\frac{1}{4}$ दिनार्ध और रात्र्यर्ध होता है । अतएव अहोरात्र के चतुर्थांश में चर संस्कार की विधि दी गई है ।

उपपत्ति—स्वस्वाहोरात्रवृत्ते याम्योत्तरोन्मण्डलयोरन्तरं पञ्चदशघटिकातुल्यं भवति। उत्तरगोले स्थिते रवौ क्षितिजादूर्ध्वमुन्मण्डलं भवति । क्षितिजोन्मण्डलयोर्मध्ये अहोरात्र-वृत्ते चरखण्डकालो भवति । अतः उत्तरक्रान्तौ अहोरात्रस्य चतुर्थांशे चरो योज्यते । दक्षिणगोले तु क्षितिजवृत्तमुन्मण्डलादुपरि भवति अतस्तत्र चरो वियुज्यते । यथा क्षेत्रे

परिचयः — ट नि छ = याम्योत्तरम् ; च गो छ = क्षितिजम्
ट गो ठ = उन्मण्डलम् ; नि गो य = नाडी वृत्तम्

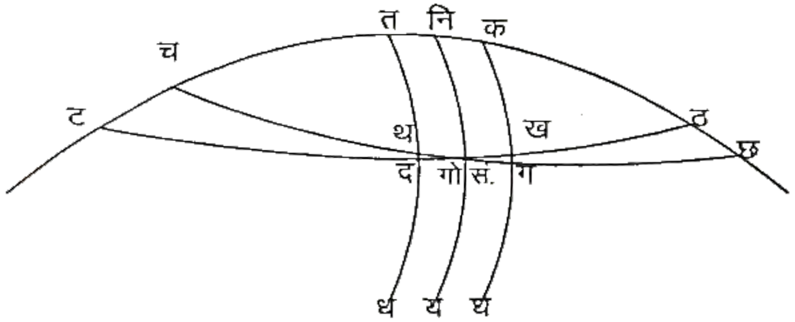

त थ द ध = क ख ग घ = अहोरात्रवृत्ते; द थ, ग ख = चरखण्डः

ठ = उत्तर ध्रुवः ; ट = दक्षिण ध्रुवः

उत्तरगोले क ख = १५ घटिका = अहोरात्रस्य चतुर्थांशः

क ग = दिनार्धः, ख ग = चरः

अतः १५ + चरः = क ख + ख ग = कग = दिनार्धः

दक्षिणगोले तद = १५ घटिका, तथ = दिनार्धः, थद = चरः

अतः १५ — चरः = तद — द थ = तथ = दिनार्धः

दिनार्धः × २ = दिनमानम् । एवमेव रात्र्यर्धेऽपि ।

एवमेव नाक्षत्र दिनरात्रिमानज्ञानार्थं प्रयासः

नक्षत्रादुदयादुदयं यावन्नाक्षत्रदिवसः ।

क्रान्ति ± विक्षेपः (एकदिक्त्वे धनं भिन्नदिक्त्वे ऋणम्) = स्फुटाक्रान्तिः

''क्रान्तेःक्रमोत्क्रमज्ये'' इत्यादिना चरं प्रसाध्य दिन-रात्रिमाने साध्ये ।

उपपन्नम् ॥ ६२,६३ ॥

नक्षत्रादीनां मानानयनम्

भभोगोऽष्टशतीलिप्ताः खाश्विशैलास्तथा तिथेः ।
ग्रहलिप्ता भभोगाप्ता भानि भुक्त्या दिनादिकम् ॥ ६४ ॥
रवीन्दुयोगलिप्ताश्च योगा भभोगभाजिताः ।
गतगम्याश्च षष्टिघ्न्यो भुक्तियोगाप्तनाडिकाः ॥ ६५ ॥
अर्कोनचन्द्रलिप्तास्तु तिथयो भोगभाजिताः ।
गता गम्याश्च षष्टिघ्न्यो नाड्यो भुक्त्यन्तरोद्धृताः ॥ ६६ ॥

अथ ग्रहस्य नक्षत्रनयनमाह । अष्टशतमिताः कला नक्षत्रभोगः । प्रसङ्गात् तिथिभोगमाह । खाश्विशैला इति । तिथेर्विंशत्यधिक सप्तशतमिताः कलास्तथा भोग इत्यर्थः । यस्य ग्रहस्य नक्षत्रज्ञानमिष्टं तस्य ग्रहस्य राशयस्त्रिंशद्गुण्या अंशा योज्यास्ते षष्टिगुणिताः कला योज्या इति परिभाषया कला नक्षत्रभोगभक्ताः

फलं ग्रहस्य गतनक्षत्राणि शेषं वर्त्तमाननक्षत्रस्य गतकलास्तस्मात् तस्य गत-दिनाद्यानयनमाह । भुक्त्येति । ग्रहस्य कलात्मिकया गत्या शेषदिनादिकं गतं भागहरणेन साध्यमेवं शेषोनाद् भोगाद् गतिकला भागेनैष्यदिनादिकं साध्यम् ।

अत्रोपपत्तिः । भचक्रभोगेन सप्तविंशति नक्षत्राणि अश्विन्यादीनि ग्रहो भुनक्त्यतः सप्तविंशतिनक्षत्राणां चक्रकलाः षट्शतयुतैकविंशति सहस्रमिता भोगस्तदैकनक्षत्रस्य क इत्यनुपातेन अष्टशतकलाभोगः । एवं तिथेश्चान्द्र-मासत्रिंशदंशत्वात् चान्द्रमासस्य सूर्यचन्द्रान्तरैकभगणसिद्धत्वाच्च । त्रिंशत् तिथीनां चक्रकलाभोगस्तदैकतिथेः क इत्यनुपातेन विंशत्यधिकसप्तशतकलाभोगः । अथ अष्टशतकलाभिरेकं नक्षत्रं तदा ग्रहकलाभिः किमित्यनुपातेन फलमश्विन्यादीनि ग्रहभुक्तानि शेषकला ग्रहाधिष्ठितनक्षत्रस्य गतं भभोगाद्धीनं तस्यैष्यमाभ्यां ग्रहगत्यैकं दिनं तदाभीष्टकलाभिः किमित्यनुपातेन तस्य गत्यैष्यदिवसाद्यं भवति । एवं चन्द्रात् दिननक्षत्रं ज्ञेयम् ॥ ६४ ॥

अथ प्रसङ्गात् योगानयनमाह । सूर्य चन्द्रयोगस्य राश्यादिकस्य परिभाषया याः कलाः ताभ्यो योगा विष्कम्भादयो भभोगभाजिता भभोगेन पूर्वोक्तेन विभक्ता भवन्ति । एकैकयोगस्य भभोगमितो भोगः स प्रत्येकं ताभ्योऽपनीय यन्मिताः शुद्धास्तन्मिता योगा गताः । यस्य भोगो न शुद्ध्यति स वर्तमान इत्यर्थः । कला भभोगभक्ता गता योगास्तदाग्रिमो वर्तमान इति तात्पर्यम् । तस्य शेषं गतं भोगात् पतितमेष्यं ताभ्यां घटिकाद्यानयनमाह । गता इति । गता एष्याः । चः समुच्चये । कलाः षष्टिगुणिताः कार्यास्ताभ्यो भुक्तियोगाप्तनाडिका रविचन्द्र कलात्मक गत्योर्योगेन भजनाल्लब्धा घटिका गतैष्या भवन्ति ।

अत्रोपपत्तिः । सूर्यचन्द्रयोगमितस्य ग्रहस्य नक्षत्रणि विष्कम्भादिसंज्ञानि योगोत्पन्नत्वात् योगा अतस्तदानयनं पूर्वोक्तवत् । अत एव सूर्यचन्द्रगतियोग तुल्यतद्गत्या षष्टिसावनघटिकास्तदा गतैष्यकलाभिः का इत्यनुपातेन गतैष्य-घटिकानयनं युक्तमुक्तम् ॥ ६५ ॥

अथ प्रसङ्गात् तिथ्यानयनमाह । पूर्वार्द्धव्याख्यानं पूर्वश्लोकपूर्वार्द्धरीत्या ज्ञेयमुत्तरार्द्धं स्पष्टम् । अत्रोपपत्तिः । तिथि भोगकलाभिरेका तिथिस्तदा सूर्योन-चन्द्रकलाभिः का इत्यनुपातेन फलं गततिथयो वर्तमान तिथेर्गतैष्ये शेषशेषोन-भोगकले ताभ्यां गत्यन्तर कलाभिरनुपातेन गतैष्यघटिकाः पूर्ववत् ॥ ६६ ॥

भभोग अर्थात् नक्षत्र का भोग ८०० कला तथा तिथि का भोग ७२० कला होता है । ग्रह की कला (स्पष्टग्रह के राश्यादि मान की कला) को नक्षत्रभोग ८०० से भाग देने पर लब्धि गत नक्षत्र होता है । (शेष वर्तमान नक्षत्र की भुक्त कला से) ग्रहगति द्वारा गतगम्य दिनादि का साधन करना चाहिए । अर्थात् शेष को ग्रहगति से भाग देने पर वर्तमान नक्षत्र का भुक्त दिनादि मान होता है । शेष कला को ८०० में घटाकर शेष में ग्रहगति का भाग देने से भोग्य दिनादि होता है ॥ ६४ ॥

योगसाधन—सूर्य और चन्द्र के योग की कलाओं को भभोग ८०० से भाग देने पर लब्धि गत विष्कुम्भादि योग होते हैं । शेष को ६० से गुणा कर रवि चन्द्र के गति योग से भाग देने पर वर्तमान योग का गत-गम्य काल होता है ।

अर्थात् शेषकला को ६० से गुणा कर रवि-चन्द्र के गति योग से भाग देने पर भुक्तमान तथा ८०० में शेष कला को घटा कर अवशिष्ट ऐष्य कला को ६० से गुणा कर गति योग से भाग देने पर वर्तमान योग का गम्य (ऐष्य) मान होता है ॥ ६४—६५ ॥

तिथिसाधन—सूर्य रहित चन्द्रमा की कला को तिथि भोग ७२० कला से भाग देने पर लब्धि गततिथि होती है । शेष को ६० से गुणाकर रवि-चन्द्र गत्यन्तर से भाग देने पर वर्तमान तिथि का गतगम्य मान होता है अर्थात् स्पष्टचन्द्रमा के राश्यादि मान से स्पष्ट सूर्य के राश्यादि मान को घटाकर शेष की कला में ७२० का भाग देने पर लब्धि गत तिथि तथा शेष वर्तमान तिथि की गतकला होती है । गतकला को ७२० में घटाने से शेष ऐष्य कला होती है । गतकला को ६० से गुणाकर रविचन्द्र की गत्यन्तर कला से भाग देने पर गत मान तथा ऐष्य कला को ६० से गुणा कर गत्यन्तर कला से भाग देने पर ऐष्य मान होता है ॥ ६६ ॥

संक्षेप में नक्षत्रादि की साधनविधि—

$$\text{नक्षत्र} = \frac{\text{स्पष्टग्रहकला}}{८००} = \text{लब्धि} = \text{गत नक्षत्र संख्या}$$

शेष वर्तमान नक्षत्र का गत मान

$$८०० - \text{शेष} = \text{ऐष्यमान ।}$$

$$\frac{\text{गतमान}}{\text{ग्रहगतिकला}} = \text{वर्तमान नक्षत्र का गत घट्यादि मान}$$

$$\frac{\text{ऐष्यकला}}{\text{ग्रहगतिकला}} = \text{वर्तमान नक्षत्र का ऐष्य घट्यादि मान}$$

योग—

$$\frac{\text{स्प.चन्द्र} + \text{स्प.सूर्य}}{८००} = \text{लब्धि} = \text{गत योगसंख्या, शेष} = \text{वर्तमान योग की गतकला}$$

$$८०० - \text{शेष} = \text{वर्तमानयोग की भोग्यकला ।}$$

$$\frac{\text{ऐष्यकला} \times ६०}{\text{र.ग.} + \text{च.ग.}} = \text{ऐष्य घट्यादिमान}$$

$$\frac{\text{गतकला} \times ६०}{\text{र.ग.} + \text{च.ग.}} = \text{गत घट्यादि कला}$$

तिथि—स्प.चन्द्र – स्प. सूर्य = शेष (शेष की कला बनाकर)

$$\frac{\text{शेषकला}}{७२०} = \text{लब्धि} = \text{गततिथि}$$ । शेष वर्तमान तिथि की गतकला ।

७२० – शेषकला = ऐष्य कला

$$\frac{\text{शेषगतकला} \times ६०}{\text{च.ग.} - \text{र.ग.}} = \text{गत घट्यादि मान}$$

$$\frac{\text{ऐष्यकला} \times ६०}{\text{च.ग.} - \text{र.ग.}} = \text{ऐष्य घट्यादि मान}$$ ।

उपपत्तिः—नक्षत्रसाधनोपपत्तिः—सप्तविंशति नक्षत्राणि एकस्मिन् चक्रे भवन्ति। अतोऽनुपातेनैक नक्षत्रस्य कला मानम् = यदि २७ नक्षत्रेषु चक्रकला २१६०० तथा एकस्मिन् नक्षत्रे किमिति जातम्—

$$\frac{२१६०० \times १}{२७} = ८०० = \text{एकनक्षत्रसम्बन्धिकला}$$

एवमेव ग्रहाणां गतगम्यादि ज्ञानार्थमनुपातः—

भभोग ८०० कलाभिरेकं नक्षत्रं तदा अभीष्ट ग्रहकलाभिः किमिति जातम्

$$\frac{१ \times \text{अभीष्टग्रहकला}}{८००} = \text{गतनक्षत्र संख्या}$$

शेषः वर्तमाननक्षत्रस्य गतकला ।

८०० – गतकला = भोग्यकला गतगम्यादिमानायानुपातः — ग्रहगतिकलाभिरेकं दिनं तदा नक्षत्रस्य गतकलाभिः गम्यकलाभिर्वा किमिति

$$= \frac{१ \times \text{गतकला गम्यकला वा}}{\text{ग्रहगतिकला}}$$

= लब्धिः वर्तमान नक्षत्रस्य भुक्त / भोग्यमानम् । उपपन्नम् ।

योग साधनोपपत्तिः—

स्प. सूर्यस्य स्प. चन्द्रस्य योगो योगपदवाच्यो भवति । योगाः सप्तविंशतिः विष्कुम्भादयः । अथदिषामपि भोगमानं भभोग = ८०० कला तुल्यमेव । अतः

$$\frac{\text{स्प. रविः} + \text{स्प. चन्द्रः}}{८००} = \text{लब्धिः गतयोगः}$$

शेषः वर्तमान योगस्य गतकला । ८०० — शेषः = भोग्य कला ।

पुनरनुपातः यदि रविचन्द्रयोगगतिकलाभिः षष्टिघटिकास्तदा भुक्तकलाभि—र्भोग्यकलाभिर्वा किमिति ——

$$\frac{\text{६० × भुक्त / भोग्य कला}}{\text{र. ग कला + चन्द्रगति कला}} = \text{वर्तमान योगस्य भुक्त-भोग्यमाने}$$

तिथि साधनोपपत्तिः —— सूर्येन्दु संगमादपरसंयोगं यावदेको चान्द्रो मासः । तत्र त्रिंशत्तिथयो भवन्ति । अतोऽनुपातेन ——

त्रिंशत्तिथिषु चक्रकला तदा एकस्यां तिथौ का इति जातम्

$$\frac{\text{२१६०० × १}}{\text{३०}} = \text{७२० कला एकतिथेर्मानम् ।}$$

भुक्तभोग्यज्ञानायामनुपातः, यदि ७२० कलाभिरेका तिथिस्तदा रविचन्द्रान्तर-कलाभिः किमिति——

$$\frac{\text{१ × (स्प.च. — स्प.र. कला)}}{\text{७२०}} = \text{लब्धिः गततिथिः}$$

शेषः वर्तमान तिथेः भुक्तकला । ७२० — भुक्तकला = भोग्यकला ।

पुनरनुपातः, यदि रविचन्द्रगत्यन्तरकलाभिः षष्टिघटिकास्तदा भुक्त / भोग्य कलाभिः किमिति ——

$$\frac{\text{६० × भुक्त / भोग्य कला}}{\text{स्प.च.ग. — स्प.र.ग.}} = \text{भुक्तभोग्यमाने ।}$$ उपपन्नम् ॥ ६४-६६ ॥

करणान्याह

ध्रुवाणि शकुनिर्नागं तृतीयं तु चतुष्पदम् ।
किंस्तुघ्नं तु चतुर्दश्याः कृष्णायाश्चापरार्धतः ॥ ६७ ॥
बवादीनि ततः सप्त चराख्यकरणानि च ।
मासेऽष्टकृत्व एकैकं करणानां प्रवर्तते ॥ ६८ ॥
तिथ्यर्धभोगं सर्वेषां करणानां प्रकल्पयेत् ।
एषा स्फुटगतिः प्रोक्ता सूर्यादीनां खचारिणाम् ॥ ६९ ॥

॥ सूर्यसिद्धान्ते स्पष्टाधिकारः सम्पूर्णः ॥ २ ॥

अथ पञ्चाङ्गावशिष्टं करणानयनं विवक्षुस्तावत् स्थिरकरणान्याह । कृष्णपक्षीयायाश्चतुर्दश्यास्तिथेर्द्वितीयार्द्धाद्द्वितीयार्द्धमारभ्येत्यर्थः। चकार एवार्थे ।

तेन अन्यतिथेरेतत् तिथिपूर्वार्द्धस्य च निरासः । स्थिराणि करणानि । तान्याह । शकुनिरिति चतुरङ्घ्रिस्तृतीयमनेन शकुनिनागयोः क्रमेणाद्यद्वितीयत्वं सूचितम् । तुकारात् क्रमेण तिथ्यर्द्धेषु भवन्ति । किंस्तुघ्नं चतुर्थम् । तुरन्तावधिद्योतकः तेनोक्तातिरिक्तं स्थिरकरणं नास्तीति सूचितम् ॥ ६७ ॥

अथ चरकरणान्याह । स्थिरकरणपूर्त्यनन्तरं बवादीनि चरसंज्ञककरणानि सप्त भद्रान्तानि शुक्लप्रतिपद्द्वितीयार्द्धतः चतुर्थ्यन्तं भवन्तीति चार्थः । ननु पञ्चम्यादितः कानि करणानि भवन्तीत्यत आह । मास इति । चरकरणानां बवादीनां सप्तानां मध्य एकैकमेकमेकं करणं मासे स्थिरकरणकालोनितत्रिंशत-तिथ्यात्मकमासे स्वल्पान्तरात् मासग्रहणम् । अष्टकृत्वोऽष्टवारं प्रवर्त्तते प्रकर्षेण तिष्ठति भवतीत्यर्थः। तथा च पञ्चम्याद्यर्द्धदातानि करणानि पुनः पुनः परिभ्रमन्ति । कृष्णचतुर्दश्याद्यर्द्धपर्यन्तमिति भावः ॥ ६८ ॥

ननु स्थिरकरणोक्तावपरार्द्धत इत्युक्त्या तेषां चतुर्णां तिथ्यर्द्धभोगेन शुक्लप्रतिपदाद्यर्द्धपर्यन्तं क्रमेण अवस्थानं युक्तं चर करणानां तु केवलोक्त्या तदनन्तरं कृष्णचतुर्दश्याद्यर्द्धपर्यन्तमेक एव परिभ्रमोऽस्त्वित्यतस्तदुत्तरं कथयन्नन्य-दपि आह । सप्तानां चरकरणानां प्रत्येकं तिथ्यन्तश्चासौ भोगश्च तं तिथ्यर्द्ध-कालमितावस्थानं प्रकल्पयेत् । एकत्र निर्णीतः शास्त्रार्थोऽपरत्र भवतीति न्यायात् करणत्वे न एषामप्यवस्थानं तत्तुल्यं कुर्यादित्यर्थः । अत एव तिथ्यर्द्धं करणं स्मृतमित्युक्त्या चान्द्रमासे त्रिंशत्तिथ्यात्मके षष्टिकरणानां सन्निवेशाच्चरकरणानामेव परिभ्रमणे प्रतिमासमनियततिथिभोगकं करणं भवतीति तद्वारणक प्रतिमासनियत तिथिभोगककरणकसिद्ध्यर्थं चरकरणानामष्टवारपरिभ्रमणोत्तरमवशिष्टतिथ्योश्चतु-र्ष्वर्द्धेषु स्थिरकरणानि उक्तानि इति तात्पर्यम् । तत्रापि कृष्णचतुर्दश्यपरार्द्ध-तस्तत्कल्पनं तदिच्छानियामकं स्वतन्त्रेच्छस्य नियोगानर्हत्वात् । अथाग्रिमग्रन्था सङ्गतित्वनिरासार्थमुक्ताधिकारमुपसंहरति । एषेति । हे मय ! सूर्यादीनां सप्त-ग्रहाणामेषा दृश्येत्यादि कल्पयेदित्यन्तं या वार्त्ता सा स्फुटगतिः स्पष्टगतिः स्पष्टक्रियाज्ञानसम्पादिका प्रोक्ता तुभ्यं मयोक्ता । एतेन स्पष्टाधिकारः परिपूर्तिमाप्त इति सूचितम् ॥ ६९ ॥

रङ्गनाथेन रचिते सूर्यसिद्धान्तटिप्पणे ।
स्पष्टाधिकारः पूर्णोऽयं तद्गूढार्थ प्रकाशके ॥

इति श्रीसकलगणकसार्वभौमवलाल्लदैवज्ञात्मज-रङ्गनाथगणकविरचिते
गूढार्थ प्रकाशके स्पष्टाधिकारः पूर्णः ॥ २ ॥

कृष्णपक्ष की चतुर्दशी के उत्तरार्ध से क्रमशः शकुनि, चतुष्पद, नाग, तथा किंस्तुघ्न ये चार स्थिर करण होते हैं । तदनन्तर बव आदि सात चर करण होते हैं ।

एक मास में बवादि करण आठ बार आते हैं प्रत्येक करण का भोगमान तिथ्यर्ध तुल्य होता है अर्थात् एक तिथि में दो करण होते हैं । इस प्रकार सूर्यादि ग्रहों की स्पष्टगति कही गई ॥ ६७--६९ ॥

एक तिथि का आधा करण होता है । कृष्णपक्ष की चतुर्दशी के उत्तरार्ध से करणों की प्रवृत्ति होती हैं। प्रथम चार स्थिर करण होते हैं, जैसे चतुर्दशी के उत्तरार्ध में शकुनि अमावास्या के पूर्वार्ध में चतुष्पद तथा उत्तरार्ध में नाग तथा शुक्ल प्रतिपदा के पूर्वार्ध में किंस्तुघ्न करण होता है । तत्पश्चात् प्रतिपदा के उत्तरार्ध से बव आदि सात चर करणों की प्रवृत्ति होती है । प्रतिपदा के उत्तरार्ध में बव, द्वितीया के पूर्वार्ध में बालव तथा उत्तरार्ध में कौलव इस प्रकार बव-बालव-कौलव, तैतिल, गर, वाणिज एवं विष्टि सात करणों की प्रवृत्ति होती है ।

उपपत्तिः—तिथ्यर्धं करणम् इति नियमेन तिथेरर्धमितमेकं करणं भवति । एकस्मिन् मासे त्रिंशत् तिथयो भवन्ति । अतस्तिथ्यर्धानि ३० × २ = ६० संख्याकानि तिथ्यर्धानि तत्र शकुन्यादि चत्वारि करणानि कृष्णचतुर्दशीतः आरभ्य प्रतिपद् पूर्वार्धं यावत् चत्वारि स्थिर करणानि भवन्ति । अतः ६० — ४ = ५६ तिर्थ्यधानि । एषु ७ चरकरणानि अतः $\frac{५६}{७}$ = ८ आवृत्ति चर करणानामित्युपपन्नम् ॥ ६९ ॥

॥ पण्डितवर्य बलदेवदैवज्ञात्मज प्रो० रामचन्द्रपाण्डेय द्वारा विरचित सूर्यसिद्धान्त के स्पष्टाधिकार का हिन्दीभाषानुवाद एवं संस्कृतोपपत्ति सम्पूर्ण ॥ २ ॥

त्रिप्रश्नाधिकार: - ३

सिद्धान्त एवं करण ग्रन्थों का यह एक महत्वपूर्ण प्रकरण है। इसके अन्तर्गत तीन प्रमुख प्रश्नों के समाधान हैं, इसलिए इसे त्रिप्रश्नाधिकार कहा जाता है । वे तीनों प्रश्न हैं १. दिक् २. देश और ३. काल । इनमें दिक्-देश का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है । एक के ज्ञान में दूसरा सहायक होता है परन्तु काल इनसे भिन्न है । कई अन्य शास्त्रों ने केवल देश और काल दो को ही स्वीकार किया है । ज्योतिष के अनुसार देश के साथ दिक् का सम्बन्ध होते हुये भी देश और दिक् में भेद माना है तथा दोनों के साधन का मार्ग पृथक्-पृथक् बतलाया है । विना दिक् ज्ञान के देशज्ञान सम्भव नहीं और विना देश के दिक् का कोई उपयोग नहीं । अत: ज्योतिषशास्त्र ने दिक्-देश और काल तीनों की पृथक्-पृथक् सत्ता स्वीकार की है । इन तीनों विषयों का विवेचन इस प्रकरण में किया गया है ।

स्फुटदिग्ज्ञानमाह

शिलातलेऽम्बुसंशुद्धे वज्रलेपेऽपि वा समे ।
तत्र शङ्क्वङ्गुलैरिष्टैः समं मण्डलमालिखेत् ।। १ ।।
तन्मध्ये स्थापयेच्छङ्कुं कल्पनाद्वादशाङ्गुलम् ।
तच्छायाग्रं स्पृशेद्यत्र वृत्ते पूर्वापरार्द्धयोः ।। २ ।।
तत्र बिन्दू विधायोभौ वृत्ते पूर्वापराभिधौ ।
तन्मध्ये तिमिना रेखा कर्त्तव्या दक्षिणोत्तरा ।। ३ ।।
याम्योत्तरदिशोर्मध्ये तिमिना पूर्वपश्चिमा ।
दिङ्मध्यमत्स्यैः संसाध्या विदिशस्तद्वदेव हि ।। ४ ।।

अथ त्रिप्रश्नाधिकारो व्याख्यायते। तत्र विना प्रश्नं गुरोस्तत्प्रतिपादनेच्छानुदयाद्विना च तदिच्छां छात्राणां तज्ज्ञानासम्भवात् त्रयाणां दिग्देशकालानां प्रश्ना इति त्रिप्रश्नव्युत्पत्तेस्तद्दिग्ज्ञानं श्लोकचतुष्टयेन आह ।

तत्र दिक्साधनोपक्रमे प्रथममम्बुसंशुद्धे जलवत् समीकृते शिलाप्रदेशे । अपि वा अथवा तदभावेऽन्यत्र वज्रलेपे चत्वरादौ घुण्टनादिना समस्थाने कृते शङ्क्वङ्गुलैः शङ्कुस्थाङ्गुलविभागमानगृहीतैः अभीष्टसंख्यात्मकाङ्गुलैः व्यासार्द्धरूपैः वृत्तम् अवक्रम् आलिखेत् । सर्वतः केन्द्राद्वृत्तपरिधिरेखा तुल्या स्यात्

तथेत्यर्थः । ततस्तन्मध्ये तस्य वृत्तस्य केन्द्ररूपमध्ये कल्पनया द्वादशसंख्यकाङ्गुलानि तुल्यानि यस्मिस्तं द्वादशविभागाङ्कितमित्यर्थः । शङ्कु समतलमस्तकपरिधिकाष्ठदण्डं स्थापयेत्। ततः पूर्वापरार्द्धयोर्दिनस्य प्रथमद्वितीयभागयोस्तच्छायाग्रं स्थापितशङ्कोः छायान्तप्रदेशो मण्डलपरिधौ यस्मिन् विभागे स्पृशेत् । दिनस्य प्रथमविभागेऽनुक्षणं छायाह्रासाद्वृत्ते यत्र प्रविशति दिनस्य अपरार्द्धे छायानुक्षणवृद्धेर्वृत्ते यत्र निर्गच्छतीत्यर्थः । तत्र निर्गमन प्रवेशस्थानयोरुभौ द्वौ विन्दू पूर्वापरसंज्ञौ क्रमेण वृत्ते परिधिरेखायां कृत्वा तन्मध्ये पूर्वापरविन्द्वन्तरमध्ये तिमिना मत्स्येन रेखा कार्या सा दक्षिणोत्तररेखा भवति । मत्स्यस्तु विन्द्वन्तरालसूत्रमितेन व्यासार्द्धेन विन्दुद्वय केन्द्रकल्पनेन वृत्तद्वयं निष्पाद्य वृत्तद्वयसंयोगाभ्यां वृत्तद्वयपरिधि विभागाभ्यामन्तर्गतं मत्स्याकारं स्थानं भवति । तत्रैकः संयोगो मुखं बाह्यवृत्त भागसम्मार्जनेन अपरसंयोगस्तु पुच्छमितरवृत्तभागद्वयसम्मार्जनेन । मुखपुच्छगव-ध्यृज्वी रेखा दक्षिणोत्तर रेखा । तत्र विन्दोः सव्यं रेखाग्रं दक्षिणा दिक् । पश्चिमविन्दोः सव्यं रेखाग्रमुत्तरा दिक् । अनन्तरं पूर्ववृत्तं मत्स्यश्च सम्मार्जनीयः। शङ्कुरपि तत्स्थानात् निष्कास्य इति केवला दक्षिणोत्तररेखा स्थितेति तात्पर्यम् । दक्षिणोत्तर दिशोर्मध्यस्थाने तिमिना दक्षिणोत्तर रेखामितेन व्यासार्द्धेन दक्षिणोत्तरस्थानाभ्यां पूर्ववत् प्रत्येकं वृत्तं विधाय पूर्ववत् सिद्धेन मत्स्येनेत्यर्थः पूर्वपश्चिमा रेखा कार्या। तत्र पूर्वविन्दोरासन्नं रेखाग्रं पूर्वापश्चिमविन्दोरासन्नं रेखाग्रं पश्चिमेति मत्स्यसम्मार्जनेन केवला पूर्वापररेखापि सिद्धा । अथ रेखा संयोगस्थानात् दिक्साधनोपक्रमोक्तं पूर्ववृत्तमुल्लिखेत् तद्वृत्तपरिधौ यत्र रेखा लग्ना तत्र दिगिति तद्वृत्तमध्यस्य दिक्चतुष्टयं वृत्ते सिद्धम् । तद्वत् । यथा दक्षिणोत्तराभ्यां पूर्वापरा साधिता तत्प्रकारेणेत्यर्थः। एवकारोऽन्यप्रकार निरासार्थकः। हि निश्चयेन। विदिशः कोणदिशो दिशां पूर्वादिसिद्धदिशां ये मध्यमत्स्या अव्यवहितदिग्द्वयान्तरोत्पन्ना लघवस्तैः संसाध्याः सम्यक्प्रकारेण साध्याः । रेखावृत्तसंयोगस्थत्वेन ज्ञेयाः ।

अत्रोपपत्तिः। क्षितिजपूर्वापर वृत्तसंयोगौ पूर्वापरविभागस्थौ पूर्वापरद्दिशे तत्र पूर्वापरविभागज्ञानं सूर्योदयास्ताभ्यां तत्र क्षितिजे पूर्वा परवृत्तं कुत्र लग्नमिति ज्ञानं तु विषुवद्वृत्तक्रान्तिवृत्तसम्पातस्थसूर्यस्य उदयास्तस्थलज्ञानेन विषुवद्वृत्तस्य पूर्वापरक्षितिज वृत्तसम्पातयोः सम्बद्धत्वात् ।

अथ अन्यस्मिन् दिने सूर्यस्य उदयास्तावग्रांशान्तरेण याम्योत्तरे भवत इति सूर्योदयास्तस्थानाभ्यामग्रांशान्तरेणोत्तरयाम्ये पूर्वापरस्थानं भवतीति क्षितिजस्य महत्वाद्दूरत्वाच्च तद्दानेन पूर्वापरज्ञानमशक्यमतस्तत्सूत्रेण स्वाभीष्टप्रदेशे तज्ज्ञानार्थमभीष्टसमस्थले क्षितिजानुकारं वृत्तं कृतम् । तत्रापि सूर्योदयास्त समसूत्रेण स्थलज्ञानस्य दुःशक्यत्वाच्छायार्थं शङ्कुः स्थाप्यः । तथापि सूर्योदये छायानन्त्याद्वृत्तपरिधौ तदग्रस्पर्शाभावः । परन्तु यथा यथा सूर्य उर्ध्वं भवति तथा तथा छायाह्रासात् यत्र छाया वृत्तपरिधौ यदा प्रविशति तत्स्थानात् तात्कालिको वक्ष्यमाणभुजो व्यस्तोऽर्द्धज्याकारेण देयस्तदुत्क्रमज्या यत्र परिधिप्रदेशे लगति तत्र

शङ्कु स्थानस्य पश्चिमा । छायाग्रस्य पूर्वापरसूत्राद्भुजान्तरेण याम्योत्तरपतनात् सूर्यापरदिशि छायापतनाच्च । एवं दिनापरार्द्धे सूर्यो यथा यथाध: सञ्चरति तथा तथा छायावृद्धे: शङ्कुच्छायावृत्तपरिधौ यत्र यदा निर्गच्छति तात्कालिको वक्ष्यमाण-भुजो व्यस्तोऽर्द्धज्याकारेण तत्स्थानाद्देयस्तदुत्क्रमज्या यत्र परिधिप्रदेशे लगति तत्र शङ्कु स्थानस्य पूर्वा । तत्सूत्रं पूर्वापरसूत्रम् । इदं शङ्कौ, उपलक्षणत्वेन ज्ञातं तथा छायोपलक्षणेनापि प्रदेशस्य पूर्वापरसूत्रज्ञानम् । तथाहि । छायाग्रं विशति तत्र अपरा छायाग्रं निर्गच्छति तत्र पूर्वा । तत्रापि प्रवेशनिर्गमयो: एककालत्वा-सम्भवात् यत्कालिक: प्रवेश: तत्काले छायाया: पश्चिमत्वं तत्र वस्तुभूतं तत्काले निर्गमनस्य पूर्वत्वासम्भव: । एवं निर्गमकाले निर्गमस्थानस्य पूर्वत्वं वस्तुभूतं तत्काले प्रवेशस्य पश्चिमत्वा सम्भव: । एककालिक सिध्यर्थमुभयोरे-कतरं चिह्नं चाल्यं तात्कालिकभुजयो: अन्तरेण तत्र पूर्वचिह्नं भुजान्तरांगुलै: अयनदिशि चाल्यम्। पश्चिमचिह्नं वा व्यस्तायनदिशि चाल्यम् । तत्सूत्रं सूत्रमध्य-देशस्य पूर्वापरसूत्रम् । एतन्मध्ये स्थापितशङ्कोश्छायाग्रप्रवेशनिर्गम चिह्नाभ्यां यथोक्तरीत्या भुजदानेन सिद्धपूर्वापरसूत्रेण अभिन्नत्वात्। तदुक्तं सिद्धान्तशिरोमणौ। 'तत्कालापमजीवयोस्तु विवराद्भाकर्णमित्या हतात् । लम्बज्याप्तमिताङ्गुलैरयन-दिश्यैन्द्री स्फुटा चालिता ।'

इति । तदेतद्भगवता लोकानुकम्पया स्वल्पान्तरत्वादेकतरविन्दुचालनं नोक्तं सुखार्थं किञ्चित्स्थूलौ एव निर्गमप्रवेश विन्दू पूर्वापराभिधौ उक्तौ । एवञ्च अभीष्टस्थानं प्रवेशनिर्गमसूत्रमध्ये यथा भवति तथा अनेन प्रकारेण मण्डलकेन्द्रे शङ्कु स्थापनादिना अभीष्टप्रदेशे पूर्वापरदिशे साध्ये इति। तन्मध्ये दक्षिणोत्तररेखा विन्दुद्वयोत्पन्न मध्यमत्स्यरेखा एवेति । याम्योत्तरमध्ये पूर्वापरा रेखा तद्दिङ्मध्य-मत्स्येनेति याम्योत्तरदिशोरित्यादि सम्यगुक्तम् । ननु पूर्वापरबिन्दुभ्यां मत्स्येन या दक्षिणोत्तर रेखा तदग्राभ्यां मत्स्येन रेखा पूर्वापर विन्दुस्पृष्टा एवेति पूर्वं तस्या एव विन्द्वन्तरत्वेन सिद्धत्वात् पुन: साधनं व्यर्थमन्यथा दक्षिणोत्तर रेखाया अपि असंगतत्वापत्तेरिति चेत् सत्यम् । दक्षिणोत्तररेखाशुध्यर्थमेव पूर्वापरविन्दुस्पृष्ट-रेखाया: पुन: साधनमिति केचित्। वस्तुतस्तु दक्षिणोत्तरपूर्वापर सूत्रसम्पातरूपाभीष्ट स्थानात् केन्द्रात् प्रागुक्तवृत्तस्य वक्ष्यमाणोपयोगित्वेन आवश्यकत्वात् तस्य च पूर्वापरविन्द्वन्तरसूत्राधिकव्याससूत्रत्वाद्विन्द्वन्तररेखा मूलाग्रयो: बर्द्धनीया सा तत्र वृत्ते पूर्वापररेखा भवति । तस्या विन्दोरूपरि अधश्च वक्रत्वं कदाचित् स्यादत: प्रथम-मेव पूर्णरेखासिध्यर्थं विन्द्वन्तरसिद्धमत्स्यमुखपुच्छगतरेखाया विन्द्वन्तराधिकत्वेन तदु-त्पन्नमत्स्यरेखाया ऋज्व्या: सुतरामधिकत्वेन पुन: पूर्वापररेखासाधनं युक्ततर-मिति तत्वम् । एवमेव अव्यवहित दिग्द्वयान्तरोत्पन्न लघुमत्स्यै: चतुर्भि: पूत्रै: वृत्ते कोणदिश: । तदिदमभीष्टस्थानकेन्द्रकमण्डले दिगष्टकं सिद्धम् ॥ १—४ ॥

जल के द्वारा संशोधित पत्थर की शिलातल पर अथवा वज्रलेप (सीमेन्ट या अन्य मसालों) से बने समतल चबूतरे पर शङ्कु के अनुसार अर्थात् १२

अङ्गुल के अर्द्धव्यास से वृत्त बनावें । उस वृत्त के मध्य में १२ अंगुल का एक शङ्कु स्थापित करें । इस शङ्कु का छायाग्र वृत्तपरिधि को पूर्वाह्न में तथा अपराह्न में जहाँ स्पर्श करे उन स्थानों पर बिन्दु बनावें । ये दोनों बिन्दु पूर्वापर (पूर्व और पश्चिम) संज्ञक होते हैं । इन दोनों बिन्दुओं के मध्य में तिमि (चापों) द्वारा दक्षिणोत्तर रेखा का निर्माण करना चाहिये) ।

याम्योत्तर (दक्षिणोत्तर) रेखाओं (दिशाओं) के बीच तिमि (चापों) द्वारा पूर्वापर (पूर्व से पश्चिम) रेखा का निर्माण कर दोनों (पूर्वापर और दक्षिणोत्तर) रेखाओं के मध्य में विदिशाओं (कोणों में जाने वाली रेखाओं) का निर्माण करना चाहिये ॥ १—४ ॥

उपपत्तिः—रवेः स्थितिवशादेव छायायाः प्रवेशनिर्गमस्थले व्यक्ते भवतः । अतो यदि व्यवहारार्थं रविक्रान्तिं स्थिरां प्रकल्प्य सममण्डलअहोरात्रमण्डलयोरन्तरमवलोक्यते तदा यावन्मितमन्तरं पूर्वाह्णे तावदेवापराह्णेऽपि । स्थिरक्रान्तेः अग्रायाश्च साम्यात् छायाकर्णयोस्तुल्यत्वाच्च छायाया प्रवेशनिर्गम कलिकौ छायाग्रपूर्वापरान्तराख्यौ ज्या रूपौ भुजावपि तुल्यौ । अतो भुजाग्रोपरिगता रेखा वास्तव पूर्वापरायाः समानान्तरा पूर्वापर रेखा एव । पूर्वापर रेखाया उपरिगता मत्स्येन निर्मिता लम्बरूपा दक्षिणोत्तरा वास्तवयाम्योत्तरासमान्तरा वास्तविकी याम्योत्तरा रेखा। अनयोः सकाशाद् विदिशां ज्ञानं सुगममेव ।

सम्पातद्वयासन्नगते रवौ क्रान्तेरल्पगतित्वाद् इदं कर्म समीचीनमेव। अन्यत्र स्थिते रवौ छायायाः प्रवेश-निर्गम कालयोरग्रयोर्वैषम्याद् भुजयोः साम्यम् अतस्तद विन्दुगता रेखा न पूर्वापरारेखा समानान्तरा। अतश्छाया प्रवेशनिर्गमकालयोः विन्दुद्वयान्तरर्गतव्यासस्योपरि निर्मितं यद् वृत्तं तद् स्थूलपूर्व दिगग्रात् पूर्णज्यारुपं भवति ॥१—४ ॥

चतुरस्त्रं वहिः कुर्यात् सूत्रैर्मध्याद्विनिर्गतैः ।
भुजसूत्राङ्गुलैस्तत्र दत्तैरिष्टप्रभा स्मृता ॥ ५ ॥

अथ दिक्सूत्रसम्पातरूपाभीष्टस्थानात् तात्कालिकच्छायाग्रस्थानमाह। मध्यात् अभीष्टस्थानात् दिग्रेखासमपातरूपात् विनिर्गतैः निसृतैः अष्टदिग्रेखारूपैः । वहिर्दिक्सूत्रसम्पातकेन्द्रवृत्ताद्वहिः । अनेन एव वृत्तकरणं पूर्वमनुक्तं द्योतितम् । अन्यथा वहिरित्यस्य अनुपपत्तेः । पूर्ववृत्तग्रहणे तु दिग्रेखासम्पातस्य मध्यत्वानुपपत्तेः चतुरस्त्रं कोणरेखाधिक सूत्रकर्णद्वयतुल्यं समचतुर्भुजं कुर्यात्। यथा च तद्दर्शनम्। तत्र चतुरस्त्रे भुजसूत्रांगुलैः वक्ष्यमाणभुजमितसूत्रस्य अंगुलैः निर्गमप्रवेशकालिकैः दत्तैः पूर्वापरसूत्रात् अर्द्धज्यावत् दीयमानैः तत्र वृत्ते यस्मिन् प्रदेशे भुजाग्रं तत्प्रदेश इष्टप्रभानिर्गमप्रवेशान्यतरकालिकच्छायाग्रमुक्तम् । प्रतीतिस्तु दिक्सूत्रसम्पातस्थशङ्कुना ज्ञेया ।

अत्रोपपत्तिः । वक्ष्यमाणभुजस्य छायाग्रपूर्वापरसूत्रान्तरत्वेन प्रतिपादितत्वात्

इष्टच्छायाग्रमुक्तदिशा ज्ञातं सम्यक् । चतुरस्रकरणं वक्ष्यमाणाग्रासाधकप्राच्यपर-रेखानुकाररेखाया वृत्तान्तस्तद्बहिर्वा ऋजुत्वसिद्धार्थमिति ॥ ५ ॥

वृत्त परिधिस्थित प्रत्येक दिशा के मध्य बिन्दु से की गई स्पर्श रेखाओं से वृत्त के बाहर एक चतुरस्र (चतुर्भुज) का निर्माण करें । चतुर्भुज के पूर्व अथवा पश्चिम बिन्दु से गणितागत दिशा में छायाग्र-पूर्वापर सूत्रों के अन्तर तुल्य, भुजसूत्र का अङ्गुलात्मक मान, पूर्वापर रेखा से इष्टकालिक छायाग्र बिन्दु का मान होता है । अर्थात् छायाकी विरुद्ध दिशा में छायाग्रान्तर तुल्य सूर्य का दिगंश होता है ॥ ५ ॥

विशेष—मेषादि छः राशियों में सूर्य विषुववृत्त अर्थात् नाड़ीवृत्त से उत्तर दिशा तथा तुलादि छः राशियों में दक्षिण दिशा में होता है । अतः सूर्योदय एवं सूर्यास्त पूर्वापर रेखा (पूर्व और पश्चिम दिशा के मध्य बिन्दु) पर नहीं होता । पूर्व अथवा पश्चिम बिन्दु से सूर्य जितने अंश उत्तर या दक्षिण दिशा में होता है उतना अंश सूर्य का दिगंश होता है तथा उससे विपरीत दिशा में दिगंश तुल्यान्तर पर छायाग्र बिन्दु होता है । जिसे भुज के आंगुलात्मक मान द्वारा व्यक्त किया गया है ।

उपपत्तिः—द्रष्टव्यं क्षेत्रम्—

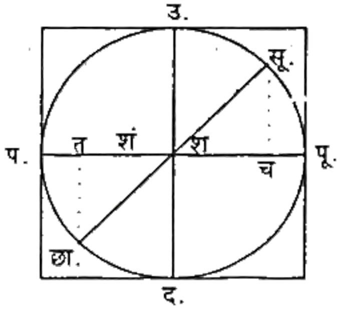

शं = शङ्कुः, शछा = छाया, पू. प. = पूर्वापरसूत्रम्, उ. द. = याम्योत्तरसूत्रम्, श छ छाया तुल्य व्यासार्धेन निर्मितं उ प द पू वृत्तम् । छा विन्दुतः पूर्वापर रेखोपरि कृतो लम्बः छा त भुजः। सू = सूर्यस्थानम्। सूच = छा त = दिगंशः।

पूर्वापर छायाग्रयोरन्तरं नाम भुजः । भुजान्तरे एव छायाग्रं भवति । उत्तरगोले स्थिते रवौ छाया याम्यदिक्का भवति । भुजयोः साम्यात् सूर्यस्य दिगंशाश्च सौम्या भवन्ति । विपरीतस्थितौ विपरीतमित्युपपन्नम् ॥ ५ ॥

प्राक्पश्चिमाश्रिता रेखा प्रोच्यते सममण्डलम् ।[1]
उन्मण्डलञ्च विषुवन्मण्डलं परिकीर्त्यते ॥ ६ ॥

अथ पूर्वापररेखायाः संज्ञान्तरमाह । प्राक्पश्चिमाश्रिता पूर्वपश्चिमसम्बद्धा साधिता रेखा समवृत्तमुच्यते । सैव रेखोन्मण्डलं विषुवन्मण्डलम् । चः समुच्चये। उभयसंज्ञकं कथ्यते ।

अत्रोपपत्तिः । क्षितिजपूर्वापरवृत्तसंयोगौ पूर्वापरे तत् सूत्रं पूर्वापरसूत्रमिति । पूर्वापरवृत्तस्य भूमौ ऊर्ध्वाधरानुकारिवृत्तत्वेन अदर्शनाद्रेखाकारतयैव दर्शनाच्च

१. 'मण्डले' इति पाठः ।

पूर्वापरवृत्तमपि तत् सूत्रम्। पूर्वापरवृत्तस्य सममण्डलत्वेन अभिधानात् तद्रेखासममण्डलसंज्ञोक्ता। अथ स्वनिरक्षदेश क्षितिजवृत्तस्य उन्मण्डलाख्यस्य तत्संयोगयो: संलग्नत्वात् तन्मध्यसूत्रत्वेन पूर्वापरसूत्रस्यापि सत्वात् पूर्वापरसूत्रम् उन्मण्डलसंज्ञम्। एतेन अन्यदेशक्षितिजसंज्ञया स्वदेशक्षितिजसंज्ञा सुतरां सिद्धेति पूर्वापर सूत्रस्य क्षितिजवृत्तसंज्ञा द्योतिता । पूर्वापरस्थानयो: क्षितिज वृत्तस्य संलग्नत्वात् उल्लिखितवृत्तस्य क्षितिजानुकारित्वाच्च । एवं निरक्षदेशपूर्वापरवृत्तं विषुवन्मण्डलाख्यं पूर्वापरस्थानयो: संलग्नमिति तन्मध्यसूत्रत्वेन अपि पूर्वापरसूत्रस्य सिद्धत्वात् पूर्वापरसूत्रं विषुवन्मण्डलसंज्ञं क्रान्तिवृत्तस्य दृग्वृत्तस्य च चलत्वात् कदाचित्कत्वेन पूर्वापरस्थानसंलग्नत्वात् तत्संज्ञा नोक्तेति ध्येयम् ।। ६ ।।

पूर्व एवं पश्चिम बिन्दु (पूर्वस्वस्तिक एवं पश्चिम स्वस्तिक) से संलग्न पूर्वापर रेखा सममण्डल (पूर्वापर वृत्त) के धरातल में होती है । ऐसा दैवज्ञों का मत है । वही पूर्वापर रेखा उन्मण्डल में अर्थात् उन्मण्डलवृत्त के धरातल में तथा विषुववृत्त (नाडी वृत्त) के धरातल में भी होती है ।। ६ ।।

उपपत्ति:—नाडी पूर्वापरोन्मण्डलानां वृत्तानां सम्पात: प्राच्यां प्रतीच्याञ्चैकस्मिन्नेव विन्दौ भवति । तौ च पूर्वस्वस्तिक परस्वस्तिकाख्यौ स्त: । अनयो: सम्पातयोर्मध्यगता रेखा त्रिषु वृत्तेषु भवति। अर्थात् नाडी पूर्वापरोन्मण्डलानां धरातलगता भवति । उन्मण्डलधरातलोपरि नाडीवृत्तधरातलं लम्बरूपं भवति । अत: उभयोर्मध्यगता रेखा उभय धरातलगता भवत्येव इत्युपपन्नम् ।। ६ ।।

रेखा प्राच्यपरा साध्या विषुवद्भाग्रगा तथा ।
इष्टच्छायाविषुवतोर्मध्यमग्राभिधीयते ।। ७ ।।

अथाग्राज्ञानमाह । तस्मिन् चतुरस्रे पूर्वापररेखात उत्तरभागे विषुवद्भाग्रगाक्षभाग्रप्रदेशस्थाक्षभांगुलान्तरितेत्यर्थ: । प्राच्यपरा रेखा पूर्वापररेखानुकारा रेखा तथा सर्वत: तुल्यान्तरेण यथेष्टच्छायाग्ररेखा भुजान्तरेण तथाक्षभान्तरेण कार्या । अनन्तरमिष्टच्छायाविषुवतो: इष्टच्छायाग्ररेखाक्षभाग्ररेखयो: इत्यर्थ: । मध्यं चतुरस्रेऽङ्गुलात्मकमन्तरालं सर्वत: तुल्यम् । अग्राकर्णवृत्ताग्रोच्यते ।

अत्रोपपत्ति:। भुजस्य कर्णवृत्ताग्रा पलभासंस्कारेणाग्रे उक्तत्वात् दक्षिणगोले पलभाधिकोत्तरभुजसद्भावेन पलभोनो भुजोऽग्रेति प्राच्यपरसूत्रात् उत्तरभागेऽक्षभाग्ररेखा भुजमध्ये भवतीति द्वयो: रेखयो: अन्तरमग्रापलभोनभुजरूपा । एवमुत्तरगोल उत्तरभुजस्य पलभाल्पत्वाद् भुजोनपलभाग्रेति पलभारेखा प्राच्यपरसूत्रात् । उत्तरभागस्था भुजरेखातोऽप्यग्रान्तरेण उत्तरदिशीति द्वयो: रेखयो: अन्तरं भुजोनपलभारूपं कर्णवृत्ताग्रा । एवं दक्षिणभुजस्य पलभोनाग्रात्वात् पलभायुतो भुजोऽग्रेति प्राच्यपरसूत्राद्भुजाग्रपलभाग्ररेखयो: क्रमेण याम्योत्तरत्वात् तयोरन्तरालं पलभाभुजैक्यरूपमग्रा पलभाया: शङ्कुतलानुकल्पत्वात् सदोत्तरत्वं छाया सम्बन्धा-

द्युक्तम् । गोले शङ्कुतलस्य दक्षिणत्वाद् ग्रहापरदिशि छायासद्भावाच्च । अतएव प्राच्यपरसूत्राद्दक्षिणभागे दक्षिण भुजवशादक्षभाग्ररेखाकल्पन उक्तानुत्पत्या सम्यगुत्तरभागे पूर्वापरसूत्रादिति विषुवद्भाग्रगेत्यत्र व्याख्यातम् ॥ ७ ॥

पूर्वापर सूत्र के समानान्तरा पलभाग्र बिन्दु से जाने वाली रेखा और इष्टच्छायाग्र बिन्दु का अन्तर अग्रा होता है अर्थात् विषुवद् भाग्रगा (पूर्वापर समान्तरा पलभाग्रग रेखा) और इष्ट छायाग्र बिन्दु का अन्तर अग्रा संज्ञक होता है । कर्णवृत्त में परिणत करने पर उसे कर्णवृत्ताग्रा कहते हैं ॥ ६ ॥

उपपत्तिः—सायनमेषादौ तुलादौ वा मध्याह्नगता शङ्कोश्छाया तद्देशीया पलभा भवति । पलभाग्रबिन्दुगता पूर्वापरसमानान्तरा रेखा विषुवद् भाग्रगा भवति । इष्टछायाग्रगत विन्द्वोः कृतो लम्बः पलभाग्रगतरेखोपरि अंग्रा भवति द्र० क्षेत्रम् प्रस्तुतक्षेत्रे—

प पू = पूर्वापर सूत्रम्, के त = पलभा
च त छ = पलभाग्रगता पूर्वापरसमानान्तरा विषुवद्भाग्रगा ।
के द = इष्टछाया
द थ = लम्बः = अग्रा = इष्टच्छायाविषुवद् भाग्रगतयोरन्तरमिति ।

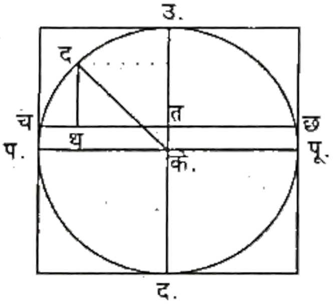

इयमग्रा छायाकर्णत्रिज्यापरिणता कर्णवृत्ताग्रा विपरीत गोला भवति । अर्थात् त्रिज्या वृत्ते यदि उत्तरा तदा छाया कर्णवृत्ते दक्षिणा यदि च त्रिज्यायां दक्षिणा तदा कर्णवृत्ते उत्तरा । अक्षभा तु सदैवोत्तरा एव भवति ।

अनयोः संस्कारेण = पलभा ~ कर्णवृत्तीयाग्रा = भुजः
(छायाग्रपूर्वापरसूत्रमध्यगतः)

मेषादिकन्यान्तं यावत् सौम्यगोले स्थिते रवौ पूर्वापरसूत्रात् स्वोदयास्तं सूत्रमुत्तरस्यां भवति । अतः त्रिज्यावृत्ताग्रादि उत्तरदिक्का एव भवति । तदानीं यदि इष्टच्छाया मध्याह्नकालिकी स्यात् तदा पलभातो न्यूना । अतः छायाग्रगता रेखा पलभाग्रगतरेखातो याम्ये भवति । अतः स्पष्टं यत् पूर्वापरसूत्रात् स्वोदयास्तसूत्रस्य दक्षिणदिग्गतत्वात् कर्णवृत्ताग्राऽपि दक्षिणा एव । एवमेव यदा पलभातो मध्याह्नच्छाया अधिका भवति तदानीं छायाग्रगतारेखा सौम्ये भवति अतः कर्णवृत्ताऽग्राऽपि सौम्या एव । उपपन्नम् ॥ ७ ॥

छायातः कर्णानयनं कर्णतश्छायानयनञ्च

शङ्कुच्छायाकृतियुतेर्मूलं कर्णोऽस्य वर्गतः ।
प्रोज्झ्य शङ्कुकृतिं मूलं छाया शङ्कुर्विपर्ययात् ॥ ८ ॥

अथ प्रसंगाज्ज्ञातच्छायातः कर्णज्ञानं तच्छुद्धिं च आह। द्वादशांगुलशङ्कुच्छाययोः वर्गयोगात् पदं छायाकर्णः स्यात् । अथ अस्य शुद्धिरूपं छायासाधनमाह । अस्येति । छायाकर्णस्य वर्गात् शङ्कुवर्गं चतुश्चत्वारिंशदधिकं शतं विशोध्य मूलं छाया । प्रकारान्तरेण छायाकर्णशुद्धिमाह । शङ्कुरिति । विपर्ययाच्छायासाधन वैपरीत्याच्छायाकर्ण वर्गाच्छायावर्गं विशोध्य मूलमित्यर्थः । शङ्कुर्द्वादशांगुलमितः स्यात् ।

अत्रोपपत्तिः । द्वादशांगुलशङ्कुः कोटिरक्षभाभुजस्तत्कृत्योर्योगपदं कर्ण इत्यक्षकर्णः इत्याद्यक्षक्षेत्राद्युक्तरीत्योपपन्नम् । ननु दिक् साधनोत्तरमिष्टप्रभाग्राकर्णसाधनं भगवता सर्वज्ञेन किमर्थमुक्तमग्रेऽग्रादीनां स्वतन्त्रतयोक्तत्वात् । न च विना गणितश्रममग्राज्ञानार्थमिदं युक्तमुक्तमिति वाच्यम् । वक्ष्यमाणभुजज्ञानस्य अग्रोपजीव्यत्वेन तस्याश्च भुजोपजीव्यत्वेन अन्योन्याश्रयात् । गणितज्ञाताग्रायाः पुनः साधनस्य व्यर्थत्वाच्च। न च भुजसूत्रांगुलैः दत्तैः, इत्यनेन इष्टच्छायाग्रं ज्ञातमिति न किन्तु एतदुक्त्या दिक्सूत्रसम्पातस्थ शङ्कोर्वृत्तपरिधौ छायाग्रज्ञानात् तत्पूर्वापरसूत्रान्तरे भुजसद्भावाद्विना गणितं भुजोऽपि ज्ञात इति न अन्योन्याश्रय इति वाच्यम् । तथापि भगवतः सर्वज्ञस्य निष्प्रयोजनत्वोक्तेः अनुचितत्वात् । विना प्रयोजनं मन्दोक्तेरपि अभावाच्च । न हि दिक्साधनेऽग्राभुजादिकमावश्यकं येन तदुक्तिर्युक्ता । किञ्च कर्णसाधनस्य गणितोक्त्या वक्ष्यमाणकर्णसाधन तुल्यत्वेन अत्र कथनमनुचितम्। न हि दिक्साधनार्थं भाकर्णमित्याहतादिति सिद्धान्तशिरोमण्युक्तिवत् अत्र छायाकर्ण उपयुक्तो येन तदुक्तिर्युक्तेति चतुरस्रमित्यादि श्लोकचतुष्टयमन्येन मन्दबुद्धिना क्षिप्तं न भगवतोक्तमिति चेतमैवम। भुजसाधनोपजीव्याग्राया एतदुक्तप्रकारेण सिद्धौ दिशः सम्यक् सिद्धा इति दिक्साधन शुद्ध्यर्थमग्रासाधनम्। प्रकारान्तरेण अपि वक्ष्यमाणत्रिज्यावृत्तीयाग्रया त्रिज्या लभ्यते तदानयागतया केत्यनुपातेन साधितकर्णसंवादेन शुद्ध्यवगमार्थं कर्णसाधनं च उक्तम्। अनयाग्रया कर्णस्तदा त्रिज्यावृत्तीयाग्रया क इति फलस्य त्रिज्या तुल्यस्य आनयनार्थं वा कर्णसाधनम् इति केचित् । वस्तुतस्तु मण्डले छायाप्रवेशनिर्गमस्थान स्थितपूर्वापरविन्द्वोः प्रत्येकं रेखेति रेखाद्वयं सर्वतस्तुल्यान्तरं कार्यं तेनान्तरेण अन्यतरो विन्दुश्चाल्यस्तौ पूर्वापरविन्दू तद्रेखा मध्यस्थानस्य पूर्वापररेखेति ।

तत्र उभयविन्दुरेखयोः अन्तरांगुलमानं स्वल्पत्वात् गणयितुमशक्यमतः प्रत्येके रेखे प्राच्यपररेखे प्रकल्प्य तन्मध्यकेन्द्रात् पूर्ववृत्तं प्रत्येकमिति वृत्तद्वयं कुर्यात् । तत्र स्वस्ववृत्ते स्वस्वप्राच्यपररेखा स्पृष्टा कार्या ताभ्यां स्वस्वकालिकौ भुजौ स्वस्ववृत्ते देयौ तदग्रे छायाग्ररेखे स्वस्ववृत्ते कार्ये स्वस्वप्राच्यपरसूत्रात् स्वस्ववृत्त उत्तरभागेऽक्षभांगुलान्तरेण रेखे कार्ये ततः स्वस्ववृत्ते स्वस्वतद्रेखयोः अन्तरं स्वस्ववृत्त उभयकालिक कर्णवृत्ताग्रे बहुत्वेन गणयितुं शक्ये तदन्तरं पूर्वविन्द्वोर्याम्योत्तरमन्तरं कर्णवृत्ताग्रासाधन कथनेन आनीतं भुजान्तरस्य विन्द्वन्तरत्वात् तस्य च अग्रान्तरत्वेन फलितत्वात् । विषुवद्दिने गोलभेदे तु भुजान्तर-

मग्रायोग इति" विन्द्वोर्याम्योत्तरमग्रायोग इति । तेनोक्तरीत्या विन्दुश्चाल्यस्तत्सूत्रं पूर्वापरसूत्रं स्फुटमित्याशयेन भगवता अग्रा निरूपिता तस्याः शुद्ध्यर्थं कर्णोऽपि साधित इति तत्वम् ॥ ८ ॥

शङ्कु (१२ अंगुल) और छाया के वर्ग योग का वर्गमूल कर्ण होता है । कर्ण वर्ग से शङ्कु वर्ग को घटाकर शेष का वर्गमूल छाया तथा इससे विपरीत अर्थात् कर्ण वर्ग से छाया वर्ग को घटा कर शेष का वर्गमूल शङ्कु होता है ॥ ८ ॥

स्पष्ट रूप से ज्ञान हेतु सूत्र—

$$\sqrt{\text{शङ्कु}^2 + \text{छाया}^2} = \sqrt{\text{कर्ण}^2} = \text{कर्ण}$$

$$\sqrt{\text{कर्ण}^2 - \text{शङ्कु}^2} = \sqrt{\text{छाया}^2} = \text{छाया}$$

$$\sqrt{\text{कर्ण}^2 - \text{छाया}^2} = \sqrt{\text{शङ्कु}^2} = \text{शङ्कु}$$

उपपत्तिः—शङ्कुः छाया छायाकर्णश्च इत्येकोऽक्षक्षेत्रम् जात्यक्षेत्रञ्च । तत्र शङ्कुः भुजः, छायाकोटिः, छायाकर्णश्च कर्णः । यथा—

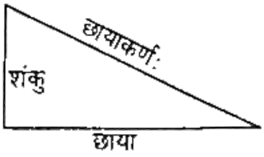

$$\text{कर्णः}^2 = \text{भु}^2 + \text{कोटि}^2$$

$$\text{अत्र छायाकर्ण}^2 = \text{शङ्कु}^2 + \text{छाया}^2$$

$$\text{छायाकर्ण} = \sqrt{\text{शङ्कु}^2 + \text{छाया}^2}$$

$$\left.\begin{array}{l}\text{एवमेव कर्ण}^2 - \text{शङ्कु}^2 = \text{छाया}^2 \\ \text{कर्ण}^2 - \text{छाया}^2 = \text{शङ्कु}^2\end{array}\right\} \text{अनयो मूलग्रहणेन}$$

$$\sqrt{\text{कर्ण}^2 - \text{शङ्कु}^2} = \text{छाया}, \sqrt{\text{कर्ण}^2 - \text{छाया}^2} = \text{शङ्कुः}$$

उपपन्नम् ॥ ८ ॥

अयनांशसाधनम्

त्रिंशत्कृत्यो युगे भानां चक्रं प्राक् परिलम्बते ।
तद्गुणाद्भूदिनैर्भक्ताद् द्युगणाद्यदवाप्यते ॥ ९ ॥
तद्दोस्त्रिघ्ना दशाप्तांशा विज्ञेया अयनाभिधाः ।
तत्संस्कृताद्ग्रहात् क्रान्तिच्छायाचरदलादिकम् ॥ १० ॥

अथ पूर्वाधिकारे क्रान्त्याद्यानयनमुक्तं तत् पूर्वाधिकारावगतग्रहात् केवलात् न साध्यमिति श्लोकाभ्यामाह। भानां चक्रं राशीनां वृत्तं क्रान्तिवृत्तं स्वस्वविक्षेपमितशलाकाग्रप्रोतनक्षत्रगणैः युक्तमित्यर्थः । युगे महायुगे प्राक्पूर्वविभागे त्रिंशत्-कृत्यस्त्रिंशत्संख्याकाकृतिर्विंशतिः षट्शतमित्यर्थः। परिलम्बते ध्रुवाधार भगोलस्थानात् तद्द्वारमवलम्बते। अत्र परिलम्बत इत्यनेन भचक्रपूर्णभ्रमणाभाव उक्तोऽन्यथा ग्रह-भगणप्रसंगेन मध्याधिकार एव एतदुक्तं स्यात् । तथा च तद्द्वारमवलम्बनोक्त्या

परावर्त्य यथास्थितं भवतीत्यागतं तत्रापि स्वस्थानात् तथैव पश्चिमतोऽपि अवलम्बत इति सूचितम् । एवञ्च भचक्रं पश्चिमत: ईश्वरेच्छया प्रथमत: कतिचिद्भागैश्चलति तत: परावृत्य यथास्थितं भवति ततोऽपि तद्भागै: क्रमेण पूर्वतश्चलति ततोऽपि परावर्त्य यथास्थितमित्येको विलक्षणो भगण: । तेन प्रागित्युपलक्षणम् । पश्चिमावलम्बनानुक्तिस्तु संवादकाले तदभावात् । अत्र त्रिंशत्कृत्वेति पाठ: प्रामादिक: ।

युगे षट्शतकृत्वो हि भचक्रं प्राग्विलम्बते । इति सोमसिद्धान्तविरोधात् । तत्पश्चात् चलितं चक्रमिति ब्रह्मसिद्धान्तोक्तेश्च । अहर्गणात् तद्गुणात् षट्शतगुणिताद् भूदिनै: युगीयसूर्यसावनदिनैर्भक्तात् यत् फलं भगणादिकं प्राप्यते तस्य भगणत्यागेन राश्यादिकस्य भुज: कार्यस्तस्मात् दशाप्तांशा दशभिर्भजनेन आप्तभागा: त्रिगुणिता अयनसंज्ञका ज्ञेया: । भुजांशा: त्रिगुणिता दशभक्ता: फलमयनांशा इति तात्पर्यार्थ: । तत्संस्कृतात् तै: अयनांशै: भचक्रपूर्वापरचलनवशाद्युतहीनाद् ग्रहात् पूर्वापरभचक्रचलनावगमस्तु अयनग्रहस्य षड्भानन्तर्गतान्तरगतत्वक्रमेण क्रान्तिच्छायाचरदलादिकं साध्यम् । न केवलाद्विशेषोक्ते: । छाया वक्ष्यमाणा चरदलं चरं पूर्वाधिकारोक्तम् । आदिशब्दात् अयनवलनमायनदृक्कर्म संगृह्यते । यद्यपि तत्संस्कृताद्ग्रहात् क्रान्तिरित्येव वक्तव्यमन्येषामत्र तदुपजीव्यत्वाद् ग्रहणं व्यर्थं तथापि क्रान्ति रित्युक्त्या केवलक्रान्तिज्ञानार्थं तत्संस्कृतग्रहात् क्रान्ति: साध्या । पदार्थान्तरोपजीव्याया: क्रान्ते: साधनं तु केवलात् इत्यस्य वारणार्थं क्रान्तिमात्रं तत्संस्कृतात् साध्यमिति सूचकं छायाचरदलादिकथनम् ।

अत्रोपपत्ति: । ईश्वरेच्छया क्रान्तिवृत्तं स्वमार्गे पश्चिमत: सप्तविंशत्यंशै: क्रमोपचितैश्चलितं तत: परावृत्य स्वस्थान आगत्य तत्स्थानात् पूर्वत: सप्तविंशत्यंशै: चलितम् । तथा च सृष्ट्यादिभूत क्रान्तिविषुवद्वृत्तसम्पाताश्रित क्रान्तिवृत्तप्रदेशो रेवत्यासन्न: प्रागानीतग्रहभोगावधिरूप: स्वस्थानात् पूर्वमपरत्र वा क्रान्तिवृत्तमार्गे गत: । विषुवद्वृत्ते तु तद्भागस्य पश्चिमभाग: पूर्वभागो वा गत:। सम्पाते तद्वृत्तयोर्याम्योत्तरान्तराभावात् क्रान्त्यभाव: । पूर्वसम्पातप्रदेशे तु तयोर्याम्योत्तरान्तरत्वात् क्रान्तिरुत्पन्ना अतो यथा स्थितग्रह भोगात् क्रान्ति: असंगतेति सम्पातावधिकग्रहभोगात् क्रान्तिर्युक्ता । तत्र सम्पातावधिक ग्रहभोगज्ञानार्थं पूर्वसम्पातावधिक: पूर्वाधिकारोक्तो ग्रहभोगो वर्तमानसम्पात पूर्वसम्पाताश्रित क्रान्ति वृत्त प्रदेशयो: अन्तरभागै: अयनांशाख्यै: पूर्वसम्पातप्रदेशस्य पूर्वपश्चिमावस्थानक्रमेण युतहीनो भवति । क्रान्त्युपजीव्य पदार्था अपि वर्तमान सम्पातादुत्पन्ना इति तत्साधनमपि तत्संस्कृत ग्रहात् । अथ अयनांशज्ञानं तु षट्शतभगणेभ्य: पूर्वानुपातरीत्याहर्गणाद् ग्रहभोगो भगणादिकस्तत्र गतभगणमितं परपूर्वभचक्रावलम्बनं गतम्। वर्तमानं तु आरम्भे पश्चिमावलम्बनात् राशिषट्कान्तर्गते राश्यादिके पश्चिमावलम्बनमनन्तर्गते पूर्वावलम्बनम्। तत्रापि त्रिभान्तर्गतानन्तर्गतत्वक्रमेण चलनं परावर्त्तनं चेति भुज: साधितस्ततो नवत्यंशै: सप्तविंशतिभागा: तदा

भुजांशैः क इत्यनुपातेन गुणहरौ नवभिः अपवर्त्य भुजांशाः त्रिगुणिता दशभक्ता इति सर्वमुपपन्नम् ॥ ९–१० ॥

एक महायुग में नक्षत्र चक्र, तीस बार बीस अर्थात् ३० × २० = ६०० बार पूर्व दिशा में परिलम्बित होता है । ६०० से अहर्गण को गुणा कर गुणनफल में युग सावन दिन संख्या से भाग देने पर प्राप्त लब्धि का भुज बनाकर ३ से गुणा कर उसमें १० का भाग देने से अयनांश होता है । इस अयनांश संस्कृत ग्रह (सायनग्रह) द्वारा क्रान्ति, छाया, चरखण्ड आदि का साधन करना चाहिये ॥ ९–१० ॥

अयनांश अयन बिन्दु की अभीष्ट स्थिति का सूचक होता है । नाडी क्रान्ति वृत्त के सम्पात बिन्दु को विषुव सम्पात अथवा अयनबिन्दु कहते हैं । सृष्ट्यादि में मेषादि (अश्विन्यादि) बिन्दु पर ही सम्पात (अयन) बिन्दु था किन्तु सम्पात अपनी गति से पश्चिम की ओर खिसकता रहता है । इस गति से सम्पात बिन्दु और अश्विन्यादि बिन्दु के मध्य का अंशादि अन्तरमान अयनांश कहलाता है ।

अयनांश के सन्दर्भ में प्राचीन सिद्धान्तकारों के प्रमुख दो मत हैं (१) चक्रभ्रमण (२) दोलाभ्रमण । मुञ्जाल ने अयन बिन्दु के चक्रभ्रमण को स्वीकार किया है । सूर्य सिद्धान्त का मत है कि अयन बिन्दु २७° अंश तक पूर्व जाकर पुनः शून्य बिन्दु पर आयेगा तथा पुनः २७ अंश तक पश्चिम दिशा में जायेगा । इस प्रकार ० से २७° तथा २७° से ०° तक ही उसकी गति घड़ी के लोलक के समान होती है । यथा चित्र द्वारा स्पष्ट है—

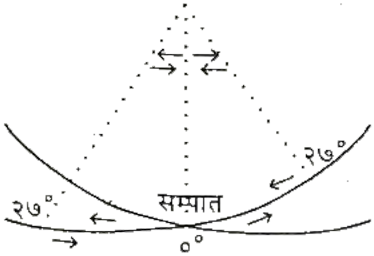

उपपत्तिः—एकस्मिन् महायुगे सौरवर्षाणि = ४३२०००० मितानि पाठपठितानि ।
अयनभगणाः = ३० × २० = ६००
अतोऽनुपातः —

युगसावनदिवसैः षट्शतानि अयनभगणास्तदाभीष्ट दिवसैः (अहर्गणैः) किमिति—

$$\frac{६०० \times \text{अहर्गणः}}{\text{युग सा. दि.}} = \text{एकदिवससम्बन्धि अयनगतिः}$$

अस्य भुजांशा = भु.

एकस्मिन् भगणे अयनगतिः = (२७° + २७°) + (२७° + २७°)

= ४ (२७°) = १०८ अंशाः ।

पुनरनुपातः—यदि भांशैरयनस्य चलनं १०८ अंशमितानि तदा अभीष्ट भुजांशैःकिमिति —

$$\frac{१०८ \times \text{अ० भु०}}{३६०} = (\text{३६ अनेनापवर्तिते जातम्}) = \frac{३ \times \text{अ० भु०}}{१०}$$

= अभीष्टाहेऽयनचलनांशाः **उपपन्नम् ॥ ९, १० ॥**

अयनचलनस्य दृक्प्रतीतिः

स्फुटं दृक्तुल्यतां गच्छेदयने विषुवद्वये ।
प्राक् चक्रं चलितं हीने छायार्कात् करणागते ।। ११ ।।
अन्तरांशैरथावृत्य पश्चाच्छेषैस्तथाधिके ।

अथ उक्तस्यान्तरस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वमिति सार्द्धश्लोकेन आह । अयने दक्षिणोत्तरायणसन्धौ विषुवद्वये गोलसन्धौ चलितं चक्रं दृक्तुल्यतां दृष्टिगोचरतां स्फुटमनायासं गच्छेत् । तत्र प्रत्यक्षतस्तन्मितमन्तरं दृश्यत इत्यर्थः । तथा च सृष्ट्यादिकाले रेवती योगतारासन्नावधि मेषतुलाद्योः कर्कमकराद्योः विषुवायन प्रवृत्तेरिदानीं तु अन्यत्र तत्स्वरूपे प्रत्यक्षे इति क्रान्तिवृत्तं चलितमन्यथा तदनुपपत्तेरिति भावः । ननु पूर्वतोऽपरत्र वा चलितमिति कथं ज्ञेयमित्यत आह । प्रागिति । छायार्काद्यद्दिने सूर्यस्य अयनदिक्परावर्त्तनमुदये प्राच्यपरसूत्रस्थत्वं वा तस्मिन् दिनेऽन्यस्मिन् दिने वा मध्याह्नच्छायातो वक्ष्यमाणप्रकारेण सूर्यः साध्यस्तस्मात् इत्यर्थः । करणागते प्रागुक्त प्रकारेण आनीतः स्पष्टः सूर्यस्तस्मिन्नित्यर्थः । न्यूने सति । अन्तरांशैः सूर्ययोरन्तरांशैः चक्रं क्रान्तिवृत्तं प्राक् पूर्वस्मिन् चलितमिति ज्ञेयम् । अथ यद्यधिके सति शेषैः सूर्ययोः अन्तरांशैः चक्रमावृत्य परिवृत्य पश्चात् पश्चिमाभिमुखं तथा चलितमिति ज्ञेयम् ।

अत्रोपपत्तिः । छायातो वक्ष्यमाणप्रकारेण सूर्यो वर्तमान सम्पाताद्गणितागतस्तु रेवतीयोगतारासन्नाद्यवधितोऽतस्तयोः अन्तरमयनांशास्तत्र क्रान्तिवृत्तस्य पूर्वचलने गणितागतार्काच्छायार्कोऽधिको भवति । पश्चिमचलने तु न्यूनो भवतीति सम्यगुपपन्नम् ।। ११ ।।

दोनों अयन बिन्दुओं (सायन कर्क एवं सायन मकर) तथा दोनों विषुव (सायन मेष और सायन तुला) बिन्दुओं पर सूर्य के संक्रमण (संक्रान्ति) के समय अयन चलन (आयन सम्पात की गति) स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। छायार्क (वेधोपलब्ध सूर्य) से गणितागत सूर्य (सूर्य का भोगांश) अल्प होने पर अन्तरांश तुल्य सम्पात से भचक्र पूर्व की ओर चला है। तथा यदि गणितागत सूर्य का भोगांश अधिक है तो अन्तरांश तुल्य नक्षत्र चक्र पश्चिम दिशा में चला है ऐसा समझें ।। ११ ।।

उपपत्तिः—अयनांशो नाम अयनविन्दोः नाडी क्रान्तिवृत्तयोः सम्पातविन्दोर्वा अश्विन्यादितोऽन्तरम् । सृष्टयादौ नाडीक्रान्तिवृत्तयोः सम्पातः अश्विन्यादौ आसीत् । शनैः शनैः सम्पातः पश्चाद् गच्छति । इदानीं अश्विन्यादितो सम्पातं यावद् यदन्तरं तावदेवायनांशाः। अस्य प्रत्यक्षीकरणार्थं प्रयासः—वेधोपलब्धाः ग्रहाः सायनाः सम्पात विन्दुतस्तेषां भोगांशाः भवन्ति । गणितागताः ग्रहाः अश्विन्यादितो निरयना एव । अनयोरन्तरमेव स्फुटायनांशाः सम्पातविन्दौ सायनमेषादौ तुलादौ वा क्रान्तेरभावः

सायनकर्कादौ मकरादौ वा क्रान्तेः परमत्वमम् । अतएव आयने विषुवे च सायन-निरयन ग्रहयोः स्फुटदृक्प्रतीतिर्भवति । इत्युपपन्नम् ॥ ११ ॥

पलभाज्ञानम्

एवं विषुवती छाया स्वदेशे या दिनार्द्धजा ॥ १२ ॥
दक्षिणोत्तररेखायां सा तत्र विषुवत्प्रभा ।

अथ चराद्युपजीव्यां पलभामाह। स्वाभीष्टदेश एवं विषुवती चलितविषुवद्दिनसम्बद्धा रेवत्यासन्नस्यापि उपचाराद्विषुवसंज्ञा तद्व्यवर्त्तकमेवमिति। दिनार्द्धजा माध्याह्निकी या यन्मिता द्वादशांगुलशङ्कोश्छाया दक्षिणोत्तररेखायां निरक्षोत्तर-दक्षिणदेशक्रमेण उत्तरस्यां दक्षिणस्यां प्रभायाः दक्षिणोत्तर रेखास्थत्वं विना मध्याह्नासम्भवात् सा तन्मिता तत्र तस्मिन् अभीष्टदेशे विषुवत्प्रभाक्षभा भवति । एतेन द्वादशांगुलशङ्कुः कोटिः पलभा भुजस्तत्कृत्योर्योगपदं कर्ण इत्यक्षकर्णः कर्ण इत्यक्षक्षेत्रं वक्ष्यमाणोपयुक्तं प्रदर्शितम् । तदा सूर्यस्य विषुवद्वृत्तस्थत्वात् विषुवत्प्रभा इति संज्ञोक्ता ॥ १२ ॥

इस प्रकार अपने-अपने देश (स्थान) में मध्याह्न कालिक दक्षिणोत्तर रेखा में पड़ने वाली विषुवच्छाया (१२ अंगुल शङ्कु की छाया) उस स्थान की पलभा होती है ॥ १२ $\frac{१}{२}$ ॥

किसी समतल भूमि में १२ अंगुल का शङ्कु स्थापित कर पलभा ज्ञान करते हैं । जब सायन सूर्य मेष या तुला राशि में प्रवेश करता है उस दिन स्थानीय मध्याह्न काल में दक्षिणोत्तर में पड़ने वाली शङ्कु की छाया जितने अंगुल हो उतनी ही उस स्थान की अंगुलात्मक पलभा होती है ।

विषुवकाल में क्रान्ति का अभाव होता है और नाड़ी क्रान्तिवृत्त की स्थिति एक स्थान पर होती है ऐसी स्थिति में जब सूर्य याम्योत्तर वृत्त में आता है वहीं स्थानीय (वास्तविक) मध्याह्नकाल होता है । उस समय १२ अंगुल शङ्कु की छाया दक्षिणोत्तररेखा में पड़ती है तथा वहीं पलभा होती हैं । उस समय निरक्ष स्थानों (०° अक्षांश वाले स्थानों) में छाया के अभाव में पलभा शून्य होगी ।

अक्षांशसाधनम्

शङ्कुच्छायाहते त्रिज्ये विषुवत्कर्णभाजिते ॥ १३ ॥
लम्बाक्षज्ये तयोश्चापे लम्बाक्षौ दक्षिणौ सदा ।

अथ लम्बाक्षयोरानयनमाह । त्रिज्ये द्विस्थानस्थे शङ्कुच्छायाहते एकत्र द्वादशगुणिता अपरत्र प्रागुक्तया विषुवत्प्रभया गुणिता विषुवत्कर्णभाजितोभयत्राक्ष-कर्णेन भक्ता फले क्रमेण लम्बज्याक्षज्ये तयोर्ज्ययोः धनुषी क्रमेण लम्बाक्षौ सदोभय गोले दक्षिणदिक्स्थौ भवतः ।

अत्रोपपत्तिः । याम्योत्तरवृत्ते निरक्षस्वदेश पूर्वापरवृत्त्योः तदन्तरं तदक्षः । याम्योत्तरवृत्ते दक्षिण क्षितिज प्रदेशाद्विषुवद् वृत्तस्य यदन्तरं तल्लम्बः। उभौ उर्ध्व गोलेस्वपूर्वा परवृत्ताद्दक्षिणौ तज्ये अक्षलम्बज्ये भुज कोटी त्रिज्याकर्ण इत्यक्ष-क्षेत्रादक्षकर्ण कर्णे द्वादशपलभे कोटिभुजौ तदा त्रिज्याकर्णे कावित्यनुपाताभ्यां लम्बाक्षज्ये तद्धनुषी लम्बाक्षौ इत्युपपन्नम् ॥ १३ ॥

शङ्कु और शङ्कुच्छाया (पलभा) से पृथक्-पृथक् त्रिज्या (३४३८) को गुणाकर गुणन फल को विषुव (पल) कर्ण ($\sqrt{१२^{२} + पलभा^{२}}$ = पलकर्ण) से भाग देने पर क्रमशः लम्बज्या और अक्षज्या होती है । इनके चापीय मान क्रमशः लम्बांश और अक्षांश होते हैं। उत्तरगोल में अंक्षाश सदैव दक्षिण होते हैं ॥ १३ ॥

यहाँ शङ्कु = १२ अंगुल, त्रिज्या = ३४३८

पलकर्ण विषुवच्छाया (पलभा) के अनुसार भिन्न–भिन्न होंगे । अतः

$$\text{लम्बज्या} = \frac{\text{शङ्कु} \times \text{त्रिज्या}}{\text{पलकर्ण}} = \frac{१२ \times ३४३८}{\text{पलकर्ण}}$$

लम्बज्या चाप = लम्बांश

$$\text{अक्षज्या} = \frac{\text{पलभा} \times \text{त्रिज्या}}{\text{पलकर्ण}} = \frac{\text{पलभा} \times ३४३८}{\text{पलकर्ण}}$$

चापांश = अक्षांश

गोल में आठ क्षेत्र ऐसे बनते हैं जिनका एक कोण ९०°, दूसरा अक्षांश तुल्य, तथा तीसरा लम्बांश तुल्य होता है । इन्हें अक्षक्षेत्र कहते हैं । इनका स्वरूप इस प्रकार है—

क्रमशः अक्षक्षेत्र—

भुज	कोटि	कर्ण
१. पलभा	शङ्कु	पलकर्ण
२. अक्षज्या	लम्बज्या	त्रिज्या
३. कुज्या	क्रान्तिज्या	अग्रा
४. अग्रा	समशङ्कु	तद्धृति
५. कान्तिज्या	कुज्योनतद्धृति	समशङ्कु
६. उन्मण्डलशङ्कु	अग्रादिखण्ड	क्रान्तिज्या
७. अग्राखण्ड	उन्मण्डलशङ्कु	कुज्या
८. अग्रादिखण्ड	समशंकूर्ध्वखण्ड	तद्धृतिऊर्ध्वखण्ड

उपपत्तिः—अत्रानुपातादेव सुस्पष्टम् यत् पलकर्णकर्णे यदि शकुरेव कोटि-स्तदा त्रिज्याकर्णे किमिति $= \frac{\text{शङ्कु} \times \text{त्रिज्याक}}{\text{पलकर्ण}}$ = अक्षज्या चापमक्षांशाः

एवमेव— पलकर्णकर्णे पलभा भुजस्तदा त्रिज्याकर्णे का इति—

$$= \frac{\text{पलभा} \times \text{त्रिज्या क.}}{\text{पलकर्ण}} = \text{लम्बज्या} = \text{लम्बांशाः}$$

उपपन्नम् ॥ १३$\frac{1}{2}$ ॥

मध्याह्नछायायाक्षांशलम्बांशपलभानां ज्ञानम्

मध्यच्छाया भुजस्तेन गुणिता त्रिभमौर्विका ॥ १४ ॥
स्वकर्णाप्ता धनुर्लिप्ता नतास्ता दक्षिणे भुजे ।
उत्तराश्चोत्तरे याम्यास्ताः सूर्यक्रान्तिलिप्तिकाः ॥ १५ ॥
दिग्भेदे मिश्रिताः साम्ये विश्लिष्टाश्चाक्षलिप्तिकाः ।
ताभ्योऽक्षज्या च तद्वर्गं प्रोज्झ्य त्रिज्याकृतेः पदम् ॥ १६ ॥
लम्बज्याऽर्कगुणाक्षज्या विषुवद्भाऽथ लम्बया ।

अथ मध्याह्नच्छायातोऽक्षानयनं श्लोकाभ्यामाह। अभीष्टदिने माध्याह्निकी छाया भुजसंज्ञा ज्ञेया । तेन भुजेन त्रिज्या गुणिता मध्याह्नच्छायाकर्णेन भक्ता फलस्य धनुः कला नतानतसंज्ञास्ता नतकला दक्षिणे भुजे मध्याह्नच्छाया-रूपभुजे प्राच्यपरसूत्रमध्यात् दक्षिणदिक्स्थे सति उत्तरदिक्का उत्तरे भुजे दक्षिणाः। चो विषयव्यवस्थार्थकः । ता नतकलाः सूर्य क्रान्तिकलाः प्रागुक्ताः । दिक्भेदे स्वदिशोर्भिन्नत्वे मिश्रिताः संयुक्ताः साम्येऽभिन्नदिक्त्वे विश्लिष्टा अन्तरिताः । चो विषयव्यवस्थार्थकः। अक्षकला भवन्ति । अत्र अनावश्यकभुज संज्ञया भगवतो-पपत्तिरुक्ता । तथाहि द्वादशांगुलशङ्कुकोटौ मध्याह्नच्छायाकर्णे वा मध्यच्छाया-भुजस्तथा स्वस्वतिस्तकान्मध्याह्नकाले सूर्यस्य याम्योत्तरवृत्ते यदन्तरेण नतत्वं ता नत कलास्तज्ज्या नतांशज्या मध्याह्नोन्नतांशज्यारूपशङ्कौ त्रिज्याकर्णे वा भुज इति मध्याह्नच्छायाकर्णे कर्णे मध्याह्नच्छाया भुजस्तदा त्रिज्याकर्णे को भुज इत्यनुपातेन नतज्या तद्धनुरत्र कलात्मकत्वात् नतकलास्ता ग्रहसम्बद्धा इति छाया-दिग्विपरीतदिक्काः। अथ क्रान्त्यंशाक्षांशयोः एकदिक्त्वे योगेन नतांशा इति दक्षिणा नतकला दक्षिणक्रान्तिकलाभिर्हीना अक्षांशा भवन्ति। क्रान्त्यंशाक्षांशयोः भिन्नदिक्त्वेऽ-न्तरेण नतांशा यदि दक्षिणास्तदा क्रान्त्यूनाक्षांशस्य नतत्वात् उत्तरक्रान्तियुता अक्षांशाः। यदि तु उत्तरास्तदाक्षोनक्रान्तेर्नतत्वात् नतोनोत्तरक्रान्तिरक्ष इति सम्यगुपपन्नम्। केचित् तु भुजग्रहणात् अभीष्टकाले प्राच्यपरसूत्राच्छायाग्रं यदन्तरेण याम्यमुत्तरं वा भुजस्तं स्वल्पान्तरान्मध्यच्छायां प्रकल्प्य तस्याः कर्णं च आनीयोक्तदिशा नतलिप्तास्ता अभीष्टक्रान्तिसंस्कृता अक्षांशा भवन्तीत्याहुः ॥ १४–१५ ॥

अथ अक्षात् पलभानयनमाह । ताभ्योऽक्षकलाभ्योऽक्षज्या भवति । चः समुच्चये । अक्षज्यावर्गं त्रिज्यावर्गात् त्यक्त्वा शेषान्मूलं लम्बज्या । अनन्तरम-क्षज्या द्वादशगुणा लम्बया लम्बज्यया गुणनस्य भजनसम्बन्धात् भक्तेत्यर्थसिद्धम्। अक्षभा स्यात् ।

अत्रोपपत्तिः । अक्षकलानां ज्याक्षज्या तस्याः त्रिज्याकर्णे भुजत्वात् तद्वर्गोनात् त्रिज्यावर्गान्मूलं लम्बज्या कोटिः । तयाक्षज्यया भुजस्तदा द्वादशकोटौ को भुज इत्यनुपातेन विषुवच्छाया इति ॥ १६ ॥

मध्याह्नकाल में सूर्य की छाया (मध्याह्नकालिक शङ्कु की छाया) भुज-संज्ञक होती है । उस छाया (भुज) से त्रिज्या को गुणाकर गुणनफल में मध्याह्न कालिक छाया कर्ण से भाग देने पर जो लब्धि प्राप्त हो उसकी चापकला मध्याह्नकालिक नतांश होती है । यदि छाया (भुज) पूर्वापर सूत्र से दक्षिण हो तो उत्तर नतांश तथा यदि छाया उत्तर दिशा में हो तो दक्षिण नतांश होता है । (उत्तर भुज में दक्षिणनतांश, दक्षिणभुज में उत्तर नतांश होता है ।) ॥ १४ ॥

यदि सूर्य की क्रान्तिकला और नतांश में परस्पर दिग्भेद (अर्थात् दोनों की दिशायें भिन्न–भिन्न एक की उत्तर दूसरे की दक्षिण) हो तो दोनों का योग करने से तथा यदि दोनों की एक ही दिशा होने पर अन्तर करने से अक्षलिप्ता (अक्षांश कला) होती है ॥ १५ ॥

उक्त अक्षांश से अक्षज्या साधित कर उसके वर्ग को त्रिज्या के वर्ग में घटा कर शेष का वर्गमूल लेने से लम्बज्या होती है । अक्षज्या को १२ से गुणाकर लम्बज्या से भाग देने पर लब्ध फल पलभा होती है ॥ १६ ॥

विशेषः—अभीष्ट दिन की मध्याह्न कालिक शङ्कुच्छाया का माप अंगुल में इञ्च में कर लें । यही माप भुज संज्ञक होगा । यथा चित्र से स्पष्ट है ।

शङ्कु = कोटि,
छाया = भुज
शंक्वग्र से छायाग्र पर्यन्त छायाकर्ण ।

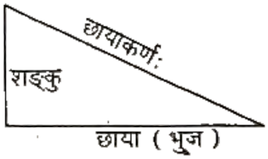

$\frac{\text{छाया} \times \text{त्रिज्या}}{\text{छाया कर्ण}}$ = लब्धि, लब्धि का चाप = नतांश

पूर्वापर सूत्र से सूर्य यदि उत्तर में है तो छाया दक्षिण में पड़ेगी तथा यदि सूर्य दक्षिण में है तो छाया उत्तर में पड़ेगी । इसीलिए कहा गया है कि उत्तर छाया में दक्षिण तथा दक्षिण छाया में उत्तर नतांश होता है ।

क्रान्ति और नतांश की दिशा एक ही होने पर दोनों का योग—

उत्तरनतांश	+	उत्तरक्रान्ति	=	अक्षांश
दक्षिणनतांश	+	दक्षिणक्रान्ति	=	अक्षांश
उत्तरक्रान्ति	~	दक्षिणनतांश	=	अक्षांश
दक्षिणक्रान्ति	~	उत्तरनतांश	=	अक्षांश

इसी प्रकार— $\sqrt{\text{त्रिज्या}^2 - \text{अक्षज्या}^2} = \sqrt{\text{शेष}}$ = लम्बज्या

तथा— $\frac{\text{अक्षज्या} \times १२}{\text{लम्बज्या}}$ = पलभा ।

उपपत्तिः—शङ्कु-शङ्कुच्छाया-छायाकर्णः इति अवयवत्रयात्मके अक्षक्षेत्रेऽनुपातः—

छायाकर्णेन छायाभुजस्तदा त्रिज्या कर्णेन किमिति जातम्

$$\frac{\text{छायाभुजः} \times \text{त्रिज्या}}{\text{छायाकर्णः}} = \text{रविनतज्या ।}$$

रवेर्विपरीतदिशिछाया भवति अतः भुजाद् विपरीता ।

= अस्याश्चापं = पृष्ठीया नतकला ।

खमध्यतो ग्रहावधि दृग्वृत्ते नतांशा भवन्तिगोलयुक्त्या सिद्धम् । नतांश—रवि क्रान्तिफलयोः संस्कारेणाक्षांशाः भवन्ति । यथा रवेः नतांशाः याम्या क्रान्त्यंशाश्चापि याम्या । तदादिक्साम्ये अन्योरन्तरेणाक्षलिप्तिका । ततः

$$\sqrt{\text{त्रि}^2 - \text{अक्षाज्या}^2} = \text{लम्बज्या}$$

अतोऽनुपातेन—

$$\frac{\text{अक्षज्या} \times १२}{\text{लम्बज्या}} = \text{विषुवद्भा (पलभा)}$$ **उपपन्नम्** ॥ १६ ॥

मध्याह्नछाययारविज्ञानम्

स्वाक्षार्कनतभागानां दिक्साम्येऽन्तरमन्यथा ॥ १७ ॥
दिग्भेदेऽपक्रमः शेषस्तस्य ज्या त्रिज्यया हता ।
परमापक्रमज्याप्ता चापं मेषादिगो रविः ॥ १८ ॥
कर्कादौ प्रोज्झ्य चक्रार्धात् तुलादौ भार्धसंयुतात् ।
मृगादौ प्रोज्झ्य भगणान्मध्याह्नेऽर्कः स्फुटो भवेत् ॥ १९ ॥

अथ अक्षज्ञाने नतभागेभ्यः क्रान्तिद्वारा सूर्यसाधनं सार्द्धश्लोकाभ्यामाह । स्वदेशाक्षांशेष्टदिनीयमध्याह्न सूर्यनतांशयोः भागानां बहुत्वात् बहुवचनम् । एकदिक्त्वेऽन्तरमन्यदिक्त्वेऽन्यथा योगः कार्यः । शेष उक्तसंस्कार सिद्धोऽङ्कः क्रान्तिः स्यात् । तस्य अपक्रमस्य ज्या त्रिज्यया गुण्या परमक्रान्तिज्यया प्रागुक्तया भक्त्या फलस्य धनुर्भागादिकं मेषादिगो मेषादिराशित्रितयान्तर्गतोऽर्कः स्यात् । कर्कादित्रयेऽर्के चक्रार्द्धात् षड्राशित आगतार्कं त्यक्त्वा शेषं मध्याह्नकाले स्फुटोऽर्कः स्यात् । तुलादि त्रितये षड्भयुतादागतार्कात् स्फुटोऽर्को ज्ञेयः । आगतोऽर्कः षड्भयुतः स्फुटोऽर्कः स्यात् इत्यर्थः । मकरादित्रयेऽर्के द्वादशराशिभ्य आगतार्कं त्यक्त्वा शेषमयनांशसंस्कृतः स्फुटोऽर्कः स्यात् । करणागतज्ञानार्थं व्यस्तायनांश-

संस्कृत: । इत्यर्थसिद्धम् । पूर्वं तत्संस्कृतग्रहात् क्रान्ति: साध्येत्यर्थस्य उक्ते: ।

अत्रोपपत्ति:। एकदिशि क्रान्त्यक्षयोगान्नतं दक्षिण मतोऽक्षोनं क्रान्तिर्दक्षिणा । भिन्नदिशि क्रान्त्यूनाक्षो नतं दक्षिणमनेन अक्षोहीन: क्रान्तिरुत्तरा । अक्षोनक्रान्तिर्नतं तु उत्तरमतोऽक्षयुतं क्रान्तिरुत्तरा । अस्या ज्या क्रान्तिज्या। परमक्रान्तिज्यया त्रिज्या-भुज: स्यात् तदानया केतीष्टा सायनार्कभुजज्या तद्धनु: सायनार्कभुज: । भुजस्य चतुर्षु पदेषु तुल्यत्वात् प्रथमपदे मेषादित्रये सूर्यस्यैव भुजत्वाद्भुज एव सूर्य: । कर्कादित्रये द्वितीयपदे षड्भादूनस्य अर्कस्य भुजत्वात् भुजोनषड्भमर्क: । एवं तृतीयपदे तुलादित्रये षड्भेन हीनार्कस्य भुजत्वात् षड्युतो भुजोऽर्क: । चतुर्थपदे मकरादित्रये सूर्योनभगणस्य भुजत्वात् भुजोनभगणोऽर्क इति सर्वं वैपरीत्यात् सुगमतरम् ।। १७–१९ ।।

स्वदेशीय अक्षांश और नतांश यदि एक दिशा के हो तो अन्तर, यदि भिन्न दिशा के हो तो योग करने से मध्याह्नकाल में सूर्य की क्रान्ति होती है । क्रान्ति-ज्या को त्रिज्या से गुणाकर परमक्रान्तिज्या से भाग देने से जो लब्धि प्राप्त हो उसका चाप मेषादि तीन राशियों में सायन सूर्य होता है । कर्कादि तीन राशियों में लब्धि को छ: राशि से घटाने से, तुलादि तीन राशियों में छ: राशि में जोड़ने से तथा मकरादि तीन राशियों में द्वादश से घटाने पर शेष मध्याह्न कालिक स्पष्ट सायन सूर्य होता है ।। १७–१८ ।।

गणितागत स्फुट सूर्य से मन्दफल का साधन कर उस का स्पष्ट सूर्य में विलोम संस्कार करें पुन: संस्कृत सूर्य से मन्दफल साधन कर स्पष्ट सूर्य में विलोम संस्कार करें । इस प्रकार असकृत् (बार–बार) संस्कार करने से अहर्गणोत्पन्न मध्यम सूर्य होगा ।। १९ ।।

उपपत्ति:—मध्याह्ने खमध्याद् रविविम्बावधि याम्योत्तरे नतांशा: भवन्ति । एवमेव याम्ये खमध्यान्निरक्षखमध्यं यावदक्षांशा: । अतो दिक्साम्ये अनयोरन्तरेण दिग्भेदे च योगेन क्रान्त्यंशा भवन्ति । अतोनुपाते:—परमक्रान्तिज्यायां त्रिज्या तदा इष्टक्रान्तिज्यायां किमिति $\frac{\text{त्रिज्या} \times \text{इ० क्रांज्या}}{\text{प० क्रांज्या}} = \text{इष्टभुजज्या}$

अस्याश्चापं भुज: । प्रथम पदे भुज एव सूर्य: अत चापांशा = सायनसूर्य: ।

मध्यमार्कात् साधित मन्दफलेन संस्कृतो मध्यरवि: स्फुटो भवति । अतो मन्द-फलस्य विपरीत संस्कारेण मध्यमरविरिति। स्पष्टार्कात् साधितं मन्दफलं वास्तविकं न भवति अत: असकृत कर्मण: मध्यम रवे: साधनं भवति ।। २०,२१ ।। **उपपन्नम्** ।

मध्य नतांशात्छायाछायाकर्णयोरानयनम्

तन्मान्दमसकृद्वामं फलं मध्यो दिवाकर: ।
स्वाक्षार्कापक्रमयुतिर्दिक्साम्येऽन्तरमन्यथा ।। २० ।।

शेषं नतांशाः सूर्यस्य तद्बाहुज्या च कोटिजा ।
शङ्कुमानाङ्गुलाभ्यस्ते भुजत्रिज्ये यथाक्रमम् ।। २१ ।।

अथ आगतस्फुटसूर्यस्य करणागतस्फुटतुल्यत्वज्ञानम् आगतस्फुटसूर्यान्मिध्यमस्य करणागतमध्यमार्कतुल्यत्वेन विशेषं वक्तुं श्लोकार्द्धेनाह । तस्मात् आगतस्फुटसूर्यान्मान्दं फलं मन्दफलसकृदनेकवारं वामं व्यस्तं संस्कृतं स्फुटसूर्येऽहर्गणानीतः स्फुटसूर्यः स्यात् । अयमर्थः । स्फुटसूर्यं मध्यमं प्रकल्प्य पूर्वमन्दोच्चात् प्रागुक्तरीत्या मन्दफलं धनमृणमानीय स्फुटसूर्य ऋणं धनं कार्यं मध्यमसूर्यः । अस्मादपि मन्दफलं स्पष्टसूर्ये व्यस्तं संस्कृतं मध्यमोऽस्मादपि मन्दफलं स्पष्टे व्यस्तं मध्यमार्क इति यावत् अविशेषस्तावदसकृत् साध्योऽर्को मध्योऽहर्गणानीतो भवतीति । तथा च मध्यमार्कात् स्फुटार्क साधन एकवारं मन्दफलसंस्कारः स्फुटार्कान्मिध्यार्कसाधने तु अनेकबारं मन्दफलव्यस्तसंस्कारः इति विशेषोऽभिहितः ।

अत्रोपपत्तिः । मध्यमसूर्यादानीतमन्दफलेन संस्कृतो मध्यः स्फुटोऽर्को भवति। अयं वा तेनैव मन्दफलेन व्यस्तं संस्कृतो मध्यो भवति । अत्र स्फुटार्कात् मध्यार्कसाधने मध्यमज्ञानासम्भवात् तदानीतमन्दफलज्ञानमशक्यमतः स्फुटसूर्यं मध्यम प्रकल्प्यानीतमन्दफलेन अभिमतासन्नेन स्फुटोऽर्को व्यस्तं संस्कृतो मध्यमासन्नः । अस्मात् अपि मन्दफलमभिमतासन्नमपि पूर्वस्मात् सूक्ष्ममिति यावत् अविशेषे मध्यार्कसाधितं मन्दफलं भवतीति निरवद्यं सर्वमुक्तम् ।

अथ मध्याह्ने छायाकर्णयोः आनयनं विवक्षुः प्रथमं तात्कालिकनतांशज्ञानं कथयन् तद्भुजकोटिज्ये कार्ये इत्याह। दिक्साम्य एकदिक्त्वे स्वदेशाक्षांश मध्याह्न कालिकसूर्यक्रान्त्यंशयोर्योगः। अन्यथा अत उक्तात् एकदिक्त्वात् वैपरीत्ये भिन्नदिक्त्वे इत्यर्थः । अक्षांशक्रान्त्यंशयोः अन्तरं कार्यं शेषं संस्कारोत्पन्नं सूर्यस्य मध्याह्ने नतांशास्तेषां नतांशानां भुजरूपाणां ज्या कोटिजा तदंशा नवतिशुद्धाः कोटिस्तत उत्पन्ना ज्या चः समुच्चये साध्या ।

अत्रोपपत्तिः । याम्योत्तरवृत्ते सूर्यस्य मध्याह्ने खस्वस्तिकादनन्तरं नतांशा विषुवद्वृत्तपर्यन्तमक्षांशाः। विषुवद्वृत्तसूर्ययोः अन्तरं क्रान्त्यंशाः । अतो दक्षिणक्रान्तौ क्रान्त्यक्षयोगो नतांशा उत्तरक्रान्तौ क्रान्त्यूनाक्षोऽक्षोनक्रान्तिः वा दक्षिणोत्तरनतांशास्तेषां ज्या दृग्ज्या भुजस्तत्कोटिज्या महाशङ्कुः कोटिस्त्रिज्या कर्ण इति छायाक्षेत्रे तदंशानां भुजत्वात् ।। २० ।।

अथ छायाकर्णयोः आनयनमाह । भुजत्रिज्ये नतांशज्यात्रिज्ये इत्यर्थः । शङ्कोः प्रमाणांगुलानि द्वादश तैः गुणिते कार्ये । उभयत्र कोटिज्यया नतांशोननवत्यंशानां ज्ययेत्यर्थः भक्त्वा लब्धे द्वे यथाक्रमं भुजज्या त्रिज्यास्थानीय फलक्रमेण मध्याह्ने छायातत्कर्णौ भवतः । अत्रोपपत्तिः—द्वादशांगुलशङ्कुः कोटिरिष्टच्छायाभुजस्तत्कृत्योर्योगपदं कर्ण इति छायाकर्णः कर्ण इति छायाक्षेत्रे। महाशङ्कु-

कोटौ दृग्ज्यात्रिज्ये भुजकर्णौ तदा द्वादशांगुलशङ्कुकोटौ कावित्यनुपातेन मध्याह्न काले छायातत्कर्णौ भवत: । साधकयो: तात्कालिकत्वात् इत्युपपन्नम् ।। २१ ।।

अक्षांश और सूर्य के क्रान्त्यंशों की एक दिशा होने पर योग एवं भिन्न दिशा होने पर अन्तर करने से सूर्य का मध्याह्नकालिक नतांश होता हैं । नतांशों को ९० में घटाने से उन्नतांश होते हैं। नतांशों की ज्या (भुजज्या) को दृग्ज्या कहते हैं और उन्नतांशों की ज्या को कोटिज्या या महाशङ्कु कहते हैं। भुजज्या को १२ से गुणा कर कोटिज्या से भाग देने पर मध्याह्नकालिक छाया तथा द्वादश गुणित त्रिज्या में कोटिज्या का भाग देने से लब्धि मध्याह्नकालिक छाया कर्ण होता है ।। २०—२१ ।।

उपपत्ति:—खमध्याद् रविविम्बावधि याम्योत्तरे नतांशा:, स्वखमध्यान्निरक्षख-मध्यं यावदक्षांशा:। नाडीवृत्ताद्रविविम्बं यावत् क्रान्त्यंशा: अतएव अक्षांशक्रान्त्यंशयो: दिक्साम्ये अन्तरेण दिग्भेदे योगेन मध्याह्ने नतांशा: भवन्ति । नतांशानां ज्या दृग्ज्या, नतांशकेटिज्या च महाशङ्कुरिति । अतोनुपात: —

महाशङ्कौ दृग्ज्या तदा १२ भि: किमिति—

$$\frac{\text{दृग्ज्या} \times १२}{\text{महाशङ्कु}} = \text{छाया ।}$$

एवमेव—महाशङ्कौ त्रिज्या लभ्यते तथा १२ भि: किमिति जातम्—

$$\frac{\text{त्रिज्या} \times १२}{\text{महाशङ्कु}} = \text{छायाकर्ण:}$$

उपपन्नम् ।। २१ ।।

अग्राया: कर्णवृत्ताग्रायाश्च साधनम्

कोटिज्यया विभज्याप्ते छायाकर्णाविहर्दले ।
क्रान्तिज्या विषुवत्कर्णगुणाऽऽप्ता शङ्कुजीवया ।। २२ ।।
अर्काग्रा स्वेष्टकर्णाघ्नी मध्यकर्णोद्धृता स्वका ।
विषुवद्भायुताऽर्काग्रा याम्ये स्यादुत्तरो भुज: ।। २३ ।।
विषुवत्यां विशोध्योदग्गोले स्याद्बाहुरुत्तर: ।
विपर्ययाद्भुजो याम्यो भवेत् प्राच्यपरान्तरे ।। २४ ।।
माध्याह्निको भुजो नित्यं छायामाध्याह्निकी स्मृता ।

अथ भुजसाधनं विवक्षु: प्रथममग्रां कर्णाग्र आनयति । सूर्यक्रान्तिज्या अक्षकर्णगुणिता शङ्कुजीवया शङ्कुर्द्वादशांगुल: तद्रूपा ज्या तया इत्यर्थ:। द्वादश-भिरिति फलितम् । भक्ता फलं सूर्यस्य अग्रा । उपलक्षणाद्ग्रहस्यापि । इयमग्रा स्वाभिमतकालिकच्छायाकर्णेन गुणिता मध्यकर्णोद्धृता कर्णस्य व्यासस्य मध्यमर्द्ध-मिति मध्यकर्णो व्यासार्द्धं त्रिज्या तया इत्यर्थ: । पूर्वापर प्रथमचरमजघन्य-

समानमध्यमध्यमवीराश्च इति सूत्रेण मध्यपदस्य पूर्वनिपातः । भक्ता फलं स्वका स्वकर्णाग्रा स्यात् ।

अत्रोपपत्तिः । क्रान्तिज्योन्मण्डले कोटिरग्रा क्षितिजे कर्णः कुज्याभुज इत्यक्षक्षेत्रे द्वादशकोटौ अक्षकर्णः। कर्णस्तदा क्रान्तिज्याकोटौ कः कर्ण इत्यनुपातेन अग्रा । त्रिज्यावृत्त इयं कर्णवृत्ते केत्यनुपातेन कर्णवृत्ताग्रेत्युपपन्नम् ।। २२ ।।

अथ भुजानयनं श्लोकाभ्यामाह । अर्काग्रा सूर्यस्य अभीष्ट कालिक-कर्णाग्रा याम्ये दक्षिणगोले विषुवद्भायुताक्षच्छायया युक्तोत्तरदिक्को भुजः स्यात्। उत्तरगोले विषुवत्यां पलभायां कर्णाग्रां विशोध्य न्यूनीकृत्य शेषमुत्तरदिक्को भुजः स्यात् । ननु कर्णाग्रा पलभायां यदा न शुद्ध्यति तदा कथं भुजः साध्य इत्यत आह । विपर्ययादिति । अक्षभां कर्णाग्रायां विशोध्य शेषं दक्षिणो भुजः स्यात् । ननु भुजस्य याम्यत्वमुत्तरत्वं वा कस्मात् इत्यत आह । प्राच्यपरान्तर इति पूर्वापरसूत्रात् अन्तरालप्रदेशे याम्य उत्तरो वा भुजः स्यात् इत्यर्थः । ननु तथापि द्वितीयावधेरनुक्तत्वात् अन्तरस्य अप्रसिद्धेः पूर्वापरसूत्रात् कस्य अन्तरं भुज इत्याशङ्काया उत्तरं मध्याह्नच्छायास्वरूपकथनच्छलेन आह । माध्याह्निक इति । मध्याह्नकालिको भुजः सदा माध्याह्निकी मध्याह्नकालिकी छायोक्ता । तथा च छायाग्र प्राच्यपरसूत्रात् याम्यमुत्तरं वा यदन्तरेण स भुज इति व्यक्तीकृतम् ।

अत्रोपपत्तिः — शङ्कुमूलं प्राच्यपरसूत्रात् याम्यमुत्तरं वा यदन्तरेण स याम्योत्तरो भुजो ग्रहस्य। शङ्कुस्तु ग्रहादवलम्बसूत्रं क्षितिजसमसूत्रावधि तत्र अयं भुजः शंकुतलाग्रयोः संस्कारजः। शंकुतलं तु स्वाहोरात्रवृत्तस्थितोदयास्त सूत्रात् शङ्कुमूलं यदन्तरेण तद्दक्षिणम्। अग्रा तु पूर्वापरसूत्रात् उदयास्तसूत्रावध्यन्तरमुत्तर दक्षिणगोलक्रमेण उत्तरदक्षिणा। तत्र ग्रहापरदिशि षड्भान्तरेऽस्माद्व्यस्तमिति शङ्कुत-लमुत्तरमग्रापि व्यस्तदिक्केति तत्संस्कारो भुजो गोले प्रत्यक्षः । स महाशङ्कोः इति महाशङ्कोरयं तदा द्वादशांगुलशङ्कोः क इत्यनुपातेन भुजः पूर्वापरसूत्राच्छायाग्रावधि । तत्र शङ्कुतलाग्रे द्वादशांगुलशङ्कोः साधिते तत्संस्कारेण भुजः स एव । तत्रापि अग्रा पूर्वं साधिता शङ्कुतलं तु द्वादशाङ्गुलशङ्कोः पलभा महाशङ्कुः कोटिः शङ्कुतलं भुजो हृतिः कर्ण इत्यक्षक्षेत्रे द्वादशकोटौ पलभाभुजस्तदा महाशङ्कुकोटौ को भुज इत्यनुपातेन शङ्कुतलमानीय महाशङ्कोरियं द्वादशांगुलशङ्कोः किमित्यनु-पातेन गुणहरयोस्तुल्यत्वात् नाशेन पलभाया एव अवशिष्टत्वात् । सा तु उत्तरा दक्षिणगोलेऽग्राया उत्तरत्वात् एकदिक्त्वेन पलभाग्रयोर्योग उत्तरो भुजः । उत्तर-गोलेऽग्राया दक्षिणत्वेन भिन्न दिक्त्वात् पलभाग्रयोरन्तरं भुजस्तत्र पलभायाः शेषमुत्तरो भुजोऽग्रायाः शेष दक्षिणो भुजः । मध्याह्ने छायाया भुजरूपत्वात् मध्याह्नकालिको भुजो मध्याह्नच्छायेति सर्वं युक्तम् ।। २४ ।।

क्रान्तिज्या को पलकर्ण से गुणाकर द्वादश का भाग देने से अर्काग्रा होती है। इस अर्काग्रा को इष्टकालिक छायाकर्ण से गुणाकर मध्यकर्ण अर्थात् त्रिज्या से भाग देने पर स्वकर्णाग्रा होती है ।। २२ ।।

दक्षिणगोल में कर्णाग्रा और पलभा का योग करने से तथा उत्तर गोल में पलभा में कर्णाग्रा को घटाने से शेष उत्तर भुज होता है । यदि पलभा में कर्णाग्रा न घटे तो कर्णाग्रा में पलभा को घटाने से शेष दक्षिण भुज होता है । पूर्वापरसूत्र और छायाग्र के बीच में भुज होता है । मध्याह्नकालिक भुज ही सदैव मध्याह्न कालिक छाया होती है ।। २३—२४ ।।

उपपत्ति:—द्वादशकोटि:, पलभा भुज:, पलकर्ण: कर्ण: अपरश्च क्रान्तिज्या कोटि: कुज्या भुज:, अग्रा कर्ण: इति अक्षक्षेत्रयो: साजात्यादनुपात:—

यदि १२ कोटौ पलकर्ण: लभ्यते तदा क्रान्तिज्या कोटौ किमिति—

$$\frac{\text{पलकर्ण} \times \text{क्रान्तिज्या}}{१२} = \text{अग्रा ।}$$

(इयमग्रा त्रिज्यावृत्ते स्वोदयास्तपूर्वापर सूत्रयोरन्तर्गता दक्षिणोत्तरा भवति । इष्टच्छाया कर्णवृत्ते परिणामनेन कर्णवृत्ताग्रा भवति)

पुनरनुपात:—मध्यकर्णे यदि अग्रा भवति तदा छायाकर्णेन किमिति जातम्

$$\frac{\text{अग्रा} \times \text{छायाकर्ण}}{\text{मध्यकर्ण}} = \frac{\text{अग्रा} \times \text{छायाकर्ण}}{\text{त्रिज्या}} = \text{कर्णवृत्ताग्रा ।}$$

उत्थापनेन जातम्—

$$\frac{\text{पलकर्ण} \times \text{क्रान्तिज्या} \times \text{छायाकर्ण:}}{१२ \times \text{मध्यमकर्ण:}} = \text{स्वकर्णाग्रा ।}$$

मध्याह्नकाले याम्योत्तर वृत्ते रवे: स्थितत्वात् तस्य छायाग्रमपि याम्योत्तर रेखागतमेव भवति । अस्यां स्थितौ छायाग्रपूर्वापरसूत्रान्तर रूपोभुजश्छाया तुल्य एव भवतीति संगतमेव । उपपन्नम् ।। २२—२४$\frac{१}{२}$ ।।

समवृत्तस्यार्कस्य छायाद्यानयनम्

लम्बाक्षजीवे विषुवच्छायाद्वादशसङ्गुणे ।। २५ ।।
क्रान्तिज्याप्ते तु तौ कर्णौ सममण्डलगे रवौ ।
सौम्याक्षोना यदा क्रान्ति: स्यात् तदा द्युदलश्रव: ।। २६ ।।
विषुवच्छाययाऽभ्यस्त: कर्णो मध्याग्रयोद्धृत: ।

अथ याम्योत्तर वृत्तस्थच्छायाकर्णमुक्त्वा पूर्वापरवृत्तस्थच्छायाकर्णं प्रकारद्वयेन आह । लम्बज्याक्षज्ये क्रमेणाक्षभा द्वादशाभ्यां गुणिते उभयत्र क्रान्तिज्यया भक्ते तुकारात् फले समवृत्तस्थेऽर्के तौ दृक्योग्यच्छायासम्बद्धौ कर्णौ भवत: उभयत्र छायाकर्ण: स्यात् ।

अत्रोपपत्ति: । स्वमस्तकोपरि पूर्वापरानुकारेण यद्वृत्तं तत्सममण्डलसंज्ञम् ।

तत्रस्थस्य छायाकर्णानयनम् । पलभाभुजेऽक्षकर्णः कर्णस्तदा क्रान्तिज्याभुजे कः कर्ण इति समशंकुः क्रान्तिज्याभुजे समशंकुकुज्योनतद्धृत्योः क्रमेण कर्णकोटित्वात्। अस्मात् शङ्कुमानांगुलाभ्यस्ते इत्यादिना त्रिज्या द्वादशगुणिता अनेन भक्ता तत्र ।

'छेदं लवं च परिवर्त्य हरस्य शेषः कार्योऽत्र भागहरणे गुणनाविधिश्च ।'

इत्युक्तेः । पलभयापि गुण्या क्रान्तिज्याक्षकर्णाभ्यां भक्ता । तत्र त्रिज्या द्वादशगुणिताक्षकर्णभक्ता लम्बज्यैव सिद्धा अतो लम्बज्या पलभागुणिता क्रान्तिज्याभक्ता फलं समवृत्तगतच्छायाकर्णः । अथ अत्रैव पलभाभुजे द्वादशकोटिरक्षज्या भुजे का कोटिरिति लम्बज्याग्रहणे पलभयोस्तुल्यत्वात् नाशादक्षज्या द्वादशगुणा क्रान्तिज्या भक्ता छायाकर्णः सममण्डलगतः । क्रान्तिज्यायाः सदा अयं कर्णः सिद्धयेन्न हि सर्वदा समवृत्तगतो ग्रह इति समवृत्तगतग्रहस्य एव कर्णः साध्यो न अन्यदेति सूचनार्थं सममण्डलगे रवौ इत्युक्तम् ।। २५ ।।

ननु ग्रहाधिष्ठिताहोरात्रपूर्वापरवृत्तसम्पातात् अवलम्बरूप समशङ्कोर्गोले प्रत्यक्षसिद्धस्य साधनार्थं समवृत्तस्थत्वाभावेऽपि छायाकर्णः साध्यः । सममण्डलगे रवौ इत्युक्तिस्तु स्वाधिष्ठिताहोरात्रवृत्तपरा नु तु अन्यदा न साध्योऽन्यथालक्ष्यत्वेन प्रकारस्य अतिप्रसंगापत्तेः । न हि प्रकारे तद्व्यावर्त्तकं विशेषणं प्रसिद्धं येन न अतिप्रसंगः । परन्तु यदा सममण्डलेऽक्षांशाधिकक्रान्त्या ग्रहाधिष्ठितद्युरात्रवृत्तानाम सम्बन्धस्तदा गोले समशङ्कोः, अदर्शनात् तत्र कथं तत्साधनमनिवारितमित्यतः सममण्डलगे रवावित्यस्य पूर्वोक्त एवार्थ इत्यभिप्रायं सममण्डलकर्णानयन प्रकारान्तर कथनच्छलेन आह । यदोत्तरा क्रान्तिरक्षादल्पा स्यात् तदा द्युदलश्रवः समवृत्तस्थार्कक्रान्तिसाधितमध्याह्नकर्णः । न तु मध्याह्नकालिकः । अक्षभया गुणितो मध्याग्रया गृहीतमध्याह्नकर्णाग्रया भक्तः फलं सममण्डलगत ग्रहविम्बस्य छायाकर्णः स्यात्। अत्र सौम्येत्यनेन दक्षिणक्रान्तौ तदसाधनं सममण्डलगत ग्रहविम्बस्य अदर्शनादिति स्फुटमुक्तम् । अन्यथाक्षाल्पक्रान्तौ दक्षिणगोले समशङ्कोः, प्रत्यक्षत्वात् तन्निवारणानुपपत्तेः ।

अत्रोपपत्तिः । सम मण्डलप्रवेशकालिकमध्याह्नच्छायाकर्णात् अवस्तुभूतात् कर्णेन द्वादशांगुलशङ्कुस्तदा त्रिज्याकर्णेन क इति मध्यशङ्कुस्तात्कालिकः। द्वादशकोटौ अक्षभाभुजस्तदा महाशङ्कुङ्कोटौ क इति शंकुतलम्। द्वादशयोर्नाशात् पलभात्रिज्याघातो मध्यकर्णभक्त इति । अनेन भुजेन मध्यशङ्कुस्तदाग्राभुजेन क इति समशंकुर्द्वादशाग्रामध्यकर्णघातो मध्यकर्ण पलभाभ्यां भक्तोऽग्राभुजे समशंकुतद्धृत्योः कोटिकर्णत्वात् । अस्मात् पूर्व प्रकारेण छायाकर्णानयने द्वादशयोर्नाशात् मध्यकर्णपलभात्रिज्याघातोऽग्रामध्यकर्णाभ्यां भक्त इति तुल्ययोः । मध्यकर्णमितगुणहरयोः । नाशकरणेन सिद्धम् । स्वतन्त्रेच्छस्य नियोक्तुमशक्यत्वात् । तत्रापि भाज्यहरौ त्रिज्ययापवर्त्य हरस्थाने मध्यकर्णगुणिताग्रा त्रिज्याभक्तेति मध्यकर्णाग्रा सिद्धातो मध्याग्रयोद्वृत्त इत्युक्तम्। भाज्यस्थाने तु मध्यकर्णपलभाघात इति दक्षिण-

गोले ग्रहादर्शनात् न साधित: । उत्तरगोलेऽपि क्रान्ति: अक्षाधिका तदा सममण्डल प्रवेशासम्भवात् न साधित:, सममण्डलावध्यक्षांशत्वात्। अल्पक्रान्तौ तत्सम्भवात् साधित: । न हि असिद्धं गोले गणितसाध्यं मानाभावात् इत्युपपन्नं सौम्येत्यादि । भास्कराचार्यैस्तु ।

मार्त्तण्ड: सममण्डलं प्रविशति स्वल्पेऽपमे स्वात् पलात्
दृश्यो ह्युत्तरगोल एव स विशन् साध्या तदैवास्य भा ।
अप्राप्तेऽपि समाख्य मण्डलमिने य: शङ्कुरुत्पद्यते
नूनं सोऽपि परानुपातविधये नैवं क्वचिद्दुष्यति ।।

इत्यनेन तत्रापि साधित: ।। २६$\frac{1}{2}$ ।।

लम्बज्या और अक्षज्या को क्रम से पलभा और द्वादश से गुणाकर क्रान्तिज्या का भाग देने से प्राप्त लब्धियाँ सममण्डल छायाकर्ण होती हैं ।। २५ ।।

जब सूर्य की उत्तरा क्रांति अक्षांशों से अल्प होती है तभी सममण्डलगत सूर्य का छायाकर्ण होता है क्योंकि उसी स्थिति में सूर्य सममण्डल में प्रवेश करेगा। दक्षिणक्रांति होने पर अथवा अक्षांशों से क्रांति अधिक होने पर स्वक्षितिज के उपर सूर्य का सममण्डल में प्रवेश सम्भव नहीं होता । प्रकारान्तर से सममण्डल कर्ण का साधन — मध्याह्नकर्ण को पलभा से गुणाकर मध्याग्रा का भाग देने से सममण्डल कर्ण होता है ।। २६$\frac{1}{2}$ ।।

उपपत्ति:—सममण्डलगते रवौ शङ्कोश्छाया भुज: तत्र कर्ण: सममण्डल छाया-कर्णो भवति । तस्य साधनार्थं लम्बज्या-अक्षज्या-त्रिज्या इत्येकं कुज्योनतद् धृति क्रान्तिज्या-समशङ्कु इति द्वितीयमक्षक्षेत्रम् । अनयो: साज्यात्यादनुपात:—

पलाभायां अक्षकर्णस्तदा क्रान्तिज्यायां किमिति ?

$$\frac{\text{अक्षकर्ण} \times \text{क्रान्तिज्या}}{\text{पलभा}} = \text{समशङ्कु:}$$

अत्र समशङ्कु:, दृग्ज्या, त्रिज्या इत्येकं द्वादश छाया—छायाकर्ण: इति द्वितीय मक्षक्षेत्रं गृह्यते । अनयो: साजात्यादनुपात:— यदि समशङ्कुकोटौ त्रिज्या कर्णस्तदा १२ कोटौ किमिति—

$$\frac{\text{त्रिज्या} \times १२}{\text{समशङ्कु}} = \text{छायाकर्ण:}$$

एवमेव अक्षज्यायां त्रिज्या तदा क्रान्तिज्यायां किमिति—

$$\frac{\text{त्रिज्या} \times \text{क्रान्तिज्या}}{\text{अक्षज्या}} = \text{समशङ्कु:}$$

अत्र $$\frac{\text{त्रिज्या} \times १२}{\text{अक्षकर्ण:}} = \text{लम्बज्या}$$

तथा च $\frac{\text{पलभा} \times \text{त्रिज्या}}{\text{अक्षकर्ण}}$ = अक्षज्या

अतः शङ्कुमानांगुलाभ्यस्ते इत्यादिना

$\frac{\text{पलभा} \times \text{त्रिज्या} \times १२}{\text{अक्षकर्ण} \times \text{क्रान्तिज्या}}$ = सममण्डलकर्णः

उपपन्नः ॥ २५,२६ ॥

कर्णाग्रा साधनम्

स्वक्रान्तिज्या त्रिजीवाघ्नी लम्बज्याप्ताग्रमौर्विका ॥ २७ ॥

अथ स्वाभिमतकर्णेन स्वस्वकाले भुजार्थं कर्णवृत्ताग्रा साध्येति सूचनार्थं कर्णाग्रामुक्तप्रकारेण पुनरपि मध्यकर्ण इति प्रागुक्तस्य स्फुटीकरणार्थं च आह । स्वाभिमतकालिक क्रान्तिज्या त्रिज्यया गुणिता लम्बज्यया भक्ता फलमग्रा ज्यारूपा। लम्बज्याकोटौ त्रिज्याकर्णः क्रान्तिज्याकोटौ कः कर्ण इति अग्रेत्युपपत्तिः । उत्तरार्द्धं पुनरुक्तं व्याख्यातप्रायम् ।

यदि तु पूर्वोक्त कर्णवृत्ताग्रानयनश्लोके शङ्कुजीवया इत्यस्य शङ्कोः कोटिरूपत्वात् पूर्वसाधितनतांश भुजकोटिज्यया इत्यर्थो मध्यकर्ण इत्यस्य च तात्कालिकमध्याह्नच्छायायाः कर्णस्तदा न पुनरुक्तम् । परन्तु अर्काग्रेत्यस्य तात्कालिक मध्याह्नकालिक कर्णाग्रार्थः स्वकेत्यस्य च स्वाभीष्टकालिक कर्णाग्रार्थो बोध्यः एतदुपपत्तिस्तु द्वादशकोटौ अक्षकर्णः कर्णस्तदा क्रान्तिज्या कोटौ कः कर्ण इति स्वकालिकाग्रा । त्रिज्यावृत्तं इयं तदा तात्कालिक मध्याह्न कालिकच्छायाकर्णेन नतांशकोटिज्याभक्त द्वादशत्रिज्याघातात्मकेन केति द्वादशत्रिज्याघातयोः गुणहरत्वेन तुल्ययोः नाशात् अक्षकर्णगुणितक्रान्तिज्या तात्कालिकमध्याह्नतांशकोटिज्यया भक्तेति । तात्कालिक मध्याह्नच्छायाकर्णेन इयं कर्णाग्रा तदा स्वाभीष्टकालिकच्छायाकर्णेन केति स्वकालिका कर्णाग्रेत्युपपन्ना। सूर्याधिष्ठिताहोरात्रवृत्तयाम्योत्तरवृत्तोर्द्धसम्पातः तात्कालिकमध्याह्नं परानुपातार्थं बोध्यम् ॥ २७ ॥

इष्टक्रान्तिज्या को त्रिज्या से गुणाकर लम्बज्या का भाग देने से अग्राज्या होती है ॥ २७ ॥

उपपत्तिः—अत्र क्रान्तिज्या कोटिः, कुज्या भुजः अग्रा कर्णः इत्येकं क्षेत्रम्, लम्बज्या कोटिः अक्षज्या भुजः त्रिज्या कर्णः इत्यपरं क्षेत्रम् अनयोः साजात्यादनुपातः—

यदि लम्बज्या कोटौ त्रिज्याकर्णः लभ्यते तदा क्रान्तिज्या कोटौ किमिति

जाता $\frac{\text{त्रिज्या} \times \text{क्रान्तिज्या}}{\text{लम्बज्या}}$ = अग्रा

इयं त्रिज्यागोलीया अतोऽनुपातेन—

त्रिज्यया इयमग्रा तदा स्वच्छायाकर्णेन किमिति——

$$\frac{\text{अग्रा} \times \text{छायाकर्णः}}{\text{त्रिज्या}} = \text{स्वच्छाया कर्णवृत्ताग्रा ।}$$

उत्थापनेन——

$$\frac{\text{त्रिज्या} \times \text{क्रान्तिज्या} \times \text{छायाकर्णः}}{\text{त्रिज्या} \times \text{लम्बज्या}} = \text{स्वच्छाया कर्णवृत्ताग्रा ।}$$

अनेन सूत्रमुपपन्नम् ॥ २७ ॥

अग्रावशात् कोणशङ्कुमाह

स्वेष्टकर्णहता भक्ता त्रिज्ययाग्राङ्गुलादिका ।
त्रिज्यावर्गार्द्धतोऽग्रज्यावर्गोनाद्द्वादशाहतात् ॥ २८ ॥
पुनर्द्वादशनिघ्नाच्च लभ्यते यत् फलं बुधैः ।
शङ्कुवर्गार्द्धसंयुक्तविषुवद्वर्गभाजितात् ॥ २९ ॥
तदेव करणीनाम तां पृथक् स्थापयेद्बुधः ।
अर्कघ्नी विषुवच्छायाग्रज्यया गुणिता तथा ॥ ३० ॥
भक्ता फलाख्यं तद्वर्गसंयुक्तकरणीपदम् ।
फलेन हीनसंयुक्तं दक्षिणोत्तरगोलयोः ॥ ३१ ॥
याम्ययोर्विदिशोः शङ्कुरेवं याम्योत्तरे रवौ ।
परिभ्रमति शङ्कोस्तु शङ्कुरुत्तरयोस्तु सः ॥ ३२ ॥

अथ कोणच्छायाकर्ण साधनार्थं कोणशङ्कुदृग्ज्ये श्लोकपञ्चकेन आह । पूर्वप्रकारानीतैः तात्कालिकाग्रज्याया न तु कर्णाग्रायाः पूर्वं कर्णस्यैव असिद्धेः । वर्गेण हीनात् त्रिज्यावर्गार्द्धात् द्वादशगुणात् पुनर्द्वितीयवारं द्वादशगुणात् । चः समुच्चये । तेन द्वादशगुणितस्य द्विधा स्थापननिरासात् चतुश्चत्वारिंशदधिक शत-गुणितात् इत्यर्थः। पृथक् गुणकोक्तिस्तु गुणनसुखार्थम्। शङ्कोर्द्वादशांगुलात्मकस्य वर्गार्द्धेन द्विसप्तत्या युक्तेन पलभावर्गेण भाजिताद्बुधैः, गणितकर्तृभिः यत्संख्या-मितं फलं प्राप्यते तत्संख्यामितं करणीनाम संज्ञया करणी । तां करणीं बुधो गणकः पृथगेकत्र स्थाने स्थापयेत् । ततो द्वादशगुणिता पलभाग्रज्यया पूर्वगृहीतया गुणिता तथा द्विसप्ततियुतेन पलभावर्गेण भक्ता लब्धं फलसंज्ञं तस्य फलस्य वर्गेण युतायाः करण्या मूलं दक्षिणोत्तरगोलयोः क्रमेण फलेनै उनयुतम्। एवमुक्त-प्रकारेण सिद्धः शङ्कुः शङ्कोर्गणितकर्त्तुः सकाशात् दक्षिणोत्तरे सूर्ये परिभ्रमति सति तुकारः क्रमार्थे क्रमेण याम्ययोः उत्तरयोः विदिशोः आग्नेयनैर्ऋत्योः ईशानी-वायव्योः कोणयोः इत्यर्थः। द्वतीयतुकारः पूर्वापरदिनै विभागक्रमार्थकत्वेन विदिशोः इति अत्रान्वेति तेन दिनपूर्वार्द्धे आग्नेयैशान्योः दक्षिणोत्तरक्रमेण दिनापरार्द्धे नैर्ऋत्य-वायव्योः दक्षिणोत्तरक्रमेण इति फलितार्थः । स कोणसंज्ञः शङ्कुः स्यात् । कोण

शङ्कुत्रिज्ययोः वर्गान्तरान्मूलं दृग्ज्योच्यते। अत्रोपपत्तिर्बीजैकवर्णमध्यमाहरणेन। तत्र—

यावत् तावत् कल्प्यामव्यक्तराशेः मानं तस्मिन् कुर्वतोद्दिष्टमेव ।
तुल्यौ पक्षौ साधनीयौ प्रयत्नात् त्यक्त्वा क्षिप्ता वापि संगुण्य भक्त्वा ॥

इत्युक्तेः समौ पक्षौ साध्यौ तदर्थं कोणशङ्कुमानम् । या १ द्वादशकोटौ पलभाभुजः शङ्कुकोटौ को भुज इति कोणशङ्कुतलम् या० प० $\frac{१}{१२}$ । अग्रया युतं दक्षिणगोले भुजः । या ० प ० १ अ० $\frac{१२}{१२}$ । उत्तरगोलेऽग्रयान्तरितं भुजस्तत्र समवृत्तात् उत्तरं शङ्कुतलोनाग्रा भुजः । या ० प ० १ अ ० $\frac{१२}{१२}$ । समवृत्तात् दक्षिणेऽग्रोनं शङ्कुतलं भुजः । या ० प ० १ अ ० $\frac{१२}{१२}$ । कोणस्य दक्षिणोत्तर पूर्वापरसूत्रमध्यत्वात् भुजतुल्यसमचतुरस्त्रे कर्णः खस्वस्तिकात् कोणस्थसूर्यनतांशानां या दृग्ज्येति भुजवर्गो द्विगुणो दृग्ज्यावर्गो दक्षिणगोले । याव ० प ० व १ या ० प ० अ ० २४ अव ० $\frac{१४४}{७२}$ । उत्तरगोले याव ० पव ० १ या ० प ० अ ० २४ अव ० $\frac{१४४}{७२}$ अयं कोणशङ्कु या १ वर्ग याव १ हीनत्रिज्यावर्गरूप दृग्ज्यावर्ग याव १ त्रिव १ सम इति पक्षौ समच्छेदीकृत्य छेदगमे पक्षयोः शोधनार्थं न्यासः ।

दक्षिणगोले	याव ० पव १ या ० प ० अ २४ अव १४४
	याव ७२ या ० त्रिव ७२ ।
उत्तरगोले	याव ० पव १ या ० प ० अ २४ अव १४४
	या ७२ या ० त्रिव ७२

अथ एकाव्यक्तं शोधयेदन्यपक्षाद्रूपाण्यन्यस्येतरस्माच्च पक्षात् । इत्युक्तेन अव्यक्तपक्षेऽव्यक्तवर्गस्थाने द्विसप्ततिपलभावर्गयोगो यावत् तावद्वर्गगुणो व्यक्तस्थाने पलभाग्राचतुर्विंशतिघातो यावत् तावद्गुणो दक्षिणगोले धनमुत्तरगोल ऋणं रूपपक्षे तु चतुश्चत्वारिंशदधिक शतगुणितेन अग्रावर्गेण हीनो द्विसप्ततिगुणस्त्रिज्यावर्गस्तत्र द्विसप्ततिगुणस्त्रिज्यावर्गश्चतुश्चत्वारिंशदधिकशतगुणितेन त्रिज्यावर्गार्द्धेन तुल्यत्वात् तुल्य गुणलाघवार्थं तथैव धृतः । तत्रापि एकदा एव गुणनार्थं त्रिज्यावर्गार्द्धमग्रावर्गेण हीनं चतुश्चत्वारिंशदधिक शतगुणमिति सिद्धम् । सार्द्धराशिज्याधिकाग्रायां तु त्रिज्यावर्गार्द्धेन हीनोऽग्रावर्गश्चतुश्चत्वारिंशदधिकशतगुणम् ऋणम् । अथ ।

अव्यक्तवर्गादि यदावशेषं पक्षौ तदेष्टेन निहत्य किञ्चित् ।
क्षेप्यं तयोर्येन पदप्रदः स्यात् अव्यक्तस्य पक्षोऽस्य पदेन भूयः ।
व्यक्तस्य पक्षस्य समक्रियैवम् अव्यक्तमानं खलु लभ्यते तत् ॥

इत्युक्तेः पक्षयोर्मूलार्थमव्यक्तवर्गांकेन अपवर्त्तः कार्यः । वर्गांकस्तु द्विसप्ततियुतः पलभावर्गस्तेन अपवर्त्तितेऽव्यक्तपक्षे प्रथमस्थाने यावत् तावद्वर्गः सिद्धः । द्वितीयस्थाने द्विमितगुणकस्य पृथक्करणादर्कघ्नी विषुवच्छायाग्रज्यया गुणिता तथा भक्ता फलाख्यमित्युक्त्या फलं द्विगुणं यावत् तावद्गुणं दक्षिणोत्तरगोल क्रमेण धन-

मृणम् ।रूपपक्षेऽपवर्त्तिते करण्याख्यं सार्द्धराशिज्यातोऽग्रायामूनाधिकायां धनमृणम्। ततोऽपि मूलार्थं पक्षयोरव्यक्ताकांर्द्धरूपफलस्य वर्गो योजितः । तत्र अव्यक्तपक्षे योजनपूर्वकमूलग्रहणे प्रथमस्थाने यावत् तावत् । द्वितीयस्थाने फलं दक्षिणोत्तर-गोलयोर्धनमृणम् । यथा। या १ फ १। या १ फ - १ । उत्तरगोलेऽव्यक्तस्यर्णत्वं वा । या - १ फ १ । उभयथा मध्याव्यक्तनाशसम्भवात् । रूपपक्षे तु मूलग्रहणे तद्वर्गसंयुक्त करणीपदमिति सार्द्धराशिज्यानधिकाग्रायामधिकायां तु करण्यूनस्य फल-वर्गस्य मूलम् । तथा च त्रिज्या वर्गार्द्धतोऽग्रज्यावर्गोनादित्यत्र सार्द्धराशिज्याधि-काग्रायामुक्तानुपपत्तौ अपि ॥

यत्र क्वचिच्छुद्धिविधौ यदेह शोध्यं न शुद्ध्येद्विपरीतशुद्ध्या ।
विधिस्तदा प्रोक्तवदेव किन्तु योगे वियोगः सुधिया विधेयः ॥

इति भास्करोक्तरीत्याग्रज्यावर्गोनादित्यत्र अग्रावर्गेण अग्रावर्गाद्वा हीनादित्यर्थ-द्वयेन क्रमेण न्यूनाधिकाग्रासम्बन्धेन वा न क्षतिरिति ध्येयम् । अथ पुनः सम-शोधनार्थं पक्षयोर्न्यासः ।

दक्षिणगोले { या ० फ १ | या ० प १ } करण्यूनफलवर्गपदस्य फलतो न्यूनत्वात् तत् पक्षयोरपिन्यासः { या ० फ १ | या ० प १ } अत्रैकाव्यक्तमित्यादिना ।

शेषाव्यक्तेनोद्धरेद्रूपशेषं व्यक्तं मानं जायतेऽव्यक्तराशेः ।

इत्यनेन च प्रथमस्थाने पदं फलेन हीनमित्युपपन्नम् । द्वितीयस्थाने पदेन हीनं फलमिति ऋणं कोणशङ्कुर्भगवतायं न उक्तः ऋणस्य स्थितिविपरीतत्वात् । न हि ऊर्ध्वगोले स्थिति विपरीतमधोगोलेऽदृश्यमपि दृश्यते येन तत्कथनमावश्यकम्। नापि अधोगोले दृश्यत्वात् तत्कथनापत्तिः । ऊर्ध्व गोलस्थस्य छायासाधकत्वेन साधनात् तत्र छायासम्भवादेव अप्रयोजकत्वात् । उत्तरगोले तु { या ० फ १ | या ० प १ } वा { या -१ फ १ | या ० प १ } प्रथम स्थाने फलेन युतं पदमुपपन्नम् । द्वितीयस्थाने फलेन ऊनं पदमिति ऋणत्वान्नोक्तः । छायानुपयुक्तत्वात् । करण्यूनफलवर्गपदस्य फलतो न्यूनत्वात् तत्पक्षयोरपि न्यासः { या ० फ १ | या ० प १ } वा { या ० फ १ | या ० प १ } अत्र प्रथमस्थाने पदेनयुक्तं फलं कोणशङ्कुरुपपन्नः। द्वितीयस्थाने पदेन हीनं फलं कोणशङ्कुरिति तद्द्वयमुपपन्नम् । ननु इदं तत्रोर्ध्वगोले दिनार्द्ध एव कोणशङ्कुद्वयं दृश्यत्वाद्-भगवता कथमुपेक्षितमिति चेत् न । तत्र त्रिज्या वर्गार्द्धत इत्यत्र व्यस्तशोधनात् फलेन हीनसंयुक्तं पदमित्यत्र अपि उत्तरगोले एव हीनसंयुक्तमित्यस्यावृत्या फलं पदेन हीन संयुक्तमित्यर्थ सिद्धेर्भगवता तद्द्वयस्यानुपेक्षितत्वात् ।समवृत्तात् दक्षिण-स्थत्वे कोणशङ्कुर्दिनपूर्वापरार्द्धक्रमेणाग्नेयां नैर्ऋत्यां वा उत्तरस्थत्वेनैशान्यां वायव्यां

वाभवतीति सर्वमुपपन्नम्। अत्र वीजक्रियोपपादकसूत्राणामुपपत्तिर्विस्तरभीत्या नोक्ता। सा तु अग्रज कृष्ण दैवज्ञगुरुचरणरचितायां भास्करीय बीजटीकायां सम्यगुक्तावधेयेति । शङ्कुः कोटिस्त्रिज्याकर्णस्तद्वर्गान्तरपदं दृग्ज्या दृग्वृत्तनतांशानां ज्येति तत् त्रिज्यावर्गविशेषान्मूलं दृग्ज्येत्युपपन्नम् ॥ २८—३२ ॥

अग्रा को अभीष्ट कालिक छाया कर्ण से गुणाकर त्रिज्या से भाग देने पर लब्धि अङ्गुलादि कर्ण वृत्तीया अग्रा होती है । त्रिज्यावर्ग के आधे से अग्रा का वर्ग घटाकर शेष को १४४ से गुणाकर ७२ युत पलभावर्ग से भाग देने से जो लब्धि प्राप्त हो वह करणी संज्ञक होती है। १२ गुणित पलभा को अग्रा से गुणाकर पूर्वोक्त हर (७२ युत पलभा के वर्ग) का भाग देने से जो लब्धि प्राप्त हो उसकी फलसंज्ञा होती है । फल के वर्ग में करणी जोड़कर वर्गमूल लें । इस मूल में दक्षिणगोल में फल घटाने से, तथा उत्तरगोल में फल जोड़ने से कोण शङ्कु सिद्ध होता है। याम्योत्तर सूर्य के भ्रमण करने पर अग्नि, नैर्ऋत्य, ईशान और वायु कोण का यह शङ्कु होता है । कोण शङ्कु और त्रिज्यावर्ग के अंतर का वर्गमूल दृग्ज्या होती है ॥ २८—३२ ॥

उपपत्तिः—कोणशङ्कुर्नाम स्वाहोरात्रवृत्ते भ्रमन् कोणवृत्तगतरवितः क्षितिज वृत्तोपरि कृतो लम्बः । कोणशङ्कुमूलात् पूर्वापरसूत्रोपरि कृतो लम्बो भुजः । शङ्कुमूलात् याम्योत्तर सूत्रोपरिकृतो लम्बः कोटिः । अनयोर्भुज कोट्यो वर्गयोग मूलं शङ्कुमूलात् भूकेन्द्रं यावद् दृग्ज्या कर्णः । अस्मिन् क्षेत्रे भुजकोट्योः समत्वात्

$$२\ भुज^2 = दृग्ज्या^2\ ।$$

अत्र कोणशङ्कु 'या' इति प्रकल्प्याव्यक्तरीत्या साधनं क्रियते—

१२, पलभा, पलकर्णः अपरश्च शङ्कु, शङ्कुतलअग्रा इति क्षेत्रद्वयम् । अनयोः साजात्यादनुपातः—

१२ कोटौ पलभाभुजस्तदा शङ्कुकोटौ किमिति

$$= \frac{पलभा \times कोणशङ्कुः}{१२} = शङ्कुतलम् = \frac{प \times य}{१२}$$

$$\because\ शङ्कुतल \pm अग्रा = भुजः$$

$$\therefore\ \frac{प \times य}{१२} \pm अग्रा = भुजः$$

$$\because\ २\ भु^2 = दृग्ज्या^2$$

$$\therefore\ २\ भु० = २\ \left(\frac{अ \times १२ \pm प \times य}{१२}\right)^2$$

$$= \frac{२\ (अ^2 \times १२^2 \pm २ \times अ \times १२ \times प \times य + प^2 + य^2)}{१२^2}$$

$$= \frac{(२\ अ^{२} \times १२^{२} + २ \times २ \times अ \times १२ \times प \times य + प^{२} + य^{२})}{१२^{२}}$$

$\because$ दृग्ज्या^{२} = त्रि^{२} − शङ्कु^{२} = त्रि^{२} − य^{२}

$$\therefore त्रि^{२} - य^{२} = \frac{२अ^{२} \times १२^{२} \pm २ \times २अ \times १२ \times प \times य + २प^{२} \times य^{२}}{१२^{२}}$$

पक्षान्तरेण——

$$२ \times अ^{२} \times १२^{२} \pm २ \times २ \times अ \times १२ \times प \times य + प^{२} \times य^{२} \times २$$
$$= १२^{२} \times त्रि^{२} - १२^{२} - य^{२}$$

अत्रोभयपक्षतः ($१२^{२} \times य^{२}$) तथा च ($२अ^{२} \times १२^{२}$)

अनयोः शोधनेन जातम्——

$$= १२^{२} \times य^{२} \pm २ \times २ \times अ \times १२ \times प \times य + प^{२} \times य^{२} \times २$$
$$= १२^{२} \times त्रि^{२} - २ \times अ \times १२^{२}$$
$$= य^{२}\ (१२^{२} + २ \times य^{२}) \pm ४ अ \times १२ \times प \times य$$
$$= १२^{२}\ (त्रि^{२} - २ \times अ^{२})$$

अत्र ($१२^{२} + २ \times प^{२}$) अनेन पक्षौ भक्तौ——

$$य^{२} \pm \frac{४ \times १२ \times अ \times प + य}{१२^{२} + २प^{२}} = \frac{१२^{२}\ (त्रि^{२} - २ \times अ^{२})}{१२^{२} + २ \times प^{२}}$$

$$य \pm \frac{२ \times १२ \times अ \times प \times य}{\frac{१२^{२}}{२} + प^{२}} = \frac{१२^{२}\ (\frac{त्रि^{२}}{२} - अ^{२})}{\frac{१२^{२}}{२} + प^{२}}$$

अत्र प्रथमः पक्षः फलसंज्ञकः द्वितीयश्च करणीसंज्ञकः ।

$$\therefore य^{२} \pm २\ फ \times य = क$$

अत्रोभयपक्षे फलवर्गयोजनेन——

$$य^{२} \pm २ \times फ \times य + फ^{२} = क + फ^{२}$$

मूलग्रहणेन—— $य \pm क = \sqrt{क + फ^{२}}$ .. .. (१)

$$\therefore य = \sqrt{क + फ^{२}} \mp फ = कोणशङ्कुः$$

अर्थात् उत्तरगोले कोणशङ्कुः = $\sqrt{क + फ^{२}} + फ$

तथा च दक्षिण गोले कोणशङ्कुः = $\sqrt{क + फ^{२}} - फ$

अनेन कोणशंक्वानयनमुपपन्नम् ॥ ३२ ॥

दृग्ज्याछायाकर्णयोरानयनम्

तत्रिज्यावर्गविश्लेषान्मूलं दृग्ज्याभिधीयते ।
स्वशङ्कुना विभज्याप्ते दृक्त्रिज्ये द्वादशाहते ॥ ३३ ॥
छायाकर्णौ तु कोणेषु यथास्वं देशकालयोः ।

अथ एतत् छायाच्छायाकर्णयोः आनयनमाह । कोणीयदृग्ज्यात्रिज्ये द्वादशगुणे दृग्ज्या सम्बन्धिकोणशङ्कुना भक्त्वा लब्धे दृग्ज्या त्रिज्याक्रमेण छाया-च्छायाकर्णौ स्तः तुकारादेवं कोणेषु चतुर्षु देशकालयोः । यथास्वं स्वमनति-क्रम्येति यथास्वं यथादेशं यथाकालं छायाच्छायाकर्णौ साध्यौ। अयमर्थः। क्वचि-द्देशे चतुर्षु कोणेषु क्वचिच्च कोणद्वये क्वचिच्च दिनार्द्ध एव कोणद्वय इत्यादि देशकालानुरोधेन यथा योग्यमिति । अत्रोपपत्तिः प्रागुक्ता स्पष्टा च ॥ ३३ ॥

कोणशङ्कु और त्रिज्या के वर्गान्तर के वर्गमूल को 'दृग्ज्या' कहते हैं ।

कोणीय दृग्जा और त्रिज्या को पृथक् पृथक् १२ से गुणाकर कोणशङ्कु से भाग देने पर लब्धि, सूर्य की स्थिति एवं काल के अनुसार कोणवृत्त में क्रमशः छाया और छायाकर्ण होता है । अर्थात् जिस स्थान में जिस समय जिस कोण में कोणशङ्कु होगा उसी स्थान में छाया और छायाकर्ण होंगे ॥ ३३ ॥

उपपत्तिः—रेखागणितीय सिद्धान्तानुसारं समकोणत्रिभुजे कर्ण-कोटयोर्वर्गान्तरस्य मूलं भुजो भवति । अत्रापि दृग्ज्या-कोणशङ्कुत्रिज्या इत्यवयवत्रयात्मकं जात्यत्रिभुजं तत्र त्रिज्याकर्णः, शङ्कुः कोटिः, दृग्ज्या च भुजः

$$\text{अतः दृग्ज्या} = \sqrt{\text{त्रि}^2 - \text{शङ्कु}^2}$$

एवमेव अक्षक्षेत्राणां साजात्याद् अनुपातेन-कोणशङ्कु कोटौ दृग्ज्याभुजो लभ्यते तदा द्वादशांगुल शङ्कु कोटौ किमिति जातम्—

$$\frac{\text{दृग्ज्या} \times १२}{\text{कोणशङ्कु}} = \text{कोणच्छायाभुजः}$$

एवमेव—यदि कोणशङ्कौ त्रिज्याकर्णस्तदा द्वादशकोटौ किमिति जातम्—

$$\frac{\text{त्रिज्या} \times १२}{\text{कोणशङ्कुः}} = \text{कोणच्छायाकर्णः ।}$$

उपपन्नम् ।

नतकालतश्छायानयनम्

त्रिज्योदक्चरजायुक्ता याम्यायां तद्विवर्जिता ॥ ३४ ॥
अन्त्या नतोत्क्रमज्योना स्वाहोरात्रार्द्धसङ्गुणा ।
त्रिज्याभक्ता भवेच्छेदो लम्बज्याघ्नोऽथ भाजितः॥ ३५ ॥

त्रिभज्यया भवेच्छङ्कुस्तद्वर्गं परिशोधयेत् ।
त्रिज्यावर्गात् पदं दृग्ज्या छायाकर्णौ तु पूर्ववत् ।। ३६ ।।

अथ दिक्प्रदेश सम्बन्धेन छायाकर्णौ उक्त्वा कालसम्बन्धेन सार्द्धश्लोकाभ्यामाह । उत्तरगोले चरोत्पन्नया ज्यया चरज्यया इत्यर्थः । पूर्वचरानयने चरज्यायाश्चरजेति संज्ञोक्ते युक्ता त्रिज्यान्त्या स्यात् । याम्यगोले तया चरज्ययोना त्रिज्यान्त्या स्यात् । नतोत्क्रमज्योना सूर्योदयात् दिनगतघट्यो दिनशेषघट्यो वा दिनार्द्धान्तर्गता उन्नतसंज्ञास्ताभिः ऊनं दिनार्द्धं नतकालो घट्यात्मकस्तस्यासुभ्यो लिप्तास्तत्त्वयमैः इत्यादि विधिना मुनयोरन्ध्रयमला इत्यद्युक्तोत्क्रमज्यापिण्डैर्ज्योत्क्रमज्या । पञ्चदशघट्यधिकनते तु पञ्चदशघट्यूननतस्य क्रमज्याखण्डैः क्रमज्या तया युक्ता त्रिज्योत्क्रमज्या भवति । तया हीना इत्यर्थः । स्वाहोरात्रार्द्धसंगुणा । गृहीतचरज्या सम्बन्ध्यहोरात्रवृत्तव्यासार्द्धं द्युज्या तया गुणिता त्रिज्यया भक्ता फलं छेदसंज्ञः स्यात् । अथ अनन्तरं छेदो लम्बज्यया गुणितस्त्रिज्यया भाज्यः फलमिष्टकाले शंक्वः स्यात् तस्य शंक्वोः वर्गं त्रिज्यावर्गाच्छोधयेत् । शेषस्य मूलं दृग्ज्या । आभ्यां छायाकर्णौ तु पूर्ववत् पूर्वोक्तरीत्या भवतः । अत्र छायाकर्णौ तु इति कोणच्छाया कर्ण साधनश्लोकान्तर्भागस्य ग्रहणात् तत् श्लोकोक्तरीत्याभीष्टशङ्कुदृग्ज्याभ्यां छायाकर्णौ साध्यौ इत्युक्तम् ।

अत्रोपपत्तिः। याम्योत्तरवृत्तोर्ध्व भागग्रहाधिष्ठितद्युरात्रवृत्तसम्पातात् क्षितिजद्युरात्रवृत्तसम्पातद्वयबद्धोदयास्तसूत्र क्षितिज सम्बद्धयाम्योत्तरवृत्तसूत्रसम्पातपर्यन्तमहोरात्रवृत्ते सूत्रं त्रिज्यानुरूद्धमन्त्या । सा तु उत्तरगोले चरज्यायुता त्रिज्या दक्षिणगोले चरज्ययोना त्रिज्या। उन्मण्डलयाम्योत्तरसूत्रावध्यहोरात्रवृत्तव्यासार्द्धे त्रिज्यात्वात्। उन्मण्डलस्य उत्तर दक्षिणक्रमेण क्षितिजादूर्ध्वाधःस्थत्वेन तद् याम्योत्तरसूत्रयोर्मध्ये चरज्यात्वाच्च। ग्रहाहोरात्रवृत्ते याम्योत्तराहोरात्रवृत्त सम्पातात् उभयत्र नतघट्यन्तरेण स्थाने तत्सूत्रं नतकालस्य सम्पूर्णज्या । तन्मध्यादूर्ध्वसूत्रं शररूपं नतोत्क्रमज्या। तया हीनान्त्या ग्रहस्थानादहोरात्रवृत्त उदयास्तसूत्रपर्यन्तम् ऋजुसूत्रं त्रिज्यानुरुद्धमिष्टान्त्या । तत्तुल्या याम्योत्तरोर्ध्वव्याससूत्रान्तर्गता सा द्युज्याप्रमाणसाधितेष्टहृतिः । द्युज्यागुणा त्रिज्या भक्ता फलं छेदः । अस्मात् त्रिज्याकर्णे लम्बज्या कोटिस्तदेष्ट हृतिकर्णे का कोटिरित्यनुपातेन इष्टशङ्कुः। अस्मात् दृग्ज्याच्छायातत्कर्णा उक्तरीत्या सिद्धान्तीत्युक्तमुपपन्नम् ।। ३४–३६ ।।

उत्तरगोल में त्रिज्या में चरज्या जोड़ने से और दक्षिणगोल में त्रिज्या में चरज्या घटाने से अन्त्या होती है । अन्त्या में नतकाल की उत्क्रमज्या घटाने से शेष, इष्टान्त्या होती है । इष्टान्त्या को अपने अहोरात्रवृत्त के व्यासार्ध (द्युज्या) से गुणाकर त्रिज्या का भाग देने से छेद (इष्ट हृति) होता है ।

छेद को लम्बज्या से गुणाकर त्रिज्या का भाग देने से शङ्कु होता है । शङ्कु के वर्ग को त्रिज्या के वर्ग में घटाकर वर्गमूल लेने से दृग्ज्या होती है ।

पूर्वोक्त रीति से साधित शङ्कु और दृग्ज्या से छाया और छायाकर्ण का साधन होता है ॥ ३४—३६ ॥

छायातोनतकालज्ञानम्

अभीष्टच्छाययाभ्यस्ता त्रिज्या तत्कर्णभाजिता।
दृग्ज्या तद्वर्गसंशुद्धात् त्रिज्यावर्गाच्च यत् पदम् ॥ ३७ ॥
शङ्कुः सत्रिभजीवाघ्नः स्वलम्बज्याविभाजितः।
छेदः सत्रिज्ययाभ्यस्तः स्वाहोरात्रार्द्धभाजितः ॥ ३८ ॥
उन्नतज्या तया हीना स्वान्त्या शेषस्य कार्मुकम् ।
उत्क्रमज्याभिरेवं स्युः प्राक्पश्चार्द्धनतासवः ॥ ३९ ॥

अथ श्लोकत्रयेण छायाकर्णाभ्यां नतकालानयनमाह । अभीष्टकालिकच्छायया गुणिता त्रिज्या गृहीतच्छायायाः छायाकर्णेन भक्ता फलं दृग्ज्या । दृग्ज्याया वर्गेण हीनात् त्रिज्या वर्गात् यत्संख्यामितं मूलम् । चकारो यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात् तत् शब्दपरः। अभीष्टशङ्कुः, स इष्टशङ्कुस्त्रिज्यया गुणितः स्वदेशीयलम्बज्यया भक्तः फलं छेदः । स छेदस्त्रिज्यया गुणितो द्युज्यया भक्त उन्नतकालस्य ज्या विलक्षणा । यत् धनुरुन्नतकालो न भवति । तयानीतयोन्नतज्यया हीना स्वान्त्या स्वद्युज्या सम्बद्धचरज्ययावगतान्त्या । अवशेषस्य उत्क्रमज्याभिर्मुनयो रन्ध्रयमला इत्याद्युक्तोत्क्रमज्यापिण्डैः धनुः। अवशेषस्य त्रिज्याधिकत्वे तु यदधिकं तस्य क्रमज्यापिण्डैः धनुः चतुः पञ्चाशद्युक्तमुत्क्रमधनुर्भवति । एवं प्रकारेण सिद्धाङ्का दिनस्य पूर्वार्द्धापरार्द्धयोः नतकालासवो भवन्ति ।

अत्रोपपत्तिः । पूर्वोक्तव्यत्यासात् सुगमा । तत्र छेदस्त्रिज्यापरिणत इष्टान्त्या तस्या ज्यात्वासम्भवः । अवध्युदयास्तसूत्रस्य अहोरात्रवृत्त व्याससूत्रत्वाभावात् इत्युन्नतज्याकारेण स्वल्पान्तरत्वेन दर्शनात् उन्नतज्येत्युक्तम् अतएव भास्कराचार्यैः इष्टान्त्यकामुन्नतकालमौर्वीतुल्यां प्रकल्प्येत्याद्युक्तम्। तद्धनुरसूनामुन्नतकाल त्वापत्या तया हीनेत्यादिभागस्य व्यर्थत्वापत्तेरिति दिक् ॥ ३७—३९ ॥

इष्टकालिक छाया से त्रिज्या को गुणाकर छायाकर्ण का भाग देने से लब्धि दृग्ज्या होती है । त्रिज्यावर्ग में इस दृग्ज्या का वर्ग घटाकर वर्गमूल लेने से शङ्कु होता है । शङ्कु को त्रिज्या से गुणाकर स्वलम्बज्या का भाग देने से इष्ट हृति होती है। इस छेद को त्रिज्या से गुणाकर अपनी द्युज्या से भाग देने से उन्नतज्या (इष्टान्त्या) होगी । इस इष्टान्त्या को स्वकीय अन्त्या में घटाने से शेष नतकाल की उत्क्रमज्या होती है । उत्क्रमज्या पिण्डों से चाप करने से नतासु होते हैं । ये पूर्वाह्णकालिक इष्टच्छाया में पूर्व कपाल में (दिन के पूर्वार्ध में) तथा अपराह्ण-कालिक इष्टच्छाया में पश्चिम कपाल में (अपराह्ण में) नतासु होंगे ॥ ३७—३९ ॥

कर्णगोलीयाग्रावशात् रविसाधनम्

इष्टाग्राघ्नी तु लम्बज्या स्वकर्णाङ्गुलभाजिता ।

क्रान्तिज्या सा त्रिजीवाघ्नी परमापक्रमोद्धृता ।। ४० ।।
तच्चापं भादिकं क्षेत्रं पदैस्तत्र भवो रविः ।

अथ इष्टकालिकाग्रया क्रान्तिज्याद्वारा सूर्यसाधनं सार्द्धश्लोकेन आह । इष्टकालिककर्णाग्रया गुणिता लम्बज्या । तुकारादग्रज्याया निरासः तात्कालिकच्छायायाः कर्णांगुलसंख्याभिः भक्ता फलं क्रान्तिज्या । सा क्रान्तिज्या त्रिज्यया गुणिता परमक्रान्तिज्यया भक्ता फलस्य धनू राश्यादिकं क्षेत्रं स्थानं भुज इति यावत् । पदैः चतुर्भिः चिह्नज्ञातैः तत्र पदे भव उत्पन्नः । यथोक्तरीत्या कर्कादौ प्रोज्झ्या चक्रार्द्धेत्याद्युक्त्या सूर्यः स्यात् ।

अत्रोपपत्तिः । कर्णाग्रे कर्णाग्रा लभ्यते त्रिज्याग्रे केत्यग्रा । त्रिज्याकर्णे लम्बज्या कोटिस्तदाग्रा कर्णेका कोटिरित्यनुपातेन त्रिज्ययोः तुल्ययोः गुणहरयोः नाशादिष्टकर्णाग्रागुणितलम्बज्या कर्णभक्ता क्रान्तिज्या । अस्याः सूर्यानयनं प्रागेवोक्तमिति पुनरुक्तत्वात् सुगमतरम् ।। ४० ।।

इष्टकालिक कर्णवृत्ताग्रा को लम्बज्या से गुणाकर तात्कालिक छायाकर्ण से भाग देने पर इष्टक्रान्तिज्या होती है । इष्टक्रान्तिज्या को त्रिज्या से गुणाकर परमक्रान्तिज्या से भाग देने पर इष्टभुजज्या होती है । इसका चाप राश्यादि इष्टभुज होता है । इस भुज (क्षेत्र) से उत्पन्न सायन रवि चारो पदों में होगा । ('पदज्ञान कर्क्यादौ प्रोज्झ्य चक्रार्धात्'—इत्यादि रीति से होगा) ।

विशेष—सायन सूर्य के पदज्ञान की विधि पूर्वाचार्यो ने बतलाया हैं जो सार रूप में इस प्रकार से हैं—यदि प्रथम दिन की छाया पलभा से अल्प हो और द्वितीय तृतीयादि दिनों की छाया प्रथम छाया से न्यून हो तो सूर्य प्रथम पद में होता है । यदि द्वितीय छाया प्रथम छाया से अधिक और पलभा से अल्प हो तो दूसरा पद होता है । यदि द्वितीय छाया पलभा से और प्रथम छाया से अधिक हो तो तीसरा पद तथा द्वितीय छाया पलभा से अधिक और प्रथम छाया से न्यून हो तो चौथा पद होता है ।। ४० ।।

उपपत्तिः—अत्र प्रथमं वास्तवख्यां, कर्णाग्राञ्च ज्ञानायानुपातः क्रियते—

त्रिज्यायां यदि अग्रा तदा छायाकर्णे किमिति जातम्

$$\frac{\text{अग्रा} \times \text{छायाकर्ण}}{\text{त्रिज्या}} = \text{कर्णाग्रा}$$

एवमेव – यदि छायाकर्णेः कर्णाग्रा तदा त्रिज्यायां किमिति

$$\frac{\text{कर्णाग्रा} \times \text{त्रिज्या}}{\text{छायाकर्णः}} = \text{वास्तवख्याग्रा}$$

$$\because \text{ कर्णाग्रा} = \frac{\text{वास्तवाग्रा} \times \text{छा. क.}}{\text{त्रि}}$$

$$\therefore \frac{\text{कर्णाग्रा} \times \text{त्रि}}{\text{छा. क.}} = \text{वास्तवाकर्णाग्रा} \;।$$

ततो लम्बज्याऽक्षज्यात्रिज्येति क्षेत्रेण क्रान्तिज्या कुज्याऽग्रेति क्षेत्रस्याक्षज्यात्या साजात्यादनुपातः—

यदि त्रिज्याकर्णे लम्बज्या कोटिस्तदाऽग्राकर्णे केति लब्धा क्रान्तिज्या

$$= \frac{\text{लम्बज्या} \times \text{अग्रा}}{\text{त्रिज्या}}$$ अत्र पूर्व साधितताग्राया उत्थापनेन

$$\frac{\text{ल ज्या} \times \text{कर्णाग्रा} \times \text{त्रिज्या}}{\text{त्रि} \times \text{छायाकर्ण}} = \frac{\text{लम्बज्या} \times \text{कर्णाग्रा}}{\text{छायाकर्ण}}$$

अतोपपन्नम् क्रान्तिज्यानयनम् ।

ततो यदि परमक्रान्तिज्यया त्रिज्यातुल्याऽर्कभुजज्या तदाऽभीष्टक्रान्तिज्यया केत्यनुपातेनेष्टार्कभुजज्या। एतच्चापमर्कभुजांशाः। ततो अयुग्मे पदे यातमेष्यं तु युग्मे' इत्यादिना प्रथमे तृतीये च पदे गतचापमेव भुजोऽतः प्रथमे लब्धचापतुल्योऽर्कः । तृतीये भार्धं युक्तः । द्वितीये चतुर्थे च पदे ऐष्यचापं भुजोऽतो द्वितीये लब्धचापोनभार्द्धं चतुर्थे लब्धचापोनो भगणो रविः स्यादेव ।

परञ्च क्रान्तिक्षेत्रस्य सायनविन्दोरेव प्रवृत्तिरत आगतोऽर्कः सायनः स्यादित्यपि युक्तमेव इत्युपपन्नम् ॥ ४० $\frac{१}{२}$ ॥

छायाभ्रमणमार्गज्ञानम्

इष्टेऽह्नि मध्ये प्राक् पश्चाद्धृते बाहुत्रयान्तरे ॥ ४१ ॥
मत्स्यद्वयान्तरयुतेस्त्रिस्पृक्सूत्रेण भाभ्रमः ।

अथ भाभ्रमणमाह । अभिमते दिवसे पूर्वविभागे पश्चिमविभागे बाहुत्रयान्तरे पूर्वापरसूत्रात् भुजत्रयान्तरे स्थाने धृते । अयमर्थः । पूर्वापरसूत्रस्य मध्यस्थानात् भुजांगुलान्तरेण चिह्नं एकं द्वितीयं पूर्वविभागे पूर्वापरसूत्रात् कालान्तरीयभुजांगुलान्तरेण चिह्नं तृतीयं पश्चिम विभागे पूर्वापरसूत्रात् इतरकालान्तरीयभुजांगुलान्तरेण चिह्नम् । एवमेकस्मिन् दिवसे कालत्रये स्वभुजान्तरेण पूर्वापरसूत्रात् चिह्नत्रये कृते सतीति । मत्स्यद्वयान्तरयुतेः अव्यवहित चिह्नाभ्यां प्रत्येकं मत्स्यमुत्पाद्येति मत्स्यद्वयस्य प्रत्येकमुखपुच्छगतरूपमध्यसूत्रयोः स्वमार्गानुसारेण प्रसारितयोः योगो यस्मिन् स्थाने तस्मादित्यर्थः । त्रिस्पृक्सूत्रेण । चिह्नत्रयलग्नतुल्यसूत्रमितेन व्यासार्द्धेन भाभ्रमः छायामार्गमण्डलं भवति। प्रथमान्तिमकालान्तर्गतकालिकच्छायाग्रं तद्वृत्तपरिधौ भवति इत्यर्थः ।

अत्रोपपत्तिः। प्राच्यपरसूत्रात् भुजान्तरे छायाग्रमिति छायाग्रत्रयं ज्ञात्वा तत्स्पृष्टपरिधि वृत्तस्य मध्यज्ञानार्थम् अव्यवहितचिह्नद्वयमत्स्याभ्याम् अव्यवहित चिह्नमध्यस्य दक्षिणोत्तरसूत्रे भवतः । तत्र वृत्तपरिधि प्रदेशेभ्यः केन्द्रस्य तुल्यान्तरत्वेन

अव्यवहित चिह्नमध्यस्थानस्य अवश्यं परिधिसक्तत्वात् तत् सूत्रमपि केन्द्रे लग्नं भवति । एवं प्रत्येकाव्यवहित चिह्नमध्यसूत्रयोः योगस्तद्वृत्तकेन्द्रं सिद्धम् । मध्य रेखाज्ञानार्थं मत्स्यद्वयं तत्केन्द्राद् वृत्तं भागत्रयस्पृग्भवति इति किं चित्रम् । यद्यपि छायाग्रस्य सूर्यचलनानुरोधेन चलनात् तस्य तु वृत्ताकारासम्भवात् प्रतिक्षणं द्युरात्रवृत्त भेदात् । अन्यथा क्रान्तिभेदानुपपत्तेरित्येकवृत्तपरिधौ छायाग्रभ्रमणं न सम्भवति । अतएव भास्कराचार्यैः भात्रितयात् भाभ्रमणं न सदित्युक्तम् । तथापि साधितभाग्राणाम् अवश्यमेकवृत्तस्थत्वसम्भवात् तदन्तर्वर्तिनां छायाग्राणां तत्परिधिस्थत्वं स्वल्पान्तरत्वात् अंगीकृत्य भगवता कृपालुना छायाग्रदर्शनं विनापि छायाग्रस्थान-ज्ञानम् अन्यकालिकच्छायाग्रस्थानयोः दर्शनेन अभीष्टसमये मेघादिनाच्छादिते रवौ राश्यादिसूर्यज्ञानोपजीव्याग्राभुजादिज्ञानार्थमुक्तम्। बहुकालान्तरितभाग्रग्रहणे स्थूलम्। अल्पान्तरिते किञ्चित् सूक्ष्ममिति ध्येयम् ।। ४१ ।।

इष्टदिन के पूर्वाह्ण या अपराह्ण में या मध्यकाल में स्थापित शङ्कु की छायारूप तीन भुजाग्रों पर चिह्न करके अव्यवहित दो दो चिह्नों से दो मत्स्य बनाकर उनके मुखपुच्छगत रेखा करें । फिर मुख पुच्छगत रेखाओं को अपने मार्ग में बढ़ाने से जहाँ संपात हो उस सम्पातबिन्दु को केन्द्र मानकर सम्पातबिन्दु और किसी भुजाग्रबिन्दु के अन्तर के तुल्य त्रिज्या से जो वृत्त बनेगा वह तीनों भुजाग्रचिह्नों को स्पर्श करता हुआ जायेगा । यही भाभ्रमवृत्त है इसी वृत्त में शङ्कु की छाया भ्रमण करेगी ।। ४१ ।।

अत्रोपपत्तिः । अत्र सुधाकरः—चिह्नत्रयोपरिगतवृत्तस्य केन्द्रज्ञानं रेखागणित-चतुर्थाध्यायेन स्फुटम् । रवेरहोरात्रवृत्तमेकस्मिन् दिने यदि स्थिरं कल्प्यते क्रान्ते-श्चलनाल्पत्वात्तदा "मेरुपृष्ठं सुखासीना ऋषयः" इत्यादि सूर्यसिद्धान्तप्रथमश्लोक-टीकावचनेन सूर्यसिद्धान्तरचना मेरौ जाताऽतो मेरौ च भाभ्रमो वृत्ते भवति, अतस्तत्र सौरो भाभ्रमः समीचीनः। अन्यत्र तु वृत्ते भाभ्रमो न भवति इति "भात्रितयाद्भाभ्रमणं न सत्" इत्यादि भास्करेण समीचीनमुक्तं स्वगोलाध्याये । वस्तुतः, एकस्मिन् दिनेऽ-होरात्रवृत्त्रस्य स्थिरत्वे परमक्रान्त्यधिकाक्षदेशे भाभ्रमोऽतिपरवलये परमक्रान्त्यल्पाक्षदेशे दीर्घवृत्ते मेरौ च वृत्ते भवतीति सर्वं मदीयभाभ्रमरेखानिरूपणे समुपादितमस्तीति किमत्र ग्रन्थविस्तरेण विशेषज्ञानार्थं स एव ग्रन्थो द्रष्टव्यः ।। ४१ ।।

निरक्षे राश्युदयासूनां साधनम्

त्रिभद्युकर्णार्द्धगुणाः स्वाहोरात्रार्द्धभाजिताः ।। ४२ ।।
क्रमादेकद्वित्रिभज्यास्तच्चापानि पृथक् पृथक् ।
स्वाधोधः परिशोध्याथ मेषाल्लङ्कोदयासवः ।। ४३ ।।

अथ कालज्ञानमुक्त्वा तदुपजीवकफलादेशाद्युपयुक्तलग्नज्ञानं विवक्षुः तदुपयुक्त-स्वोदयज्ञानार्थं मेषादित्रयाणां लङ्कोदयासुसाधन पूर्वकतन्निबन्धनं श्लोकाभ्यामाह। एक-द्वित्रिभज्याः। एकराशिज्याद्विराशिज्यात्रिराशिज्याः त्रिराशिद्युज्यया गुण्याः क्रमात् स्व-क्रान्तिज्या सम्बन्धिद्युज्याभिर्भाज्याः। फलानां धनूषि भिन्नभिन्नस्थाने स्थाप्यानि।

स्थानद्वये स्थाप्यानीत्यर्थः । अनन्तरं स्वाधोऽधः । स्वादधोऽध एकराशिज्यासम्बन्धि फलं यथास्थितं ततः, प्रथमफलं द्वितीयफलाद् द्वितीयफलं तृतीयफलात् न्यूनीकृत्य पृथगनुक्तौ प्रथमफलं द्वितीय फलात् न्यूनं कृतं सद्द्वयोः फलयोः मार्जनात् तृतीये शोध्यासम्भवः।प्रथमस्य ज्ञानासम्भवश्चेति प्रथमद्वितीययोः पृथक्स्थापनमावश्यकम्। अतएव न त्रिधा पृथगित्युक्तम् । मेषात् । मेषमारभ्य राशित्रयाणां लङ्कोदयासवो भवन्ति । प्रथमफलं मेषस्य उदयासवः । द्वितीयो न तृतीयफलं मिथुनस्य उदयासव इत्यर्थः । नियतत्वात् तन्मानमाह । खागाष्टय इति । मेषमानं सप्ततियुतं षोडशशतं वृषमानं पञ्चोनमष्टादशशतं मिथुनमानं पञ्चत्रिंशदधिकमेकोनविंशतिमित्यर्थः ।

अत्रोपपत्तिः सिद्धान्तशिरोमणौ—

मेषादिजीवाः श्रुतयोऽपवृत्ते तद्भूमिजे क्रान्तिगुणा भुजाः स्युः ।
तत्कोटयः स्वद्युनिशाख्यवृत्ते व्यासार्द्धवृत्ते परिणामितानाम् ॥
चापेषु तासामसवस्ततो ये तेऽधो विशुद्धा उदया निरक्षे ॥

इति। तत्स्वरूपोक्त्या त्रिज्याकर्णे त्रिराशिद्युज्या कोटिस्तदा एकद्वित्रिराशिज्या कर्णेषु का इत्यनुपातेन कोट्यो द्युज्या प्रमाणेन अहोरात्रवृत्ते तदसुकरणार्थं त्रिज्या प्रमाणेन साध्या इति द्युज्याप्रमाणेन एताः तदा त्रिज्याप्रमाणेन का इत्यनुपातेन त्रिज्ययोः गुणहरयोः तुल्यत्वेन नाशात् एकादिराशिज्या त्रिराशिद्युज्यया गुण्याः स्वद्युज्यया भक्ता इत्युपपन्नाः। आसां धनुषि एकादिराशीनामुदयासवस्तत्र प्रत्येक-राश्युदयासुज्ञानार्थं स्वाधोऽधः शोधनमित्युपपन्नं त्रिभद्युकर्णार्द्धगुणा इत्यादि लङ्कोदयासव इत्यन्तम्। अत्र लङ्कापदं निरक्षदेश परं व्याख्येयम् । सर्वनिरक्षरदेशे क्षेत्रसंस्थानस्य उक्तस्य तुल्यत्वेन उक्तरीत्यान्यनिरक्षदेशे तत्सिद्धौ बाधकाभावात् । अन्यथा स्वनिरक्षदेशे तत्साधनार्थं ग्रहवत् देशान्तर संस्कारकरणापत्तेः निजोदय-करणार्थं स्वनिरक्षदेशीयानां चरसंस्कारस्य समनन्तरमेव उक्तत्वात् इति दिक् । खागाष्टय इत्यादौ उक्त प्रकार गणितकर्मैव उपपत्तिः ॥ ४२—४३ ॥

तीन राशियों की ज्या को अलग अलग तीन राशि की द्युज्या अर्थात् परमाल्पद्युज्या से गुणा कर स्व स्वद्युज्या से भाग देने पर जो लब्धियाँ प्राप्त हों उनका चाप बनाकर क्रमशः अधोऽधः घटाने से मेषादि राशियों के उदयमान होते हैं । यथा—प्रथम फल मेष राशि का दूसरे फल में प्रथम फ़ल को घटाने से वृष राशि का और दूसरे फल को तीसरे फल में घटाने से मिथुन राशि का लङ्कोदय मान होगा । मेषराशि के १६७०, वृष राशि के १७९५, मिथुनराशि के १९३५, लङ्कोदयासु होते हैं ॥ ४२—४३ ॥

अत्रोपपत्तिः—क्रान्तिवृत्तनाडीवृत्तसम्पातात् क्रान्तिवृत्ते मेषादिचापांशाः कर्णः । तत्र गतध्रुवप्रोते क्रान्त्यंशा भुजः । नाडीवृत्ते सम्पाताद् ध्रुवप्रोतावधि विषुवांशा कोटिः । इति चापजात्ये सम्पातकोणस्य परक्रान्तिसमस्य ज्ञानात् चापीयत्रिकोणमित्या

$$\text{विषुवांशज्या} = \frac{\text{ज्याभु} \times \text{पद्यु}}{\text{द्यु}}$$

ततः सर्वेषां चापानि नाडीक्रान्तिवृत्तसम्पातादागतानि शुद्धराश्युदयासुज्ञानार्थमधोऽधः परिशोधितानि । भास्कराचार्येणापि 'मेषादिजीवास्त्रिगृहद्युमौर्व्या क्षुण्णा हृताः स्वस्वदिनज्यया वा'' इत्यादिनाऽयं सौरः प्रकार एव सिद्धान्तशिरोमणावभिहितः।

पूर्वोक्तं सौरं क्रान्त्यानयनमिह च लङ्कोदयानयनमेव सम्प्रति प्रसिद्धचापीयत्रिकोणमितिप्रकाराणां मूलमिति भृशं विचिन्त्यं बुद्धिमद्भिः । इति सुधाकरः ।। ४२—४३ ।।

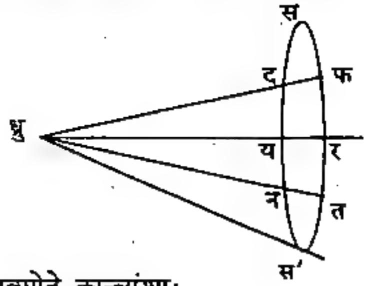

क्षेत्र परिचयः—

स = स' = सम्पात स्थाने,

स य स' = नाडीवृत्तम्,

स र स = क्रान्तिवृत्तम्,

ध्रु = ध्रुवस्थानम्,

स न = नाडीवृत्ते विषुवांशा,

सं त = क्रान्तिवृत्ते भुजांशाः, न त = ध्रुवप्रोते क्रान्त्यंशाः

अत्र कपिलेश्वरः—

मेषादिराशिसंज्ञकाः क्रान्तिवृत्तस्य विभागा यावताऽस्वात्मकेन कालेन लङ्काक्षितिजे समुद्गच्छन्ति ते तेषां राशीनां निरक्षोदयासवः (लङ्कोदयासवो वा) कथ्यन्ते । यद्यपि कालज्ञापकं नाडीमण्डलं लङ्काक्षितिजे लम्बायमानं तेन तत्र सर्वेषामपि द्वादशभागानां कालात्मकं मानं समानमेव भवितुमर्हति, परञ्च ग्रहादीनां राश्यादिपरिमाणपरिचायकस्य क्रान्तिवृत्तस्य तत्र क्षितिजे तिरश्चीनत्वात्तद्विभागानां कालात्मकभोगा भिन्ना एव भवन्ति। तेषा राशिसंज्ञकभवृत्तविभागानां कालात्मकभोगसाधनार्थमायासः। क्रान्तिवृत्ते राश्याद्यन्तविन्दुद्वयोपरिगतयोर्ध्रुवप्रोतवृत्तयोरन्तरे नाडीवृत्ते यच्चापं तदेव तद्राशिसम्बन्धि कालात्मकं निरक्षोदयासुमानम् । एतस्यानयनार्थमादौ राश्यन्तक्रान्तिज्ञानमपेक्षितम्। तथा सति नाडीक्रान्तिवृत्तयोः सम्पातात् क्रान्तिवृत्ते मेषचापांशाः कर्णः मेषान्तगतध्रुवप्रोतवृत्ते मेषान्तक्रान्त्यंशा भुजः । सम्पातस्थानान् नाडीवृत्ते ध्रुवप्रोत वृत्तावधिः कोटिरित्यस्य चापजात्यस्य, ध्रुवस्थानात् क्रान्तिवृत्तीयमेषान्तावधिः मेषान्तद्युज्याचापांशाःकर्णः, मिथुनान्तद्युज्या (परमाल्पद्युज्या) चापांशाः (ध्रु. मि.) कोटिः । तयोरन्तरे (मेमि) क्रान्तिवृत्ते भुजः इत्यस्य चापजात्यस्य च ज्याक्षेत्रयोः साजात्याद् यदि मेषान्तद्युज्याकर्णे परमाल्पद्युज्या कोटिस्तदा मेषचापज्याकर्णे केत्यनुपातेन $\frac{\text{पअद्यु} \times \text{ज्या १रा}}{\text{मेअद्यु}}$ = नाडीवृत्ते मेषोदयासुज्या । तच्चापं निरक्षे मेषोदयासवः (द्रष्टव्यं क्षेत्रम्)। एवं द्विराशिचापांशाः क्रान्तिवृत्ते कर्णः, वृषान्तध्रुवप्रोते वृषान्तक्रान्त्यंशा भुजः, नाडीवृत्ते सम्पाताद् वृषान्तध्रुवप्रोतावधिः कोटिरितिचापजात्यमेकम् । वृषान्तद्युज्यांशाः कर्णः, मिथुनान्तद्युज्यांशाः कोटिः, तयोरन्तरे क्रान्तिवृत्ते भुज इत्यन्यच्चापजात्यम् । अनयोर्ज्याक्षेत्रयोरेकजात्याद् यदि वृषान्तद्युज्यया परमाल्पद्युज्या तदा द्विराशिज्यया किमित्यनुपातेन $\frac{\text{पद्यु} \times \text{ज्या २रा}}{\text{वृअंद्यु}}$ =

नाडीवृत्ते द्विराश्युदयासुज्या एतच्चापं द्विराश्युदयासवो नाडीवृत्ते चापतुल्याः । अतो यदि द्विराश्युदयासुभ्यः प्रथमराश्युददयासवो विशोध्यन्ते तदा केवलं वृषोदयासवो (नाडीमिताः) भवन्ति । अथ पुनः सम्पाततो नाडीक्रान्तिवृत्तयोर्नवत्यंशमितौ कोटि-कर्णौ मिथुनान्तध्रुवप्रोते परमक्रान्त्यंशा भुजः । अपरत्र भुजाभावात् कोटिकर्णौ परमाल्प-द्युज्यैवातो यदि परमाल्पद्युज्यया परमाल्पद्युज्या तदा त्रिज्यया किमिति नाडीवृत्ते त्रिज्यातुल्या राशित्रयोदयासुज्या $= \frac{\text{पद्यु} \times \text{त्रि}}{\text{पद्यु}}$ । एतच्चापतो द्विराश्युदयमाने शोधिते केवलं मिथुनोदयासवोऽवशिष्यन्तेऽत उपपन्नं सर्वम्।

परज्यात्रानुपातीयक्षेत्राणां स्थूलत्वाद् राश्युदयाः स्थूला भवन्ति । यत एकराशावपि प्रतिपलमुदयमानं भिन्नं भिन्नं भवति । एवमेवाह भास्करः—

"क्षेत्राणां स्थूलत्वात् स्थूला उदया भवन्ति राशीनाम् ।
सूक्ष्मार्थी होराणां कुर्याद् द्रेष्काणकानां वा" । इति ।। ४२—४३ ।।

निरक्षोदयेभ्यः स्वदेशोदय साधनम्

खगाष्टयोऽर्थगोऽगैकाः शरत्र्यङ्कहिमांशवः ।
स्वदेशचरखण्डोना भवन्तीष्टोदयासवः ।। ४४ ।।
व्यस्ता व्यस्तैर्युताः स्वैः स्वैः कर्कटाद्यास्ततस्त्रयः ।
उत्क्रमेण षडेवैते भवन्तीष्टास्तुलादयः ।। ४५ ।।

अथ एभ्यः स्वदेशोदयासून् श्लोकार्द्धेन आह । एते सिद्धाः । स्वकीयैः देशसम्बन्धेन यानि उत्पन्नानि चरखण्डानि चरानयनप्रकारेण एकादिराशीनां चरा-ण्यानीयोक्तरीत्या स्वाधोऽधः शोधितानि मेषादिमिथुनान्तानां राशीनां चरखण्डानि भवन्ति तैः । ऊनाः सन्नत इष्टोदयासवः चरखण्डसम्बन्धिदेशे मेषादित्रयाणाम् उदयासवो भवन्तीत्यर्थः ।

अत्रोपपत्तिः—

मेषादेर्मिथुनान्तो नाडीभिस्तिथिमिताभिरुद्वृत्ते ।
लगति कुजे तदधः स्थे प्रथमं ताभिश्चरोनाभिः ।।

इति भास्करोक्त्या प्रत्येकोदयासुज्ञानं प्रत्येकचरेण इति । प्रत्येकचरं तु चरखण्डमित्युपपन्नम् ।। ४४ ।।

अथ अवशिष्टराशीनामुदयानाह। ततोऽनन्तरम् एते मेषादिलङ्कोदयासवोव्यस्ता मिथुनवृषमेषक्रमेण स्थापिताः स्वैः स्वैः मेषादिचरखण्डकैः त्रिभिर्व्यस्तैः उदय-क्रमेण स्थापितैः युताः कर्कादयः त्रयः कन्यान्ताः क्रमेण ज्ञातोदयासुमाना भवन्ति । एवं षण्णामुक्त्वावशिष्टानामुदयासुज्ञानमाह । उत्क्रमेणेति । एते उक्ता मेषादयः कन्यान्ताः षट्संख्यका उत्क्रमेण कन्यासिंहकर्काद्युत्क्रमेण । एवकारो मेषवृषादि

क्रमनिरासार्थकः । तुलादयः षड्राशय इष्टा ज्ञातस्वदेशोदयासुमाना भवन्ति । तथा च कन्योदयस्तुलायाः । सिंहोदयो वृश्चिकस्य । कर्कोदयो धनुषः । मिथुनोदयो मकरस्य । वृषोदयः कुम्भस्य । मेषोदयो मीनस्येति सिद्धम् ।

अत्रोपपत्तिः—

कन्यान्ताद्धनुषोऽन्तस्तिथिमितनाडीभिरुद्वलये ।
लगति कुजे चोर्ध्वस्थे पश्चात् ताभिश्चराढ्याभिः ॥
तद्रहितैः खहुताशैः कन्यान्तो वा झषान्तो वा ।
चरखण्डैरूनाढ्यास्तेन निरक्षोदयाः स्वदेशे स्युः ॥

इति भास्करोक्त्या सुगमा ॥ ४५ ॥

पूर्वसाधित लङ्कोदयासुओं में अपने देश के चरासु घटाने से तत्तद् राशियों के स्वदेशोदयासु होते हैं । मेषादि तीन राशियों के लङ्कोदयासुओं को विलोम क्रम से रखकर उनमें मेषादि राशियों के चरखण्डों को विपरीत क्रम से जोड़ने पर कर्क आदि तीन राशियों के उदयासु होंगे । मेषादि छः राशियों के उदयासु ही उत्क्रमगणना से तुलादि छः राशियों के उदयासु होते हैं ॥ ४४—४५ ॥

उपपत्तिः—मेषादि त्रयोराशयश्चरखण्डाल्पकाले स्वदेशे उद्‌गच्छन्ति कर्कटाद्याश्च चरखण्डाधिक कालेनेतिः सुधाकरः ।

अनन्तरोक्त प्रकारेण $\text{मेषोदयासुज्या} = \dfrac{\text{ज्या १ रा} \times \text{पद्यु}}{\text{मे० द्यु}}$ ।

ज्या ३०° = १७१९ । पद्यु = ३१४० । मेद्यु = ३३६६ ।

$\therefore \text{मेषोदयासुज्या} = \dfrac{१७१९ \times ३१४०}{३३६६} = १६०४'$ ।

एतच्चापम् = $१६७०'$ = मेषोदयासुमानम् ।

$\text{एवं मेषवृषयोगोदयासुज्या} = \dfrac{\text{ज्या } ६०^\circ \times \text{पद्यु}}{\text{वृ० द्यु}}$

ज्या ६०° = २९७८ । पद्यु = ३१४० । वृ० द्यु० = ३२१६ ।

$\therefore \text{मेषवृषयोगोदयासुज्या} = \dfrac{२९७८ \times ३१४०}{३२१६} = २९०८'$ ।

एतच्चापम् = $३४६८'$ = मेषवृषयोगोदयासवः । तत्र मेषमाने शोधितेऽवशिष्टं वृषोदयमानम् = ३४६८ — १६७० = १७९८ । तत्र स्वल्पान्तरात् १७९५ पठितम् ।

तथा च $\text{राशित्रयोदयासुज्या} = \dfrac{\text{ज्या } ९०^\circ \times \text{पद्यु}}{\text{पद्यु}}$ = त्रि = $३४३८'$ ।

एतच्चापम् = ५४००′ = राशित्रयोदयासवः ।

एभ्यो राशिद्वयोदयमाने शोधितेऽवशिष्टं मिथुनोदयमानम् = ५४०० — ३४६८ = १९३२ । तत्र १९३५ पठितम् ।

अत 'खागाष्टयोऽर्थगोऽगैकाः शरत्र्यङ्कहिमांशवः' इत्युपपद्यन्ते।

अत्र मिथुनकर्कयोः, वृषसिंहयो, मेषमीनयोश्च राश्युदयावस्तुल्या इत्यत्र हेतु—

नाडीक्रान्तिवृत्तयोः सम्पातस्थानात् त्रिभान्तरे तयोः परमान्तरमतो मिथुनान्ते धनुरन्ते च क्रान्तिः परमा । तत उभयत्र क्रान्तेस्तुल्यमेवापचयः । तेन मिथुनसमः कर्कः । वृषसमः सिंहः। मेषसमा कन्येति मेषादयस्त्रय एव व्यस्ता कर्कादयस्त्रयो भवन्ति। यतो ध्रुवप्रोतवृत्तमहोरात्रवृत्तेषु लम्बरूपमतोऽहोरात्रवृत्तक्रान्तिवृत्तयोर्योगरूपाणां वृत्तद्वयस्थपूर्णज्यासूत्राणां मिथुनान्त ध्रुवप्रोतेन समं भागद्वयं जायते । तेन मिथुनान्तादुभयत्र राशिभोगमानं समानमुचितमेवेति स्पष्टमेव क्षेत्रविदाम् ।

स्थानभेदेन राश्युदयासूनां वैभिन्न्ये स्थानीयाश्चरखण्डा एव कारणम्। अतएव अथ च निरक्षदेशेषु चराभावात् सर्वेषां राशीनां स्वस्वकालेनोदयः । अन्यत्र तु स्वक्षितिजोन्मण्डलान्तररूपचरखण्डकालेन राश्युदयासवोऽन्तरिता भवन्ति। नाडीक्रान्तिवृत्तयोर्योगरूपो मेषादिस्तु क्षितिजोन्मण्डलयोः सम्पाते स्वनिरक्षक्षितिजयोस्तुल्यकालमेवोद्गच्छति, परञ्च मेषान्तादिविन्दवः प्रथमं स्वक्षितिजे ततो निरक्षे समुद्गच्छन्ति तेन स्वनिरक्षक्षितिजयोरन्तररूपेण चरण्खडकालेन निरक्षोदयासवो हीनाः स्वदेशोदयाम्वो भवितुमर्हन्ति। सौम्यगोले स्वक्षितिजस्य निरक्षादधः स्थितत्वात् । कर्कादिराशित्रये चरखण्डानामपचीयमानत्वात्संशोधने कृतेऽपि धनत्वमेव भवतीति कर्कादौ चरखण्डैर्युक्ता निरक्षोदयाः स्वोदया भवन्तीति ।

अथ दक्षिणगोले क्षितिजस्य निरक्षादुपरिगतत्वात् प्रथमं निरक्षे ततः स्वदेशे तुलान्तादिविन्दव उद्गच्छन्ति। तेन चरखण्डैस्सहिता निरक्षोदयाः स्वोदयाः स्युः। मकरादौ तु अपचीयमानचरखण्डानां योगेऽपि कृतेऽन्तरमेव भवतीति चरखण्डैरूना निरक्षोदयाः स्वोदयाः इति युक्तियुक्तमेवोक्तम्।

यतो महद्वृत्तयोः षड्भान्तरे सम्पातस्त्रिभान्तरे च परमान्तरमेवं सम्पातादुभयत्र प्रदेशयोः सर्वांशैः साम्यञ्च भवति; अतो मेषादिषण्णामुदयासव एव व्यत्यासेन तुलादीनां षण्णामुदयासवो भवन्तीति किञ्चित्रमित्यलमतिविस्तरेण ।

अत्र प्रसङ्गादिष्टस्थानोदयासवो विलिख्यन्ते——

काश्यां पलभा ५।४५

ततश्चरपलानि मे. = ५७। वृ. = ४६। मि. = १९ ।

चरासवः स्वल्पान्तरात् मे. = ३४२। वृ. = २७६। मि. ११४ ।

तेन काश्यामुदयासवः—

राशयः	लङ्कोदयासवः	±	चरासवः	=	काश्यामुदयासवः		पलानि
मेषमीनयोः	१६७०	—	३४२	=	१३२८	=	२२१
वृषकुम्भयोः	१७९५	—	२७६	=	१५१९	=	२५३
मिथुनमकरयोः	१९३५	—	११४	=	१८२१	=	३०४
कर्कधनुषोः	१९३५	+	११४	=	२०४९	=	३४२
सिंहवृश्चिकयोः	१७९५	+	२७६	=	२०७१	=	३४५
कन्यातुलयोः	१६७०	+	३४२	=	२०१२	=	३३५

एवं स्वस्वचरखण्डावशाल्लङ्कोदयतः स्वदेशोदयज्ञानं कार्यमित्यलमिति कपिलेश्वरः ॥ ४४-४५ ॥

इष्टकाले लग्नानयनम्

गतभोग्यासवः कार्या भास्करादिष्टकालिकात् ।
स्वोदयासुहता भुक्तभोग्या भक्ताः खवह्निभिः ॥ ४६ ॥
अभीष्टघटिकासुभ्यो भोग्यासून् प्रविशोधयेत् ।
तद्वत् तदेष्यलग्नासूनेवं यातान् तथोत्क्रमात् ॥ ४७ ॥
शेषं चेत् त्रिंशताभ्यस्तमशुद्धेन विभाजितम् ।
भागहीनं च युक्तं च तल्लग्नं क्षितिजे तदा ॥ ४८ ॥

अथ अभीष्टकाले ऋणधनलग्नसाधनार्थं गतभोग्यासूनाह । इष्टकाले चालनेन सञ्जातात् सूर्याद्गतभोग्यासवः । गतासवो भोग्यासवश्च साध्याः । कथं साध्या इत्यत आह । स्वोदयासुहता इति । भुक्तभोग्याः सूर्याक्रान्तराशेः ये भुक्तभागाः सूर्यस्य भागाद्यवयवात्मका एते त्रिंशतः शुद्धा भोग्यभागाः । सूर्याक्रान्तराशेः स्वदेशोदयासुभिः गुणिताः त्रिंशता भक्ता गतासवो भोग्यासवः क्रमेण भवन्ति ।

अत्रोपपत्तिः। यस्मिन् काले लग्नं साध्यं तस्मिन् काले सूर्यः साध्योऽन्यथा तात्कालिक लग्नसिद्धिर्न स्यात्। अथ एतदर्थं सूर्याक्रान्तराशेः भुक्तासवो भोग्यासवश्च साध्याः । सूर्योदयात् तत्कालपर्यन्तं पूर्वाग्रिमकालयोः तद्राशेर्लग्नत्वात् । अनन्तरं च राश्युदयासुगणनया लग्नज्ञानस्य सुशकत्वाच्च । अतस्त्रिंशद्भागैः उदयासवस्तदा भुक्तभोग्यभागैः क इति भुक्तभोग्यकालासवः । अत्र उदयकालासूनां सम्पातावधिराशिग्रहणेन उत्पन्नत्वात् सूर्योऽयनांशसंस्कृतो ग्राह्यः। अन्यथा सूर्याक्रान्तराशेः उक्तोदयसम्बन्धाभावात् असंगततापत्तेः । अतएव । युक्तायनांशदपमः प्रसाध्यः कालौ च खेटात् खलु भुक्तभोग्यौ ।

इति भास्कराचार्योक्तं संगच्छते । ननु उक्तरीत्यौदयिकार्कादेव भुक्तभोग्यासवः साध्याः सूर्योदयात् तत्कालावधि तद्राशेर्लग्नत्वात्। न हि इष्टकाले तद्राशि-

र्लग्नं येन तद्गत भोग्यासव: साधव:। नापि तात्कालिकार्कात् सूर्योदयावधिकास्ते तात्कालिकार्कस्य सूर्योदयकालिकत्वाभावात्। तत् कथं भगवता सर्वज्ञेन भास्करात् इष्टकालिकात् इत्युक्तमिति चेत् । उच्यते । उदयानां नाक्षत्रत्वात् नाक्षत्रघट्यो ग्राह्यास्तास्तु असिद्धाः । सर्वत्र साधितघटीनां सावनत्वात्। तासां नाक्षत्रीकरणमावश्यकम् अन्यथा तद्गणनानुपपत्तेः। तदर्थं ग्रहोदयप्राणहता इत्याद्युक्त्या षष्टिसावनघटीषु गतिकलोत्पन्नासवोऽधिका नाक्षत्रत्वार्थं तदेष्टसावनघटीषु कियदधिकमित्यनुपातेन आगतफलयुक्ताः सावनाः कार्याः । तत्र आगतफलस्य क्षेत्रावयवोदयासुभिः अष्टादशशतकलास्तदा गतासुभिः का इत्यनुपातसिद्धाष्टादशशतोदयास्वोः गुणहरयोः तुल्यत्वेन नाशात् अवशिष्टचालानस्वरूपः सूर्ये योजितः। सावनास्तु अविकृता एव स्थिताः । तथा च इष्टकालिकोऽर्को यत्काले लग्नं तत्कालात् पूर्वगृहीतसावनघट्यो नाक्षत्रा एव भवन्तीति भगवता सम्यगुक्तम् । भास्करादिष्टकालिकादिति । अनेन एवाभिप्रायेण भास्कराचार्यैरपि उक्तम् ।

लग्नार्थमिष्टघटिका यदि सावनास्ताः
तात्कालिकार्ककरणेन भवेयुराक्ष्यः ।
आक्ष्योदया हि सदृशीभ्य इहापनेयाः
तात्कालिकत्वमथ न क्रियते यदाक्ष्यः ।। इति ।। ४६ ।।

अथ अभीष्टघटिकाभ्य ऋणधनलग्नसाधनं श्लोकाभ्यामाह । अभीष्टकाले याः सूर्योदयघटिकाः तासामसुभ्यो भोग्यासून् शोधयेत् । तदनन्तरं तदेष्यलग्नासून् । सूर्याक्रान्तराशेः अग्रिमराशय एष्यलग्नानि । तेषामुदयासून् अपि तद्वत् क्रमेण शोधयेत् । एवमुक्तरीत्या शेषघटिकासुभ्यो यातान् भुक्तासून् भुक्तराश्युदयासूंश्च व्यस्तक्रमात् तथा शोधयेत् । यो राश्युदयो न शुद्ध्यति सोऽशुद्धस्तेन त्रिंशता गुणितं शेषं भक्तम् । चेत् इत्यनेन शेषाभावे क्रिया न कार्या शून्य फलसिद्धेः इति सूचितम् । फलेन भागादिना भुक्तसम्बद्धेन हीनं चकारात् अशुद्धराशिसंख्यामानं भोग्यसम्बद्धभागादि फलेन युक्तं चकारात् अन्तिमशुद्धराशिसंख्यामानं तदागतराश्यादिमानसम्बन्धिसम्पातौ अधिकक्रान्तिवृत्ता एकप्रदेशरूपं तदा अभीष्टकाले क्षितिजे क्षितिजवृत्त पूर्वविभागे लग्नं समसूत्र सम्बन्धेन लग्नस्वरूपोक्त्या अभीष्टकाले तल्लग्नं स्यात् इत्यर्थः ।

फलादेशार्थं ग्रहाणां रेवतीयोगतारासन्नावधितो ग्रहात् तत्पङ्क्तिस्थलग्नस्य अपि फलादेशार्थं तत् एव समुचितं ग्रहणमित्यागतलग्नं सम्पातौ अधिकमयानांशैर्व्यस्तं संस्कुर्यादिति स्वतः सिद्धमिति न उक्तम् । न च पूर्वमेव सूर्यस्य अयनांश संस्कारानुक्त्या लग्नमपि यथास्थितमिति अयनांशव्यस्त संस्कारोऽनुक्तः संगत इति वाच्यम्। स्थूलत्वात् लग्नार्थं सूर्येऽयनांश संस्कारस्तस्य तत्संस्कृताद्ग्रहात् क्रान्तिच्छायाचरदलादिकमित्यत्र आदिपदसंगृहीतत्वाच्च । अथ भगवता अयनांशव्यस्त संस्कारः कण्ठेन नोक्त इति लग्नं सम्पातौ अधिकमेव फलादेशार्थं गृहीतम् । सूर्यस्य तु लग्नार्थम् अयनांशसंस्कारस्य आवश्यकत्वात् । उदयानां सम्पातौ अधिकत्वात् इति चेत् मैवम् ।

भागहीनं च युक्तं च तल्लग्नं क्षितिजे तदा ।

इत्यर्द्धस्य आवृत्याग्रिमश्लोकादिस्थ प्राक्पश्चादित्यस्य आवृत्या च प्राक्-पश्चात् चक्रचलने भागैः अयनांशैः क्रमेण हीनं युक्तं लग्नं स्यात् इत्यर्थेन भगवतः कण्ठोक्तेः सिद्धत्वाच्च ।

अत्रोपपत्तिः । अभीष्टघटिकासुभ्यो भोग्यगतासुशोधने सूर्याक्रान्तराशिर्लग्नं न इति ज्ञातम् । ततोऽग्रिमपश्चाद्राश्युदयशोधने शुद्धो राशिः लग्नं न इति ज्ञातम् । ततो यो राश्युदयो न शुद्ध्यति स एव राशिः अभीष्टकाले क्षितिजे लग्न इति । तस्य को भागो लग्न इति ज्ञानार्थमशुद्धराश्युदयासुभिः त्रिंशद्भागास्तदा शेषासुभिः क इत्यनुपातेन भुक्तभोग्यक्रमेण लग्नराशेर्भोग्यभुक्तभागादिकं सिद्धम्। तत्र भोग्य-भागास्त्रिंशतः शुद्धा गता भागा लग्नराशेः भवन्तीति अशुद्धराशिसंख्यातो भोग्यभागा शुद्धा लग्नं भवति । भुक्तभागाश्च भुक्तराशिसंख्यायां युक्ता लग्नं भवति। अयनांश व्यस्तसंस्कारो ग्रहपङ्क्तिस्थत्वार्थम् अन्यथा फलादेशार्थं ग्रहा अयनांशसंस्कृता ग्राह्या इति सर्वं निरवद्यम् ।। ४८ ।।

तात्कालिक (सायन) सूर्य के गतासु या भोग्यासु बनाकर, जिस राशि पर सूर्य हो उस राशि के उदयासुओं से गुणाकर ३० का भाग देने से क्रमशः गत और भोग्य असु होते हैं । इष्ट घटिकाओं के असुओं में भोग्यासुओं को घटाकर आगे की राशियों के उदयासुओं को भी जहाँ तक घट सके घटाएं । जिस राशि के उदयासु नहीं घट सकें उनको अशुद्ध कहते हैं । घटाने से बचे शेष को ३० से गुणाकर अशुद्ध का भाग देने से जो अंशादि फल मिले उसको अशुद्ध से पूर्व जितनी मेष आदि राशियाँ हों उसमें जोड़ने से अथवा घटाई हुई राशि तथा अंशादिकों के इस अंशादिफल में जोड़ने से तात्कालिक उदय लग्न होता है । इसी प्रकार भुक्तासुओं को और भुक्तराशियों के उदयासुओं को इष्टघटिकाओं में घटाकर पूर्वोक्त रीति से गुणन भजन द्वारा जो अंशादि फल हो उसको पूर्वोक्त अशुद्ध पूर्व मेषादि राशियों में घटाने से लग्न होता है । (यह लग्न सायन होता है इसलिये अयनांश घटाने से निरयण लग्न होगा) ।। ४६–४८ ।।

उपपत्तिः——तात्कालिकसायनार्कादिष्टकालाद् भोग्यासवः साध्याः अनन्तरं लग्नानयनम् । अत्र लग्नं नाम क्षितिजवृत्ते (उदयक्षितिजे) क्रान्तिवृत्तस्य लग्नप्रदेशः। क्रान्तिवृत्तस्य यो हि भागः क्षितिजवृत्तं स्पृशति तदेव लग्नस्थानं राश्यादिकम् । यथोक्तं भास्कराचार्येण——

''यत्र लग्नमपमण्डलं कुजे तद् गृहाद्यमिह लग्नमुच्यते प्राचि'' इति।

अत्र कपिलेश्वरः——अतः सूर्योदयकाले सूर्यसममेव लग्नं ततोऽनन्तरं सूर्याक्रान्तराशेर्भोग्यांशास्तदग्रिम राशयो लग्नराशेर्भुक्तांशाश्च क्रमेणोद्गता भवन्ति। अतो-ऽभीष्टकाले सूर्यलग्नयोरन्तरे भवृत्ते सूर्याक्रान्तराशेर्भोग्यांशास्तदग्रिमा राशयो लग्नराशे-र्भुक्ताशाश्च भवन्ति । तत्सम्बन्धिनोऽहोरात्रे क्षितिजसूर्यान्तरे सूर्यस्य भोग्यांसवस्तदग्रिम-

राश्युदयासवो लग्नराशिभुक्तासवश्चेष्टकाले तिष्ठन्ति । अतोऽभीष्टासुभ्योखेर्भोज्यासूँस्तदग्रिमराश्युदयासूँश्च विशोध्य शेषाद्विलोमेन लग्नराशेर्भुक्तांशमाने ज्ञाते लग्नज्ञानं सुबोधम् । तत्र राश्युदयानां नाक्षत्रत्वात् इष्टकालासुभिरपि नाक्षत्रैरेव भवितव्यम्। उदयकालिकार्ककेन्द्रविन्दुक्षितिजान्तरालेऽहोरात्रवृत्ते नाक्षत्रेष्टकालः । अभीष्टकालिकार्ककेन्द्रक्षितिजान्तरेऽहोरात्रे सावनेष्टकालः । उदयार्कतोऽभीष्टार्को यावदन्तरितस्तदुत्पन्नासुभिरेव सावनेष्टो नाक्षत्रेष्टादन्तरितो भवति । अतः सावनेष्टतो नाक्षत्रेष्टज्ञानार्थमर्कस्य तात्कालिकीकरणं युक्तमेव प्रतीयते । अत आह भास्करः—

''लग्नार्थमिष्टघटिका यदि सावनास्तास्तात्कालिकार्करणेन भवेयुराक्ष्यः'' इति।

अतो रवेर्भोग्यभुक्तासुसाधनयुक्तिः—यदि त्रिंशद्भिरंशैः सायनरविनिष्ठराशेरुदयासवो लभ्यन्ते तदा सायनरवेर्भुक्तांशैर्भोग्यांशैर्वा किमित्यनुपातेन रवेर्भुक्तभोग्यासवः

$$= \frac{\text{स्वोदयासु भुक्तभोग्यांश}}{३०}$$

अत्र यतोऽभीष्टकालः = र.भो.अ. + रा.उ.अ. + ल.भु.अ. ।

अतोऽभीष्टकालासुभ्यो रवेर्भोग्यासवो यथासम्भवमग्रिमराश्युदयासवश्च विशोध्यन्ते तदा लग्नस्य भुक्तासवोऽवशिष्यन्ते। अतोऽनुपातः यद्येभिरशुद्धराश्युदयासुभिस्त्रिंशन्ंशा लभ्यन्ते तदा शेषासुभिरेभिः किमिति लब्धा लग्नस्य भुक्तांशाः $= \frac{\text{३० × शे.}}{\text{अ.रा.उ.अ.}}$

ततो भुक्तांशाः शुद्धराशिसङ्ख्यया युक्ता राश्यादि लग्नं स्यात् एवं क्रमलग्नानयने भवति ।

उत्क्रमलग्नं लग्नादग्रस्थे रवौ रात्रिशेषे सम्भवति । यत्रेष्टकालो रविभुक्तासुरविपृष्ठराश्युदयासु-लग्नभोग्यासुयोगमितः । अतोऽभीष्टासुभ्यो रवेर्भुक्तासून्यथासम्भवं तत्पृष्ठगतराश्युदयासूँश्च विशोध्य शेषेणानुपाताल्लग्नस्य भोग्यांशा भवन्ति । तांस्तस्मादशुद्धराशेर्विशोध्येत्तदा मेषादितो लग्नं भवेत् । परञ्चात्रानुपातीयक्षेत्राणां गोलसन्धेः सम्भवादागतं लग्नं सायनं भवति । फलादेशार्थं तस्मादयनांशानपास्य स्फुटं निरयणं कुर्यात् । अत उपपन्नमाचार्योक्तं सर्वम् ।।

किन्त्वत्र रवेर्भुक्तभोग्यासुसाधने लग्नस्य भुक्तयोग्यांशसाधने चानुपातीयक्षेत्रयोर्वैजात्यवशात् फलं न वास्तवमिति मया प्रतिपादितम् । अतोऽत्र प्रसङ्गाल्लाघवप्रकारेण सूक्ष्मलग्नानयनं विलिख्यते । इष्टकाले याम्योत्तरवृत्ताद्रविर्यावदन्तरितस्ता रविगतध्रुवप्रोतवृत्तयाम्योत्तरवृत्तयोरन्तरे नाडीवृत्ते नतघट्यः। नतघट्य षड्गुणा नतांशाः। पूर्वकपाले रवौ नतांशानां तथा रविगतध्रुवप्रोतवृत्तं नाडीवृत्ते यत्र लगति ततो गोलसन्धिं याव द्विर्विषुवांशानां च योगो दशमलग्नस्य विषुवांशाः ('मध्यलग्नमिति दक्षिणोत्तरे' इत्युक्तेः) परकपाले तु नतांशविषुवांशयोरन्तरेण दशमविषुवांशा भवन्ति। ततो 'या बाहुजीवा विषुवांशकानाम्' इत्यादिकमलाकरोक्तेन, चापीयत्रिकोणमित्या वा दशम-

लग्नं (याम्योत्तरक्रान्तिवृत्तयोगरूपं) दशमलग्नस्यापमं, तद्द्युज्याचापं याम्योत्तरक्रान्तिवृत्ताभ्यामुत्पन्नं कोणं यष्टिसंज्ञं च ज्ञात्वा सौम्ययाम्यगोलक्रमेण दशमलग्नस्य द्युज्याचापांशा अक्षांशैर्युतोनास्तदा दशमलग्नसमस्थानयोरन्तरे याम्योत्तरवृत्तीयचापमानं कोटिसंज्ञम्, दशमलग्नपूर्वक्षितिजा: (लग्ना-)न्तरे क्रान्तिवृत्ते कर्णः, लग्नसमस्थानयोरन्तरे क्षितिजे भुजः अत्र चापजात्यत्र्यस्त्रे कर्णकोटिभ्यां जायमानं कोणं यष्टिसंज्ञं, कोटिभुजाभ्यामुत्पन्नं समस्थानगतं कोणं समकोणं कोटिमानं चावगत्य चापीयत्रिकोणविधिना कर्णमानं सुबोधम्। तद्राश्यादिकर्णमानं दशमलग्ने युक्तं तदा स्फुटं सायनं लग्नं स्यादिति ।

अतः —

''षड्गुणितो नतकालो रवेर्नतांशा भवन्ति, प्राक्परयोः ।
तैर्युक्तोना दिनकृद्विषुवांशाः स्युः खलग्नविषुवांशाः ।।
ततः खलग्नं ज्ञात्वा, तस्मादपमं दिनज्यकाभागम् ।।
याम्योत्तरापमाभ्यामुत्पन्नं यष्टिकोणाख्यम् ।।
गोलक्रमात् खलग्नद्युज्याचापं युतोनितं स्वाक्षैः ।
तामिह कोटिं, मत्वा विषुवांशं, वै परापमं यष्टिम् ।।
साध्यास्ततो भुजांशास्तैर्युक्तं मध्यकं, स्फुटं लग्नम् ।
सूक्ष्मं गोलज्ञानां समक्षमेवं बुधैश्चिन्त्यम्'' ।।

इति सूक्ष्मलग्नानयनमादरणीयं सुधीभिरिति ।। ४६—४८ ।।

**प्राक्पश्चान्नतनाडीभिस्तस्माल्लङ्कोदयासुभिः ।
भानौ क्षयधने कृत्वा मध्यलग्नं तदा भवेत् ।। ४९ ।।**

अथ प्रसंगान्मध्यलग्नानयनं लग्नानयनविशेषसूचनार्थमाह । दिनार्द्धन्तर्गतदिनगतशेषहीनं दिनार्द्धं क्रमेण प्राक् पश्चिमं नतं रात्र्यर्द्धान्तर्गतरात्रिशेषगतयुतं दिनार्द्धं प्राक् पश्चिमं नतं जातकपद्धतौ प्रसिद्धम् । नतघटिकाभिः तस्मात् तात्कालिकसूर्यात् । निरक्षदेशराश्युदयासुभिः पूर्वोक्तप्रकारेण सिद्धराशिभागादिकं प्राक्पश्चिमनतक्रमेण सूर्ये क्षयधने हीनयुते कृत्वा तदा अभीष्टकाले मध्यलग्नं दशमलग्नं स्यात् । अयमभिप्रायः । प्राङ्नते नतघट्यसुभ्यः सूर्याक्रान्तराशेः निरक्षोदयासुभिर्भुक्तासून् विशोध्य तत्पूर्वराशीनां निरक्षोदयासूंश्च विशोध्य शेषं त्रिंशद्गुणम् अशुद्धनिरक्षोदयभक्तं फलेन भागादिना शोधितगृहसंख्यातुल्यराशिभिश्च सूर्यो हीनो मध्यलग्नम् । एवं पश्चिमनते नतघट्यसुभ्यः सूर्याक्रान्तराशेः निरक्षोदयासुभिर्भोग्यासून् विशोध्य तदग्रिमराशीनां निरक्षोदयासूंश्च विशोध्य शेषं त्रिंशद्गुणम् अशुद्धनिरक्षोदयभक्तं फलेन भागादिना शोधितग्रहसंख्यातुल्य राशिभिश्च सूर्यो युतो मध्यलग्नम् एवं भुक्तभोग्यासुभ्योऽल्पकालेऽपि इष्टासवस्त्रिंशद्गुणिताः सूर्याक्रान्तराश्युदयभक्ताः फलेन भागादिना हीनयुतोऽर्को मध्यलग्नं स्यात् । अनेन प्रकारेण लग्नमपि साध्यम् ।

अत्रोपपत्तिः। उर्द्धयाम्योत्तरवृत्ते यः क्रान्तिवृत्तप्रदेशो लग्नः तन्मध्यलग्नम् । तत्साधनार्थम् अभीष्टकाले याम्योत्तरवृत्ताद्द्युरात्रवृत्ते सूर्यो यावता घटीविभागादिना नतः स नतकालः । प्राक्पश्चिमकपालयोः प्राक्पश्चिमसंज्ञः । अर्द्धरात्रं आरभ्य दिनार्द्धपर्यन्तं प्राक्कपालम् । दिनार्द्धमारभ्यार्द्धरात्रपर्यन्तं पश्चिमकपालम् । तत्र प्राङ्नते सूर्यस्य याम्योत्तरवृत्तात् पूर्वस्थत्वेन सूर्यात् पूर्वराशिभाग एव याम्योत्तर-वृत्त लग्न इति सूर्यादूनम् ऋणलग्नरीत्या नतघटीभिः साध्यम् । पश्चिमनते तु सूर्यस्य याम्योत्तरवृत्तात् पश्चिमस्थत्वे न सूर्याग्रिमराशेर्मध्यलग्नत्वात् सूर्यात् अधिक क्रमलग्नरीत्या नतघटीभिः साध्यम्। तत्र उद्वृत्तात् याम्योत्तरवृत्तस्य पञ्च-दशघट्यन्तरेण नियतं सत्वात् निरक्षोदयासुभिः साध्यमिति । शेष क्रियोपपत्तिस्तु अतिस्पष्टतरेति संक्षेपः ।। ४९ ।।

पूर्व-पश्चिम नत घटिका और तात्कालिक सायन सूर्य से लग्नानयन की भाँति लङ्कोदयासुओं से साधन करने से जो राश्यादिक फल प्राप्त हो उसको सूर्य में ऋण-धन (पूर्वनत हो तो ऋण पश्चिमनत हो तो धन) करने से मध्यलग्न (दशम लग्न) होगा ।। ४९ ।।

उपपत्तिः—(अत्र कपिलेश्वरः)—अभीष्टकाले क्रान्तिवृत्तस्य यः प्रदेशः ऊर्ध्वयाम्योत्तरवृत्ते लगति तदेव राश्यादिकं दशमं लग्नं भवति। वस्तुतः स्वक्षितिज-क्रान्तिवृत्तयोः पूर्वसम्पातस्य प्रथमलग्नसंज्ञात्वात् पूर्वसंस्थया निवेशितेषु कान्तिवृत्तीय-यद्वादशविभागेषु दशमविभागस्यारम्भ उर्ध्वयाम्योत्तरवृत्त एव भवतीति याम्योत्तरापमवृत्त-योरूर्ध्वसम्पातो दशमलग्नमित्यन्वर्थकमेव नाम। तदेव दशमं लग्नं मध्यलग्नमप्युच्यते। तथा चाह भास्करः 'मध्यलग्नमिह दक्षिणोत्तरे' इति। अतस्तत्र दशमलग्ने याम्योत्तरवृत्त-मेव क्षितिजम्। क्षितिजादर्ककेन्द्रावधिः द्युरात्रे इष्टकालः। तेन याम्योत्तरवृत्ताद्रविपर्यन्त-महोरात्रवृत्ते वा रविगतध्रुवप्रोतवृत्तं नाडीमण्डले यत्र लगति तस्माद्याम्योत्तरावधिः नाडी-वृत्ते पूर्वापरनतसंज्ञकः कालः। तत्र पूर्वनते रवेर्भुक्तासवस्तत्पृष्ठराश्युदयासवो दशम-लग्नस्य भोग्यासवश्च नाडीवृत्ते भवन्ति। अतस्तत्सम्बन्धिनो रवेर्भुक्तांशास्तत्पृष्ठराशयो दशमलग्नभोग्यांशाश्च नाडी वृत्ते भवन्ति। अतस्तत्सम्बन्धिनो रवेर्भुक्तांशास्तत्पृष्ठराशयो दशमलग्नभोग्यांशाश्च क्रान्तिवृत्ते रविदशमलग्नयोरन्तरे तिष्ठन्तीति यद्येतानानीय रवितो विशोधयेत्तदा दशमलग्नं स्यादेवार्कस्याग्रे विद्यमानत्वात् । परकपाले (पश्चिमनते) तु रवेर्भोग्यांशास्तदग्रराशयो दशमलग्नभुक्तांशाश्च क्रान्तिवृत्ते रविदशमलग्नान्तरे भवन्त्यतो रविमध्ये एषां योगेन दशमलग्नं भवतीत्यपि स्पष्टमेव तदाऽऽर्कस्य मध्यलग्नात्पृष्ठ-गतत्वात्। तत्रोदयासवो निरक्षदेशीया अतो गृह्यन्ते यतः क्षितिजरूपं याम्योत्तरं ध्रुवाश्रित-मर्थाद्याम्योत्तरवृत्तं ध्रुवप्रोतवृत्तमपि भवति। ध्रुवाश्रितेषु देशेषु अक्षांशानामभावात्सर्वं निर-क्षोदयैरेव कर्म भवतीति विदुषामतिरोहितमेवातो दशमलग्नसाधनं लङ्कोदयैः पूर्वनते भुक्तप्रकारेण, परनते भोग्यप्रकारेण चेति सर्वमुपपन्नम् ।

अथात्र प्रसङ्गान्नतनिरपेक्षं दशमलग्नसाधनं विलिख्यते ।
सप्तमलग्नमिनं परिकल्प्य साध्यं घस्रदलं तदिहेष्टम् ।

व्यक्षोदयवशतो यल्लग्नं भोग्याद् वेद्यं तद्दशमाङ्गम्।।
अथवा—लग्नं प्रथमं सूर्य मत्वा रजनीदलमिह साध्यं विज्ञैः।
तत्तुल्येष्टे व्यक्षैर्भुक्तैराद्यं लग्नं यद्दशमं तत्।।
श्लौकौ स्पष्टार्थाविव।

युक्तिरपि गोलज्ञानां कृते सरलतरा । प्रथमलग्नं सषड्भमस्तलग्नं भवति। तत्तुल्यो रविरस्तक्षिजिगतो भवति । तदानीमिष्टकाले दिनार्धतुल्ये क्षितिजं याम्योत्तरवृत्तमेवातो भोग्यप्रकारेण प्रथमलग्नं दशमाख्यं भवेदिति किं चित्रम् ।

एवं प्रथमलग्नतु[illegible]ऽर्के रात्र्यर्धसमे इष्टकालेऽपि क्षितिजं याम्योत्तरमेवातस्तत्रक्षितिजाधोगतत्वादर्कस्य भुक्तप्रकारेण प्रथमलग्नं दशमलग्नतुल्यं स्यादिति युक्तियुक्तमेवेत्यलम् ।। ४९ ।।

सूर्यलग्नयोर्ज्ञानादिष्ट कालज्ञानम्

भोग्यासूनूनकस्याथ भुक्तासूनधिकस्य च ।
सम्पिण्ड्यान्तरलग्नासूनेवं स्यात् कालसाधनम् ।। ५० ।।
सूर्यादूने निषाशेषे लग्नेऽर्कादधिके दिवा ।
भचक्रर्धयुताद्भानोरधिकेऽस्तमयात् परम् ।। ५१ ।।

॥ सूर्यसिद्धान्ते त्रिप्रश्नाधिकारः सम्पूर्णः ॥ ३ ॥

अथ कालसाधनमाह । अथ अनन्तरं लग्नार्कयोर्मध्ये योऽत्यन्तमूनस्तस्य भोग्यासून् अधिकस्य भुक्तासून् सम्पिण्ड्य एकीकृत्यान्तरलग्नासून् सूर्यलग्नमध्ये ये लग्नराशयस्तेषामुदयासून् । चः समुच्चये । एकीकृत्य एवमुक्तप्रकारेण कालस्य सिद्धिः भवति ।

अत्रोपपत्तिः। ऊनादधिकमग्र एव भवतीति ऊनतुल्य लग्नस्य भोग्यकालोऽन्तरस्थराश्युदययुतोऽधिकतुल्यलग्नस्य भुक्तकालेन युतः तल्लग्नयोः अन्तरवर्ती कालः सिद्धः स्यात् ।। ५० ।।

अथ एवं लग्नार्काभ्यां साधितकालस्य दिनरात्र्यन्तर्गतत्वज्ञानमाह । सूर्यात् त्रिराश्यन्तर्गतत्वेन न्यूने लग्ने सति पूर्वप्रकारसिद्धः कालो रात्रिशेषे भवति । सूर्यात् षड्भान्तर्गतत्वेनाधिके लग्ने पूर्वप्रकारसिद्धः कालो दिने स्यात् । षड्भयुतात् सूर्यात् अधिके लग्ने लग्नषड्भसूर्याभ्यामानीतः पूर्वरीत्या कालोऽस्तमयात् सूर्यास्तकालात् परमनन्तरं रात्रौ इत्यर्थः । एतेन रात्रीष्टकाले गते सषड्भसूर्याल्लग्नं साध्यमिति सूचितम् ।

अत्रोपपत्तिः । सूर्योदये सूर्यतुल्यलग्नत्वात् सूर्यात् ऊनाधिके लग्ने क्रमेण रात्रिशेषे दिने च कालः स्यात् । एवम् अस्तकाले सषड्भसूर्यस्य लग्नत्वात् तदधिके लग्ने रात्रौ एव कालः सिद्धेदित्यादि सुगमतरम् ।। ५१ ।।

अथ अग्रिमग्रन्थस्य असंगतित्वनिरासार्थम् अधिकारसमाप्तिं फक्किकया आह । दिग्देशकालानां प्रतिपादनमिदं परिपूर्तिम् आप्तमित्यर्थः । दिशां साधनं शिलातल इत्यादि नियतं तत् सम्बन्धेन समकोणयाम्योत्तरशंकूनां साधनानि अपि दिगन्तर्गतानि अनियतानि । पलभालम्बाक्षादिसाधनं देशनिरूपणं नियतम् । अग्राचरादिसाधनम् अनियतम् । कालसाधनं तद्वशात् छायादिसाधनं च कालनिरूपणम् इति विवेकः ॥

रंगनाथेन रचिते सूर्यसिद्धान्तटिप्पणे ।
त्रिप्रश्नस्याधिकारोऽयं पूर्णो गूढ़प्रकाशके ॥

॥ इति श्रीसकलगणकसार्वभौमबल्लालदैवज्ञात्मजरङ्गनाथगणकविरचिते गूढ़ार्थप्रकाशके त्रिप्रश्नाधिकारः पूर्णः ॥ ३ ॥

लग्न और सूर्य के बीच में जो अल्प हो उसके भोग्यासु तथा जो अधिक हो उसके भुक्तासु साधन कर इन दोनों के योग में अन्तर लग्नासु अर्थात् लग्न और सूर्य के बीच में जितनी राशियाँ हों उनके उदयासुओं को जोड़ने से इष्टकाल होता है ॥ ५० ॥

स्पष्टसूर्य से लग्न न्यून हो तो रात्रिशेष में अर्थात् सूर्योदय से पूर्व का इष्टकाल होगा और अधिक हो तो दिन में अर्थात् सूर्योदय के पश्चात् दिन का इष्टकाल होगा । यदि छः राशियुक्त सूर्य से अधिक लग्न हो तो सूर्यास्त के अनन्तर रात्रि का इष्टकाल होगा ॥ ५१ ॥

उपपत्तिः—(अत्र कपिलेश्वरः)—लग्नानयनोपपत्तिः वैपरीत्येनैवास्योपपत्तिः यो यस्मादग्रतः सोऽधिकः, पृष्ठगतोऽल्पः परं षड्भान्तरे विचार्यो द्वादशराश्यात्मके गोले पूर्वक्रमेण ग्रहाणां भ्रमणदर्शनात् । अत्र राश्यादिप्रमाणेन न्यूनाधिकत्वं न व्यापकम् । गोले कदाचिदग्रगस्य राश्यादि पृष्ठगतराश्याद्यपेक्षयाऽल्पं भवतीति राश्यादिप्रमाणेन न्यूनाधिकत्वसन्देहमपास्तम् ।

अथ दिने लग्नमग्रे सूर्यः पृष्ठे च भवति । तदानीं लग्नार्कयोरन्तरे अग्रगतलग्नस्य भुक्तांशाः पृष्ठगतार्कस्य भोग्यांशास्तयोरन्तर्गतराशयश्च भवन्ति । तेनाधिकस्य लग्नस्य भुक्तांशोत्थभुक्तासून्, अल्पस्यार्कस्य भोग्यांशोत्थ भोग्यासुनन्तरालराश्युदयासूँश्चैकीकृत्य दिनगतेष्टकालो भवति । यदा रविर्लग्नादग्रस्थो (अधिको) भवति तदा रवेरुदयक्षितिजादधोगतत्वाद्रात्रिशेषरूप इष्टकालो भवति । तत्राधिकस्यार्कस्य भुक्तांशोत्थभुक्तासून्, अल्पस्य लग्नस्य भोग्यांशोत्थभोग्यासून्, तयोरन्तर्गतराश्युदयासूँश्च सँयोज्य रात्रिशेषरूपेष्टकालो भवति । एवमुदयक्षितिजादस्तक्षितिजस्य षड्राशिमितान्त-

रत्वादस्तक्षितिजाद्यावताऽन्तरेण रविरधो भवति तावताऽन्तरेण सषड्भ: सूर्य उदय-क्षितिजा(लग्ना) दूर्ध्वगतो लग्नादल्पोऽपि भवति । अतस्तदा पूर्वोक्तविधिना साधित इष्टकालो दिनमानादधिको रात्रिगतश्च भवतीति गोलविदां स्पष्टमेवेत्युपपन्नमाचार्योक्तम्।

परञ्च पूर्व लग्नानयने 'लग्नार्थमिष्टघटिका यदि सावनास्ते तात्कालिकार्क-करणेन भवेयुराक्ष्र्य:' इत्युक्ते: तात्कालिकार्कवशात्सावनेष्टघटिकाभ्यो लग्नानयनं भवति । किन्त्वत्र कालस्याज्ञानात्तात्कालिकार्कासम्भवे औदयिकार्कतो लग्नादिष्टकालो नाक्षत्रो जायते । तत: सावनार्थमुपाय: । एकस्मिन् सावनदिने रविगतिकलोत्पन्नासुयुता नाक्षत्र्य: षष्टिघटिका भवन्ति । अतो रविगतिकलोत्पन्नासुयुतनाक्षत्राहोरात्रासुभि: सावना: षष्टिघटिकास्तदाऽऽनीतनाक्षत्रासुभि: किमित्यनुपातेन व्यावहारिक: सावनेष्टकालो भवितुमर्हति ।

सिद्धान्तशिरोमणौ भास्करेण तात्कालिकार्कस्याज्ञानादौदयिकार्कतो लग्नाच्च सावनेष्टकालोऽसकृद्विधिना साधित:। लग्नानयने लग्नात् कालानयने चाचार्येण सायनार्क-सायनलग्नयोश्चर्चा न कृता। परञ्च राशीनामुदयासुज्ञानं गोलसन्धिं विना न जातु भवितुमर्हतीति क्षेत्रोत्पत्तिदर्शनार्थमयनांशप्रयोजनं स्यादेव गोलसन्धेरेवोदयासु-साधनोपयुक्तक्षेत्राणां प्रवृत्तित्वादतोऽनुक्तमपि सूर्यलग्नस्थाने सायनसूर्यलग्नं ज्ञेयमिति विवेचनीयं सुधीभि: ।। ५०—५१ ।।

॥ पण्डितवर्य बलदेवदैवज्ञात्मज प्रो० रामचन्द्रपाण्डेय द्वारा विरचित सूर्यसिद्धान्त के त्रिप्रश्नाधिकार का हिन्दीभाषानुवाद एवं संस्कृतोपपत्ति सम्पूर्ण ॥ ३ ॥

चन्द्रग्रहणाधिकारः - ४

रविचन्द्रविम्बयोः प्रमाणम्

सार्धानि षट् सहस्राणि योजनानि विवस्वतः ।
विष्कम्भो मण्डलस्येन्दोः सहाशीत्या चतुश्शतम् ॥ १ ॥
स्फुटस्वभुक्त्या गुणितौ मध्यभुक्त्योद्धृतौ स्फुटौ ।

तत्र प्रथमं सूर्यचन्द्रयोर्विम्बयोजनानि तत्स्फुटीकरणं च सार्द्धश्लोकेन आह। षट्सहस्राणि सार्द्धानि सहस्रयार्द्धं पञ्चशतं तत्सहवर्त्तमानानि पञ्चषष्टिशतं योजनानि सूर्यस्य मण्डलस्य गोलरूपविम्बस्य विष्कम्भो व्यासः । चन्द्रस्य गोलाकार विम्बस्य अशीत्या सहाशीत्यधिकं चतुःशतं योजनानि। तौ व्यासौ स्पष्टया निजगत्या गुणितौ निजमध्यगत्या भक्तौ स्फुटौ स्तः । अत्र गणिते व्यासस्य एव विम्बव्यवहारोऽभियुक्तानाम् ।

अत्रोपपत्तिः। त्रिज्यामितकर्णे मध्यमकक्षायां भ्रमणात् तत्र यद्विम्बं व्यासात्मकं तन्मध्यमम् । तत्र स्वल्पान्तरेण मध्यगत्यङ्गीकारात् मध्यगत्येदं तदा स्फुटगत्या किमिति स्पष्टं विम्बं नीचे पृथूच्चेऽणुतरम् । गत्योः परमाधिकन्यूनत्वात् ॥ १ ॥

सूर्यबिम्ब व्यास का प्रमाण ६५०० योजन तथा चन्द्रविम्ब का व्यास प्रमाण ४८० योजन है । इनके व्यास को अपनी अपनी स्पष्टागति से गुणाकर उसमें अपनी अपनी मध्यमागति से भाग देने पर इनके स्पष्ट विम्बव्यास होते हैं ॥ १ ॥

रवेः स्वभगणाभ्यस्तः शशाङ्कभगणोद्धृतः ॥ २ ॥
शशाङ्ककक्षागुणितो भाजितो वाऽर्ककक्षया ।
विष्कम्भश्चन्द्रकक्षायां तिथ्याप्ता मानलिप्तिकाः ॥ ३ ॥

अथ सूर्यविम्बं चन्द्रकक्षायां साधयन् तयोः कलात्मकविम्बानयनं सार्द्धश्लोकेन आह ।सूर्यस्य विष्कम्भः प्रागुक्तः स्पष्टो व्यासः स्वभगणैः सूर्यभगणैः उक्तैः गुणितः चन्द्रभगणैः भक्तो वा अथवा चन्द्रकक्षया वक्ष्यमाणया गुणितः सूर्यकक्षया वक्ष्यमाणया भक्तः चन्द्रकक्षायां चन्द्राधिष्ठिताकाशगोले सूर्यव्यासः स्पष्टो भवति । ततो व्यासयोजनसंख्या पञ्चदशभक्ता सूर्यचन्द्रयोर्विम्बव्यासप्रमाणकला भवन्ति ।

अत्रोपपत्तिः । चक्रकलाभिः चन्द्रकक्षायोजनानि तदा एककलया कानीति चन्द्रकक्षास्थितैककलायां पञ्चदशयोजनानि ।अतः चन्द्रस्य स्वकक्षायां स्थितत्वात्

स्पष्टचन्द्रविम्बव्यासयोजनानि पञ्चदशभक्तानि चन्द्रविम्बव्यासकला भवन्ति । एवं सूर्यकक्षायामेका कला सार्द्धशतद्वययोजनैः इति स्पष्टसूर्यव्यासस्तैः भक्तो व्यास कला भवन्ति। तत्र सूर्यस्य लोकैः दूरान्तरात् चन्द्राकाश इव दर्शनात् प्रत्यक्षतो विविक्तान्तरेण दर्शनाभावाच्च चन्द्रकक्षा प्रमाणेन सूर्यविम्बव्यासः सूर्यकक्षया अयं तदा चन्द्रकक्षया क इत्यनुपातेन गणितार्थम् अवस्तुभूतः साधितः । न तु वस्तुतः चन्द्रकक्षायां सूर्यमण्डलावस्थानं सूर्यग्रहणे चन्द्रस्य छादकत्वानुक्तिप्रसङ्गात् । अथ सूर्यस्पष्टव्यासः चन्द्रभगण भक्तखककक्षारूप चन्द्रकक्षया गुणितः सूर्यभगणभक्तखककक्षारूपसूर्य कक्षया भक्त इति खककक्षारूप गुणहरयोर्नाशात् सूर्यभगण गुणितः चन्द्रभगणभक्त इति पूर्वं कक्षयोः अनुक्तेः अयं प्रकारो मुख्यत्वात् प्रथममुक्तः ततश्चन्द्रकक्षासिद्धसूर्य-विम्बव्यासः पञ्चदशभक्तः सूर्यविम्बव्यासकलाः सिद्धा इत्युपपन्नमुक्तम् ।। २—३ ।।

पूर्वोक्त प्रकार से स्पष्ट किये हुए सूर्यबिम्ब के व्यास को रविभगण से गुणाकर चन्द्रभगण से भाग देने पर अथवा चन्द्रकक्षा से गुणाकर सूर्यकक्षा से भाग देने पर लब्धि चन्द्रकक्षा में अथवा चन्द्राधिष्ठित आकाशगोल में स्पष्ट सूर्यविम्ब व्यास होता है । स्पष्ट सूर्यव्यास और चन्द्रव्यास में १५ का भाग देने से चन्द्रकक्षा में सूर्य और चन्द्र के कलादि व्यासमान होते हैं ।। २—३ ।।

उपपत्तिः—विम्बव्यासमानं वस्तुतः दृश्य विम्बस्यैव व्यासो भवति तच्च वास्तवविम्बमानस्य अर्धाल्पमेव भवति । आचार्यसुधाकरः वास्तवचन्द्र श्रृङ्गोन्नतौ आदावेव प्रतिपादितम् । परन्त्वत्र स्वल्पान्तरत्वादाचार्यैः विम्बार्धाल्पमेव स्वीकृत्य सिद्धान्तः प्रतिपादितः ।

दृष्टिस्थानाद् ग्रहबिम्बकेन्द्रोपरिगतं सूत्रं कर्णः कर्णः। दृष्टिस्थानाद् ग्रहविम्बोपरि स्पर्शरेखा कोटिः। ग्रहकेन्द्रात् स्पर्शरेखोपरि लम्बः ग्रहयोजनव्यासार्धं भुजः। भुज-सम्मुखकोणो दृष्टिस्थानगतः स्फुटबिम्बार्धकला । ततस्त्रिकोणमित्याः—

$$\text{ज्या} \angle \text{ स्पदृके} = \text{ज्या} \frac{\text{स्फुवि}}{२} = \frac{\text{त्रि} \times \text{केस्प}}{\text{दृके}} = \frac{\text{त्रि} \times \frac{१}{२}\text{यो}'\text{व्या}}{\text{क}} = \frac{\text{स्फुवि}}{२}$$

स्वल्पान्तराज्ज्याचापयोरभेदात् ।

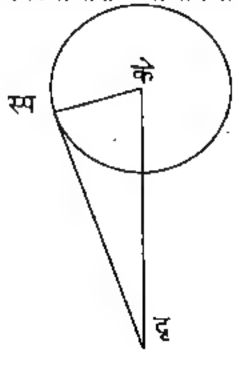

$$\text{अतः} \quad \frac{\text{त्रि} \times \text{यो}'\text{ व्या}}{\text{क}} = \text{स्फुवि}.$$

$$\frac{\text{त्रि} \times \text{योव्या}}{\text{मक}} = \text{मवि}.$$

$$\text{मिथोः भजनेन } \frac{\text{मक}}{\text{क}} = \frac{\text{स्फुवि}.}{\text{मवि}.} \quad (१)$$

स्वल्पान्तराद् यदि योव्या = यो'व्या ।

उच्चस्थाने बिम्बं लघु गतिश्च लध्वी । नीचस्थाने बिम्बं विपुलं गतिश्च महती। अतो बिम्बयोर्निष्पत्तिर्गत्योर्निष्पत्तिसमा ।

ततः (१) अस्य रूपान्तरम् $\frac{\text{मक}}{\text{क}} = \frac{\text{स्फुग}}{\text{मग}}$, अतः $\text{क} = \frac{\text{मक} \times \text{मग}}{\text{स्फुग}}$ ।

स्फुटबिम्बेऽस्योत्थापनेन $\text{स्फुवि.} = \frac{\text{त्रि} \times \text{यो}'\text{व्या}}{\text{क}} = \frac{\text{त्रि} \times \text{स्फुग} \times \text{यो}'\text{व्या}}{\text{मक} \times \text{मग}}$

स्वल्पान्तरात् ।

अत्र यदि स्वल्पान्तरात् मध्यमकर्णः स्फुटकर्णसमः, तदा स्फुवि

$= \frac{\text{त्रि} \times \text{स्फुग} \times \text{योव्या}}{\text{क} \times \text{मग}}$ । अतस्तदा $\frac{\text{क स्फुविं}}{\text{त्रि}} = \text{यो}'\text{व्या} = \frac{\text{स्फुग} \times \text{योव्या}}{\text{मग}}$

मध्यगतिस्थाने दृके, दृस्प, यष्टिभ्यां वेधेन यत् केस्पमानं द्विगुणं तदेव योव्या मानं तथा स्फुटगतिमाने यत् केस्पमानं द्विगुणम् तत् यो व्यामानं ज्ञेयम् ।

एवमत्र रविचन्द्रयोर्बिम्बे दीर्घवर्त्तुलाकारे तदा ग्रहकेन्द्रात् स्पशरिखोपरि यो लम्बस्तद्द्विगुणोऽभीष्टव्यासो व्यवहारयोग्यः स्वल्पान्तरात् मध्यस्फुटकर्णयोः साम्यात् सिध्यति रविचन्द्रयोः सर्वदा योजनात्मकं विम्बं न सममिति सूर्यसिद्धान्तमतं मदुपपत्त्यैवोपपद्यत इति सुधीभिर्भृशं विचिन्त्यम् ।

अत्र रङ्गनाथनृसिंहादिभिर्गतिकलागतियोजनैश्चानुपातेन योजनबिम्बं यत् साधितम् तत्तु गणितयुक्त्या कक्षास्थं चापात्मकं व्यवहारे स्वल्पान्तराज्ज्याचापयोरभेदादयोग्यं ज्ञेयं गोलविद्भिरित्यलं प्रसङ्गेन ।

वस्तुतो वर्त्तुलाभासबिम्बोपरि दृष्टिस्थानाद्याः स्पशरिखा भवन्ति । बिम्बकेन्दात् तासु ये लम्बास्ते प्रायो मिथः समाना न, तथापीष्टसमये व्यवहारार्थं ते समा इति प्रकल्प्य तात्कालिकयोजनव्यासः साध्यत इति । अधुना रविव्यासश्चन्द्रकक्षायां परिणाम्यते । रविकक्षायामयं रविव्यासस्तदा चन्द्रकक्षायां किमिति ।

लब्धश्चन्द्रकक्षायां रविव्यासः $= \frac{\text{रव्या} \times \text{चक}}{\text{रक}}$

परन्तु खकक्षा स्वभगणहृता स्वकक्षा,

'ग्रहस्य चक्रैर्विहृता स्वकक्षा भवेत् स्वकक्षा'' इति भास्करोक्तेः।

अतः $\text{चक} = \frac{\text{खक}}{\text{चभ}}$ । रक $\frac{\text{खक}}{\text{रभ}}$। अनयोरुत्थापनेन चन्द्रकक्षायां

$\text{रविव्यासः} = \frac{\text{रव्या} \times \text{चक}}{\text{रक}} = \frac{\text{खक} \times \text{रव्या} \times \text{रभ}}{\text{चभ} \times \text{खक}} = \frac{\text{रव्या} \times \text{रभ}}{\text{चभ}}$ ।

अनेन प्रथमः प्रकार उपपद्यते । चन्द्रकक्षायां पञ्चदशभिर्योजनैरेका कला, अतः पञ्चदशभक्ता मानकला भवन्ति । एवं चन्द्रकक्षायां चापात्मकं कलाबिम्बम् । बिम्बकलानामल्पत्वाज्ज्याचापयोः साम्यादेवं कलात्मकं बिम्बं जातमिति ॥ २—३ ॥

अत्र कपिलेश्वरः—आकाशस्थग्रहबिम्बगोलस्य यावान् प्रदेशोऽस्मदादिभिर्दृश्यते स एवास्माकं गणितोपयुक्तो वास्तवो ग्रहबिम्बोऽर्धाल्पः । परन्तु प्राचीना ग्रहबिम्बानामर्धभागं दृश्यमङ्गीकृत्य ग्रन्थानकार्षुस्तदानीमयं स्वल्पान्तरदोषो दोषाभास इति। अस्तु । तत्र तावद्ग्रहबिम्ब व्याससाधनार्थमादौ दृष्टिस्थानाद्ग्रहबिम्बकेन्द्रान्तं दृक्सूत्रस्य बिम्बस्पर्शरेखायाश्च वेधादिना ज्ञानं कृत्वा दृष्टिस्थानाद् ग्रहकेन्द्रान्तं दृक्सूत्रं कर्णः (यथा दृके), दृष्टिस्थानाद्बिम्बस्पर्श रेखा कोटिः (दृस्प), बिम्बव्यासार्ध भुजः (केस्प) अस्मिंस्त्रिभुजे स्पर्शरेखा-बिम्बव्यासार्धरेखाभ्यामुत्पन्नः कोणो नवत्यंशः ∠दृस्पके, दृष्टिसूत्रस्पर्श रेखाभ्यामुत्पन्नो बिम्बार्धक ला ∠ स्पदृके ।

अतो यदि त्रिज्यया दृक्सूत्रं तदा बिम्बकलार्धज्यया किमिति कोणानुपातेन

$$\text{विम्बयोजनव्यासार्धम्} = \text{विव्या}\,\frac{१}{२} = \frac{\text{दृक} \times \text{ज्या स्प.वि}\frac{१}{२}}{\text{त्रि}} = \text{केस्प} \text{ ।}$$

अत्र बिम्बार्धकलानामल्पत्वात्तज्ज्याचापयोरभेदाङ्गीकरणात्

$$\text{विम्बयोजनव्यासार्धम्} = \text{विव्या}\,\frac{१}{२} = \frac{\text{दृक} \times \text{स्प.वि.क.}\frac{१}{२}}{\text{त्रि}}$$

$$\text{एतद्द्विगुणं स्पष्टः बिम्बयोजनव्यासः} = \frac{\text{दृक.} \times \text{स्पविक.}}{\text{त्रि}} \text{ ।}$$

अत्रापि स्वल्पान्तरात् दृष्टिकर्णः = स्पष्टकर्णः ।

$$\text{तदा स्प.वि.व्या} = \frac{\text{स्पक} \times \text{स्प.वि.क.}}{\text{त्रि.}} \text{ । (१)}$$

एवं यदा ग्रहो मध्यकर्णाग्रे स्वमध्यकक्षागतो भवति यदा मध्ययोजनबिम्बव्यासः

$$= \text{म.वि.व्या} = \frac{\text{मक} \times \text{मवि.क}}{\text{त्रि.}} \text{ । (२)}$$

$$\text{अनयो (१) (२) सम्बन्धः} = \frac{\text{स्प.वि.व्या.}}{\text{म.वि.व्या.}} = \frac{\frac{\text{स्पक} \times \text{स्व.वि.क.}}{\text{त्रि}}}{\frac{\text{मक} \times \text{मविंक}}{\text{त्रि}}}$$

$$= \frac{\text{स्पक} \times \text{स्पविंक}}{\text{मक} \times \text{मंविंक}} \text{ ।}$$

यदि स्वल्पान्तरात् स्पक = मक, तदा $\frac{\text{स्पविंव्या}}{\text{मविंव्या}} = \frac{\text{स्पविंक.}}{\text{मंविंक.}}$

एतेन व्यासयोर्निष्पत्तिर्बिम्बयोर्निष्पत्तिसमोपपद्यते ।

अथ दृस्पके अस्मिंस्त्रिभुजे त्रिकोणमित्या बिम्बकलार्धज्या $= \frac{\text{त्रि} \times \text{विं.व्या.}\frac{१}{२}}{\text{क}}$

स्वल्पान्तराज्ज्याचापयोरभेदादियमेव द्विगुणा जातं बिम्बकलामानम् $= \frac{\text{त्रि} \times \text{वि.व्या}}{\text{क.}}$

अस्मिन् स्वरूपे कर्णस्याल्पत्वे बिम्बमानमधिकं, कर्णाधिक्ये बिम्बमानं लघु। अर्थादुच्चस्थाने ग्रहे बिम्बं लघु, नीचस्थाने ग्रहे बिम्बं महदिति सिद्ध्यति । परमोच्चस्थाने ग्रहे गतिर्मन्दा नीचस्थाने ग्रहे गतिर्महती भवतीति गतिफलवासनाविदामतिरोहितमेवातो बिम्बयोर्निष्पत्तिस्तद्गत्योर्निष्पत्तिसमा सिद्धा ।

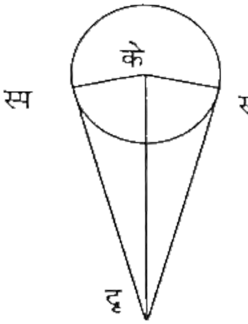

$\therefore \frac{\text{स्पविंक.}}{\text{म.विंक.}} = \frac{\text{स्पग}}{\text{मग.}}$ । पूर्व $\frac{\text{स्पविव्या}}{\text{मविव्या}} = \frac{\text{स्प.वि.क}}{\text{म.वि.क.}}$ ।

इदानीं $\frac{\text{स्प.वि.क}}{\text{मविक.}} = \frac{\text{स्पग}}{\text{म.ग}}$ । $\therefore \frac{\text{स्पवि. व्या}}{\text{मविव्या}} = \frac{\text{स्पग.}}{\text{मग.}}$

$\therefore$ स्पष्टबिम्बयोजनव्यासः = स्प. वि. व्या $= \frac{\text{म.वि.व्या} \times \text{स्पग}}{\text{म.ग.}}$

अतो रविचन्द्रयोः पठितौ बिम्बयोजनव्यासौ 'स्वस्पष्टगत्या गुणितौ मध्यगत्या भक्तौ स्फुटौ बिम्बयोजनव्यासौ स्त' इत्युपपन्नं भवति ।

$$\text{अत्र} = \frac{\text{त्रि} \times \text{विं.व्या.}\frac{१}{२}}{\text{क}}$$

अस्मिन् स्वरूपे तत्तत्स्थाने कर्णस्यानेकरूपत्वे कलात्मकं बिम्बमानं भिन्नं भिन्नं प्रत्यक्षसिद्धमेवापि च, $\frac{\text{म.विव्या} \times \text{स्पग}}{\text{मग}}$

अत्रापि स्पष्ट गतेर्वैषम्यात्स्पष्टयोजनात्मकबिम्बमानमपि. सर्वदा नैकरूपमिति सिद्ध्यति ।

आधुनिका वेधेन ग्रहाणां बिम्बेष्वपि दीर्घवृत्ताकारत्वं निर्णीतवन्तस्तथात्वे दृष्टिस्थानात् कृतबिम्बस्पर्शरेखासु बिम्बकेन्द्राल्लम्बसूत्राणामतुल्यत्वेऽपि व्यवहारे सुखार्थमभीष्टकाले तुल्यत्वं स्वीकुर्वन्तीत्यदोषः ।

अथानीतरविबिम्बयोजनव्यासश्चन्द्रकक्षायां कियानेतदर्थं यदि रविकक्षायामानीत-रविबिम्बयोजनव्यासस्तदा चन्द्रकक्षायां कियानित्यनुपातेन चन्द्रकक्षापरिणतो रविबिम्ब-योजनव्यास: $= \dfrac{\text{स्प.र.व्या} \times \text{चक.}}{\text{र.क.}}$ (१)

अनेन 'शशाङ्ककक्षागुणितो विहृतो वाऽर्ककक्षया' इत्युपपद्यते परन्तु 'ग्रहस्य चक्रैर्विहृता खकक्षा भवेत् स्वकक्षा निजकक्षिकायामि'ति भास्करोक्तै:,

$\text{च.क.} = \dfrac{\text{खकक्षा}}{\text{च.भ.}}$ । $\text{र.क.} = \dfrac{\text{खकक्षा}}{\text{र.भ.}}$ । अतोऽनयोरुत्थापनेन (१)

स्वरूपे चन्द्रकक्षायां रविव्यास: $\dfrac{\text{स्प.र.व्या} \times \text{खकक्षा} \times \text{र.भ}}{\text{खकक्षा} \times \text{च.भ.}}$

$= \dfrac{\text{स्प र व्या} \times \text{र भ}}{\text{च. भ.}}$

एतेन 'रवे: स्वभगणाभ्यस्त शशाङ्कभगणोद्धृत' इत्युपपद्यते ।

अथ च चन्द्रकक्षापरिणतरविबिम्बव्यासस्य कलात्मकमानज्ञानार्थमायास:। 'चान्द्री सहस्रगुणिता जिनरामसङ्ख्या' इति भास्करोक्ते: चन्द्रकक्षा: = ३२४००० योजनानि। कक्षायां कला: = २१६००′ । अत एका कला = ३२४००० ÷ २१६०० = १५ योजनै: सम्पद्यते । ततो यदि पञ्चदशभिर्योजनैरेका कला तदा चन्द्रकक्षापरिणत-सूर्यबिम्बव्यासयोजनै: केत्यनुपातेन चन्द्रकक्षायां रविबिम्बकला $= \dfrac{\text{स्प.र.व्या.यो} \times \text{१}}{\text{१५}}$

वस्तुतो व्यासस्य चापमानेन बिम्बकलामानमुचितम्, परञ्चात्र बिम्बमानस्या-ल्पत्वात् स्वल्पान्तराज्ज्याचापयोरभेदमङ्गीकृत्य बिम्बव्यासवशादुत्पन्नकलामानमेवाङ्गी-कृतमाचार्येणेत्युपपन्नं सर्वम् ।। २—३ ।।

भूमाविम्ब साधनम्

स्फुटेन्दु भुक्तिर्भूव्यास गुणिता मध्ययोद्धृता ।
लब्धं सूची, महीव्यासस्फुटार्क श्रवणान्तरम् ।। ४ ।।
मध्येन्दुव्यास गुणितं मध्यार्कव्यासभाजितम् ।
विशोध्य लब्धं सूच्यां तु तमो लिप्तास्तु पूर्ववत् ।। ५ ।।

अथ उपयुक्तां भूच्छायां श्लोकाभ्यां साधयति । स्पष्टा चन्द्रस्य गति: भूव्यासेन गुणिता मध्यया चन्द्रगत्या भक्ता फलं सूचीसंज्ञं स्यात् । भूव्यासस्पष्टसूर्य विम्बव्यासयो: अन्तरं मध्येन चन्द्रविम्बव्यासेन अशीत्यधिक चतु: शतयोजनेन गुणितं मध्येन सूर्यविम्बव्यासेन पञ्चषष्टिशतयोजनेन भक्तं फलं सूच्यां प्राक्सिद्धायां न्यूनी-कृत्य तुकारात् शेषं तम: । भूच्छायारूपं योजनात्मकं भाभावस्तम इति छायायास्तम-

स्त्वात् । अस्य कलात्मकं मानमाह । लिप्ता इति । त्वन्तस्य पूर्वसम्बन्धानुक्तेः उत्तरत्र सम्बन्धस्तुकारेण सुबोधः । अतएव पूर्ववाक्य समाप्तिस्थ तमः पदमत्र नान्वेति। पूर्ववत् तिथ्याप्ता मानलिप्तिका इति पूर्वोक्तेन भूच्छायायाः कलाः कार्याः ।

अत्रोपपत्तिः । भूव्यासहीनं रविविम्बमिन्दुकर्णाहतं भास्करकर्णभक्तम् ।
भूविस्तृतिर्लब्धफलेन हीना भवेत् कुभाविस्तृतिरिन्दुमार्गे ॥

इति सिद्धान्तशिरोमणौ सूक्ष्मप्रकार उक्तः । अस्य उपपत्तिस्तट्टीकायां व्यक्ता। तत्र भूव्यासोनस्वरविविम्बस्य ४९०० स्वल्पान्तराङ्गीकारेण स्पष्टगतिभक्त मध्यगति-गुणित चन्द्रमध्ययोजनकर्णरूप स्पष्टेन्दुयोजनकर्णो गुणः। तादृशसूर्यकर्णो हरः । तत्र एतत् खण्डस्य कलाकरणार्थं त्रिज्यागुणः चन्द्रकर्णः तादृशो हर इति चन्द्रस्पष्ट-मध्यगत्योः तुल्यगुणहरत्वेन नाशात् त्रिज्यामध्येन्दु योजनकर्णयोः त्रिज्यापवर्त्तनेन हरः पञ्चदश पृथगुक्तः । अग्रेऽवशिष्टौ भूव्यासहीनमध्यार्कविम्बयोजनानां रविस्पष्टगति मध्यमगती गुणहरौ । चन्द्रसूर्ययोः मध्ययोजनकर्णौ अपि क्रमेण गुणहरौ । तत्र कर्णस्थाने लाघवात् तयोर्विम्बयोजनानि गृहीतानि । यद्यपि सूर्यचन्द्रयोः मध्ययोजन कर्णानुसारित्वाभावात् विम्बयोजनग्रहणम् अनुचितं तथापि अल्पान्तराङ्गीकारेण तद्दोषः । इन्दु व्यासार्कव्यासयोः भूगोलाध्यायोक्त कक्षाभूकर्णगुणिता महीमण्डल-भाजिता तत्कर्ण इति । तत्कक्षाव्यासार्द्धत्वे तु सुतराम् ।

तत्रापि स्पष्टार्कविम्बयोजनग्रहणे मध्यार्कयोजनविम्बं सूर्यस्पष्टगति गुणितं सूर्यमध्यगति भक्तमिति सिद्धम् । न च उक्तरीत्या सूर्यस्पष्टमध्यगती गुणहरौ भू-व्यासमध्यार्कविम्बयोजनान्तरस्य उत्पन्नौ न केवलं विम्बस्येति भूव्यासस्तादृशो महीव्यास इत्यनेन कथं सिद्ध इति वाच्यम् । भगवता स्वल्पान्तरेण महीव्यासस्य यथा स्थितस्य एव अङ्गीकारात् । महीव्यास स्फुटार्कश्रवणान्तरमित्युक्त्या मध्यस्थ स्फुटपदस्य उभयत्रान्वयेन अर्कश्रवणसन्निधानेन च सूर्यविम्बस्फुटरीत्यैव मही-व्यासस्य स्फुटत्वसिद्धेश्च ।

अथ एतत् खण्ड सिद्धं फलं भूव्यासात् हीनं भूभायोजनानि । तत्र कला-करणार्थं भूव्यासस्य अपरखण्डस्य त्रिज्या गुणः स्पष्ट चन्द्रगति भक्तमध्यगति गुणित चन्द्रमध्य योजनकर्णरूप स्पष्टयोजनकर्णो हरः । तत्र त्रिज्यामध्ययोजनकर्णौ गुणहरौ गुणेन अपवर्त्य हरस्थाने पञ्चदश चन्द्रस्पष्टमध्यगती गुणहरौ इति सूच्युक्तोपपन्ना । भूभायाः सूच्यनुकारत्वात् प्रथमखण्डं द्वितीयखण्डे हीनं भूभायोजनात्मिका सा पञ्चदश भक्ता कलादिका इत्युक्तमुपपन्नम् । यदि तु भूव्यासहीनं रविविम्बमित्यादौ मध्यविम्बानुक्तेः प्रथममेव स्पष्टार्कविम्बग्रहणं तदा महीव्यासस्य स्पष्टत्वाप्रसिद्ध्या महीव्यासस्फुटार्क श्रवणान्तरमित्येव यथाश्रुतं सम्यक् । परन्तु तदा भूव्यासो नार्क-विम्बस्य सूर्यमध्यस्पष्टगती हरगुणौ अवशिष्टौ वाच्यौ अपि भगवता स्वल्पान्तरत्वात् अनुक्तौ । न च अनुपाते सूर्यचन्द्रयोः मध्ययोजनकर्णौ एव गृहीतौ न स्फुटौ इति मध्यस्फुटगती हरगुणौ अनुत्पन्नौ नोक्तो इति वाच्यम् । चन्द्रस्पष्टयोजनकर्णस्वरूप-

ग्रहणेन उत्पन्नसूच्या अनुक्तत्वापत्तेः । न च चन्द्रकर्णस्य मध्यत्वेन गृहीते बह्वन्तरमतः स्तष्टत्वेन तस्य ग्रहे सूच्युपपन्ना सूर्यकर्णस्य मध्यत्वेन गृहीतेति अल्पान्तरमिति वाच्यम् । मध्यार्कविम्बयोजन ग्रहणेन स्फुटार्कश्रवणानुपपत्तेः । न च उभयत्र अगृहीते प्रत्येकम् अल्पान्तरम् अपि बह्वन्तरमत एकत्र सूर्यगतिग्रहणम् उचितमिति वाच्यम् । विनिगमना विरहात् । पूर्वं सूर्यविम्बस्य एव सूर्यस्पष्टमध्यगती गुणहरौ न महीव्यासस्य प्रान्त्ये तु उभयोरिति स्थूलसूक्ष्मविनिगमके तु प्रान्त्ये सूर्यगति ग्रहणस्य औचित्याच्च ।

अथ महीव्यासस्य प्रथमखण्डस्य चन्द्रगतिग्रहणेन सूच्युक्तौ एव द्वितीय-खण्डस्य भूव्यासोनस्फुटरविविम्बस्य अर्थात् सूर्यगतिग्रहणं सुचितमिति न क्षतिरिति चेत् न । व्याख्याप्रसङ्गे सूर्यगतिग्रहणे मानाभावात् उपपत्तेः अप्रसङ्गाञ्च । अन्यथा अत्रापि चन्द्रगति ग्रहणापत्तेः इति । एतेन चन्द्रमध्यगत्या भूव्यासस्तदा चन्द्रस्पष्टगत्या क इति भूव्यासरूपं खण्डं स्पष्टं सूचीसंज्ञं सूर्यविम्बप्रमाणेन अपरं भूव्यासोन स्फुटरविविम्बखण्डं तदा चन्द्र विम्बप्रमाणेन किमिति स्पष्टं द्वितीयं खण्डं तयोः स्पष्टयोः अन्तरं स्पष्टा भूभेति सर्वमुपपन्नमिति निरस्तम् । उक्तानुपाताभ्यां तयोः स्पष्टत्वसिद्धौ मानाभावात् । स्पष्टत्वस्य अप्रसङ्गाच्च । चन्द्रसूर्ययोः मध्यविम्बा-नुपपत्तेश्च । यत् तु भूव्यासस्य स्पष्टत्वं सूचीरूपमनुपपद्यमानं हृदि ज्ञात्वा भूव्यास एव प्रथमखण्डं भूव्यासोनस्पष्टरविविम्बस्य मध्यकर्णानुपाताभ्याम् अल्पान्तरेण अपवर्तनात् मध्यविम्बे गुणहरौ उत्पाद्यद्वितीयखण्डम् उभयोः अङ्गुलीकरणं चन्द्रमध्यकर्णेन त्रिज्यामिताः कलाः तदाभ्यां का इत्यनुपाते प्रमाणफलयोः फलावर्त्तनेन प्रमाणस्थानापन्नपञ्चदशहरेण इति तयोः अन्तरं भूभेत्युक्तं ज्ञानराजदैवज्ञैः सिद्धान्तसुन्दरे ।

इनावनीव्यासवियोगनिघ्नं शशाङ्कविम्बं रविविम्बभक्तम् ।
फलोनभूव्याससमा कुमासौ शरेन्दुभक्ता कलिकादिका स्यात् ।।

इति ग्रन्थेन । अत्र सूर्यव्यासः स्फुटार्कविम्बयोजनात्मको न मध्ययोजनात्मकः। चन्द्रार्कविम्बे गुणहरौ मध्ययोजनात्मकौ न स्फुटविम्बयोजनात्मकौ तट्टीकाकृत चिन्ता-मण्यभिमतौ । उपजीव्यसूर्यसिद्धान्त विरोधात् । तदुक्तं तदुपपत्यापि तदसिद्धेश्च । अत्र यदपि तट्टीकाकृत् चिन्तामण्युक्तं मध्यमस्य भूभाविम्बस्य आनयनं फलविशेषेण मध्यकर्णौ एव गुणहरौ प्रकल्पयोक्तविधिना सिद्धस्य मध्यविम्बस्य यदि मध्य-गत्यन्तरेणेदं स्फुटगत्यन्तरेण किमित्यनुपातेन स्फुटत्वं मूलकृत् अनुक्तमपि कार्यमिति तद्गत्यन्तरवशेन भूभाया अनुत्पत्या न समञ्जसम् । अन्यथा गतिवशेन साधितार्क-चन्द्र विम्बवद्गत्यन्तरकलाभ्योऽविकृताभ्य एव भूभायाः साधनापत्तेरिति तदसत् ।

'स्फुटेन्दुभुक्तिर्भूव्यासगुणिता मध्ययोद्धृता ।' इति सूर्यसिद्धान्तोक्त युक्ति-सिद्धसूच्यनुक्त्या भूव्यासस्य एव अविकृतस्य ग्रहणादिति अलं परदोषगवेषणा-पल्लवितेन ।। ४—५ ।।

स्पष्टचन्द्रगति को भूव्यास से गुणाकर मध्यमचन्द्र गतिकला से भाग देने पर प्राप्त लब्धि सूची होती हैं । सूर्य के स्पष्ट योजनात्मक बिम्ब में भूव्यास को घटा कर शेष को चन्द्र के मध्यम योजनात्मक बिम्बव्यास से गुणाकर सूर्य के मध्यम योजनात्मक बिम्बव्यास से भाग देने पर जो लब्धि प्राप्त हो उसको पूर्वसाधित सूची में घटाने से शेष तमोमय भूछाया होती है । इस भूछाया को पूर्वोक्त प्रकार से कलात्मक करना चाहिये ।। ४—५ ।।

उपपत्तिः—भूभा नाम भूमेश्छाया । रविकिरणैरुत्पादिता भूमेश्छाया सूर्यात् विरुद्धदिशि पतति । भूमेः वर्तुल स्वरूपत्वात्तच्छाया सूच्याकारा भवति । रविबिम्ब—भूबिम्बयोरूपरि कृताभ्यां स्पर्शरेखाभ्यामियं सूची उत्पद्यते यथा क्षेत्रद्वारास्फुटम् ।

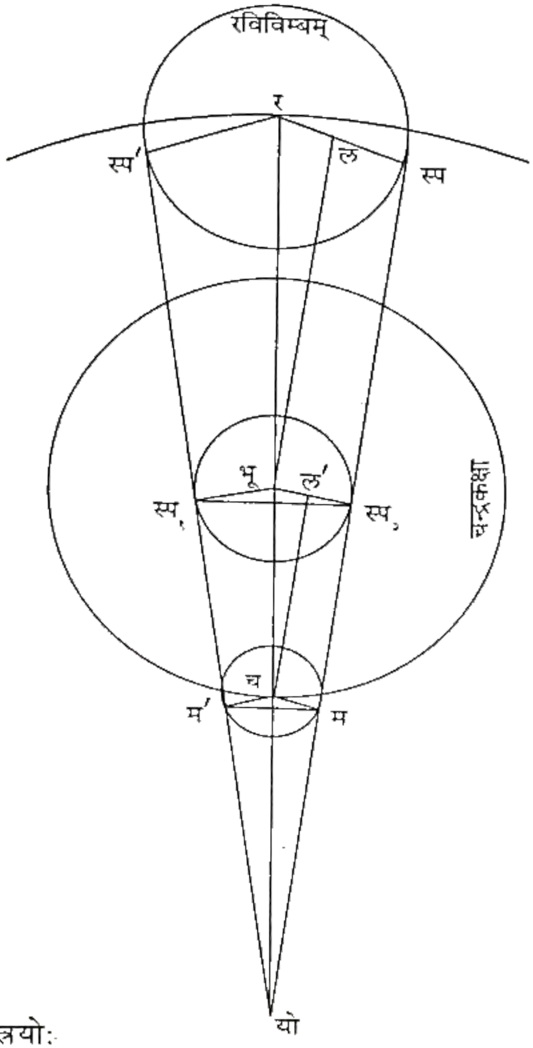

(द्रष्टव्यं क्षेत्रम्) स्पस्प$_{१}$ अ० तथा स्प'स्प$_{२}$ इति द्वे एकधरातलगते रविभूबिम्बयोः क्रमस्पर्शरेखे । रस्प = रविबिम्बव्यासार्धम् । र = रविकेन्द्रम् । भू = भूकेन्द्रम् । भूस्प$_{१}$ = भूव्यासार्धम् । भू विन्दोः रविव्यासार्धोपरि गता रेखा भूल स्पर्श रेखासमानान्तरा । तेन भूस्प$_{१}$ = स्पल । अतो भूव्यासार्धोनं रवि व्यासार्धम् = रल । भूर = रवि- कर्णः । भूच = चन्द्रकर्णः । च बिन्दोर्भूव्यासार्धोपरि स्पर्शरेखासमानान्तरा चलं' रेखा तदा स्प$_{१}$लं' = मच ।

अतः भूस्प — भूलं' = स्प$_{१}$लं'

= चम ।

अथ रभूलं, भूचलं' जात्यत्र्यस्त्रयोः

$$\text{साजात्यात् भूलं}' = \frac{\text{र} \times \text{भूच}}{\text{भूर}} = \frac{(\text{रव्या}\ \frac{१}{२} - \text{भूव्या}\ \frac{१}{२})\ \text{चन्द्रकर्णः}}{\text{रविकर्ण}}$$

$$\text{ततः भूस्प}_1\text{—भूलं}' = \text{भूव्या } \tfrac{1}{2} - \frac{(\text{रव्या } \tfrac{1}{2} - \text{भूव्या } \tfrac{1}{2})}{\text{र.क.}}$$

$$= \text{लं}'\text{स्प}_1 = \text{मव} \quad ।$$

अयमेवाचार्योक्तोभुभाव्यासार्धश्चचन्द्र कक्षास्थोऽतोऽयं द्विगुणश्चचन्द्रकक्षास्थो

$$= \text{भूभाव्यासः} = \text{भूव्या} - \frac{(\text{रव्या—भूव्या}) \times \text{च. क.}}{\text{र. क}} \qquad (१) \quad ।$$

अत्र रविव्यासो भूव्यासश्च चन्द्रकक्षासम्बन्धिनावेवोपयुक्तावतः 'स्फुटस्वभुक्त्या गुणितौ मध्यगत्योद्धृतौ स्फुटा' वित्युक्तप्रकारेण चन्द्रकक्षायां स्पष्टभूव्यासः

$$= \frac{\text{भूव्या} \times \text{चं. स्प. ग}}{\text{चं.म.ग}}, \quad \text{स्पष्टरविव्यासः} = \frac{\text{रव्या} \times \text{स्प. चं ग}}{\text{चं. म. ग}}$$

∴ आभ्यां (१) स्वरूप उत्थापिते भूभाव्यासः

$$= \frac{\text{भूव्या} \times \text{स्प. चं. ग.}}{\text{चं. मं. ग.}} - \frac{\text{चं. स्प. ग.}}{\text{चं. म. ग.}} \; (\text{रव्या} - \text{भूव्या}) \, \frac{\text{चं. क}}{\text{रक}}$$

$$\text{परञ्च चं. क.} = \frac{\text{मं चं. योव्या } \tfrac{1}{2} \times \text{त्रि}}{\text{ज्या चं. वि } \tfrac{1}{2}}, \quad \text{रक} = \frac{\text{मर. यो व्या } \tfrac{1}{2} \times \text{त्रि}}{\text{ज्या र. वि } \tfrac{1}{2}}$$

आभ्यामुत्थापितौ रविचन्द्रकर्णौ तदा भूभाव्यासः—

$$= \frac{\text{भूव्या} \times \text{चंस्प.ग}}{\text{चं.म.ग}} - \frac{\text{चं.स्पग}}{\text{चं.म.ग}} \, (\text{रव्या—भूव्या}) \times \frac{\text{मचं.योव्या}}{\text{ज्या.चं.वि.}} \times \frac{\text{ज्यार.वि.}}{\text{मर.यो.व्या}}$$

अत्राचार्येण $\dfrac{\text{'भूव्या} \times \text{चं स्पग}}{\text{चम.ग.}}$ अस्य सूची संज्ञा कृता ।

अथ यदि स्वल्पान्तरात् चं.मग = चं.स्पग ।

तथा ज्यार.वि. = ज्याचं. वि., तदा भूभाव्यासः

$$= \text{सूची} - (\text{रव्या—भूव्या}) \, \frac{\text{म.चं.यो.व्या.}}{\text{म.र.यो.व्या.}}$$

अस्मात् पूर्वोक्तविधिना कला आचार्यमतेन चन्द्रकक्षायां भूभाबिम्बकला ।

अत उपपन्नमाचार्योक्तम् ॥ ५ ॥

अत्र सुधाकरकृता उपपत्तिः—

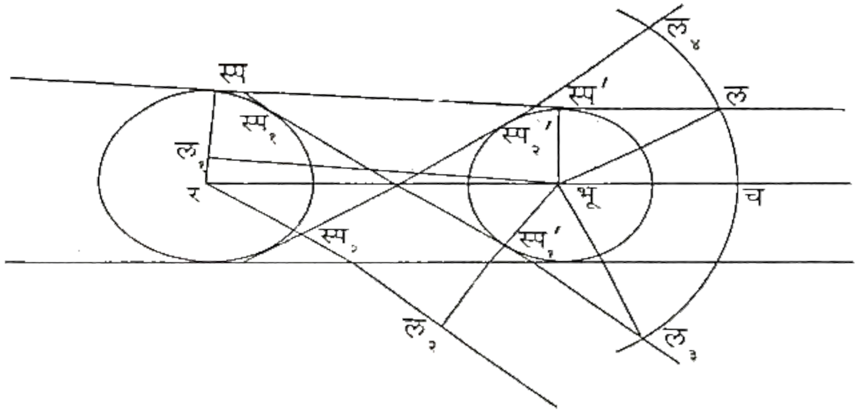

अत्र रल$_१$ = $\frac{१}{२}$ रव्या − $\frac{१}{२}$ भूव्या । रभू = रक । ज्या ∠ ल$_१$ भूर

$$\text{त्रि}\ \frac{(\frac{१}{२}\text{रव्या} - \frac{१}{२}\text{भूव्या})}{\text{रक}} = \frac{\text{त्रि}\ \frac{१}{२}\text{रव्या}}{\text{रक}} - \frac{\text{त्रि}\ \frac{१}{२}\text{भूव्या}}{\text{रक}}$$

ज्या $\frac{१}{२}$रविं —, ज्यारपलं, अस्य चापं चा संज्ञं ज्ञेयम् । ततः

चा = ∠ रभूल$_१$ । ९० = ∠ ल$_१$ भूस्प' ।

९० − चपलं = ∠ स्प' भूल' । सर्वयोगे ∠ रभूल =

चा + ९० + ९० − चपलं । भार्धाच्च्युते जातं भूभाबिम्बदलम् =

∠ चभूल = चपलं − चा । अनेन

"रवितनुदलजीवा लम्बनस्य ज्ययोना
क्षितिजजनितया तत्कार्मुकं कार्यमार्यैः ।
द्विजपतिजपराख्यं लम्बनं तद्विहीनं
भवति वसुमतीभाबिम्बखण्डं सुसूक्ष्मम् ॥"

इति मदुक्तमुपपद्यते ।

अत्रैव स्वल्पान्तराज्ज्याचापयोरभेदात् चा = $\frac{१}{२}$ र वि − र प लं, तदा भूभाबिम्बदलम् = च प लं + र प लं − $\frac{१}{२}$ रविं । एतेन

"दिवाकरनिशानाथपरलम्बनसंयुतिः ।
रविबिम्बार्धरहिता भूभाबिम्बदलं भवेत् ॥"

इति यूरोपदेशीयानां प्रकार उपपद्यते । अयं च स्वल्पान्तरात् ∠ रभूस्प = रविबिम्बार्धम् । ∠ स्पभूस्प' = रविपरमलम्बनम् इति प्रकल्प्य रेखा गणितयुक्त्या

चोपपद्यते । एवं यदि स्प$_{१}$ स्प$'_{१}$ स्प$_{२}$ स्प$'_{२}$ विरुद्धस्पर्शरेखे क्रियेते, तदा चन्द्रकक्षायां ल$_{३}$, ल$_{४}$ विन्द्वोरन्तर्गतो भागः सर्वरविकिरणानां संयोगाभावादवश्यं म्लान इव भवति। अतस्तत्र प्रदेशत एव चन्द्रकान्तिमालिन्यम् । अतएव ∠ ल$_{३}$ भूच इदं कोणमानं भूभाभाबिम्बदलं कल्प्यते, तदा त्रिकोणमित्याऽस्य ज्ञानं सुखेन भवति। यथा स्प$_{१}$ स्प$'_{१}$ समानान्तरा यदि रल$_{१}$ भवेत्, तदा भूल$_{१}$ = $\frac{१}{२}$ रव्या + $\frac{१}{२}$ भूव्या । ज्या ∠ ल$_{२}$ रभू

$$= \frac{\text{त्रि} \times \left(\frac{१}{२}\, \text{रव्या} + \frac{१}{२}\, \text{भूव्या} \right)}{\text{रक}} = \text{ज्या } \frac{१}{२}\, \text{रविं} + \text{ज्यारपलं}$$ । अस्य चापम् = चा

∠ रभूल$_{२}$ = ९०—चा । ∠ स्प$'_{१}$ भूल$_{३}$ = ९० — चपलं द्वयोर्योगे

∠ रभूल$_{३}$ = १८० — चा — चपलं । अमुं भार्धाद् विशोध्य जातं भूभाभाबिम्बदलम् = ∠ ल$_{३}$ भूच = चा + चपलं । अनेन

रवितनुदलजीवा लम्बनस्य ज्ययाऽढ्या
क्षितिजजनितया तत्कार्मुकं कार्यमार्यैः ।
द्विजपतिजपराख्यं लम्बनं तद्युतं सद्—
भवति वसुमतीभाभावपुःखण्डमानम् ।।"

इति मदुक्तमुपपद्यते। अत्रैव स्वल्पान्तराज्ज्याचापयोरभेदाद् यदि चा = $\frac{१}{२}$ र विं + र प लं, तदा भूभाभाबिम्बदलम् = च प लं + र प लं + $\frac{१}{२}$ र विं । अनेन

"दिवाकरनिशानाथपरलम्बनसंयुतिः ।
रविबिम्बार्धसहिता भूभाभाविस्तृतेर्दलम् ।।"

इति मदुक्तं चोपपद्यते । इदमानयनं च पूर्वप्रतिपादितभूभोपपत्तिवत् क्षेत्रयुक्त्योपपद्यते ।

एवमत्र भूभाकलाबिम्बानयनं कमलाकरादिप्रकारतोऽतीवलाघवं गोलविद्भिः परीक्षणीयमित्यलं प्रसङ्गागतविचारेण ।। ४—५ ।।

पर्वसम्भावना

भानोर्भार्धे महीच्छाया तत्तुल्येऽर्कसमेऽपि वा ।
शशाङ्कपाते ग्रहणं कियद्भागाधिकोनके ।। ६ ।।

अथ ग्रहणद्वयसम्भूतिमाह । सूर्यात् सकाशात् षड्भान्तरे भूच्छाया सूर्यापरदिक्त्वात् । तत्तुल्ये स षड्भार्क रूपच्छायाक्षेत्रादिना समे चन्द्रपाते । अपि वा अथवा सूर्यतुल्ये चन्द्रपाते सूर्यचन्द्रयोः प्रत्येकं ग्रहणम् । ननु समत्वा भावेऽपि ग्रहणमित्यत आह । कियद्भागेत्यादि । सषड्भार्कात् अर्कात् वा कतिपयैः भागैः अधिक ऊनेऽपि चन्द्रपाते ग्रहणम् । तथा च न क्षतिः । भागाश्चन्द्रग्रहणे द्वादश निश्चयार्थम् । सूर्यग्रहणे तु नतांशषडंशसंस्कारात् सप्तेति आपाततः ।

अत्रोपपत्तिः । सषड्भार्ककेवलार्कान्यतरतुल्ये चन्द्रपाते शराभावश्चन्द्रस्य तत्तुल्यत्वात् । तदा चन्द्रो भूच्छायायां भवतीति ग्रहणम् । एवं शरसत्वेऽपि मानैक्य-

खण्डात् अल्पे भूच्छायायां मण्डलैकदेशस्य सत्वेन ग्रहणम् । एवं शराभावे मानैक्यखण्डान्यूनशरे च चन्द्रमण्डलं सूर्यमण्डलस्य आच्छादकं भवति परन्तु तत्र शरो नतिसंस्कृतोऽतः सम्यगुक्तमुपपन्नम् ।। ६ ।।

सूर्य से ६. राशि के (१८०°) अन्तर में भूछाया भ्रमण करती है । सूर्य के तुल्य अथवा छः राशि युक्त रवि (सषड्भसूर्य) के तुल्य या उससे कुछ न्यूनाधिक अंशों पर चन्द्रपात होने से ग्रहण होता है ।। ६ ।।

रविचन्द्रयो ग्रहणकाल:

तुल्यौ राश्यादिभिः स्याताममावास्यान्तकालिकौ ।
सूर्येन्दू पौर्णमास्यन्ते भार्धे भागादिभिः समौ ।। ७ ।।

ननु तत् कुत्र भवतीत्यतः तयोः ग्रहणयोः कालमाह । अमावास्यान्तकालोत्पन्नौ सूर्यचन्द्रौ राश्याद्यवयवैः समौ भवतः। पौर्णमास्यन्ते भागादिकौ तुल्यौ सूर्यचन्द्रौ षड्भान्तरे स्याताम् । तथा च अमान्ते सूर्यचन्द्रयोः एकत्रोर्ध्वाधरान्तरेण सत्वात् सूर्यग्रहणम् ।पौर्णमास्यन्ते चन्द्रभूभयोः ।एकत्रावस्थानात् चन्द्रग्रहणम् ।एतेन पूर्वश्लोके शशाङ्कपात इत्यत्र चन्द्रचन्द्रपातौ द्वौ न ग्राह्यौ इति सूचितम् । एतत् श्लोकस्य वैयर्थ्यापत्तेः ।

अत्रोपपत्तिः ।अमान्ते सूर्यचन्द्रयोः पूर्वापरान्तराभावेन योगात् तुल्यौ सूर्यचन्द्रौ पूर्णिमान्ते भचक्रार्द्धान्तरत्वात् षड्राश्यन्तरौ भागादिसमौ इति ।। ७ ।।

अमान्तकाल में सूर्य और चन्द्रमा के राश्यादि अवयव समान होते हैं । तथा पूर्णिमा के अन्त में सूर्य और चन्द्र के परस्पर ६ राशि के अन्तर पर रहने से इनके मात्र अवयवादि तुल्य होते हैं ।। ७ ।।

तत्कालिक रविचन्द्रयो साधनम्

गतैष्यपर्वनाडीनां स्वफलेनोनसंयुतौ ।
समलिप्तौ भवेतां तौ पातस्तात्कालिकोऽन्यथा ।। ८ ।।

अथ पर्वान्ते सूर्यचन्द्र चन्द्रपातानां साधनमाह ।तौ सूर्यचन्द्रौ गतैष्यपर्वनाडीनां यत्कालिकौ सूर्यचन्द्रौ तत्कालाद्गता एष्या वा दर्शान्तपूर्णिमान्तान्यतरघटिकास्तासां स्वफलेन स्वगतिसम्बन्धेन यत् फलम् ।

इष्टनाडीगुणा भुक्तिः षष्ट्या भक्ता कलादिकम् ।

इति मध्याधिकारोक्तेन आनीतम् ।तेन गतैष्यक्रमेण ऊनयुतौ तत्र समकलौ स्तः ।यद्यपि समांशौ इति वक्तुं युक्तं तथापि अन्य तिथ्यन्तीयसाधितौ समकलौ इति द्योतनार्थं समकलौ इत्युक्तम् ।पातः स्वगत्युत्पन्नफलेन अन्यथा गतैष्यक्रमेण युतो नस्तात्कालिकः पर्वान्तकालिकः स्यात् ।अत्रोपपत्तिश्चालनश्लोकः । तत्र तिथ्यन्ते भागान्तरत्वेन कलादिसाम्यम् ।पातस्य चक्रशोधितत्वेन इतरग्रहवैपरीत्यम् ।। ८ ।।

पर्व के दिन जिस काल में सूर्य और चन्द्रमा स्पष्ट किये गए हों उसके और अमान्त अथवा पूर्णिमान्त के बीच में जितनी गत-गम्य घटी हों उनका "इष्टनाडीगुणाभुक्तिः" इत्यादि प्रकार से जो फल प्राप्त हो उसको गत-गम्य घटिकाओं में क्रम से सूर्य और चन्द्रमा में हीन और युत करने से समकल होते हैं और पात में विलोम संस्कार करने से तात्कालिक पात होता है ॥ ८ ॥

छाद्यछादकयोर्निर्णयः

छादको भास्करस्येन्दुरधः स्थो घनवद् भवेत् ।
भूच्छायां प्राङ्मुखश्चन्द्रो विशत्यस्य भवेदसौ ॥ ९ ॥

अथ प्रागुक्तानां विम्बानां प्रयोजनमाह । सूर्यमण्डलस्य आच्छादकः चन्द्रः स्यात् । ननु आकाशे द्वयोः सत्वेन सूर्य एव चन्द्रस्य छादकः कथं न स्यात् इत्यत आह । अधःस्थ इति । वक्ष्यमाणकक्षाध्याये सूर्यकक्षातोऽधः कक्षास्थत्वात् चन्द्रस्य एव आच्छादकत्वम् । न हि ऊर्ध्वस्थश्छादको येन सूर्यश्चन्द्रस्य छादकः। ननु विना एकत्रावस्थानं छादनं न भवति अत आह । घनवदिति । यथाधःस्थो मेघः सूर्यस्य आच्छादको भवति तथा चन्द्रो भवति इत्यर्थः । प्राङ्मुखः पूर्वाभिमुखो गच्छन् चन्द्रो भूच्छायां प्रति प्रविशति । अतः कारणात् अस्य चन्द्रस्य असौ भूभाच्छादिका भवेत्। तथा च सूर्यग्रहणे सूर्यचन्द्रविम्बयोः प्रयोजनं चन्द्रग्रहणे चन्द्रभूभाविम्बयो प्रयोजनमिति भावः ।

अत्रोपपत्तिः । चन्द्रो दर्शान्ते सूर्यादधो भवतीति चन्द्रः सूर्यस्य आच्छादकः । बुध शुक्रयोस्तु मण्डलाल्पत्वात् न आच्छादकत्वम् । चन्द्रस्य अधो ग्रहाभावात् षड्भान्तरे भूम्या प्रतिबद्धाः सूर्यकिरणाः चन्द्रगोले न पतन्ति । अतो निष्प्रभस्य चन्द्रस्य भूभायां प्रवेश इति चन्द्रस्य भूभाच्छादिका ॥ ९ ॥

सूर्य से नीचे स्थित चन्द्रमा मेघ की तरह सूर्य का आच्छादक होता है । पूर्वाभिमुख भ्रमण करता हुआ चन्द्रमा भूच्छाया में प्रवेश करता है । जिससे चन्द्रग्रहण होता है ॥ ९ ॥

ग्रासमानानयनम्

तात्कालिकेन्दुविक्षेपं छाद्यच्छादकमानयोः ।
योगार्धात् प्रोज्झ्य यच्छेषं तावच्छन्नं तदुच्यते ॥ १० ॥
ग्राह्यमानाधिके तस्मिन् सकलं न्यूनमन्यथा ।
योगार्धादधिके न स्याद् विक्षेपे ग्राससम्भवः॥ ११ ॥

अथ ग्रासनयनमाह । यः छाद्यते स छाद्यः । सूर्यग्रहणे सूर्यश्चन्द्रग्रहणे चन्द्रः । यः छादयति स छादकः । सूर्यचन्द्रग्रहणयोः क्रमेण चन्द्रभूभे । तयोः पूर्वानीतमानकलयोः ऐक्यस्य अर्द्धात् तत्कालिकचन्द्रात् पूर्वोक्तप्रकारेण साधितं विक्षेपं कलादिकं विशोध्य यत् अवशिष्टं तत्प्रमाणकं छन्नं छादकेन छाद्यस्य यावान्मण्डलप्रदेश आच्छादेतस्तावत् प्रदेशात्मकं ग्रासरूपं ग्रहणतत्वज्ञैः कथ्यते ।

अत्रोपपत्तिः । छाद्यच्छादकमण्डलनेमियोगे ग्रहणाद्यन्तरूपे मण्डलकेन्द्रयोः अन्तरं स्वबिम्बखण्डयोगरूपम् । बिम्बस्य व्यासमानात्मकत्वात् । तत् तु समत्वात् लाघवाच्च योगार्द्धरूपं धृतम् । ततो यथा प्रवेशस्तथा ग्रासो भवतीति पर्वान्ते छाद्यच्छादकयोः विक्षेपान्तरितत्वात् तदूने विक्षेपे मण्डलयोगस्तदन्तरमितः स एव ग्रासः ॥ १० ॥

अथ सम्पूर्णन्यूनग्रहणज्ञानं ग्रहणाभावज्ञानं च आह । तस्मिन् छन्नमानेऽधिके ग्राह्यमानाधिके यदि अस्मात् कारणात् ग्राह्यमानमस्ति । अतः कारणात् सकलं सम्पूर्णं ग्रहणं भवति । अन्यथा ग्राह्यमानात् न्यूने ग्रासे न्यूनं ग्राह्यमानान्तर्गतं ग्रहणं स्यात् । मानैक्यखण्डात् विक्षेपेऽधिके सति ग्रास सम्भवो ग्रहणं न स्यात् ।

अत्रोपपत्तिः । ग्राह्यमानात् अधिके ग्रासे सम्पूर्णग्रहणं न्यूने न्यूनं मानैक्यखण्डात् अधिके विक्षेपे मण्डलस्पर्शासम्भवात् ग्रहणाभावः ॥ ११ ॥

छाद्य और छादक के मानैक्यार्ध (छाद्य बिम्ब और छादक बिम्ब के व्यास के योग का आधा) में तात्कालिक चन्द्रशर घटाने से शेष ग्रास प्रमाण होता है । ग्राह्यमान से ग्रासमान अधिक हो तो सम्पूर्ण ग्रहण और न्यून हो तो न्यून (खण्ड) ग्रहण होता है । मानैक्यार्ध से शर अधिक होने पर ग्रहण सम्भव नहीं होता ॥ १०–११ ॥

स्थितिविमर्दार्धयोरानयनम्

ग्राह्यग्राहक संयोग वियोगौ दलितौ पृथक् ।
विक्षेपवर्गहीनाभ्यां तद्वर्गाभ्यामुभे पदे ॥ १२ ॥
षष्ट्या संगुण्य सूर्येन्द्वोर्भुक्त्यन्तरविभाजिते ।
स्यातां स्थितिविमर्दार्धे नाडिकादिफले तयोः ॥ १३ ॥

अथ स्थित्यर्द्धविमर्दार्द्धे श्लोकाभ्यामाह । ग्राह्यग्राहकमानयोः योगान्तरे अर्द्धिते पृथक् स्थानान्तरे स्थाप्ये । अग्रिम क्रियायां कदाचित् अशुद्धत्वसम्भवे पुनः क्रियार्थमेतयोः आवश्यकत्वात् । तद्वर्गाभ्यां योगार्द्धान्तरार्द्धयोः वर्गाभ्यां विक्षेपवर्गेण वर्जिताभ्यामुभे द्वे मूले षष्ट्या गुणयित्वा सूर्यचन्द्रयोः गत्यन्तरकलाभिर्भक्ते तयोः योगवियोगयोः स्थाने घट्यादि फले क्रमेण स्थित्यर्द्धविमदार्द्धे भवतः ।

अत्रोपपत्तिः । ग्रहणारम्भात् ग्रहणान्तपर्यन्तं यः कालः स स्थितिसंज्ञः । तस्य खण्ड एकं ग्रहणारम्भात् मध्यग्रहणपर्यन्तमपरं मध्यग्रहणात् ग्रहणान्तपर्यन्तम् । तत्र बिम्बनेमिस्पर्शकाले मानैक्यखण्डं कर्णः स्पर्शमोक्षकालिकशरो भुजः स्पर्शमोक्षान्यतरकालिकशराग्रमध्यकालिकशराग्रयोरन्तरं पूर्वापरं कोटिरिति तत् खण्डसाधकं क्षेत्रम्। एवं सम्पूर्णग्रहणे सम्मीलनोन्मीलनकालयोः अन्तरकालो मर्दस्तत्र मध्यग्रहणात् सम्मीलनोन्मीलनकालावधिखण्डे तत्साधकं छाद्यच्छादकमण्डल केन्द्रयोः अन्तरं मानार्द्धान्तरतुल्यं कर्णस्तात्कालिकशरो भुजः शराग्रयोरन्तरं विक्षेपवृत्ते पूर्वापरं कोटिरिति क्षेत्रम् । सम्मीलनं छाद्यमण्डलस्य आच्छादनसमाप्तिः उन्मीलनं तु छादकमण्डलात्

आच्छादितं सम्पूर्णच्छाद्यमण्डलस्य नि: सरणारम्भ: तत्र स्पर्शमोक्ष सम्मीलनोन्मीलन-कालानाम् अज्ञानात् मध्यकालिकविक्षेपग्रहणम् । भुजकर्णवर्गान्तरपदं कोटिरिति पूर्वश्लोकोक्तमुपपन्नम् । छाद्यच्छादक मण्डलकेन्द्रयो: पूर्वापरान्तरा भावे मध्यग्रहण-सम्भवात् छाद्यच्छादकयुतिर्गत्यन्तरकलाभि: षष्टिघटिकास्तदानीत कोटिकलाभि: का इत्यनुपातेन स्थिति मर्दखण्डे । तत्र चन्द्रग्रहणे भूभागते: सूर्यगत्यनुरोधात् सूर्यगतित्वमिति उपपन्नं द्वितीयश्लोकोक्तम् ।। १२—१३ ।।

छाद्य और छादक बिम्बों के योग और अन्तर को पृथक पृथक् आधा कर उनमे से शर का वर्ग घटाकर शेष दोनों का वर्गमूल लें । इन दोनों (वर्गमूलों) को ६० से गुणाकर सूर्य और चन्द्र के गत्यन्तर से भाग देने पर घटिकादि फल क्रम से स्थित्यर्ध विमर्दार्ध होते हैं । अर्थात् उनमें योग के स्थान में स्थित्यर्ध और अन्तर के स्थान में मर्दार्ध होता है ।। १२—१३ ।।

स्थितिविमर्दयो: स्थूलत्वनिराकरणम्

स्थित्यर्धनाडिकाऽभ्यस्ता गतय: षष्टिभाजिता: ।
लिप्तादि प्रग्रहे शोध्यं मोक्षे देयं पुन: पुन: ।। १४ ।।
तद्विक्षेपै: स्थितिदलं विमर्दार्धं तथाऽसकृत् ।
संसाध्यमन्यथा पाते तल्लिप्तादि फलं स्वकम् ।। १५ ।।

अथ स्थित्यर्द्धविमर्दार्द्धे असकृत् सार्द्धे इति श्लोकाभ्यामाह । सूर्यचन्द्रपातानां गतय: स्थित्यर्द्धघटीभिर्गुणिता: षष्ट्या भक्ता: फलं कलादिप्रग्रहे स्पर्शस्थित्यर्द्ध-निमित्तं सूर्यचन्द्रयो: हीनं मोक्षे मोक्षस्थित्यर्द्धनिमित्तं सूर्यचन्द्रयो: देयं योज्यम् । चन्द्र-पाते तल्लिप्तादिफलं स्थित्यर्द्धघट्यानीतं कलादि पूर्वफलं स्वकं स्वगत्युपन्नमन्यथा विपरीतं प्रग्रहस्थित्यर्द्ध निमित्तं योज्यं मोक्षस्थित्यर्द्धनिमित्तं हीनमित्यर्थ: । तत् विक्षेपै: तात्कालिक चन्द्रपाताभ्यामानीतशरकलाभि: । कलानां बहुत्वाद्विक्षेपैरिति बहुवचनम् । विक्षेपाभ्याम् इत्यर्थ: । पुन: पुन: स्थितिदलं कार्यम् । अत्र एकं पुन: पदं स्पर्शस्थित्यर्द्ध सम्बद्धं द्वितीयं मोक्षस्थित्यर्द्धसम्बद्धं पुन: पदम् । तेन स्पर्श स्थित्यर्द्धार्थं साधित चन्द्रपाताभ्याम् आनीतशरेण प्रागुक्तप्रकारेण स्पर्शस्थित्यर्द्धं संसाध्यम् । मोक्षस्थित्य-र्द्धार्थसाधितचन्द्रपाताभ्याम् आनीतशरेण पूर्वोक्तरीत्या मोक्षस्थित्यर्द्धं साध्यमित्यर्थ: । तच्च उभयमसकृद्वारं वारं स्पर्शस्थित्यर्द्धनीतचालनेन मध्यकालिकौ चन्द्रपातौ उक्तरीत्या प्रचाल्य तच्छरेण पूर्वोक्तरीत्या स्पर्शस्थित्यर्द्धम् अस्मात् अपि उक्तरीत्या स्पर्शस्थित्यर्द्धमेवं यावत् अविशेष: । एवं मोक्षस्थित्यर्द्धानीतचालनेन मध्य कालिकौ चन्द्रपातौ उक्तरीत्या प्रचाल्य तच्छरेण पूर्वोक्तरीत्या मोक्षस्थित्यर्द्धमस्मात् अपि उक्तरीत्या मोक्षस्थित्यर्द्धमेवं यावत् अविशेष इत्यर्थ: ।

ननु स्थित्यर्द्धविमर्दार्द्धयो: एकरीत्युक्ते: कथं विमर्दार्द्धमसकृत स्वाध्यमिति न उक्तम् इत्यत आह । विमर्दार्द्धमिति । तथा स्पर्शमोक्षस्थित्यर्द्धसाधनरीत्यासकृत् यावत् अविशेषस्तावत् स्पर्शमर्दार्द्धं मोक्षमर्दार्द्धं च संसाध्यम् । यथा हि स्थित्यर्द्ध-

नाडिकाभ्यस्ता इत्यत्र विमर्दार्द्धनाडिकाग्रहात् स्पर्शमर्दार्द्धमोक्षमर्दार्द्धे साध्ये । आभ्यां प्रत्येकमसकृत् स्पर्शमर्दार्द्धमोक्षमर्दार्द्धे स्फुटे स्तः ।

अत्रोपपत्तिः । प्रागुक्तं क्षेत्रं स्पर्शमोक्ष सम्मीलनोन्मीलनकालिकशरवशात् इति तदज्ञानात् मध्यकालिकशरग्रहणेन स्थूलं स्थित्यर्द्धमर्दार्द्धं च अतो मध्यकालात् तदन्तरेण पूर्वाग्रिम कालिकयोः तेषां सम्भवात् तत्कालचालितचन्द्रपाताभ्यां विक्षेपस्तात्कालिको भवति परं स्थूलः । स्थूलस्थित्यर्द्धाद्यानीतत्वात् । अतोऽस्मादानीतं स्थित्यर्द्धादि पूर्वापेक्षया सूक्ष्ममपि स्थूलमित्यसकृत् सूक्ष्ममिति । तत्र सम्मीलनोन्मीलनकालयोः आकाशस्पर्शमोक्षसम्भवात् स्पर्शमोक्षमर्दार्द्धमिति ध्येयम् ।। १४–१५ ।।

सूर्य-चन्द्र और पात की गतियों को पृथक-पृथक स्थित्यर्धघटिकाओं से गुणाकर ६० का भाग देने से जो कलादिफल प्राप्त हो उसको सूर्य और चन्द्र में घटाने से स्पर्शस्थित्यर्ध होता है । सूर्य और चन्द्रमा में जोड़ने से मोक्षस्थित्यर्ध होता है । तथा पात में विलोम अर्थात् स्पर्शस्थित्यर्ध निमित्त योग और मोक्षस्थित्यर्ध हेतु अन्तर करना चाहिये । इस प्रकार तात्कालिक सूर्य चन्द्र और पात होते हैं तात्कालिक चन्द्र और पात से पूर्वोक्तरीति से शर साधन कर स्पर्शस्थित्यर्ध और मोक्षस्थित्यर्ध का साधन करें । पुनः इससे चालन देकर शर साधन कर स्पर्शस्थित्यर्ध और मोक्षस्थित्यर्ध का साधन करें । इस प्रकार असकृत् कर्म करने से स्पर्शस्थित्यर्ध और मोक्षस्थित्यर्ध स्पष्ट होंगे । इसी प्रकार स्पर्शमर्दार्ध और मोक्षमर्दार्ध का भी साधन करना चाहिये ।। १४–१५ ।।

स्पर्शमोक्षयोः साधनम्

स्फुटतिथ्यवसाने तु मध्यग्रहणमादिशेत् ।
स्थित्यर्धनाडिकाहीने स्पर्शो मोक्षस्तु संयुते ।। १६ ।।

अथ मध्यग्रहण स्पर्शमोक्षकालानाह । स्पष्टतिथ्यन्तकाले तुकारात् तत्पूर्वापर-कालनिरासः । मध्यग्रहणं ग्रासोपचयसमाप्तिं कथयेत् । मध्यग्रहण सम्बन्धेन मध्य-सूर्यचन्द्रानीतमध्यतिथ्यन्ते तत्सम्भव इति कस्यचिद्भ्रमः तद्वारणार्थं स्फुटेति । स्थित्यर्द्धघटिकाभिः ऊने तिथ्यन्तकाले ग्रासः स्पर्शः । संयुते स्थित्यर्द्धघटीभिर्युते तिथ्यन्तकाले मोक्षः । तुकारः स्पर्श मोक्षस्थित्यर्द्धाभ्यां स्पर्शमोक्षकालौ इति विषयव्यवस्थार्थकः ।

अत्रोपपत्तिः। तिथ्यन्तकाले छाद्यच्छादकयोः पूर्वापरान्तराभावात् योगे मण्डल-स्पर्शो यावान् भवति ततः पूर्वाग्रिम कालयोर्न्यून एव अतोऽत्र मध्यग्रहणकालः । केचित् तु ।

पर्वान्तः किल साधितो भवलये सूर्येन्दुचिह्नान्तरात्
तस्मिन् विम्बसमागमो न हि यतश्चन्द्रः शराग्रे स्थितः ।
तस्मादायनदृष्टि संस्कृतविधोरानीततिथ्यन्तके
विम्बैक्यं भवतीति किं न विहितं पूर्वैर्न विद्मो वयम् ।।

इत्यनेन अत्र मध्यग्रहणं खण्डयन्ति । तन्न । पूर्वापरान्तराभावे योगसत्वेन कदम्बसूत्रस्थयोः याम्योत्तरान्तरस्य एव सत्वेन तत्र मध्यग्रहणस्य उचितत्वात् । अन्यथा ध्रुवसूत्रे वा योगाभ्युपगमे विनिगमनाविरहापत्तेः । यथागतग्रहयोः कदम्बसूत्रेणैव योगाभ्युपगमात् । दृष्टिप्रत्ययार्थं दृक्कर्मोक्तेः । ग्रहणद्वयस्य स्वत एव दृग्गोचरत्वात् । ग्रहद्वयादर्शनाच्च इत्यादिसंक्षेपः । मध्यग्रहणकालात् पूर्वं स्पर्शस्थित्यर्द्धघटीभिः स्पर्शः । अग्रिमकाले मोक्षस्थित्यर्द्धघटीभिर्मोक्षः । स्थित्यर्द्धयोः तदन्तररूपत्वेन सिद्धेः ।। १६ ।।

स्पष्टतिथ्यन्तकाल में मध्यग्रहण होता है । स्पष्ट तिथ्यन्तकाल में स्पर्शस्थित्यर्धघटिका घटाने से स्पर्श काल तथा मोक्षस्थित्यर्ध घटिका जोड़ने से मोक्षकाल होता है ।। १६ ।।

सम्मीलनोन्मीलनयोः साधनम्

तद्वदेव विमर्दार्धनाडिका — हीनसंयुते ।
निमीलनोन्मीलनाख्ये भवेतां सकलग्रहे ।। १७ ।।

अथ सम्पूर्णग्रहणे निमीलनोन्मीलनकालौ अपि आह । सम्पूर्णग्रहणे तद्वत्। यथा स्थित्यर्द्धोनाधिके तिथ्यन्ते स्पर्शमोक्षौ तथेत्यर्थः । एवकारात् तद्भिन्नरीतिव्युदासः । स्पर्श विमर्दार्द्धमोक्षविमर्दार्द्धघटीभ्यां क्रमेण ऊनयुते तिथ्यन्ते क्रमेण निमीलनोन्मीलनसंज्ञे स्याताम् ।

अत्रोपपत्तिः । मर्दार्द्धस्य मध्यकालात् तदन्तररूपत्वेन तदूनाधिके तस्मिन् क्रमेण निमीलनोन्मीलने सम्पूर्णग्रहणं एव भवतः । न्यूनग्रहणे तत् स्वरूपव्याघातात् तदभावः ।। १७ ।।

सम्पूर्ण ग्रहण में, स्पष्टतिथ्यन्तकाल में स्पर्शमर्दार्ध घटी को और मोक्षमर्दार्ध घटी को हीन-युत करने से क्रमशः सम्मीलन और उन्मीलनकाल होते हैं ।। १७ ।।

इष्टग्रासानयनम्

इष्टनाडीविहीनेन स्थित्यर्धेनार्कचन्द्रयोः ।
भुक्त्यन्तरं समाहन्यात् षष्ट्याप्ताः कोटिलिप्तिकाः ।। १८ ।।

अथ इष्टकाले इष्टग्रासज्ञानार्थं कोटिकलानयनमाह । सूर्यचन्द्रयोः गत्यन्तरं कलात्मकं ग्रहणारम्भाद्या इष्टघटिकाः स्पर्शस्थित्यर्द्धघट्यनधिकास्ताभिः ऊनेन स्पर्शस्थित्यर्द्धेन गुणयेत् । अस्मात् षष्टिविभक्तप्राप्ताः कोटिकला भवन्ति ।

अत्रोपपत्तिः । इष्टकाले छाद्यच्छादकमण्डलकेन्द्रयोः अन्तरं कर्णस्तत्कालशरो भुजस्तत्कालशराग्रमध्यकालिकशराग्रयोः अन्तरं विक्षेपवृत्ते कोटिरिति क्षेत्र इष्टघट्यूनस्पर्शस्थित्यर्द्धघटिकानां कलाः कोटिः सिद्धा । पूर्वं स्पर्शकालिककोट्याः स्थित्यर्द्धघटिकानां सिद्धत्वात् ।। १८ ।।

इष्ट घटयादिमान को स्पर्शस्थित्यर्ध घट्यादि में घटाने से जो शेष रहें उनको सूर्य-चन्द्र के गत्यन्तर से गुणाकर ६० का भाग देने पर, फल कोटिकला होती है । यहाँ ग्रहण के आरम्भ से मध्यग्रहणपर्यन्त इष्टघटिका होती हैं ॥ १८ ॥

भानोर्ग्रहे कोटिलिप्ता मध्यस्थित्यर्धसंगुणाः ।
स्फुटस्थित्यर्धसंभक्ताः स्फुटाः कोटिकलाः स्मृताः ॥ १९ ॥

अथ अत्र सूर्यग्रहणे विशेषमाह । सूर्यस्य ग्रहणे उक्त प्रकारेण याः कोटिकलाः सूर्यग्रहणोक्तस्पष्टस्थित्यर्द्धानीता मध्यस्थित्यर्द्धेन सूर्यग्रहणोक्तस्पष्टशरानीतस्थित्यर्द्धेन सङ्गुणिताः स्फुटस्थित्यर्द्धेन सूर्यग्रहणोधिकारोक्तेन भक्ताः सत्यः स्पष्टाः कोटिकलाः सूर्यग्रहणतत्वज्ञैरुक्ताः ।

अत्रोपपत्तिः। सूर्यग्रहणे स्पर्शमोक्षान्यतरमध्यकालयोः अन्तरस्य स्थित्यर्द्धत्वात् तस्य च स्पष्टशरोद्भूतस्थित्यर्द्ध लम्बनान्तरैक्यसंस्कारमितत्वात् स्पष्टस्थित्यर्द्धानुरुद्धा उक्तरीत्यानीताः कोटिकलाः अपेक्षिताश्च । स्पष्टशरोद्भूतस्थित्यर्द्धानुरुद्धाः । एतत् कोटिसम्बद्धं क्षेत्रम् । स्थित्यर्द्ध क्षेत्रान्तर्गतत्वात् । स्पष्टस्थित्यर्द्धस्य तु उक्तक्षेत्रोत्पन्नत्वाभावात्।अन्यथा स्पष्टशरोद्गतस्थित्यर्द्धस्य लम्बनान्तरैक्यसंस्कारानुक्तिप्रसङ्गः । अतः स्पष्टस्थित्यर्द्धेनैता आगताः कोटिकलास्तदा स्पष्टशरोद्भूत क्षेत्रजमध्यमरूपस्थित्यर्द्धेन का इति स्फुटाः कलाः सिद्धाः ॥ १९ ॥

सूर्यग्रहण में पूर्वोक्त प्रकार से साधन की हुई कोटिकलाओं को मध्यस्थित्यर्ध से गुणाकर स्पष्टस्थित्यर्ध का भाग देने से फल स्पष्टकोटिकला होती है ॥ १९ ॥

क्षेपो भुजस्तयोर्वर्गयुतेर्मूलं श्रवस्तु तत् ।
मानयोगार्धतः प्रोज्झ्य ग्रासस्तात्कालिको भवेत् ॥ २० ॥

अथ अस्य इष्टग्रासानयनमाह। क्षेपो विक्षेपो भुजः । कोटिभुजयोः कर्णसापेक्षत्वात् आह । तयोरिति । कर्णस्तु तयोः कोटिभुजयोः वर्गयोगान्मूलं सिद्ध एव। तत् कर्णवर्गात्मकं मूलं ग्राह्यग्राहकमानैक्यार्द्धात् विशोध्य शेषं तात्कालिकः कल्पितेष्टकालसम्बन्धी ग्रासोऽवान्तरग्रासः स्यात् ।

अत्रोपपत्तिः । क्षेत्रं पूर्वं प्रतिपादितम् । स्पर्शकाले मानैक्यखण्डस्य कर्णत्वात् क्षेत्रयोरुभयोः मध्यकालावधित्वात् इष्टकर्णोनं मानैक्यखण्डमिष्टग्रास एव ॥ २० ॥

भुज अर्थात् तात्कालिक शर तथा पूर्वोक्त प्रकार से साधन की हुई कोटि इन दोनों के वर्गयोग का वर्गमूल कर्ण होता है इस कर्ण को मानैक्यार्ध में घटाने से इष्टकालिक ग्रासमान होता है ॥ २० ॥

इष्ट ग्रासानयने विशेषः

मध्य ग्रहणतश्चोर्ध्वमिष्टनाडीर्विशोधयेत् ।
स्थित्यर्धान्मौक्षिकाच्छेषं प्राग्वच्छेषं तु मौक्षिके ॥ २१ ॥

अथ मध्यग्रहणानन्तरमिष्टग्रासानयनमाह । मध्यग्रहणकालादूर्ध्वमनन्तरम् । चकारो विशेषार्थकतुकारपर:। इष्टघटिका:कर्म। मौक्षिकान्मोक्षकालसम्बद्धात् स्थित्यर्द्धात् । न स्पर्शस्थित्यर्द्धात् विशोधयेत् । गणक इति कर्त्राक्षेप: । शेषं कोटि लिप्तादिग्रासानयनान्तं गणितकर्म प्राग्वद्भुक्त्यन्तरं समाहन्यात् इत्युक्तप्रकारेण कुर्यात् । मौक्षिके मोक्षस्थित्यर्द्धान्तर्गतेष्टकाले तुर्विशेषे ग्रास: शेषमुर्वरितो ग्रासोऽवान्तरग्रासो भवति । न पूर्ववद्गत: ।

अत्रोपपत्ति: । मध्यग्रहणात् पूर्वमिष्टकालस्य ग्रहणारम्भावधिकस्य स्पर्शस्थित्यर्द्धसम्बद्धत्वात् आगतो ग्रास उपचयात्मक: । न अवशिष्ट: । अवशिष्ट मण्डलस्य शुद्धत्वेन ग्रस्तत्वासम्भवात् । एवं मध्यग्रहणानन्तरम् इष्टकालस्य मोक्षस्थित्यर्द्धान्तर्गतत्वात् उक्तरीत्यानीतो ग्रासोऽपचयात्मक: । न शुद्धबिम्बदर्शनात्मक: । ग्रस्तत्वाभावात् ।। २१ ।।

मध्यग्रहण (स्पष्टतिथ्यन्त काल) से आगे (मोक्षकाल से पूर्व) इष्टघट्यादि को मोक्षस्थित्यर्ध में घटाने से जो शेष हो उसे गत्यन्तर से गुणाकर ६० का भाग देने से कोटिकला प्राप्त होती है उससे पूर्वोक्त प्रकार से 'क्षेपो भुजस्तयोर्वर्गयुतेर्मूलं श्रवस्तु तत्' इत्यादि से कर्ण लाकर कर्ण को मानैक्यार्ध में घटाने से शेष इष्टग्रास होता है ।। २१ ।।

ग्रासादिष्ट कालज्ञानम्

ग्राह्यग्राहकयोगार्धाच्छोध्या: स्वच्छन्नलिप्तिका: ।
तद्वर्गात् प्रोज्झ्य तत्कालविक्षेपस्य कृतिं पदम् ।। २२ ।।
कोटिलिप्ता रवे: स्पष्टस्थित्यर्धेनाहता हृता: ।
मध्येन लिप्तास्तन्नाडय: स्थितिवद् ग्रासनाडिका: ।। २३ ।।

अथ अभीष्टग्रासात् इष्टकालानयनं श्लोकाभ्यामाह । छाद्यच्छादकमानैक्यखण्डात् अभीष्टग्रासकला: शोध्या: । शेषस्य वर्गात् अभीष्टग्रासकालिकविक्षेपस्य वर्गं विशोध्य शेषस्य मूलं कोटिकला: । सूर्यग्रहणे विशेषमाह रवेरिति । सूर्यस्य ग्रहणे इति शेष: । भानोर्ग्रह इति पूर्वमुक्ते: । उक्त प्रकारेण या: कला: ता मध्यग्रहणकालस्पर्शमोक्षान्यतरकालयो: अन्तररूपेण स्पष्टस्थित्यर्द्धेन गुण्या:। स्पष्टशरोत्पन्न स्थित्यर्द्धेन मध्यमेन भक्ता: फलं कोटिकला भवन्ति । स्थितिवत् स्थित्यर्द्ध साधनरीत्या ।

षष्ट्या सङ्गुण्य सूर्येन्द्वोर्भुक्त्यन्तर विभाजिता: ।

इत्युक्तेन तासां कोटिकलानां घटिका यास्ता अभीष्टग्राससम्बन्धिघटिका: स्पर्शमोक्षान्यतरस्थित्यर्द्धान्तर्गता: क्रमेण मध्यग्रहणाच्छेषा गता वा भवन्ति ।

अत्रोपपत्ति: । पूर्वोक्तव्यत्यासात् सुगमतरा । परन्तु स्वाभीष्टग्रासकालिकशर-

ज्ञाने सूक्ष्मम् । तच्छराज्ञाने मध्यकालिक शरग्रहणेन स्थूलम् । अतएव भास्कराचार्यैः कालसाधने तत्कालबाणेन मुहुः स्फुट इत्युक्तमिति विशेषः ।। २२—२३ ।।

मानैक्यखण्ड में इष्टग्रास को घटाकर शेष के वर्ग में तात्कालिक शर का वर्ग घटाकर, शेष का वर्गमूल लेने से चन्द्रग्रहण में कोटिलिप्ता होती हैं । सूर्यग्रहण में इस प्रकार से प्राप्त कोटिकला को स्पष्टस्थित्यर्ध से गुणाकर मध्यस्थित्यर्ध का भाग देने से प्राप्त लब्धि स्पष्ट कोटिकला होती है । इन कोटिकलाओं को ६० से गुणाकर सूर्य-चन्द्र के गत्यंतर का भाग देने से प्राप्त घटिकादि लब्धि स्वकीय स्थित्यर्ध में घटा देने से शेष इष्टग्रास घटिका होती है ।। २२—२३ ।।

वलनसाधनम्

नतज्याऽक्षज्ययाऽभ्यस्ता त्रिज्याप्ता तस्य कार्मुकम् ।
वलनांशाः सौम्ययाम्याः पूर्वापरकपालयोः ।। २४ ।।
राशित्रययुताद् ग्राह्यात् क्रान्त्यंशैर्दिक्समैर्युताः ।
भेदेऽन्तराज्ज्या वलना सप्तत्यंगुलभाजिता ।। २५ ।।

अथ वक्ष्यमाणग्रहणपरिलेखोपयुक्त वलनस्य आनयनं श्लोकाभ्यामाह । यत्कालिकं वलनं कर्त्तुमिष्टं तात्कालिकं नतं चन्द्रग्रहणे चन्द्रस्य सूर्यग्रहणे सूर्यस्य साध्यम्। तद्यथा स्वोदयात् स्वास्ताद्गतशेषघटिकाः स्वदिनार्द्धान्तर्गताः स्वदिनार्द्धादूनाः क्रमेण पूर्वापरनतघटिका भवन्ति । तन्नतं नवति गुणं स्वदिनार्द्धभक्तं नतांशास्तेषां ज्या नतज्येत्यर्थः । स्वदेशाक्षांशज्यया गुणिता त्रिज्यया भक्ता फलस्य धनुः कलात्मकं षष्टिभक्तं पूर्वापरकपालयोः पूर्वापरनतयोः क्रमेण उत्तरदक्षिणावलनांशा भवन्ति । यत्कालिकं वलनं तात्कालिकात् ग्राह्यात् राशित्रययुतात् सायनांशाद्ये क्रान्त्यंशास्तैर्दिक्तुल्ययुतास्तेषां ज्या भेदे भिन्नदिक्त्वेऽन्तरात् क्रान्त्यंशवलनांशयोः अन्तराज्ज्या सप्तत्यङ्गुलैर्भक्ता शेषदिक्का । अङ्गुलात्मकत्वेन हरस्य उद्देशात् अङ्गुलादिका वलना भवति ।

अत्रोपपत्तिः । समवृत्तपूर्वापरादिदिग्भ्यः क्रान्तिवृत्तपूर्वापरादिदिशो यावतान्तरेण वलिता उत्तरस्यां दक्षिणस्यां वा वलनांशाः ।

तदानयनार्थं प्रथमतः समवृत्तानुरूद्धदिग्भ्यो विषुवद्वृत्तदिशो यावता अन्तरेण वलिता दक्षिणोत्तरयोः तदाक्षवलनम् । तथाहि । समप्रोतचलवृत्तं ग्रहचिह्नस्थं सम-विषुवद्वृत्तयोः यत्र लग्नं तत्प्रदेशात् नवत्यंशान्तरे स्वस्ववृत्ते प्राच्योरन्तरं वलनं तत्तुल्यमेव इतरदिशाम् अन्तरं पूर्वकपालस्थग्रहे समवृत्तप्राचीतो विषुवद्वृत्तप्राच्या उत्तरत्वात् उत्तरम् । पश्चिमकपालस्थे तु समवृत्तप्राचीतो विषुवद्वृत्तप्राच्या दक्षिण-त्वात् दक्षिणम् । तत्र क्षितिजस्थे ग्रहे तदन्तरम् अक्षांशतुल्यम् । याम्योत्तरवृत्तस्थे ग्रहे तदन्तरा भावः । अतिस्त्रिज्यातुल्यया नतकालज्ययाक्षज्यातुल्याक्षवलनज्या तदेष्ट-नतज्यया केत्यनुपातागताक्षज्याया धनुराक्षं वलनमुक्तमुपपन्नम् । द्वितीयन्तु विषुवद्-

वृत्तदिग्भ्यः क्रान्तिवृत्तदिशो यावता अन्तरेण वलिता दक्षिणोत्तरयोः तदायनं वलनम् । तथाहि ध्रुवप्रोतवृत्तं ग्रहचिह्नस्थं विषुवद्वृते यत्रासन्नं लगति तत् स्थानाच्चतुर्थांशान्तरे यत् स्थानं तद्विषुवत्प्राची । तस्याग्रहचिह्नात्त्रिभान्तरितक्रान्तिवृत्तप्राची यदन्तरेण तदायनं वलनम्। तत् तुल्यमेव इतरदिशाम् अन्तरम् ।उत्तरायणस्थे ग्रहे उत्तरं दक्षिणायनस्थे ग्रहे दक्षिणम् । तत् तु अयनसन्धौ अभावात्मकम् । गोलसन्धौ परमक्रान्तितुल्यमतः सत्रिभ क्रान्तितुल्यं सत्रिभग्रहगोलदिक्कमित्युपपन्नं राशित्रययुतात् ग्राह्यात् क्रान्त्यंशैरिति ।द्वयोः वलनयोः एकदिक्त्वे समवृत्त प्राचीतः क्रान्तिवृत्तप्राची तद्योगरूपस्फुटवलनान्तरेण वलनदिशि भवति । भिन्नदिक्त्वे तु वलनान्तररूपस्फुटवलनान्तरेण शेषदिशि भवति तज्ज्या स्फुटवलनज्या त्रिज्यावृत्ते । अग्रे परिलेख एकोनपञ्चाशन्मितव्यासार्द्धवृत्ते दानार्थं त्रिज्यावृत्तं इयं तदा एकोनपञ्चाशन्मितव्यासार्द्धे केत्यनुपाते प्रमाणेच्छयोः इच्छाऽपवर्तनात् हरस्थानेऽधोवयवत्यागात् सप्ततिः । अतो दिक्समैर्युता इत्याद्युपपन्नम् ॥ २५ ॥

सूर्यग्रहण में सूर्य की नतकालज्या को तथा चन्द्रग्रहण में चन्द्र की नतकालज्या को स्वदेशीय अक्षज्या से गुणाकर त्रिज्या से भाग देने से प्राप्त लब्धि का चाप पूर्व-पश्चिम नतज्या के क्रम से उत्तर-दक्षिण आक्षवलन होता है । सत्रिभ (तीन राशि युक्त) ग्रह की क्रान्ति के तुल्य आयनवलन होता है । इन दोनों की एक दिशा होने पर योग तथा भिन्नदिशा होने पर अन्तर करने से फल स्पष्टवलन होता है । स्पष्टवलनज्या में ७० का भाग देने से अंगुलादि वलन होता है ॥ २४--२५ ॥

शरस्याङ्गुलात्मकी करणम्

सोन्नतं दिनमध्यर्धं दिनार्धाप्तं फलेन तु ।
छिन्द्याद् विक्षेपमानानि तान्येषामंगुलानि तु ॥ २६ ॥

॥ सूर्यसिद्धान्ते चन्द्रग्रहणाधिकारः सम्पूर्णः ॥ ४ ॥

अथ कलात्मकविम्बदिक्षेपादीनाम् अङ्गुलीकरणमाह । दिनमानमध्यर्द्धमर्द्ध इत्यध्यर्द्धं स्वार्द्धयुक्तमित्यर्थः । अभीष्टकालिकोन्नतघटीभिः सहितं दिनार्द्धेन भक्तं फलेन । तुकारो यत् ग्रहणं तस्य दिनमानोन्नते ग्राह्यो इत्यर्थकः । विक्षेपग्राह्यग्राहकविम्बमानानि तानि पूर्वोक्तानि कलात्मकानि । ग्रासादिकमपि ध्येयम् । भजेत् । तुकारात् फलमेषां कलात्मकानाम् अङ्गुलानि भवन्ति ।

अत्रोपपत्तिः । उदयास्तकाले विम्बकिरणानां भूमिगोलावरुद्धत्वेन अल्पोर्ध्वस्थकिरणानां नयनप्रतिहननार्हत्वात् विम्बं व्यक्तत्वात् महद्भासते । तत्र अङ्गुलात्मकं विम्बं कलात्रयात्मकैकाङ्गुलप्रमाणेन भवति । खमध्यस्थे ग्रहे तु विम्बस्य सर्वकिरणावरूद्धत्वात् नयनप्रतिघाताच्च सूक्ष्मं विम्बं भासते। तत्र अङ्गुलात्मकं विम्बं कला चतुष्टयात्मकैकाङ्गुलप्रमांणेन भवति । तत्र उदयास्तकाले शङ्कोः अभावात्

खमध्ये तस्य त्रिज्यातुल्यत्वात् त्रिज्यातुल्य शङ्कौ उदयकालिकैकाङ्गुलमानस्य कलात्रयस्य एकाङ्गुलमुपचयो लभ्यते तदेष्टशङ्कौ क इत्यनुपातेन अभीष्टकाले फलं युक्तम् । त्रयमेकाङ्गुलस्य कलात्मकं मानं भवति । अतएव भास्कराचार्यैः उदयास्तकाले सार्द्धद्वयं कलाङ्गुलमानमङ्गीकृत्य ।

त्रिज्योद्धतस्तत्समयोत्थशङ्कुः सार्द्धद्वियुक्तोऽङ्गुललिप्तिकाः स्युः ।

इत्युक्तम् । तत्र भगवता लोकानुकम्पया स्वल्पान्तरत्वाच्च मध्याह्नेऽपि कला-चतुष्टयात्मकम् एकाङ्गुलमङ्गीकृत्य दिनार्द्धतुल्यपरमोन्नतकाल एक उपचयस्तदा इष्टोन्नतकाले क इत्यनुपाता गतफलयुक्तं त्रयं कला एकाङ्गुलमानमभीष्टकाले । तत्र दिनार्द्धभक्तोन्नतकालस्य फलरूपत्वात् त्रयाणां समच्छेदतया योजने त्रिगुणितं दिनार्द्धं सार्द्धैकगुणदिनमानरूपम् उन्नतकालयुक्तं दिनार्द्धभक्तम् इति सिद्धम् । तत एतत्कलाभिः एकाङ्गुलं तदेष्टकलाभिः किमित्यनुपातेन कलात्मकानाम् अङ्गुली-करणमुक्तमुपपन्नम् ॥ २६ ॥

अथ अग्रिमग्रन्थस्य असङ्गतित्वनिरासार्थम् अधिकारसमाप्तिं फक्किकया आह । स्पष्टम् ।

रङ्गनाथेन रचिते सूर्यसिद्धान्तटिप्पणे ।
चन्द्रग्रहणाधिकारोऽयं पूर्णो गूढप्रकाशके ।

॥ इति श्रीसकलगणकसार्वभौमबल्लालदैवज्ञात्मजरङ्गनाथगणकविरचिते गूढार्थप्रकाशके चन्द्रग्रहणाधिकारः पूर्णः ॥ ४ ॥

दिनमान, दिनार्धमान और उन्नत घटिकाओं के योग में दिनमान के आधे का भाग देने से जो फल प्राप्त हो उससे पूर्व साधित विक्षेपादिकों में भाग देने से लब्ध फल उन विक्षेपादिकों के अंगुलादि मान होते हैं ॥ २६ ॥

॥ पण्डितवर्य बलदेवदैवज्ञात्मज प्रो० रामचन्द्रपाण्डेय द्वारा विरचित सूर्यसिद्धान्त के चन्द्रग्रहणाधिकार का हिन्दीभाषानुवाद एवं संस्कृतोपपत्ति सम्पूर्ण ॥ ४ ॥

अथ सूर्यग्रहणाधिकारः - ५

लम्बननत्योरभावनिर्णयः

मध्यलग्नसमे भानौ हरिजस्य न सम्भवः ।
अक्षोदङ्मध्यभक्रान्तिसाम्ये नावनतेरपि ।। १ ।।

अथ सूर्यग्रहणाधिकारो व्याख्यायते । तत्र यत्पदार्थविशेष प्रयुक्तश्चन्द्र ग्रहणाधिकारातिरिक्तः सूर्यग्रहणाधिकारः तद्विशेषयोः अभावस्थानात् एव उत्पत्ति-नियमात् तयोः अभावस्थान कथनव्याजेन तयोः उद्देशमाह । सूर्येऽमावास्यान्त-कालिके मध्यलग्नसमे सति दिनमध्यस्थान ऊर्ध्वयाम्योत्तरवृत्ते लग्नः क्रान्तिवृत्तप्रदेशो मध्यलग्नं त्रिपश्नाधिकारोक्तम् । तत्तुल्येसति मध्याह्न इति फलितम् । हरिजस्य लम्बनस्य भूपृष्ठ क्षितिजवशात् लम्बनोत्पत्तेः लम्बनस्यापि क्षितिजवाचकहरिजशब्देन अभिधानात् सम्भव उत्पत्तिर्न । तत्र लम्बनाभाव इत्यर्थः । अथ मध्याह्न इति स्फुटोक्त्यपेक्षया मध्यलग्नसम इति वक्रोक्तिः कृपालोः भगवतो न उचितेति अग्रिम-ग्रन्थार्थतत्वविचारणया अपि मध्याह्ने तद्भावानुपपत्तेः साम्प्रदायिकव्याख्यामनादृत्य तत्वार्थो व्याख्यायते । लग्नयोः उदय क्षितिजास्तक्षितिज प्रदेशयोः संलग्नक्रान्ति वृत्तप्रदेशयोर्मध्यम् । ऊर्ध्वमध्यप्रदेशस्त्रिभोनलग्नमित्यर्थः । प्रयोगस्तु मध्याह्न इतिवत् । तत्तुल्येऽर्के लम्बनस्य अभाव इति ।

दर्शान्तलग्नं प्रथमं विधाय न लम्बनं वित्रिभलग्नतुल्ये ।
रवौ तदूनेऽभ्यधिके च तत् स्यादेवं धनर्णं क्रमशश्च वेद्यम् ।।

इति भास्कराचार्येण स्फुटमुक्तेश्च । नत्यभावस्थानमाह । अक्षेत्यादि । अक्षांशा उत्तरा ये मध्यमस्य मध्यलग्नस्य क्रान्त्यंशाः । अत्र मध्यलग्नशब्देन दशम-भावस्त्रिभोनलग्नं वा ग्राह्यमुभयपक्षेऽपि अदोषः । अनयोः तुल्यत्वेऽवनतेर्नतेः । अपिशब्दात् सम्भवो न । अभाव इत्यर्थः । न तु अपिशब्दात् लम्बनस्यापि तत्र अभावः उत्तरक्रान्त्यक्षयोः तुल्यत्वे मध्यलग्नतुल्यार्कत्वाभावेऽपि तदभावापत्तेः । अत्रोपपत्तिः—अमावास्यान्तकाले समौ सूर्यचन्द्रौ तत्र चन्द्रशराभावे भूगर्भात् नीयमानं सूत्रमर्कस्थानावधि चन्द्रं स्पृशति एवेति भूगर्भे छादकत्वं चन्द्रस्य सूर्यस्य छाद्यत्वं सम्भवति । तत्र मनुष्याणाम् असत्वाद्भूपृष्ठे तेषां सत्वाच्च भूपृष्ठात् नीयमानम् अर्कोपरि सूत्रं चन्द्रे न लगति एव । किन्तु चन्द्राधिष्ठानगोले चन्द्रचिह्नाद् ऊर्ध्वं लगति। तत्र यदा चन्द्र आयाति तदा भूपृष्ठे सूर्यस्य चन्द्रश्छादको भवति । यदा तु खमध्ये

सूर्यस्तदा भूगर्भसूत्रं भूपृष्ठसूत्रं च सूर्योपरिगमेकमेव चन्द्रे लगतीति भूपृष्ठेऽमान्तकाले चन्द्रश्छादको भवति । अतएव भूगर्भ पृष्ठसूत्रान्तरं लम्बनम् । भूपृष्ठसूत्रात् सूर्योपरिगात् चन्द्राधिष्ठानाकाशगोले चन्द्रस्य शरसत्वे चन्द्रचिह्नस्य वा लम्बितत्वात्। अत एव भास्कराचार्यैः उक्तम् ।

दृग्गर्भसूत्रयोरैक्यात् खमध्ये नास्ति लम्बनम् । इति ।

अथ चन्द्राधिष्ठानगोले भूपृष्ठसूत्रम् अर्कोपरिगतं चन्द्रचिह्नादूर्ध्वं चन्द्रदृग्वृत्ते यदंशैः लगति तल्लम्बनं दृग्वृत्ताकारक्रान्तिवृत्ते भवति । यदा तु दृग्वृत्तात् भिन्नं क्रान्ति वृत्तं तदा भूपृष्ठसूत्रं चन्द्राधिष्ठानगोले चन्द्रदृग्वृत्ते चन्द्रात् ऊर्ध्वं यत्र लग्नं तत्र चन्द्रगोलस्थक्रान्तिवृत्तयाम्योत्तररूप कदम्बप्रोतवृत्तमानीय चन्द्रगोलस्थ क्रान्तिवृत्ते यत्र लग्नं तच्चन्द्रचिह्नयोः अन्तरं क्रान्तिवृत्ते पूर्वापरं स्फुटलम्बनकलाः कोटिः । चन्द्रस्य क्रान्तिवृत्तानुसारेण गमनात् प्रोतवृत्ते क्रान्तिवृत्तदृग्वृत्तयोः अन्तरं याम्योत्तरं कलात्मकं नतिर्भुजः । भूगर्भपृष्ठसूत्रान्तरं दृग्वृत्ते कलात्मकं दृग्लम्बनं कर्णः । दृग्वृत्तस्य कदम्बप्रोतवृत्ताकारत्वे क्रान्तिवृत्ते तयोः अन्तराभावात् लम्बनाभावः ।

याम्योत्तरमन्तरं दृग्लम्बनं नतिरेवोत्पन्ना दृग्वृत्ताकार क्रान्तिवृत्ते तु दृग्लम्बनमेव क्रान्तिवृत्ते तयोः अन्तरमिति लम्बनमुत्पन्नं नत्यभावश्च । तथा च दृग्वृत्तस्य कदम्बप्रोत वृत्ताकारत्वे त्रिभोनलग्नस्थानेऽर्को भवति । तद्वृत्तस्य क्रान्तिवृत्त-याम्योत्तरत्वेन उदयास्तलग्नमध्यवर्तित्वेन लग्नस्थानात् त्रिभान्तरितत्वात् । न हि क्रान्तिवृत्तात् याम्योत्तरान्तरज्ञानार्थं समप्रोतवृत्तमङ्गीकार्यम् । येन दशमभावतुल्यार्के लम्बनाभाव उपपन्नः स्यात् । क्रान्तिवृत्तस्य गोलवृत्तत्वेन समप्रोतवृत्तस्य देशवृत्तत्वेन सम्बन्धाभावात् । अतएव भगवता सर्वज्ञेन नतिसाधनार्थम् अग्रे दृक्क्षेपः कदम्बप्रोतवृत्ते त्रिभोनलग्नस्य एव साधितः । दृक्क्षेपाभावे त्रिभोनलग्नस्य खमध्य-स्थत्वेन तदा तस्य दशमभावतुल्यत्वेन दशमभावनतांशाभावाद्दृक्क्षेपा भावः । तदा त्रिभोनलग्नस्य नतांशाभावश्च । नतांशाभावस्तु अक्षांशतुल्योत्तरक्रान्तौ सुखार्थं स्थूलाङ्गीकारे तु दशमभावस्यैव नतांशोन्नतज्ये दृक्क्षेपदृग्गती नतिलम्बनयोः साधनार्थं समनन्तरमेव भगवतोक्तेः न तु वस्तुरूपे । आयासेन दृक्क्षेपसाधनस्य उक्तस्य वैयर्थ्यापत्तेः इति सर्वं निरवद्यम् ॥ १ ॥

त्रिभोनलग्न के तुल्य रवि होने पर (खमध्य में) लम्बन का अभाव होता है। अक्षांशों के और मध्यलग्न अर्थात् दशम लग्न वा त्रिभोनलग्न के उत्तर क्रान्त्यंशों के समान होने पर (क्षितिज पर) नति का अभाव होता है । (अमान्त-कालिक लग्न में तीन राशि घटाने से त्रिभोनलग्न होता है) ॥ १ ॥

उपपत्तिः—अमान्ते भूगर्भस्थो द्रष्टा खमध्यान्नतं सूर्यं चन्द्रेणाच्छादितमवलोक-यति परं तदानीमेव भूपृष्ठस्थो द्रष्टा तथा नावलोकयति । भूपृष्ठानुरोधेन तदानीं चन्द्रो लम्बितो दृश्यते, सूर्याचन्द्रमसोः कक्षाभेदात् । अस्मादेव सूर्यग्रहणे नतिलम्बनयोरुत्पत्ति-र्भवति । खमध्यस्थो रविः भूगर्भानुरोधेन भूपृष्ठानुरोधेन चैकसूत्रे भवति अतस्तत्र (खमध्ये) लम्बना भावः। भूगर्भात् सूर्योपरिगतं सूत्रं यत्र चन्द्रकक्षां स्पृशति तत्रैव चन्द्रो

भवति । एवमेव भूपृष्ठात् सूर्योपरिगतं सूत्रं यत्र चन्द्रकक्षां स्पृशति तत्र रवे: स्थानम् । अनयोरन्तरम् दृग्वृत्ते लम्बनम् भवति । दृग्वृत्तं क्रान्तिवृत्ते परिणते सति तदेव स्फुट-लम्बनं भवति । कदम्बप्रोतवृत्ते क्रान्तिवृत्त-दृग्वृत्तयो: अन्तरं नति: इदमन्तरं याम्योत्तरं भुजरूपं भवति। एवमेव क्रान्तिवृत्ते परिणत-चन्द्रविमण्डले कदम्बचन्द्रविम्बयोरन्तरं पूर्वा-परवृत्ते कोटि: गर्भीय-पृष्ठीयसूत्रयोरन्तरं दृग्वृत्ते दृग्लम्बनं कर्ण: ।

लम्बननत्यो: सम्भावना

देशकालविशेषेण यथाऽवनतिसम्भव: ।
लम्बनस्यापि पूर्वान्यदिग्वशाच्च तथोच्यते ।। २ ।।

अथ उद्दिष्टयो: अमावस्यानातिरिक्तस्थाने सम्भवात् प्रतिपादनं प्रतिजानीते । देशविशेषेण कालविशेषेण अवनति सम्भवो नतिकालोत्पत्तिर्गोलस्थित्या यथा भवति। लम्बनस्यापि समुच्चये त्रिभोनलग्नस्थानात् पूर्वापरदिगनुरोधात् । चकारात् सम्भवो देशकालविशेषेण यथा भवतीत्यर्थ: । तथा तत्तुल्येन नतिलम्बने आनयनद्वारा मया कथ्यते ।। २ ।।

देश और काल के अनुसार जिस प्रकार नति का सम्भव और त्रिभोनलग्न के पूर्वापर दिशा के अनुरोध से देशकाल विशेष से जैसे लम्बन उत्पन्न होता है उसका विवेचन करने जा रहा हूँ ।। २ ।।

अग्रासाधनम्

लग्नं पर्वान्तनाडीनां कुर्य्यात् स्वैरुदयासुभि: ।
तज्ज्याऽन्त्यापक्रमज्याघ्नी लम्बज्याप्तोदयाभिधा ।। ३ ।।

तत्र उपयुक्तामुदयाभिधामाह । स्वै: स्वदेशीयै: उदयासुभि: राश्युदयासुभि: पर्वघटिकानां लग्नं गणक: कुर्यात् । पर्वान्त कालिकं लग्नं साध्यमित्यर्थ: । यद्यपि पूर्वं लग्नसाधनं स्वोदयै: एवोक्तमिति स्वै: उदयासुभि: इति व्यर्थं तथापि समनन्तरमेव दशमभावसाधनोक्त्या कस्यचित् लग्नं व्यक्षोदयै: एवात्र साध्यमिति भ्रमस्य वारणाय पुनरुक्ति: । तस्य लग्नस्य अयनांश संस्कृतस्य ज्या भुजज्या परमक्रान्तिज्यया गुण्या स्वदेशीय लम्बज्यया भक्ता फलम् उदयसंज्ञं स्यात् ।

अत्रोपपत्ति: । लग्नक्रान्तिज्यासाधनार्थं लग्नभुजज्याया: परमक्रान्तिज्या गुण-स्त्रिज्या हरस्ततो लम्बज्याकोटौ त्रिज्याकर्णस्तदा लग्न क्रान्तिज्याकोटौ क: कर्ण इत्यनुपाते त्रिज्ययो: नाशात् लग्न भुजज्या परमक्रान्तिज्यागुणा लम्बज्यया भक्ता फलं लग्नस्य अग्रा । इयं भगवता उदयसंज्ञा उक्ता लग्नस्य उदयसंज्ञत्वात्। उदयसम्बन्धाच् च इत्युक्तमुपपन्नम् ।। ३ ।।

पर्वान्तकाल में स्वदेशीय उदयासुओं द्वारा लग्न साधन करना चाहिये । तदनन्तर उसकी ज्या को परमक्रान्तिज्या से गुणाकर लम्बज्या से भाग देने पर लब्धि उदय संज्ञिका लग्न की अग्रा होगी ।। ३ ।।

उपपत्तिः—उदयाख्या अग्रासाधनार्थमत्र प्रयासः क्रियते । लग्नस्थक्रान्तिज्या-साधनार्थमनुपातः — त्रिज्यायां परमक्रांज्या तदा लम्बज्यायां किमिति जातम् —

$$\frac{\text{परमक्रान्तिज्या} \times \text{लम्बज्या}}{\text{त्रिज्या}} = \text{लग्नज्या} = \text{लग्नक्रान्तिज्या} \text{ ।}$$

पुनरग्राज्ञानायानुपातः—लम्बज्यायां त्रिज्या तदा लग्नक्रान्तिज्यायां किमिति

$$\text{जातम्} = \frac{\text{त्रिज्या} \times \text{लग्नक्रान्तिज्या}}{\text{लम्बज्या}}$$

$$= \frac{\text{परमक्रांज्यां} \times \text{लग्नज्या} \times \text{त्रिज्या}}{\text{त्रिज्या} \times \text{लम्बज्या}}$$

$$= \frac{\text{परमक्रान्तिज्या} \times \text{लग्नज्या}}{\text{लम्बज्या}} = \text{लग्नाग्रा}$$

उपपन्नम् ॥ ३ ॥

नतांशज्या साधनम्

तदा लङ्कोदयैर्लग्नं मध्यसंज्ञं यथोदितम् ।
तत्क्रान्त्यक्षांशसंयोगो दिक्साम्येऽन्तरमन्यथा ॥ ४ ॥
शेषं नतांशास्तन्मार्वी मध्यज्या साऽभिधीयते ।

अथ उपयुक्तां मध्यज्यां सार्द्धश्लोकेन आह । तदा पर्वान्तकाले लङ्कोदयैः व्यक्षदेशीयराश्युदयैः यथोदितं पूर्वोक्तप्रकारेण जातकपद्धत्युक्तनतघटीभिः धनम् ऋणं यथायोग्यं मध्यसंज्ञं लग्नं दशमभावात्मकं साध्यम् । अत्र लग्नसम्बन्धेन स्वदेश-राश्युदयासुग्रहणशङ्कावारणाय लङ्कोदयैः इत्युक्तम् । तस्य दशम भावस्य अयनांश-संस्कृतस्य क्रान्तिः स्वदेशाक्षांशाः अनयोर्योग एकदिक्त्वे कार्यः । अन्यथा भिन्नदिक्त्वेऽन्तरं तयोरेव शेषं संस्कारजदिक्का नतांशाः तेषां ज्या कार्या सा मध्य-लग्ननतांशज्या मध्यज्या उच्यते तत्सम्बन्धात् । अत्रोपपत्तिः स्पष्टा ॥ ४ ॥

पर्वान्तकाल में लङ्कोदयासुओं से पूर्वोक्त प्रकार से मध्यलग्न का साधन कर इस के क्रान्त्यंश और स्वदेशीय अक्षांशों का एकदिशा में योग और भिन्न दिशा में अन्तर करना चाहिये । इस प्रकार जो शेषांश दक्षिण अथवा उत्तर दिशा के हों उनकी ज्या को मध्यज्या कहते हैं ॥ $४\frac{१}{२}$ ॥

उपपत्तिः—मध्यज्या नाम मध्यलग्नस्य दशमलग्नस्य वा नतांशज्या । मध्यलग्नं याम्योत्तरवृत्ते भवति । अक्षांशा अपि याम्योत्तरे एव । अतः मध्यलग्नस्य क्रान्त्यंशाः ± अक्षांशाः = मध्यलग्नस्य नतांशाः । मध्यलग्नस्य ज्या = मध्यज्या ।

उपपन्नम् ॥ $४\frac{१}{२}$ ॥

दृक्षेपपदृग्गति साधनम्

मध्योदयज्ययाऽभ्यस्ता त्रिज्याप्ता वर्गितं फलम् ।। ५ ।।
मध्यज्यावर्ग विश्लिष्टं दृक्क्षेपः शेषतः पदम् ।
तत्त्रिज्यावर्गविश्लेषान्मूलं शंकुः स दृग्गतिः ।। ६ ।।
नतांशबाहु कोटिज्ये स्फुटे दृक्क्षेपदृग्गती ।

अथाभ्यामुपयुक्तं दृक्क्षेपं लम्बनोपयुक्तां दृग्गतिं च सार्द्धश्लोकेन आह । पूर्वोक्तमध्यज्या पूर्वानीतोदयाभिधया उदयज्यया । अस्या ज्यारूपत्वात् ज्ययेत्युक्तम्। गुणिता त्रिज्यया भक्ता फलं वर्गितं वर्गः सञ्जातो यस्य तत् । फलस्य वर्गः कार्य इत्यर्थः । मध्यज्याया वर्गे विश्लिष्टं हीनं वर्गितं फलं कार्यम् । शेषान्मूलं दृक्क्षेपः स्यात् । दृक्क्षेपत्रिज्ययोर्यौ वर्गौ तयोः अन्तरान्मूलं शङ्कुः । स आनीतः शङ्कुर्दृग्गतिसंज्ञो भवति । न तु शङ्कुमात्रम् ।

अत्रोपपत्तिः — त्रिभोनलग्नस्य दृग्ज्यानयनार्थं क्षेत्रम् । मध्यलग्न दृग्ज्याकर्ण-स्त्रिभोनलग्नस्य याम्योत्तरवृत्तात् प्रागपरस्थितत्वेन तत्खस्वस्तिकान्तरस्थिततदीय दृग्वृत्तप्रदेशांशज्या कोटिः । मध्यलग्नत्रिभोनलग्नांन्तरांशज्या क्रान्तिवृत्तस्थो भुजः । अत्र भुजानयनं च उदयलग्नस्थक्रान्तिवृत्तप्रदेशः प्राक्स्वस्तिकात् तदग्रान्तरेण उत्तरदक्षिणो भवति । एवमस्तलग्नप्रदेशः परस्वस्तिकात् दक्षिणोत्तरः । तदनुरोधेन च त्रिभोनलग्नप्रदेश क्रान्तिवृत्तीययाम्योत्तरवृत्तरूपतद्दृग्वृत्तं क्षितिजे याम्योत्तरवृत्त-क्षितिजसम्पातात् तदग्रान्तरेण लग्नमवश्यं भवति । अतः त्रिज्यातुल्यमध्यलग्न-दृग्ज्यया लग्नाग्रातुल्यो भुजस्तदाभीष्टतद्दृग्ज्यया क इत्यनुपातेन स फलसंज्ञः । तद्वर्गोनान्मध्यलग्नदृग्ज्यावर्गान्मूलं त्रिभोनलग्नस्य दृग्ज्या दृक्क्षेपाख्या । एतद्वर्गोनात् त्रिज्यावर्गान्मूलं त्रिभोन लग्नशङ्कुर्दृग्गतिसंज्ञः । अत्रेदमवधेयम् । त्रिप्रश्नाधिकारोक्त प्रकारेण त्रिभोनलग्नस्य शङ्कुदृग्ज्ये दृग्गतिदृक्क्षेपतुल्ये न भवतः । किन्तु दृग्गति दृक्क्षेपाभ्यां क्रमेण न्यूनाधिके भवतः सर्वदा धूलीकर्मणानुभवात् । अत आनीतोऽयं दृक्क्षेपस्त्रिभोनलग्नदृग्मण्डलस्थितोऽपि न त्रिज्यानुरुद्धः । किन्तु फलवर्गोन त्रिज्या-वर्गपदरूपविलक्षणवृत्तव्यासार्द्धप्रमाणेन सिद्ध इति गम्यते । अतो दृग्ज्यायाः त्रिज्यानुरूद्धत्वेन त्रिज्यावृत्तपरिणतो दृक्क्षेपस्त्रिभोनलग्नस्य दृग्ज्या स्फुटदृक्क्षेपरूपा। अस्याः तत् त्रिज्यावर्गेत्यादिना दृग्गतिः स्फुटा त्रिभोनलग्नशङ्कुरूपा । एतदनुक्तिः स्वल्पान्तरत्वात् गणित सुखार्थं कृपालुना कृता । त्रिप्रश्नक्रियागौरवभिया एतन्मार्गान्तरं लाघवात् उक्तमितिदिक् ।। ५—६ ।।

मध्यज्या को उदयज्या से गुणाकर त्रिज्या का भाग देने से जो लब्धि प्राप्त हो उसके वर्ग को मध्यज्या के वर्ग में घटाकर शेष का वर्गमूल लेने से दृक्क्षेप होता है । दृक्क्षेप के वर्ग को त्रिज्यावर्ग में घटाकर शेष का वर्गमूल लेने से दृग्गतिसंज्ञक शंकु होता है ।। ५—६ ।।

उपपत्तिः—द्रष्टव्यं क्षेत्रम् —

क्षितिजवृत्ते पू. ल चापस्य ज्या तल = उदयज्या ।

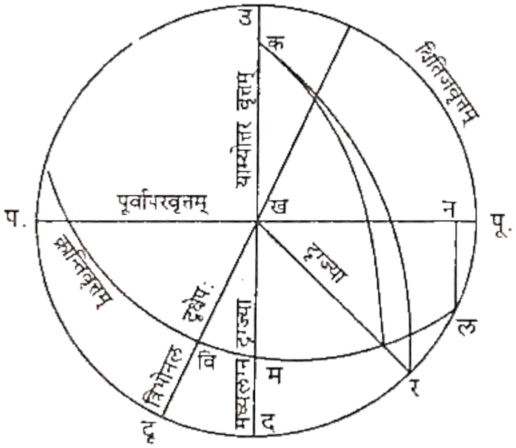

दृक्क्षेपदृग्गतिक्षेत्रम्

याम्योत्तर वृत्ते खम = मध्यज्या

दृक्षेप वृत्ते ख वि = दृक्षेपः

पू. द = ९०° चापः, ल दृ = ९०° चापः

पू द – ल द = ल दृ – ल द

अतः पूल = ददृ अनयोः समत्वादनुपातः

त्रिज्यातुल्य मध्यलग्नदृग्ज्यायां लग्नाग्रा तुल्यं दृग्वृत्तान्तरं क्षितिजे मिलति तदा इष्टमध्यलग्नदृग्ज्यायां किमिति—

$$\frac{\text{दृग्वृत्तान्तरम्} \times \text{इ. म.लग्नज्या}}{\text{मध्यलग्नदृग्ज्या}} = \frac{\text{ददृ} \times \text{ख म}}{\text{ख द}} = \text{म वि}$$

अत्र ख म वि चापजात्यं स्वल्पान्तरत्वात् सरलक्षेत्रं प्रकल्प्य वर्गान्तरं क्रियते—

$\text{ख म}^2 - \text{म वि}^2 = \text{ख वि}^2$ अस्य मूलम् $= \sqrt{\text{ख वि}^2}$ = ख विज्या = दृक्षेपः।

त्रिभोनलग्नस्य दशमलग्नासन्नत्वात् दशमलग्नस्य नतांशाज्यामेव दृक्षेपं स्वीकृत्य दृग्गतेरानयनं कृतम् । अतः $\sqrt{\text{त्रि}^2 - \text{दृक्षेप}^2}$ =

= वि दृ = दृक्षेप कोटिज्या = दृग्गतिः । उपपन्नम् ॥ ५,६ ॥

लम्बनानयनम्

एकज्यावर्गतश्छेदो लब्धं दृग्गतिजीवया ॥ ७ ॥
मध्यलग्नार्क विश्लेषज्या छेदेन विभाजिता ।
रवीन्द्वोर्लम्बनं ज्ञेयं प्राक्पश्चाद् घटिकादिकम् ॥ ८ ॥

अथ लाघवात् दृक्क्षेपदृग्गती गणितसुखार्थं श्लोकार्द्धेन आह । दशमभाव-नतांशानां भुजकोट्योर्नतांशतदूननवतिरूपयोः अनयोर्ज्ये क्रमेण दृक्क्षेपदृग्गती

अस्फुटे स्थूले । यद्वा स्फुटे प्रागुक्ते दृक्क्षेपदृग्गती विहायगणितलाघवार्थं दशमभाव-नतांश भुजकोट्योर्ज्ये तत्स्थानापन्ने ग्राह्ये । यत्तु उदयज्याभावे नतांशबाहुकोटिज्ये दृक्क्षेपदृग्गती स्फुटे इति । तन्न । उक्तप्रकारेण एतत्सिद्धेः तत्कथनस्य व्यर्थत्वात् ।

अत्रोपपत्तिः—त्रिभोलग्नस्य दशमभावासन्नत्वेन दशमभावस्य याम्योत्तर वृत्तस्थत्वेन लाघवार्थं दशमभावमेव त्रिभोनलग्नं प्रकल्प्य तन्नतांशज्या मध्यज्यारूपा त्रिभोनलग्नदृक्क्षेपः उन्नतज्याशङ्कुर्दृग्गतिः । इदमतिस्थूलम् । यैः तु भगवतोक्तं मध्यलग्नं दशमभावपरतया व्याख्यातं तेषां मत एतदुक्तमिति सूक्ष्मम् । प्रयाससाधित दृक्क्षेपदृग्गती प्रागुक्ते सूक्ष्मे अपि अतिस्थूले इति ध्येयम् । भास्कराचार्यैस्तु—

त्रिभोनलग्नस्य दिनार्द्धजाते नतोन्नतज्ये यदि वा सुखार्थम् ।

इति यदुक्तं तदस्मात् सूक्ष्ममिति ध्येयम् । अथ लम्बनोपयुक्तच्छेदकथन पूर्वकं लम्बनानयनं सार्द्धश्लोकेन आह । एकराशिज्याया वर्गात् दृग्गतिजीवया प्रागुक्तदृग्गत्या । दृग्गतेः त्रिशङ्कुरूपत्वेन ज्यारूपत्वात् जीवयेति स्वरूपप्रतिपादनम्। भागहरणेन लब्धं छेदसंज्ञं स्यात् । अथ मध्यलग्नम् । त्रिभोनलग्नं दर्शान्तकालिकं न तु दशमभावः । तात्कालिकः सूर्यः । अनयोः अन्तरस्य त्रिभादधिकस्य ज्या छेदेन प्राक्साधितेन भक्ता फलं घटिकादिकं प्राक् पश्चात् त्रिभोनलग्नरूपमध्यलग्नस्थानात् पूर्वापरविभागयोः सूर्यचन्द्रयोः तुल्यं लम्बनं ज्ञेयम् ।

अत्रोपपत्तिः—

त्रिभोनलग्नार्क विशेषशिञ्जिनी कृताहता व्यासदलेन भाजिता ।
हतात् फलाद्वित्रिभलग्नशङ्कुना त्रिजीवयाप्तं घटिकादि लम्बनम् ।।

इति सिद्धान्तशिरोमणौ सूक्ष्मं लम्बनानयनमुक्तम् । तस्योपपत्तिस्तट्टीकायां सुप्रसिद्धा । मध्यलग्नस्य त्रिभोनपरत्वेन व्याख्यानान् मध्यलग्नार्क विश्लेषज्या त्रिभोनलग्नार्क विश्लेषशिन्जिनीरूपा जाता । इयं चतुर्गुणा त्रिभोनलग्नशङ्कु रूपदृग्गत्या च गुण्या त्रिज्यावर्गेण भाज्येति लम्बनानयनप्रकारेण सिद्धम् । तत्र चतुस्त्रिज्यावर्गयोः गुणहरयोः गुणापवर्त्तनेन हरस्थानएकराशिज्यावर्गः सिद्धः । अत्रापि दृग्गत्येकराशिज्यावर्गौ गुणहरौ गुणेन अपवर्त्य हरस्थानएकज्यावर्ग इत्यादिना छेद उपपन्नः । हरस्य छेदाभिधानात् । अतो मध्यलग्नार्केत्याद्युक्तमुपपन्नम् । लम्बन-घटीभिः उभयोश्चालनं वक्ष्यमाणगणितं आवश्यकमिति सूचनार्थं रवीन्द्वोर्लम्बन-मित्युक्तम् । अन्यथा दर्शान्तकाले सूर्यगतभूपृष्ठ सूत्रात् चन्द्रकक्षायां चन्द्रचिह्नस्य तद्घटीभिर्लम्बितत्वात् द्वयोरुक्त्यनुपपत्तिः । त्रिभोनलग्नसमेऽर्के लम्बनाभावात् पूर्वापरविभागे सूर्ये सति लम्बनं भवतीति प्राक् पश्चात् इत्युक्तम् । अत्र इदमवधेयम् । लम्बनानयने मध्यलग्नस्य त्रिभोन लग्नेत्यर्थे छेदः पूर्वसाधितसूक्ष्मदृग्गत्या सूक्ष्मो नतांशेत्यादि गृहीतस्थूलदृग्गत्या स्थूल इति । एवं मध्यलग्नेति अस्य दशमभावार्थे तु विपरीतमिति । एतेन मध्यलग्नेत्यस्य दशमभावार्थः । तत्र प्रयाससाधित

सूक्ष्मदृग्गत्या सूक्ष्मं लम्बनम् । नतांशेत्याद्युक्तस्थूलदृग्गत्या स्थूललम्बनमिति साम्प्रदायिकोक्तं निरस्तम् । युक्तभावात् । न च अत्र मध्यलग्नरूपदशमभावग्रहेऽपि गोलयुक्त्या प्रतिपादनस्य सत्वात् कथमादित्योक्तं मध्यलग्नमिति पदं सार्वजनीन-दशमभावप्रत्यायकं त्रिभोनलग्नपरतया हठात् व्याख्यातुं युक्तम् ।

नतांशबाहुकोटिज्ये स्फुटे दृक्क्षेपदृग्गती ।

इत्यत्र स्फुटे इत्यनेन भगवतस्तदाशयस्य व्यक्तीकृतत्वात् इति वाच्यम् । तथापि गौरवसाधितदृक्क्षेपोक्तिर्भगवदाशयस्थितत्रिभोनलग्नग्रहणं व्यनक्ति । अन्यथा प्रयास साधितदृक्क्षेपस्य वैयर्थ्यापत्तेरिति सुधियावलोक्यमिति अलं विस्तरेण ।। ७—८ ।।

दशमलग्न के नतांशों की भुजज्या और कोटिज्या को क्रम से स्थूल दृक्क्षेप और दृग्गति कहते हैं ।.एक राशिज्या के वर्ग में दृग्गतिज्या का भाग देने से लब्धि छेदसंज्ञक होती है । त्रिभोन लग्न और सूर्य के अन्तरांशों की ज्या में छेद का भाग देने से जो लब्धि प्राप्त हो वह त्रिभोनलग्न से पूर्वापर भाग में सूर्य-चन्द्र का घटिकादि लम्बन होता है ।। ७—८ ।।

लम्बनानयनोपपत्तिः—प्रथमं लम्बनस्वरूपं प्रदर्श्यते । सूर्यग्रहणे रवीन्द्वोः कक्षा भेदात् लम्बनोत्पत्तिर्जायते । एकराशिस्थितावपि भूगर्भाभिप्रायिकमेकसूत्रगतौ रवीन्दू पृष्ठाभिप्रायेन लम्बितौ दृश्येते । इदमेव लम्बनम् । लम्बनं द्विविधं दृग्लम्बनं स्फुट-लम्बनञ्च । दृग्वृत्ते यावाँलम्बते तावान् दृग्लम्बनम्, क्रान्तिवृत्ते यावाँल्लम्बते तावत् स्फुटलम्बनं पूर्वापरान्तररूपं भवति । यथा क्षेत्रद्वारा स्फुटम्

भू = भूगर्भः
पृ = पृष्ठस्थानम्
ख' ख = खमध्यम्
च = चन्द्रविम्बम्
सू = सूर्यविम्बम्

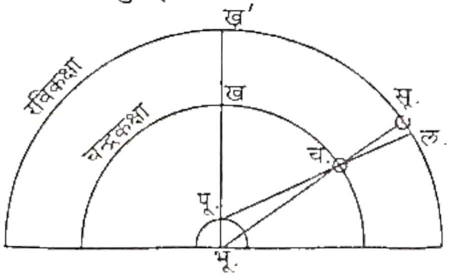

आचार्यभास्करेण लम्बनानयनं स्वल्पायासेन "त्रिभोनलग्नार्कविशेष शिञ्जिनी कृताहता व्यासदलेन भाजिता" इत्यादिना कृतम् तद्यथा—

$$४ \left(\frac{\text{वित्रिभलग्नार्कान्तरज्या}}{\text{त्रिज्या}} \right) \left(\frac{\text{दृग्गति}}{\text{त्रिज्या}} \right)$$

$$= \frac{४ \text{ वित्रिभलग्नार्कान्तरज्या} \times \text{दृग्गतिः}}{\text{त्रिज्या} \times \text{त्रिज्या}}$$

$$= \frac{४ \text{ वित्रिभलग्नार्कान्तरज्या} \times \text{दृग्गतिः}}{\text{त्रिज्या}^{२}}$$

अत्र हरांशौ '४' इत्यनेनापवर्तितौ जातौ

$$= \frac{\text{वित्रिभलग्नार्कान्तरज्या} \times \text{दृग्गतिः}}{\text{एकराशिज्या}^{2}}$$

पुनः ''दृग्गति'' इत्यनेन हरांशयोरपवर्तनेन जातम्

$$= \frac{\dfrac{\text{वित्रिभलग्नार्कान्तरम्} \times \text{दृग्गतिः}}{\text{दृग्गतिः}}}{\dfrac{\text{एकराशिज्या}^{2}}{\text{दृग्गतिः}}}$$

$$= \frac{\text{वित्रिभलग्नार्कान्तरम्}}{\dfrac{\text{एकराशिज्या}^{2}}{\text{दृग्गतिः}}}$$

= दृग्गति इत्यनेन भक्ते सति छेदो जायते ।

अतः $\frac{\text{वित्रिभलग्नान्तरज्या}}{\text{छेदः}}$ = इष्टलम्बनम् उपपन्नम् ॥ ८ ॥

मध्य लग्नाधिके भानौ तिथ्यन्तात् प्रविशोधयेत् ।
धनमूनेऽसकृत् कर्म यावत् सर्वं स्थिरीभवेत् ॥ ९ ॥

अथ मध्य ग्रहण कालज्ञानार्थं तिथौ लम्बनसंस्कारं तदसकृत् साध्यमिति च आह । सूर्ये मध्यलग्नं त्रिभोनलग्नं तस्माद् अधिके सति तिथ्यन्तात् दर्शतिथ्यन्त-कालाद् आगतं लम्बनं शोधयेत् । सूर्ये त्रिभोनलग्नात् न्यूने सति तिथ्यन्तकाले लम्बनं धनं युतं कार्यम् । एवं कर्म गणितमसकृन्मुहुः कार्यम् । अयमर्थः । तिथ्यन्तकालिकः सूर्यो लम्बनघटीभिः क्रमेण पूर्वाग्रिमकाले च अल्पो लम्बनसंस्कृततिथ्यन्तेऽर्को भवति। तस्मात् लम्बनसंस्कृततिथ्यन्तकाले लग्नदशमभावौ प्रसाध्य पूर्वोक्तरीत्या लम्बनं साध्यम्। इदमपि केवलं तिथ्यन्ते संस्कार्योक्तरीत्या लम्बनं केवलं तिथ्यन्ते संस्कार्यम्। अस्मादपि लम्बनं तिथ्यन्ते संस्कार्यमिति असकृदिति । गणितावधिमाह । यावदिति । सर्वं गणितं लम्बनादि यावत् यत्परिवर्तावधिस्थिरीभवेत् । अविलक्षणं यावदविशेष इत्यर्थः । अत्रोपपत्तिः ।

दर्शान्तकाले रविगतभूपृष्ठसूत्रात् चन्द्रस्याधोलम्बितत्वेन त्रिभोनलग्नात् ऊने रवौ क्रान्तिवृत्ते पूर्वापरान्तराभावेन एकसूत्रस्थितत्वरूपयुतिः दर्शान्तकालात् लम्बन-कालेन अग्रे भवति । शीघ्रगचन्द्रस्य मन्दगरवितः पृष्ठे स्थितत्वात् । अधिके रवौ चन्द्रस्य पुरः स्थितत्वेन दर्शान्तकालात् लम्बनकालेन पूर्वं युतिर्भवति । अतो दर्शान्त-कालो लम्बनसंस्कृतो मध्यग्रहणकालः स्यात् । युति कालस्य मध्यग्रहणकालत्वात्।

परन्तु तावता लम्बनकालेन सूर्यस्यापि क्रान्तिवृत्ते चलनात् लम्बनसंस्कृत दर्शान्तिकाले रविगतभूपृष्ठसूत्राच्चन्द्रस्य लम्बितत्वं स्याद् एवेति मध्यग्रहण कालस्तु असिद्धः । न हि सूर्यो धनलम्बन ऋणलम्बने चन्द्रश्च लम्बनकाले स्थिरो येन तयोर्युतिः सङ्गता स्यात् । अतः तादृश कालात् पुनस्तात्कालिकं लम्बनं प्रसाध्य दर्शान्ते पुनः संस्कार्यम्। मध्यकालः स्यात् । एवं तादृशलम्बनसंस्कृतदर्शान्तेऽपि तयोर्भूपृष्ठ-सूत्रस्थत्वाभावात् पुनर्लम्बनं साध्यम् । तत् संस्कृतो दर्शान्तो मध्यग्रह इति असकृद्विधिना यदा लम्बनं पूर्वलम्बनतुल्यं सिध्यति तदावश्यं तादृशलम्बनसंस्कृत-दर्शान्तरूप मध्यग्रहणकाले भूपृष्ठसूत्रे तयोः सन्निवेशः । यतस्तदा सूर्यगतभूपृष्ठ सूत्रचन्द्रयोः अन्तराभावेन पूर्वागतलम्बनतुल्यलम्बनस्य पुनः सिद्धेः । अन्यथा तुल्यलम्बनानुपपत्तेः । तस्मात् मध्यकालोऽसकृत् यावदविशेषः साध्य इत्युपपन्नं मध्यलग्नेत्यादि ॥ ९ ॥

मध्यलग्न अर्थात् त्रिभोनलग्न से सूर्य अधिक हो तो दर्शान्तकाल में लम्बन को हीन करना चाहिये यदि त्रिभोन लग्न से सूर्य न्यून हो तो दर्शान्तकाल में लम्बन को धन करना चाहिये । लम्बन संस्कृत दर्शान्त काल से पुनः पुनः तब तक लम्बन आदि सम्पूर्ण गणित करें । जब तक लम्बन आदि स्थिर न हो जाय अर्थात् पूर्व तुल्य न हो जाय । इस प्रकार साधन किया हुआ स्थिरीभूत दर्शान्तकाल स्पष्ट दर्शान्तकाल होता है ॥ ९ ॥

उपपत्तिः—"कक्षाभेदादिह खलु नतिर्लम्बनं चोपपन्नम्" अर्थात् लम्बनोत्पत्तौ कक्षाभेद एव कारणम् । चन्द्रस्य कक्षा भूमेरासन्नवर्ती सूर्यापेक्षया । अतएव चन्द्रः रविबिम्बकेन्द्रगत भूपृष्ठसूत्रादधः लम्बितो दृश्यते । क्रान्तिवृत्तस्य परमोच्च स्थानम् वित्रिभम् । अतः वित्रिभ लग्नादूने रवौ लंबितश्चन्द्रः पृष्ठभागस्थः वित्रिभलग्नादधिके-रवौ लम्बितश्चन्द्रोऽग्रे भवति । शीघ्रगः ग्रहः यदि अग्रेभवति तदा गत युतिः पृष्ठे सति गम्य युतिर्भवति । युति काल एव मध्यग्रहण कालः ।

अतएव दर्शान्तकाल ± लम्बनम् = स्फुट दर्शान्त कालः = मध्यग्रहणकालः।

अत्र दर्शानाकालस्य स्थूलत्वात् असकृत कर्मणा स्फुट लम्बनम् ।

उपपन्नम् ॥ ९ ॥

नतिसाधनम्

दृक्क्षेपः शीततिग्मांश्वोर्मध्य भुक्त्यन्तराहतः ।
तिथिघ्नत्रिज्यया भक्तो लब्धं साऽवनतिर्भवेत् ॥ १० ॥
दृक्क्षेपात् सप्ततिहताद् भवेद्वाऽवनतिः फलम् ।
अथ वा त्रिज्यया भक्तात् सप्त सप्तकसंगुणात् ॥ ११ ॥
मध्यज्यादिग्वशात् सा च विज्ञेया दक्षिणोत्तरा ।
सेन्दु विक्षेपदिक्साम्ये युक्ता विश्लेषिताऽन्यथा ॥ १२ ॥

अथ नतिसाधनमाह । दृक्क्षेपः प्रागानीतः शीततिग्मांशोः चन्द्रार्कयोः मध्यगतीकलात्मके तयोरन्तरेण गुणितया त्रिज्यया भक्तः फलं सा देशकाल विशेषाभ्यां या गोले सिद्धा भवति सैव अत्र गणिते नतिर्भवेत् ।

अत्रोपपत्तिः — तदा क्रान्तिवृत्तं दृग्वृत्ताकारं तदा नत्यभाव इति प्रागुक्तम् । तत्र त्रिभोनलग्नस्य खमध्यस्थत्वेन दृक्क्षेपाभावः । यत्र च षट्षष्ट्यक्षांशास्तत्र देशे त्रिभोनलग्नस्य क्षितिजस्थत्वेन परमा नतिः । परमास्तु नतिकला भूगर्भक्षितिजाद् भूपृष्ठक्षितिजस्य भूव्यासार्द्धान्तरेण उच्छ्रितत्वात् गतियोजनैः गत्यन्तरकला लभ्यन्ते तदा भूव्यासार्द्धयोजनैः का इत्यनुपातेन तत्र मध्यगतियो जनानां भूव्यासार्द्धस्य च नियतत्वात् भूव्यासार्द्धेन अपवर्त्तः कृतः । तेन मध्यगत्यन्तरकलानां स्वल्पान्तरेण पञ्चदशांशः परमा नतिकलाः । अत एव षष्टिघटिकानां पञ्चदशांशो घटिकाचतुष्टयं परमं लम्बनं सिद्धम् । आभिस्त्रिज्यातुल्यदृक्क्षेपे सूर्यगतभूपृष्ठसूत्राच् चन्द्रस्य दक्षिणोत्तरेण अवलम्बनं भवति । अतः त्रिज्यातुल्यदृक्क्षेपेण मध्यगत्यन्तरपञ्चदशांशो नतिस्तदेष्टदृक्क्षेपेण केत्यनुपातेन गत्यन्तरगुणो दृक्क्षेपो हरघातेन पञ्चदशगुणित त्रिज्यात्मकेन भक्तो नतिकला इत्युपपन्नम् ॥ १० ॥

अथ प्रकारान्तराभ्यां नतिसाधनं लाघवादाह । सप्तत्या भक्ताद्दृक्क्षेपात् फलं कलादिका नतिः प्रकारान्तरेण भवेत् । अथवा प्रकारान्तरेण सप्तसप्तकसङ्गुणात् सप्तानां सप्तकं सप्तवारमावृत्तिर्वर्गएकोनपञ्चाशदित्यर्थः तेन गुणिताद्दृक्क्षेपात् त्रिज्यया भक्तात् फलं कलादिका नतिः । अत्रोपपत्तिः — दृक्क्षेपस्य गत्यन्तरकलामित ७३१ । २७ गुणक पञ्चदशगुणित त्रिज्यामितहरौ ५१५७० प्रथमप्रकारे गत्यन्तरापवर्तितौ हरस्थाने सप्ततिः । द्वितीयप्रकारे पञ्चदशभिः अपवर्त्य गुणस्थाने स्वल्पान्तरात् एकोनपञ्चाशत् हरस्थाने त्रिज्येत्युपपन्नम् ॥ ११ ॥

अथ नतेर्दिग्ज्ञानं स्पष्टविक्षेपं च आह । सावनतिर्मध्यज्याया दिगनुरोधाद् दक्षिणोत्तरा मध्यज्या चेत् दक्षिणा तदा नतिरपि दक्षिणा चेत् उत्तरा तदोत्तरा ज्ञेया । चः समुच्चये । तेन मध्यज्या नतांशदिक्केति । सा दक्षिणोत्तरा नतिश्चन्द्रविक्षेपदिक्समत्वे । तयोः एकदिक्त्वे इत्यर्थः । युक्ता विक्षेपेण युतेत्यर्थः । अन्यथा तयोर्भिन्नदिक्त्वे विक्षेपेणान्तरिता शेषदिक्का विक्षेपसंस्कृता नतिः स्पष्टशररूपा स्यात् । अत्र चन्द्रविक्षेपो मध्यग्रहणालिक इति ध्येयम् ।

अत्रोपपत्तिः — नतांशदिक्कमध्यज्यावशाद्दृक्क्षेपस्य उत्पन्नत्वात् तदुत्पन्ननतेः तद्दिक्त्वं युक्तमेव । अथ रविगतभूपृष्टसूत्रात् चन्द्राकाशगोले क्रान्तिवृत्तावधि याम्योत्तरान्तरस्य नतित्वात् क्रान्तिमण्डलात् चन्द्रविम्बावधि विक्षेपत्वात् रविगतभूपृष्ठसूत्रात् चन्द्रविम्बावधि याम्योत्तरान्तरस्य सूर्यग्रहणोपयुक्तनति संस्कृतविक्षेपरूप स्पष्टविक्षेपत्वात् द्वयोः एकदिशि योगो भिन्नदिशि अन्तरमित्युपपन्नम् ॥ १२ ॥

दृक्क्षेप को सूर्यचन्द्र के गत्यन्तर से गुणाकर १५ से गुणित त्रिज्या से भाग देने पर लब्धि कलादि नति होती है ॥ १० ॥

दृक्क्षेप में ७० का भाग देने से अथवा दृक्क्षेप को ४९ से गुणाकर त्रिज्या का भाग देने से फल कलादि नति होती है ।। ११ ।।

मध्यज्या के दिशा के अनुसार नति की दिशा जाननी चाहिए । अर्थात् मध्यज्या दक्षिण हो तो नति भी दक्षिण और उत्तर हो तो उत्तर नति होती है । नति और चन्द्रशर का एक दिशा में योग और भिन्न दिशा में अन्तर करने से स्पष्ट शर होता है (यह चन्द्र शर मध्यग्रहणकालिक होता है) ।। १२ ।।

उपपत्तिः—त्रिभोनलग्ने खमध्यस्थ सति दृग्वृत्ताकारं क्रान्ति वृत्तं भवति । स्थितावस्यां क्षितिजे नतेरभावः । यत्र क्षितिजाकारं क्रान्ति वृत्तं भवति तत्र त्रिभोनलग्नस्य क्षितिजगतत्वात् दृक्षेपः परम त्रिज्या तुल्यं भवति । तत्र गर्भसूत्रपृष्ठसूत्रयोरन्तरमुच्छन्नलिप्तातुल्यं परमा नतिर्भवति ।

अत्र कुच्छन्नलिप्तानयनार्थमनुपातः—

गतियोजगैः गत्यन्तरकाला लभ्यते तदा भूव्यसार्ध योजनैः किमिति—

$$\frac{\text{गत्यन्तरकला} \times \text{भूव्यासार्धयो}}{\text{गतियोजन}} = \text{कुच्छन्नकला ।}$$

अत्रा पवर्तनेन—अंशस्थाने (भू. व्या.) = १ तथा च हरस्थाने (गतियो.) = १५

$$\text{अतः जातम्} \quad \frac{\text{गत्यन्तर कला} \times 1}{१५} = \frac{\text{ग० अ० क}}{१५} = \text{कुच्छन्न लिप्ता ।}$$

इष्टकाले नतिकलासाधनायानुपातः—

त्रिज्यायां परमनतिः तदा दृक्षेप कलायां किमिति—

$$\frac{\text{परमनति} \times \text{दृक्षेपः}}{\text{त्रिज्या}} = \frac{\text{गत्यन्तर} \times \text{दृक्षेप}}{१५ \times \text{त्रिज्या}}$$

$= \text{नतिकला ।}$ उपपन्नम् ।। १०–१२ ।।

प्रकारान्तरेण— द्रष्टव्यं क्षेत्रम् ।

अत्र शराल्पत्वात् सूर्याचन्द्रमसो, स्थितिः क्रान्तिवृत्ते एकस्मिन्नेव 'ग्र' विन्दौ कल्पितः। ख = खमध्यस्थानम्, वि = वित्रिभम्, ख ग्र = गर्भीय नतांशाः ख ग्र ज्या = दृग्ज्या । ख वि = दृक्षेयांशाः अस्य ज्या = दृक्षेपः । ग्र वि = वित्रिभरव्यन्तरम् । अस्य अन्तरज्या ।

पृष्ठाभिप्रायेण च = लम्बितश्चन्द्रः ।

अतः ख च = पृष्ठीयनतांशाः ।

तत्र ग्र च = दृग्वृत्ते = चन्द्रस्य दृग्लम्बनम् ।

ख च = गर्भीयनतांशाः + दृग्लम्बनम् ।

च र = नतिः ।

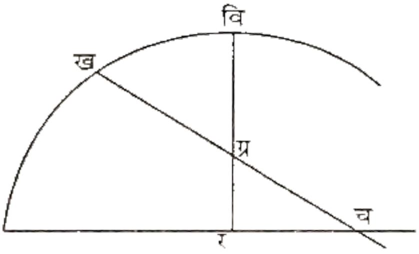

अत्र ख वि ग्र, ग्र च ल चाप जात्य त्रिभुजयोः साजात्यादनुपातः—

यदि दृग्ज्याकर्णे दृक्षेपः भुजः तदा दृग्लम्बनज्यायां किमिति—

$$\frac{\text{दृक्षेप} \times \text{दृग्लम्बनम्}}{\text{दृग्ज्या}} = \text{नतिः} ।$$

$$\text{अत्र दृग्लम्बनज्या} = \frac{\text{परमलम्बनम्} \times \text{पृ० दृग्लम्बनम्}}{\text{त्रिज्या}}$$

$$= \frac{\text{परमलम्बज्या} \times (\text{गर्भीयनतांशा} + \text{दृग्लम्बनम्})}{\text{त्रि}}$$

$$\text{उत्थापनेन} = \frac{\text{दृक्षेप} \times \text{परमलम्बनम्} \times \text{ज्या}(\text{ग. नः} \times \text{दृ. ल})}{\text{दृग्ज्या} \times \text{त्रि}} = \text{नतिः} ।$$

स्वल्पन्तरात्—

$$\frac{\text{दृक्षेप} \times \text{परमलम्बनम्} \times \text{दृग्ज्या}}{\text{दृग्जा} \times \text{त्रि}}$$

$$= \frac{\text{दृक्षेप} \times \text{परमलम्बनम्}}{\text{त्रि}} = \text{च र} = \text{नतिः}$$

$$\text{अत्र परमलम्बनम्} = \frac{\text{रविचन्द्रयोः गत्यन्तरकला}}{१५}$$

$$\text{अतः} \quad \frac{\text{दृक्षेप} \times \text{गत्यन्तरकला}}{१५ \times \text{त्रि}} = \text{नतिः}$$

उपपन्नम् ॥ १०—१२ ॥

स्पष्टनतिप्रयोजनम्

तया स्थितिविमर्दार्धग्रासाद्यं तु यथोदितम् ।
प्रमाणं बलनाभीष्टग्रासादि हिमरश्मिवत् ॥ १३ ॥

अथ चन्द्रग्रहणाधिकारोक्तमत्र अतिदिशति । तया विक्षेपसंस्कृतया नत्या स्पष्टविक्षेपरूपया इत्यर्थः । स्थित्यर्द्ध-विमर्दार्द्धग्रासाः । आद्यशब्दात् स्पर्शमोक्ष-सम्मीलनोन्मीलनं यथोदितं चन्द्रग्रहणे यथोक्तं तथा । तुकारः तदतिरिक्तरीति व्यवच्छेदार्थकैवकारपरः । प्रमाणं मतमित्यर्थः । अवशिष्टमप्याह । वलनेत्यादि । वलनानीष्टग्रासः । आदिशब्दात् इष्टग्रासात् इष्टिकालानयनम् । हिमरश्मिवत् । चन्द्रग्रहणोक्तरीत्या कार्यमित्यर्थः । अत्रोपपत्तिः अविशेष एव ॥ १३ ॥

नति संस्कृत स्पष्टशर से चन्द्रग्रहणोक्त प्रकार से स्थित्यर्ध, मर्दार्ध, ग्रास, सम्मीलन, उन्मीलन, वलन, इष्टग्रास आदि का साधन करना चाहिए ॥ १३ ॥

स्थितिविमर्दार्धयोः वैशिष्ट्यम्

स्थित्यर्धोनाधिकात् प्राग्वत् तिथ्यन्ताल्लम्बनं पुनः।
ग्रासमोक्षोद्भवं साध्यं तन्मध्यहरिजान्तरम् ॥ १४ ॥
प्राक्कपालेऽधिकं मध्याद् भवेत् प्राग्रहणं यदि।
मौक्षिकं लम्बनं हीनं, पश्चार्धे तु विपर्ययः ॥ १५ ॥
तदा मोक्षस्थितिदले देयं प्राग्रहणे तथा।
हरिजान्तरकं शोध्यं यत्रैतत् स्याद् विपर्ययः ॥ १६ ॥
एतदुक्तं कपालैक्ये तद्भेदे लम्बनैकता।
स्वे स्वे स्थितिदले योज्या विमर्दार्धेऽपि चोक्तवत् ॥ १७ ॥

॥ सूर्यसिद्धान्ते सूर्यग्रहणाधिकारः सम्पूर्णः ॥ ५ ॥

अथ स्थित्यर्द्धे विमर्दार्द्धे च विशेषं श्लोकचतुष्टयेन आह । चन्द्रग्रहणाधिकारोक्तप्रकारेण असकृत् साधितं स्पर्शस्थित्यर्द्धं मोक्षस्थित्यर्द्धं च । तद्यथा । मध्यग्रहणकालिकस्पष्ट शरात् उक्तरीत्या स्थित्यर्द्धघटिकाः ताभिः तिथ्यन्तकालिकग्रहाः । स्पर्शस्थित्यर्द्धनिमित्तं पूर्वं चाल्याः । मोक्षस्थित्यर्द्धनिमित्तमग्रे चाल्याः । तत्कालयोः प्रत्येकं नतिशरौ प्रसाध्य स्पष्टशरः साध्यः । ततः प्रथमकालिक स्पष्टशरात् स्थित्यर्द्धमनेन पूर्वं तिथ्यन्तकालिक ग्रहान् प्रचाल्य उक्तरीत्या स्पष्टशरं प्रसाध्य स्थित्यर्द्धं साध्यम् । एवमसकृन् स्पर्शस्थित्यर्द्धम् । एवमेव द्वितीयकालिकस्पष्टशरात् स्थित्यर्द्धमनेन अग्रे तिथ्यन्तकालिकग्रहान् प्रचाल्य उक्तरीत्या स्पष्टशरं प्रसाध्य स्थित्यर्द्धं साध्यम् । एवमसकृत् मोक्षस्थित्यर्द्धमिति । अथ आभ्यां स्पर्शमोक्षस्थित्यर्द्धाभ्यां क्रमेण हीनयुतात् दर्शान्तकालात् प्राग्वत् उक्तरीत्या लम्बनं पुनः असकृत् ग्रासमोक्षोद्भवं स्पर्शमोक्षकालिकं कार्यम् । तथाहि । स्पर्शस्थित्यर्द्धहीनात् तिथ्यन्तात् तात्कालिकसूर्य्यात् लग्नदशमभावौ प्रसाध्य उक्तरीत्या लम्बनं साध्यम् । तेन स्पर्शस्थित्यर्द्धोनतिथ्यन्तं संस्कृत्य अस्मात् लम्बनमनेन अपि स्पर्शस्थित्यर्द्धोनतिथ्यन्तं संस्कृत्य अस्मात् लम्बनमेवमसकृत् स्पर्श कालिकं लम्बनम् । एवमेव मोक्षस्थित्यर्द्धयुतात् तात्कालिक सूर्यात् लग्नदशमभावौ प्रसाध्य उक्तरीत्या लम्बनं साध्यम् । तेन मोक्षस्थित्यर्द्धयुततिथ्यन्तं संस्कृत्य अस्मात् लम्बनमानेन अपि मोक्षस्थित्यर्द्धयुततिथ्यन्तं संस्कृत्य अस्मात् लम्बनमेवमसकृत् मोक्षकालिकं लम्बनमिति । प्राक्कपाले त्रिभोनलग्नात् पूर्वभागे त्रिभोनलग्नाधिके रवौ मध्यात् मध्यकालिकात् अग्रोक्तलम्बनस्य विभक्तिविपरिणामात् अन्वयेन लम्बनात् प्राग्ग्रहणं प्रग्रहणं स्पर्शः स्पर्शकालिकम् । अत्रापि लम्बनमित्यस्य अन्वयः । लम्बनं चेत् अधिकं स्यात् । मौक्षिकं मोक्षकालसम्बन्धि लम्बनं न्यूनं स्यात् ।

पश्चार्द्धे त्रिभोनलग्नात् पश्चिमभागे त्रिभोनलग्नात् हीने रवौ । तुकारः समुच्चयार्थकचकारपरः । विपर्य्यय उक्तवैपरीत्यम् । मध्यकालिकलम्बनात् स्पर्शकालिकं

लम्बनं न्यूनं मोक्षकालिकं लम्बनमधिकमित्यर्थः । तदा तर्हि तन्मध्यहरिजान्तरम् । तयोः स्पर्श मोक्षकालिकलम्बनेन प्रत्येकमन्तरं मोक्षस्थित्यर्द्धे योज्यम् । प्राग्ग्रहणे स्पर्शस्थित्यर्द्धे तथा देयम् । मोक्षमध्यकालिकलम्बनयोः अन्तरं मोक्षस्थित्यर्द्धे योज्यम्। स्पर्शमध्यकालिक लम्बनयोः अन्तरं स्पर्शस्थित्यर्द्धे योज्यमित्यर्थः । यत्र यस्मिन् काले विपर्यय उक्तवैपरीत्यं प्राक्कपाले मध्यकालिकलम्बनात् स्पर्शकालिकलम्बनं न्यूनं मोक्षकालिकलम्बनमधिकं पश्चिमकपाले तु मध्यकालिकलम्बनात् स्पर्शकालिकलम्बनमधिकं मोक्षकालिकलम्बनं न्यूनं भवतीत्यर्थः । तत्र एतन्मोक्ष स्पर्शमध्यकालिकं हरिजान्तरकं लम्बनान्तरं मोक्षस्थित्यर्द्धे मध्यमोक्षकालिकलम्बनयोः अन्तरं स्पर्शस्थित्यर्द्धे मध्यस्पर्शकालिकलम्बनयोः अन्तरमित्यर्थः । शोध्यं हीनं कुर्यात् ' एतत् लम्बनान्तरं योज्यं शोध्यं वा कपालैक्ये द्वयोः स्पर्शमध्ययोः मध्यमोक्षयोः वैककपाले स्वस्वकालिकत्रिभोनलग्नात् स्वस्वकालिकसूर्य उभयत्र अधिके न्यूने वा इत्यर्थः । उक्तं कथितम् । तद्भेदे तयोः स्पर्शमध्ययोः मध्यमोक्षयोश्च भेदे कपालभेदे स्पर्शकालिकत्रिभोनलग्नात् तात्कालिक सूर्यस्य आधिक्ये मध्यकालिकत्रिभोनलग्नात् तात्कालिकार्कस्य न्यूनत्वे मध्यकालिकत्रिभोनलग्नात् तात्कालिकार्कस्य अधिकत्वे मोक्षकालिकत्रिभोनलग्नात् तात्कालिकार्कस्य न्यूनत्व इत्यर्थः । लम्बनैकता लम्बनैक्यम् । स्पर्शमध्ययोर्भेदे तात्कालिकलम्बनयोः योगः मध्यमोक्षयोर्भेदात् तात्कालिक लम्बनयोः योग इत्यर्थः । स्वकीये स्वकीये स्थित्यर्द्धे संयुक्ता कार्या । स्पर्शस्थित्यर्द्धे स्पर्शमध्यकालिकलम्बनयोः योगो योज्यः । मोक्षस्थित्यर्द्धे मोक्ष मध्यकालिकलम्बनयोर्योगो योज्यः इत्यर्थः । स्पर्शस्थित्यर्द्ध मोक्षस्थित्यर्द्धं च स्फुटं भवति ।आभ्यां चन्द्र ग्रहणोक्तदिशा मध्यग्रहणकालात् पूर्वमपरत्र क्रमेण स्पर्शमोक्षकालौ स्त इत्यर्थसिद्धम् ।अथ उक्तरीत्या विमर्दार्द्धेऽपि स्पष्टत्वमतिदिशति विमर्दार्द्ध इति । स्पर्शमर्दार्द्ध मोक्षमर्दार्द्धे चन्द्रग्रहणाधिकारोक्तरीत्या स्पष्टशरेण सकृत् साधिते उक्तवत् ॥

स्थित्यर्द्धोनाधिकात् प्राग्वत् तिथ्यन्ताल्लम्बनं पुनः ।

इत्याद्युक्तरीत्या स्थित्यर्द्धस्थाने मर्दार्द्धग्रहणेन ग्रासमोक्षोद्भवमित्यत्र सम्मीलनोन्मीलनोद्भवमिति ग्रहणेन प्राग्ग्रहणमित्यत्र सम्मीलनग्रहणेन मौक्षिकमित्यत्र उन्मीलनग्रहणेन स्फुटे साध्ये । अपिः समुच्चये । चकारात् ताभ्यां सम्मीलनोन्मीलनकालौ मध्यग्रहणकालात् पूर्ववत् साध्यौ इत्यर्थः ।

अत्रोपपत्तिः — स्थित्यर्द्धोनयुतो मध्यग्रहणकालः स्पर्शमोक्षकालः मध्यकालिकलम्बनसंस्कारात् स्पर्शमोक्षकालिकलम्बनसंस्कारस्य अपेक्षितत्वाच्च । न हि यः कालो लम्बनसंस्कृतः स्फुटः स स्वभिन्नकालिक लम्बनसंस्कृतः स्फुटः स्यात् सम्बन्धाभावात् । पूर्वं स्पर्शमोक्षकालयोरज्ञानात् तात्कालिकलम्बनज्ञानाभावाच्च । अतो मध्यकालज्ञानार्थं तथा तिथ्यन्तात् असकृत् लम्बनं प्रसाध्य तिथ्यन्ते संस्कृत्य मध्यकालस्तथा स्पर्शमोक्षस्थित्यर्द्धहीनयुक्ततिथ्यन्तकालाभ्यां स्पर्शमोक्षतिथ्यन्तरूपाभ्यां प्रत्येकं लम्बनमसकृत् प्रसाध्य स्वस्वतिथ्यन्ते संस्कृत्य स्पर्शमोक्षकालौ

स्फुटौ तन्मध्यकालयोरन्तरं स्फुटं स्थित्यर्द्धम् । तत्रर्णलम्बनेन स्पर्शमध्यमोक्षोत्पत्तौ यदा मध्यलम्बनादधिकं स्पर्शलम्बनं मोक्षलम्बनं च न्यूनं तदा स्पर्शस्थित्यर्द्धोनतिथ्यन्तस्य अधिकलम्बनोनितस्य स्पर्शकालत्वान् न्यूनलम्बनोनितस्य तिथ्यन्तस्य मध्यकालत्वात् तयोः अन्तरे तिथेः समत्वेन नाशात् स्पर्शस्थित्यर्द्धं स्पर्शकालिकलम्बनेन युतं मध्यकालिक लम्बनेन हीनमिति लम्बनयोः अन्तरं तत्र धनं योज्यम् । एवं मोक्षस्थित्यर्द्धयुततिथ्यन्तस्य न्यूनलम्बनोनितस्य मोक्षकालत्वात् मध्यमोक्षकालयोः अन्तरे पूर्वरीत्या मध्यमोक्षकालिकयोः लम्बनयोः अन्तरं धनं मोक्षस्थित्यर्द्धे योज्यम्। यदा तु मध्यलम्बनात् हीनं स्पर्शलम्बनं मोक्षलम्बनं च अधिकं तदा न्यूनलम्बनहीनस्य स्पर्शकालत्वात् अधिकं लम्बनम् । हीनस्य मध्यकालत्वात् उक्तरीत्या तदन्तरे स्पर्शस्थित्यर्द्धे लम्बनान्तरं हीनम् । एवमधिकलम्बनहीनस्य मोक्षकालत्वात् मध्यमोक्षयोः अन्तरे मोक्षस्थित्यर्द्धे लम्बनान्तरं हीनम् ।

धनलम्बनेन स्पर्शमध्यमोक्षोत्पत्तौ तु यदा मध्यलम्बनात् न्यूनं स्पर्शलम्बनं मोक्षलम्बनं च अधिकं तदा स्पर्शस्थित्यर्द्धोनतिथ्यन्तस्य न्यूनलम्बनाधिकस्य स्पर्शकालत्वात् अधिकलम्बनाधिकस्य तिथ्यन्तस्य मध्यकालत्वात् तयोः अन्तरे लम्बनान्तरं स्पर्शस्थित्यर्द्धे योज्यम् । एवं मोक्षस्थित्यर्द्धयुततिथ्यन्तस्य अधिकलम्बनाधिकस्य मोक्षकालत्वात् मध्यमोक्षयोः अन्तरे लम्बनान्तरं मोक्षस्थित्यर्द्धे पूर्वरीत्या योज्यम् । यदा तु मध्य लम्बनादधिकं स्पर्शलम्बनं मोक्षलम्बनं च न्यूनं तदा अपि अधिकलम्बनाधिकस्य स्पर्शकालत्वात् हीनलम्बनाधिकस्य मध्यकालत्वात् तयोः अन्तरं उक्तरीत्या स्पर्शस्थित्यर्द्धे लम्बनान्तरं हीनम् । एवं न्यूनलम्बनाधिकस्य मोक्षकालत्वात् तन्मध्यकालान्तरे मोक्षस्थित्यर्द्धे लम्बनान्तरं हीनमिति सिद्धम् । ननु अयं लम्बनान्तरहीनपक्षो न सङ्गतः । वाधात् । तथाहि ऋणलम्बनस्य क्रमेण अपचयात् स्पर्शमध्यमोक्षकालानां यथोत्तरं सम्भवाच्च मध्यकालिकलम्बनात् स्पर्शमोक्षकालिक लम्बनयोः क्रमेण न्यूनाधिकत्वम् असिद्धम् । एवं धनलम्बनस्य क्रमेण उपचयात् मध्यलम्बनात् स्पर्शमोक्षकालिकलम्बनयोः क्रमेण अधिकन्यूनत्वम् असिद्धम् । न हि कदाचित् मध्यकालात् स्पर्शमोक्षकालौ क्रमेण अग्रिमपूर्वकालयोः सम्भवतो येनोक्तं युक्तम् । वाधात् । तथा च लम्बनान्तरं योज्यमित्यस्य एव उपपन्नत्वे महतैताजता प्रपञ्चेन ।

''हरिजान्तरकं शोध्यं यत्रैतत् स्याद्विपर्ययः ।''

इति सर्वज्ञभगवदुक्तं कथं निर्वहतीति चेत् । मैवम् । लम्बनसंस्कृतस्पर्श मोक्षकालयोः स्फुटयोः वस्तुभूतयोः सर्वदा मध्यकालात् क्रमेण पूर्वोत्तरावश्यम्भावित्वेऽपि लम्बनासंस्कृतयोः स्थित्यर्द्धोनयुततिथ्यन्तरूपस्पर्शमोक्षकालयोः पारिभाषिकत्वेन अवास्तवयोः कदाचित् मध्यकालर्णधन लम्बनाभ्ययां स्पर्शस्थित्यर्द्ध मोक्षस्थित्यर्द्धयोः क्रमेण न्यूनत्वे मध्यकालात् अग्रिमपूर्व कालयोः क्रमेण सम्भवात् स्फुटो निर्वाहः । परन्तु ऋणलम्बने धनलम्बने च मध्यलम्बनात् क्रमेण मोक्षस्पर्शलम्बनयोः अधिकत्वासम्भवः । मध्यकालात् पूर्वाग्रिमकालयोः मोक्षस्पर्शयोः

पारिभाषिकयो: क्रमेण असम्भवात् । अत: साक्षात् कण्ठोक्ते: अभावात् विपर्यय इत्यनेन विपर्यय विशेषस्य एव विवक्षितत्वम् । पूर्वं तु साधारण्याच्छब्दस्य साधारण्येन व्याख्यानं कृतमित्यदोष: । ननु तथापि असकृत् लम्बनसाधने लम्बनस्य स्पष्टस्पर्श मोक्षकालाभ्यां सिद्धत्वेनर्णलम्बनात् स्पर्शलम्बनं न्यूनं भवत्येव । धनलम्बने मोक्षलम्बनं न्यूनं न भवत्येव । मध्यकालात् वास्तवस्पर्श मोक्षकालयो: क्रमेण अग्रिमपूर्वकालयो: असम्भव निर्णयात् । अन्यथा स्थिरलम्बनासम्भवात् । किञ्च असकृत् लम्बनसाधनेन यत्कालात् स्थिरलम्बनं सिद्धं तत्कालस्य सूक्ष्म स्पर्श मोक्षकालत्वात् स्फुटस्थित्यर्द्धसाधनं व्यर्थम् ।

तस्य तज्ज्ञानार्थमेव आवश्यकत्वात् । न च चन्द्र ग्रहणरीत्या स्पर्शमोक्षकालयो: ज्ञानार्थं स्फुटस्थित्यर्द्धोक्तिरिति वाच्यम् । गौरवात् व्यर्थत्वात् हरिजान्तरकं शोध्यमित्यस्य अनुपपत्तेश्च इति चेन्न । लम्बनयो: असकृत्साधनस्य अनङ्गीकारात् सकृत्साधितलम्बनस्य सान्तरत्वेऽपि भगवता स्वल्पान्तरेण अङ्गीकाराच्च । अत एव लम्बनं पुनरित्यत्र पुनरित्यस्य व्याख्यानम् असकृदिति पूर्वमुक्तं न युक्तम् । किन्तु मध्यकालार्थं लम्बनस्य साधनात् स्पर्शमोक्षकालार्थमपि द्वितीयवारं लम्बनं साध्यमिति व्याख्यानम् । पुनरिति वाक्यालङ्करणं वा युक्ततरमिति । अथ यदा स्थूलस्पर्शकालर्णलम्बने धनलम्बने च मध्यकालस्तदा स्पर्शस्थित्यर्द्धोनतिथ्यन्तस्य लम्बनहीनस्य स्पर्शकालत्वात् लम्बनाधिकतिथे: मध्यकालत्वात् तदन्तरे स्पर्शस्थित्यर्द्ध तात्कालिक लम्बनयोर्योगेन युक्तमित्युक्तरीत्या उपपद्यते । एवं यदा मध्यकालर्णलम्बने स्थूलमोक्षकालश्च धनलम्बने तदा लम्बनहीनतिथ्यन्तस्य मध्यकालत्वात् मोक्षस्थित्यर्द्धयुततिथ्यन्तस्य लम्बनाधिकस्य मोक्षकालत्वात् तदन्तरे मोक्षस्थित्यर्द्धं लम्बनयोगयुक्तम् इत्युपपन्नं न च असकृत् लम्बनसाधनेन सूक्ष्मस्पर्श मोक्षयो: सिद्धौ सकृत् लम्बनाङ्गीकारेण उक्तरीते: सान्तरत्वात् कथं भगवत: सर्वज्ञस्य अस्यां रीत्याम् अभिनिवेश इति वाच्यम् असकृत् लम्बन साधने प्रयासाधिक्यभयात् भगवता सर्वज्ञेन स्वल्पान्तराङ्गीकारात् लाघवाच्च चन्द्रग्रहणोक्तरीत्यानुगमार्थं स्फुटस्थित्यर्द्धसाधनस्य एवोक्ते: इति दिक् । वस्तुतस्तु सूर्योदयात् यत्र प्राक् स्पर्शोऽनन्तरं मध्यकालस्तदा मध्यलम्बनात् स्पर्शलम्बनं सत्रिभलग्नचतुर्थभावसाधितं कदाचित् न्यूनं भवति । यत्र च उदयात् पूर्वं मध्य: परतो मोक्षस्तत्र कदाचित् सत्रिभलग्नचतुर्भावानीत मध्यकाल लम्बनात् मोक्षकाल लम्बनमधिकं भवति । यत्र च अस्तात् पूर्वं स्पर्श: परतो मध्यस्तदा मध्यकाललम्बनात् रात्रिसम्बन्धात् स्पर्शकाल लम्बनं कदाचिदधिकं भवति। यत्र च अस्तात् पूर्वं मध्यकाल: परतो मोक्षस्तदापि मध्यकाल लम्बनात् मोक्षकाललम्बनं रात्रिसम्बद्धं न्यूनं न भवति। कदाचिदिति। ग्रस्तोदय ग्रस्तास्तयो: कदाचिद्विपर्यसम्भवात् हरिजान्तरकं शोध्यमित्यस्य न अप्रसिद्धि: । एतेन लम्बनमसकृत् न साध्यं विपर्यय इति विपर्ययविशेष इति च उक्तं समाधानं निरस्तमिति । तत्त्वम् । विमर्दार्द्धेऽपि उक्तरीतिस्तुल्येति सर्वमुपपन्नम् । भास्कराचार्यैस्तु ।

तिथ्यन्ताद्‍गुगणितागतात् स्थितिदलेनोनाधिकाल्लम्बनं
तत्कालोत्थनतीषु संस्कृतिभवस्थित्यर्द्धहीनाधिके ।

दर्शान्ते गणितागते धनमृणं यद्वा विधायासकृत्
ज्ञेयौ प्रग्रहमोक्षसंज्ञसमयावेवं क्रमात् प्रस्फुटौ ॥

तन्मध्यकालान्तरयोः समाने स्पष्टे भवेतां स्थितिखण्डके च । दर्शान्ततो मर्द-दलोनयुक्तात् सम्मीलनोन्मीलनकाल एवम् । इत्यनेन भगवदुक्तात् अतिसूक्ष्म-मुक्तमिति अलं पल्लवितेन ॥ १४–१७ ॥

अथ अग्रिमग्रन्थस्य असङ्गतित्वनिरासार्थमधिकारसमाप्तिं फक्किकया आह । इति स्पष्टम् ।

रङ्गनाथेन रचिते सूर्यसिद्धान्तटिप्पणे ।
सूर्यग्रहाधिकारोऽयं पूर्णो गूढप्रकाशके ॥

॥ इति श्रीसकलगणकसार्वभौमबल्लालदैवज्ञात्मजरङ्गनाथगणकविरचिते गूढार्थप्रकाशके सूर्यग्रहणाधिकारः सम्पूर्णः ॥ ५ ॥

मानैक्यखण्ड के वर्ग में स्पष्टशर का वर्ग घटाकर मूल लेने से स्थित्यर्धकला होती हैं । इसको ६० से गुणाकर सूर्य-चन्द्र की गत्यन्तर कला से भाग देने से घटिकादिक स्थित्यर्ध होता है । तिथ्यन्त अर्थात् गणितागत दर्शान्तकाल में स्पर्शकालिक स्थित्यर्ध घटाकर तथा मोक्ष कालिक स्थित्यर्ध जोड़कर ''एकज्यावर्गतश्छेद–'' इत्यादि प्रकार से असकृत् स्पार्शिकलम्बन और मौक्षिक लम्बन का साधन करना चाहिए । पूर्वकपाल में मध्यकालिकलम्बन से स्पार्शिकलम्बन अधिक और मौक्षिकलम्बन न्यून हो अथवा पश्चिमकपाल में मध्यलम्बन से स्पार्शिकलंबन न्यून हो तथा मौक्षिकलंबन अधिक हो तो स्पार्शिकलंबन और मध्यलंबन का तथा मध्यलंबन और मोक्षलंबन का अन्तर क्रम से स्पर्शस्थित्यर्ध और मोक्षस्थित्यर्ध में जोड़ना चाहिए । यदि पूर्वकपाल में मध्यलंबन से स्पार्शिकलंबन न्यून हो और मौक्षिकलंबन अधिक हो अथवा पश्चिम कपाल में मध्यलंबन से स्पार्शिकलंबन अधिक हो और मौक्षिकलंबन न्यून हो तो स्पार्शिकलंबन और मध्यलंबन तथा मध्यलंबन और मौक्षिकलंबन का अन्तर अपने अपने स्थित्यर्धों में घटाना चाहिए । यह लम्बनान्तरों का संस्कार स्पर्श मध्य अथवा मध्य मोक्ष एक कपाल में होने पर होता है यदि कपालभेद हो अर्थात् पूर्वकपाल में स्पर्श और पश्चिम कपाल में मध्य अथवा पूर्वकपाल में मध्य और पश्चिम कपाल में मोक्ष हो तब लम्बनों के योग का संस्कार होता है । ऐसे ही मर्दार्ध में भी उक्तरीति से अपने अपने स्थित्यर्धों में संस्कार होता है ॥ १४–१७ ॥

उपपत्तिः—मध्यग्रहणकालात् स्थित्यर्ध घटिकान् वियोज्य स्पर्शकालः, योज्यश्च मोक्षकालः ज्ञायते । परन्तु सूर्यग्रहणे स्वलम्बनयोः संस्कारेण स्पर्शमध्य मोक्षकालानां ज्ञानं भवति ।

अतः तिथ्यन्तकालः – स्थित्यर्धकालः = स्पर्शकालः
तिथ्यन्तकालः + स्थिलधर्मकालः = मोक्षः ।

आभ्यां स्पर्श-मोक्षाकालाभ्यां साधितयोः स्पार्शिकमौक्षिकलम्बनयोः संस्कारेण संस्कृतौ क्रमेण स्पर्श-मोक्षकालौ स्फुटौ भवतः ।

वस्तुतः तिथ्यन्ते आसकृत कर्मणा मध्यलम्बन मानीय, तेन तिथ्यन्तकालं संस्कृत्य मध्यमकाल साध्यते । तथैव स्थित्यर्थ संस्कृततिथ्यन्त कालात् स्पार्शिक-मौक्षिक लम्बनाभ्यां स्व-स्व तिथ्यन्तकालौ संस्कृते सति वास्तविकौ स्पर्श-मोक्षकालौ भवतः ।

परन्त्वत्र चन्द्रग्रहणोक्तरीत्या स्पर्श-मोक्षकालयोः साधनार्थ मध्यलम्बन-स्पार्शिकं लम्बनयोः मध्यलम्बन-मौक्षिकलम्बनयोश्चान्तरमानीय तेन क्रमेण स्पर्शस्थित्यर्धमोक्ष-स्थित्यर्धञ्च संस्कृत्य स्थित्यर्धान् स्फुटी कृतः । भिन्नकपाले च स्पर्श-मध्यलम्बनयोः, मध्य-मोक्ष लम्बनयोः योगेन संस्कृत्य स्फुट स्पर्श-मोक्ष स्थित्यर्धयोः साधनम् कृतम्' ।

यथा——

तिथ्यन्तकालः – मध्यलम्बनम् = मध्यकालः
तिथ्यन्तकालः – स्पर्श स्थित्यर्धम् – स्पष्टलम्बनम् = स्पर्शकालः ।
तिथ्यन्तं + मोक्षस्थिति – मोक्षलम्बनम् = मोक्षकालः
मध्यकालः – स्पर्शकालः = स्प. स्थि. कालः,
तिथ्यन्तं – मध्यलम्बन – (ति. – स्प. स्थि – स्प. लं)
= ति. – म. लं – ति. + स्प. स्थि. + स्प लं
= स्प. स्थि + (स्प. लं. – म ल.)
= स्प. स्पर्श स्थित्यर्धम् ।

एवमेव मोक्षकालः– मध्यकालः = स्प. मोक्षस्थित्यर्धम् अतः ति + मो० स्थि० – मो० लं० – (ति० – म० लं)

= ति + मो० स्थि – मो लं – ति० + म ल०
= मो० स्थि. + (मल० + मो० लं०) = स्पष्टमोक्ष स्थित्यर्धम् ।
एवमेव भिन्नकपाले धनलम्बनद्वारां क्रियासिद्धिः उपपन्नम् ॥ १४–१७ ॥

॥ पण्डितवर्य बलदेवदैवज्ञात्मज प्रो० रामचन्द्रपाण्डेय द्वारा विरचित सूर्यसिद्धान्त के सूर्यग्रहणाधिकार का हिन्दीभाषानुवाद एवं संस्कृतोपपत्ति सम्पूर्ण ॥ ५ ॥

अथ छेद्यकाधिकारः[1] - ६

छेद्यक प्रयोजनम्

न छेद्यकमृते यस्माद् भेदा ग्रहणयोः स्फुटाः ।
ज्ञायन्ते तत् प्रवक्ष्यामि च्छेद्यकज्ञानमुत्तमम् ॥ १ ॥

अथ परिलेखाधिकारो व्याख्यायते । तत्र तं सप्रयोजनं प्रतिजानीते । यस्मात् कारणात् ग्रहणयोः चन्द्रसूर्यग्रहणयोः। द्विवचनेन ग्रहणत्वेन पूर्वाधिकारयोः एकाधिकारत्वं निरस्तम् । भेदाः कस्यां दिशि स्पर्शमोक्षौ सम्मीलनोन्मीलने ग्रस्तोऽशः कियानित्यादिभेदाः। स्फुटा गोलस्थिति सिद्धा वास्तवाः। छेद्यकं गोलस्थितिप्रदर्शकः कल्पितः प्रकारश्छेद्यकपदवाच्यस्तम् ऋते विना । छेद्यकव्यतिरेकेण इत्यर्थः । न ज्ञायन्ते तत् तस्मात् कारणात्। ग्रहणभेदज्ञानार्थमित्यर्थः। उत्तमं सूक्ष्मतद्भेदज्ञानसाधकं छेद्यकज्ञानम्। ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानं परिलेखसाधकग्रन्थं सूर्यांशपुरुषोऽहं प्रवक्ष्यामि कथयामि ॥ १ ॥

छेद्यक के विना सूर्यचन्द्र के ग्रहण के भेद अर्थात् स्पर्श मोक्ष सम्मीलन ग्रास आदि के भेद स्पष्ट ज्ञात नहीं होते इसलिये उस उत्तम छेद्यक ज्ञान को कह रहा हूँ ॥ १ ॥

वलनवृत्तम्

सुसाधितायामवनौ बिन्दुं कृत्वा ततो लिखेत् ।
सप्तवर्गाङ्गुलेनादौ मण्डलं वलनाश्रितम् ॥ २ ॥

'तत्र प्रथमं वलनवृत्तं लिखेत् इत्याह । आदौ प्रथमं सुसाधितायां जलवत् समीकृतायाम् अवनौ पृथिव्याम् अभीष्टस्थाने बिन्दुं वृत्तमध्यज्ञापकचिह्नं कृत्वा ततश्चिह्नात् सप्तवर्गांगुलेन एकोनपञ्चाशदङ्गुलमितेन व्यासार्द्धेन मण्डलं वृत्तं वलनाश्रितं प्रागुक्तस्फुटवलमाश्रितं यत्र वलनाश्रयीभूतं वलनदानार्थं वृत्तमित्यर्थः । लिखेत् ग्रहणभेदज्ञानेच्छुर्गणक उल्लिखेत् अत्रोपपत्तिः प्रागुक्ता ॥ २ ॥

संशोधित समतल भूमि में इष्टस्थान में बिन्दु निश्चित कर उस बिन्दु से ७ के वर्ग अर्थात् ४९ अंगुल के व्यासार्ध से निर्मित प्रथम वृत्त वलनवृत्त होता है ॥ २ ॥

उपपत्तिः—चन्द्रग्रहणे सप्तवर्गाङ्गुल-(४९ अंगुल) व्यासार्धेन वृत्तं परिणतं परिलेखे वलनदानार्थमतः वलनाश्रितवृत्तमुचितमेव ।

---

१. अथ परिलेखाधिकारः इति पाठान्तरम् ।

परिलेखः प्रकारः

ग्राह्य—ग्राह्यकयोगार्ध—सम्मितेन द्वितीयकम् ।
मण्डलं तत्समासाख्यं ग्राह्यार्धेन तृतीयकम् ।। ३ ।।

अथ द्वितीयतृतीयवृत्ते आह । ग्राह्यग्राहक विम्बमानाङ्गुलयोः योगार्द्धमितेन अङ्गुलात्मकव्यासार्द्धेन द्वितीयमेव द्वितीयकं द्वितीयं वृत्तं लिखेत् । तद्वृत्तं समाससंज्ञं योगोत्पन्नत्वात् । तृतीयकं वृत्तं ग्राह्यविम्बाङ्गुलार्द्धमितेन व्यासार्द्धेन लिखेत् ।अत्रोपपत्तिः ।ग्रहणे शरस्य मानैक्यखण्डन्यूनत्वात् विक्षेपो मानैक्यखण्डवृत्त इति विक्षेपदानार्थं मानैक्यखण्डवृत्तलेखनम् । तत् परिधिकेन्द्रग्राहकार्द्धव्यासार्द्धवृत्तेन ग्राह्यवृत्तेऽवश्यं योगात् समाससंज्ञम् । ग्राह्यवृत्तं तु ग्रहणभेदज्ञानार्थमित्युपयुक्तम् । न हि तद्वृत्तं विना तद्भेदज्ञानं सम्भवति ।। ३ ।।

ग्राह्य और ग्राहकबिम्ब के योगार्ध से अर्थात् मानैक्यखण्ड से समाससंज्ञक दूसरा वृत्त तथा ग्राह्यबिम्ब के व्यासार्ध से तीसरा ग्राह्य वृत्त का निर्माण करें ।। ३ ।।

परिलेखे दिग्ज्ञानम्

याम्योत्तरा—प्राच्यपरा—साधनं पूर्ववत् दिशाम् ।
प्रागिन्दोर्ग्रहणे पश्चान्मोक्षोऽर्कस्य विपर्यात् ।। ४ ।।

अथ तद्वृत्तेषु दिक्साधनातिदेशं स्पर्शमोक्षबलनदानार्थं स्पर्शमोक्षदिङ्नियमं च आह। दिशाम् अष्टदिशां मध्ये याम्योत्तरा प्राच्यपरासाधनं पूर्ववत् । शिलातलेऽम्बु-संशुद्ध इत्यादित्रिप्रश्नाधिकारोक्तरीत्या कार्यम् । तथाहि । द्वादशाङ्गुलशङ्कोः मध्य-केन्द्रस्थापितस्य आद्यवृत्ते पूर्वाह्णे छाया प्रवेशोऽपराह्णे छायानिर्गमस्त चिह्नाभ्यां मत्स्यमुत्पाद्य रेखायाम्योत्तरा सा वृत्तबाह्येऽधिका सम्मार्जनीया। तदितरभागे वृत्तमध्ये पूरणीया वृत्ते याम्योत्तरा रेखा भवति । तदग्रमत्स्यात् पूर्वापरा रेखा सा उभयतो वृत्तवाह्ये सम्मार्जनीया । सा वृत्ते पूर्वापरा रेखा भवतीति । चन्द्रस्य पूर्वदिशि ग्रहणं ग्रहणारम्भः स्पर्श इति यावत् । पश्चिमदिशि मोक्षो ग्रहणान्तः । अर्कस्य विपर्ययात् स्पर्शमुक्तौ ज्ञेये । ग्रहणादिरूपस्पर्शः पश्चिमायां ग्रहणान्तरूपमोक्षः प्राच्यमित्यर्थः । अत्रोपपत्तिः—वृत्ते दिक्साधनेन दिशः सममण्डलीयाङ्किता । एतच्चिह्नात् वलनान्तरेण क्रान्तिवृत्तदिशां सत्वात् । तत्र स्पर्शमोक्षदिङ्नियमार्थं क्रान्तिवृत्तप्राच्यपरानुसारेण चन्द्रसूर्ययोः स्पर्शमोक्षौ निर्णेयौ । ग्रहभोगस्व तत् वृत्तानुसारित्वात् । शीघ्रगचन्द्रः सूर्यषड्भान्तरितभूच्छायां सूर्यगत्यनुरुद्धगमनां प्रति पश्चात् आगत्य मेलनारम्भं करोति अतः चन्द्र विम्बस्य पूर्वभागे स्पर्शः । भूभामतिक्रम्याग्रे चन्द्रो यदा गच्छति तदा चन्द्रस्य पश्चाद्भागे भूभावियोगोऽतः पश्चात् मोक्षः । सूर्यं चन्द्रः पश्चात् आगत्य आच्छादयति अतः सूर्यस्य पश्चिमभागे स्पर्शः पूर्वभागे मोक्ष इति ।। ४ ।।

इन वृत्तों में त्रिप्रश्नाधिकारोक्त प्रकार से पूर्वापरा और याम्योत्तरा दिशा का साधन करना चाहिए । चन्द्रमा का पूर्व दिशा में स्पर्श और पश्चिम दिशा में मोक्ष, तथा सूर्य का पश्चिमदिशा में स्पर्श एवं पूर्वदिशा में मोक्ष होता है ।। ४ ।।

उपपत्तिः—चन्द्रग्रहणे पूर्वाभिमुखः शीघ्रगश्चन्द्रः भूच्छायायां स्वयं प्रविशति । अतश्चन्द्रग्रहणे स्पर्शः पूर्वतः मोक्षश्च पश्चिमतो भवति । सूर्यग्रहणे तु छादकः शीघ्रगः पूर्वाभिमुखं गच्छन् चन्द्रः सूर्यविम्बमाच्छादयति अतः पश्चिमतो ग्रहणं (स्पर्शः) पूर्वतश्च मोक्षो भवति ।

वलनदानविधिः

यथादिशं प्राग्ग्रहणं वलनं हिमदीधितेः ।
मौक्षिकं तु विपर्यस्तं, विपरीतमिदं रवेः ।। ५ ।।

अथ वलनवृत्ते वलनदानमाह । चन्द्रस्य ग्राह्यस्य स्पार्शिकं वलनं पूर्वचिह्नात् यथादिशं दक्षिणं चेत् दक्षिणाभिमुखम् उत्तरं चेत् उत्तराभिमुखं पूर्वापरसूत्रात् अर्द्धज्यावत् वलनाश्रितवृत्ते देयम् । अतएव तद्वृत्तं वलनाश्रितसंज्ञम् । मौक्षिकं मोक्षकालिकं तुकारात् चन्द्रस्य वलनम् । विपर्यस्तं विपरीतं पश्चिमचिह्नात् । पूर्वापरसूत्रात् अर्द्धज्यावत् दक्षिणं चेत् उत्तरदिगभिमुखम् उत्तरं चेत् दक्षिणदिगभिमुखं देयमित्यर्थः । सूर्यग्रहणे विशेषमाह। विपरीतमिति सूर्यस्य ग्राह्यस्येदं स्पार्शिकं मौक्षिकं वलनं विपरीतं व्यस्तम् । मौक्षिकं वलनं पूर्वचिह्नात् पूर्वापरसूत्रात् अर्द्धज्यावत् दक्षिणं चेद्दक्षिणदिगभिमुखम् उत्तरं चेदुत्तरदिगभिमुखं स्पार्शिकं वलनं पश्चिमचिह्नात् पूर्वापरसूत्रात् अर्द्धज्यावत् दक्षिणं चेत् उत्तर दिगभिमुखमुत्तरं चेद्दक्षिण दिगभिमुखं देयमित्यर्थः ।

अत्रोपपत्तिः । चन्द्रस्य पूर्वभागे स्पर्श इति सममण्डलपूर्वचिह्नात् वलन्नान्तरेण स्पर्श इति तद्वृत्ते यथांशं स्पार्शिकं वलनं देयम् । पश्चिमत उत्तराभिमुखस्य दक्षिणत्वात् दक्षिणाभिमुखस्य उत्तरत्वात् मौक्षिकं वलनं पश्चिमचिह्नात् विपरीरतं देयम् । सूर्यस्य तु पश्चिमभागे स्पर्शात् पश्चिमचिह्नात् स्पार्शिकं वलनं व्यस्तं देयम्। पूर्वभागे मोक्ष इति मौक्षिकं वलनं पूर्वचिह्नात् यथांशं देयमिति ।। ५ ।।

चन्द्र के स्पार्शिक वलन का पूर्वचिह्न से पूर्वापर सूत्र से अर्धज्या की तरह यथागत दिशा में न्यास होता है अर्थात् दक्षिण हो तो दक्षिणाभिमुख और उत्तर हो तो उत्तराभिमुख न्यास करना चाहिए। (अर्थात् एक रेखा खींचना चाहिए।) मौक्षिक-वलन का विपरीत अर्थात् पश्चिम चिह्न से पूर्वापर सूत्र से अर्धज्या की तरह दक्षिण हो तो उत्तराभिमुख और उत्तर हो तो दक्षिणाभिमुख दान करना चाहिए । सूर्य का स्पार्शिकवलन पश्चिम चिह्न से पूर्वापर सूत्र से दक्षिण हो तो उत्तराभिमुख और उत्तर हो तो दक्षिणाभिमुख देना चाहिए और मोक्षकालिक वलन को पूर्वचिह्न से दक्षिण हो तो दक्षिणाभिमुख और उत्तर हो तो उत्तराभिमुख दान करना चाहिए ।। ५ ।।

उपपत्तिः—चन्द्रग्रहणे पूर्वे भागे स्पर्शः सममण्डलस्थपूर्वचिह्नात् वलनान्तरे भवति । अतश्चन्द्रस्य स्पार्शिकं वलनं यथादिङ्मुचितमेव । प्रतीच्यां वलनान्तरे पश्चिमचिह्नात् मोक्षो भवति । तत्र क्रान्तिवृत्तस्य विपरीतत्वात् मौक्षिकं वलनं विपरीतं देयमिति।
रविग्रहे स्पर्शः प्रतीच्यामतः स्पार्शिकवलनं विपरीतं मौक्षिकं वलनं च यथादिक्कं देयम् ।

उपपन्नम् ।

शरदान विधि:

वलनाग्रन्नयेन्मध्यं सूत्रं तद् यत्र संस्पृशेत् ।
समासाख्ये ततो देयौ विक्षेपौ ग्रासमौक्षिकौ ।। ६ ।।

अथ द्वितीयवृत्ते स्पार्शिकमौक्षिक विक्षेपयोर्दानमाह । प्रथमवृत्ते यत्र स्पार्शिकवलनाग्रं यत्र च मौक्षिकवलनाग्रं ज्ञातं तस्मात् यत् प्रत्येकं सूत्रं रेखामित्यर्थ:। मध्यं वृत्तमध्यविन्दुं केन्द्ररूपं प्रति नयेत् । तत् रेखात्मकं सूत्रं समासे समासाख्यद्वितीयवृत्तपरिधौ यत्र यस्मिन् प्रदेशे संस्पृशेत् स्पर्शं कुर्यात् ततस्तत्सूत्रात् अवधिरूपात् समासवृत्तेऽर्द्धज्यावत् यथादिशौ स्पार्शिकमौक्षिकौ विक्षेपौ यथायोग्यं देयौ ।

अत्रोपपत्ति: — वलनाग्रसूत्रं मानैक्यखण्डवृत्ते यत्र लग्नौ तत्र क्रान्तिवृत्तप्राच्यपरा वा तत: सूर्यात् चन्द्रस्य विक्षेपान्तरेण सत्वात् समासवृत्ते वलनाग्रसूत्रात् विक्षेपो देयो ग्राहकविम्बकेन्द्रज्ञानार्थम् । परं सूर्यग्रहणे । चन्द्रग्रहणे तु चन्द्रस्य विक्षेपवृत्तस्थत्वात् तदानीतवलनदानात् अवगतवलनाग्ररेखा मानैक्यखण्डवृत्ते यत्र लग्ना तत्र क्रान्तिवृत्तानुसृतप्राच्यपरा विक्षेपमण्डले तत्स्थाने छाद्यात् चन्द्राच्छादक: सूर्यो विक्षेपान्तरेण विक्षेपदिग्विपरीतदिशि भवतीति वलनाग्रसूत्रात् समासवृत्तेऽर्द्धज्यावत् शरोव्यस्तो देय इति सिद्धम् । अतएव विपरीता शशाङ्कस्य इत्यग्रे उक्तम् ।। ६ ।।

वलनाश्रित वृत्त में स्थित स्पार्शिक और मौक्षिक वलनाग्र चिह्नों से वृत्त के केन्द्रपर्यन्त किये हुए सूत्र मानैक्यार्ध (समास) वृत्त की परिधि को जहां स्पर्श करें वहां से अर्धज्या के तुल्य क्रमानुसार स्पर्श और मोक्षकाल के शरों का वक्ष्यमाण क्रम से दान करना चाहिए ।। ६ ।।

उपपत्ति:——पूर्वापरसूत्राद् वलनदानम् । पूर्वापरवृत्तीय पूर्व चिह्नात् वलनान्तरे क्रान्तिवृत्तं पूर्वापरा । क्रान्तिवृत्ताद् याम्योत्तरं शर: । वलनाग्रगतसूत्रमानैक्यखण्ड वृत्तयोर्यत्र सम्पातस्तद् वृत्तेऽपि क्रान्तिवृत्तप्राची सिद्ध्यति । अत: 'नित्यशोऽर्कस्य विक्षेपा: परिलेखे यथादिशम्'' इत्यादिना यथादिक्कं शरदानं क्रियते । यतो हि चन्द्रग्रहणे क्रान्तिवृत्ते भूभा तत: शराग्रे चन्द्र: एवमेव सूर्यग्रहणे क्रान्तिवृत्ते सूर्य: स्फुटशराग्रे चन्द्र: । अतो वलनाग्रविन्दुतश्चन्द्रस्य याम्योत्तरमन्तरज्ञानार्थं शरदानं दिगनुरोधेन भवतीत्युपपन्नम् ।। ६ ।।

ग्राह्यवृत्ते स्पर्शमोक्षयोर्ज्ञानम्

विक्षेपाग्रात् पुन: सूत्रं मध्यबिन्दुं प्रवेशयेत् ।
तद्ग्राह्यबिन्दुसंस्पर्शाद् ग्रासमोक्षौ विनिर्दिशेत् ।। ७ ।।

अथ ग्राह्यवृत्ते स्पर्शमोक्षस्थानज्ञानमाह । विक्षेपाग्रं समासवृत्ते यत्र लग्नं तस्मात् सूत्रं रेखाम् इत्यर्थ: । अत्र रेखा सरला न आयातीति शङ्कया प्रथमतोऽवधिद्वयान्तं सूत्रं धृत्वा तदनुसारेण रेखा कार्येति सूचनार्थं सूत्रोक्ति: सर्वत्रेति ध्येयम् । पुनर्द्वितीयवारं पूर्ववलनाग्रात् रेखाया मध्यकेन्द्रावधिकाया: कृतत्वात् तथैव विक्षेपाग्रात् रेखामित्यर्थ: । वृत्त मध्यरूपकेन्द्रबिन्दुं प्रतिगणक: प्रवेशयेत् प्रविष्टं कुर्यादित्यर्थ: ।

तत् रेखाग्राह्य विम्बवृत्तपरिध्योः संयोगात् ग्रासमोक्षौ स्पर्शमोक्षौ गणको विनिर्दिशेत् कथयेत् । स्पार्शिकशराग्रसूत्रं ग्राह्यवृत्ते यत्र लग्नं तत्र स्पर्शः । मौक्षिकशराग्रसूत्रं ग्राह्यवृत्ते यत्र लग्नं तत्र स्पर्शः । मौक्षिकशराग्रसूत्रं ग्राह्यवृत्ते यत्र लग्नं तत्र मोक्ष इत्यर्थः । मौक्षिकशराग्रसूत्रं ग्राह्यवृत्ते यत्र लग्नं तत्र स्पर्शः ।

अत्रोपपत्तिः — मानैक्यखण्डवृत्ते यत्र ग्राहकविम्बकेन्द्रं तस्मात् ग्राहकार्द्धेन वृत्तं ग्राहकवृत्तं ग्राह्यवृत्ते यत्र लग्नं तत्र स्पर्शमोक्षौ भवतः । तत्र वृत्ताकरणलाघवात् ग्राहककेन्द्रात् ग्राह्यकेन्द्रं यावत् सूत्रं मानैक्यखण्डमितं ग्राह्यवृत्ते यत्र लग्नं तत्र परिध्योः स्पर्शमोक्षौ स्वस्व व्यासार्द्धयोगात् ॥ ७ ॥

मानैक्यार्धवृत्तस्थ शराग्र चिह्नों से वृत्त के केन्द्रपर्यन्त की गई रेखा और ग्राह्य-वृत्त की परिधि के सम्पात चिह्नों पर स्पर्श और मोक्ष होता है । अर्थात् स्पार्शिकशराग्र सूत्र एवं ग्राह्यबिम्ब के सम्पात बिन्दु पर स्पर्श, तथा मोक्षकालिक शराग्रसूत्र और ग्राह्यबिम्ब के सम्पात बिन्दु पर मोक्ष होता है ॥ ७ ॥

उपपत्तिः—स्पर्शकाले-मोक्षकाले च ग्राह्य-ग्राहकविम्बयोः केन्द्रान्तरं मानैक्य-खण्ड तुल्यं भवति । अतः शराग्रे स्थितस्य ग्राहकविम्बस्य केन्द्रात् ग्राह्यविम्बस्य केन्द्रपर्यन्तं गतं सूत्रं ग्राह्य बिम्बं यत्र स्पृशति तत्रैव ग्राहकवृत्तस्य ग्राह्यवृत्तेन सह स्पर्शो भवति। एवमेव यत्र मौक्षिकं तत्र मोक्षो भवति । उपपन्नम् ॥ ७ ॥

शरदाने वैशिष्ट्यम्

नित्यशोऽर्कस्य विक्षेपाः परिलेखे यथादिशम् ।
विपरीताः शशाङ्कस्य तद्वशादथ मध्यमम् ॥ ८ ॥
वलनं प्राङ्मुखं देयं तद्विक्षेपैकता यदि ।
भेदे पश्चान्मुखं देयमिन्दोर्भानोर्विपर्ययात् ॥ ९ ॥

अथ ग्रहणे विक्षेपस्य दिग्व्यवस्थां मध्यग्रहणज्ञानार्थं मध्यकालिकवलनदानं च श्लोकाभ्यामाह । अर्कस्य ग्रहणे चन्द्रविक्षेपाः परिलेखे ग्रहणभेददर्शनप्रकारे यथादिशं यथास्थितदिशं नित्यशो नित्यं ज्ञेयाः । चन्द्रस्य ग्रहणे चन्द्रविक्षेपा विपरीता दक्षिणाः चेदुत्तरा उत्तराश्चेत् दक्षिणाः । एतद् अनुरोधेन एव स्पार्शिकमौक्षिकविक्षेपौ देयौ । न यथागतदिशौ इति ज्ञेयम् । अथ अनन्तरं तद्वशात् मध्यग्रहणकालिक विक्षेप-दिशः सकाशात् सूर्यग्रहणे मध्यग्रहणकालिकस्पष्टविक्षेपदिक्चिह्नात् चन्द्रग्रहणे मध्यकालिकविक्षेपदिग्विपरीतदिक् चिह्नात् इत्यर्थः । यदि यर्हीत्यर्थः । तद्विक्षेपैकता तद्वलनं विक्षेपो मध्यग्रहण कालिक विक्षेपः । अनयोः एकतैक्यं दिक् सम्बन्धेन इति शेषः । एकदिशीत्यर्थः । अत्र चन्द्रविक्षेप दिग्यथास्थितैव न विपरीतदिगिति ध्येयम् । प्राग्मुखं पूर्व चिह्नसम्मुखम् । वलनाश्रितवृत्तेऽर्द्धज्यावत् चन्द्रस्य मध्यमं वलनं मध्य-ग्रहणकालिकं स्फुटं वलनं देयम् । भेदे वलनपिक्षेपे दिशोर्भिन्नत्वे पश्चान्मुखत्वम् । वलनाश्रितवृत्तेऽर्द्धज्यावत् मध्यग्रहणकालिकं चन्द्रस्य वलनं पश्चिमचिह्नसम्मुखं

देयम्। सूर्यग्रहणे विशेषमाह । भानोरिति । सूर्यग्रहणे सूर्यस्य वलनं विपर्ययात् उक्त-वैपरीत्यात् । एकदिशि पश्चिमचिह्न सम्मुखं भिन्नदिशि पूर्वचिह्नसम्मुखं देयमित्यर्थः। फलितार्थस्तु चन्द्रग्रहणे मध्यकालवलनदिक् तत्कालविक्षेपयथागतदिशोः दक्षिणत्व उत्तरचिह्नात् वलनाश्रितवृत्तेऽर्द्धज्यावत् मध्यवलनं पूर्वचिह्नाभिमुखं देयम् । तयोः उत्तरत्वे दक्षिणचिह्नात् पूर्वाभिमुखं वलनं देयम् । यदि दक्षिणवलनमुत्तरविक्षेपस्तदा दक्षिणदिक्चिह्नात् अर्द्धज्यावत् पश्चिमचिह्नाभिमुखं वलनं देयम् । यदि उत्तरं वलनं दक्षिणविक्षेपस्तदा वलनाश्रितवृत्त उत्तरचिह्नात् पश्चिमचिह्नाभिमुखं वलनम् अर्द्ध-ज्यावत् देयम् । सूर्यग्रहणे तु द्वयोः दक्षिणत्वे वलनाश्रितवृत्ते दक्षिणचिह्नात् पश्चिम-चिह्नाभिमुखं वलनं देयम् । उत्तरत्व उत्तरचिह्नात् पश्चिमाभिमुखं देयम् । यदि दक्षिणं वलनमुत्तरविक्षेपस्तदा उत्तरचिह्नात् पूर्वाभिमुखम् । यद्युत्तरं वलनं दक्षिण विक्षेपस्तदा दक्षिणचिह्नात् पूर्वाभिमुखं देयम् इति । भास्कराचार्यैस्तु एतदुक्तफलितं लाघवेन दक्षिणोत्तरवलनं क्रमेण सव्यापसव्यं देयम् इत्युक्तम् ।

अत्रोपपत्तिः — प्रथमश्लोकोपपत्तिः स्पार्शिकमौक्षिकशरदानोपपत्तौ उक्ता। ग्राह्य-विम्बकेन्द्रात् विक्षेपान्तरेण ग्राहक विम्बकेन्द्रं भवति । शरस्य कदम्बाभिमुखत्वेन केन्द्रात् कदम्बाभिमुख शरदानार्थं कदम्बज्ञानं वलनाश्रितवृत्त आवश्यकमतो वलनान्त-रेण स्वदिग्भ्यः क्रान्तिवृत्तदिशां सत्वात् उत्तरदक्षिणदिग्भ्यां मध्यवलनान्तरेण क्रान्ति-वृत्तयाम्योत्तररूपकदम्बौ दक्षिणोत्तरत इति पूर्वपश्चिमानुरोधेन तदद्दानं युक्ततरम्। यद्यपि चन्द्रग्रहणे शरस्य विपरीतदिक्त्वात् तच्छरदिग्ग्रहणेन सूर्यचन्द्रयोः मध्यवलन-दानमेकदिक्त्वे पश्चिमचिह्नाभिमुखं भिन्न दिक्त्वे पूर्वाभिमुखमिति एकोक्तिलाघवं तथापि सूर्यचन्द्रयोः ग्रहणभेदादेकोक्तौ मन्दबुद्धीनां भ्रमसम्भवस्तद्वारणार्थं पृथक् । इवोक्तिः कृता । स्वतन्त्रेच्छस्य नियोगानर्हत्वाच्च ।। ८—९ ।।

सूर्य ग्रहण में शर का दान दिशा के क्रम से (अर्थात् दक्षिण शर हो तो दक्षिण दिशा में उत्तर शर हो तो उत्तर दिशा में) करना चाहिए । चन्द्रग्रहण में इससे विपरीत शरदान होता है अर्थात् दक्षिण शर हो तो उत्तर दिशा में, उत्तरशर हो तो दक्षिण दिशा में शर का दान करना चाहिए । चन्द्रग्रहण में मध्य ग्रहण कालिक वलन एवं शर दोनों की दक्षिण दिशा हो तो उत्तर चिह्न से, उत्तर दिशा हो तो दक्षिण चिह्न से, पूर्वाभिमुख मध्यग्रहण कालिक स्पष्टवलन का दान करना चाहिए। यदि दक्षिणवलन और उत्तरशर हो तो दक्षिण चिह्न से, उत्तरवलन और दक्षिणशर हो तो उत्तर चिह्न से, पश्चिमाभिमुख मध्यग्रहणकालिक स्पष्टवलन का दान करना चाहिए । सूर्यग्रहण में वलन और शर की दक्षिणदिशा हो तो दक्षिण चिह्न से और उत्तरदिशा हो तो उत्तर चिह्न से पश्चिमाभिमुख वलन का दान करना चाहिए । यदि दक्षिण वलन और उत्तर शर हो तो उत्तर चिह्न से, तथा उत्तर वलन और दक्षिण शर हो तो दक्षिण चिह्न से पूर्वाभिमुख वलन का दान करना चाहिए ।। ८—९ ।।

उपपत्तिः—ग्राह्य-ग्राहकविम्बयोः केन्द्रान्तरं शरतुल्यं भवति। क्रान्तिवृत्तस्य सूर्य-विम्बात् शरतुल्यान्तरे छादकश्चन्द्रो भ्रमति । अतः सूर्यग्रहणेऽनुलोमशरस्य दानं भवति ।

विमण्डलगताच्चन्द्रात् शरान्तरे छादिका भूभा भ्रमति । परन्त्वत्र शरस्य दिशि परिवर्तनं भवति । अतः चन्द्रग्रहणे शरदानं विपरीतम् शरः कदम्बाभिमुखो भवति । अतः वलनाश्रितवृत्ते कदम्बस्य ज्ञानं आवश्यकमिति । सममण्डलात् वलनान्तरे क्रान्तिवृत्तस्य पूर्वापरा भवति । क्रान्तिवृत्तस्य याम्योत्तररूपं कदम्बस्थानं पूर्वापरविन्दुतः वलनतुल्यान्तरे भवति । अतः याम्योत्तरवृत्ताद् प्राच्यां प्रतीच्यां वा दिगनुरोधेन वलनं दीयते । शर-वलनयोः एकदिक्त्वे प्रतीच्याभिमुखं भिन्नदिक्त्वे तु पूर्वाभिमुखं मध्यवलनस्य दानं भवति परं चन्द्रग्रहणे शरस्य दिग् वैपरीत्ये वलनदानं सूर्यग्रहणापेक्षया विपरीतमेव ।। ९ ।।

उपपन्नम् ।

ग्रहणपरिलेखः

वलनाग्रात् पुनः सूत्रं मध्यबिन्दुं प्रवेशयेत् ।
मध्यसूत्रेण विक्षेपं वलनाभिमुखं नयेत् ।। १० ।।
विक्षेपाग्राल्लिखेद् वृत्तं ग्राहकार्धेन तेन यत् ।
ग्राह्यवृत्तं समाक्रान्तं तद्ग्रस्तं तमसा भवेत् ।। ११ ।।

अथ मध्यग्रहणं श्लोकाभ्यां परिलेखे दर्शयति । वलनाग्रात् मध्यकालिक वलनाग्रात् पूर्वश्लोकोक्तात् सूत्रं रेखां मध्यबिन्दुं वृत्तमध्यचिह्नं प्रति पुनर्वारान्तरं पूर्वं स्पार्शिकमौक्षिक वलनाग्राभ्यां सूत्ररचना तथा इवेत्यर्थः प्रवेशयेत् गणकः प्रविष्टं कुर्यात्। मध्यसूत्रेण अनेन मध्यकालिकविक्षेपं मध्य वलनाग्राभिमुखं नयेत् वृत्तमध्यविन्दोः इत्यर्थसिद्धम् । तथा च वृत्तमध्यात् मध्यवलनाग्रसूत्रे विक्षेपाङ्गुलानि गणयित्वा तदग्रे विक्षेपाग्रचिह्नं कुर्यादित्यर्थः । अस्मात् विक्षेपाग्रात् ग्राहकविम्ब मानार्द्धेन वृत्त गणको लिखेत् । तेन वृत्तेन यद्यन्मितं ग्राह्यवृत्तं समाक्रान्तं व्याप्तम् । यत् ग्राह्यवृत्तविभागरूपं तमसान्धकाररूपेण छादकेन ग्रस्तमाच्छादितं स्यात् तन्मितं विभागं मण्यादिना लिप्तं कुर्यादित्यर्थः ।

अत्रोपपत्तिः — वृत्ते मध्यसूत्रं कदम्बाभिमुखं तत्र ग्राह्यकेन्द्रात् शरान्तरेण ग्राहककेन्द्रं तस्मात् ग्राहकार्द्धेन वृत्तं ग्राहकविम्बवृत्तं तेन ग्राह्यवृत्तं यावत् आक्रान्तं तावत् मध्यकाले ग्रस्तमिति तद्भागस्य कृत्स्नत्वेन आकाशे दर्शनात् तमसा ग्रस्तमित्युक्तम् ।। १०—११ ।।

वलनाश्रितवृत्त में स्थित मध्यवलनाग्र चिह्न से वृत्त के केन्द्रपर्यन्त की गई रेखा में केन्द्र से मध्यविक्षेप का दान कर शराग्र को केन्द्र मान कर छादकबिम्ब के मानार्ध तुल्य व्यासार्ध से निर्मित वृत्त ग्राह्यवृत्त जितना आवृत होगा उतना भाग छादकबिम्ब से आच्छादित होगा ।। १०—११ ।।

उपपत्तिः—अत्रादौ किं नाम वलनमिति व्याख्यायते । ग्रहक्षितिजे पूर्वापरक्रान्तिवृत्तयोरन्तरं वलनं नाम इदमेवान्तरं समप्रोत-कदम्बप्रोतवृत्तयोरपि भवति । अतः समप्रोतकदम्बप्रोतयोः याम्योत्तरमन्तरमपि वलनं नाम ।

ग्राह्यवृत्तस्य केन्द्रात् वलनाग्रपर्यन्तं गते कदम्ब सूत्रे शराग्रे ग्राहकविम्वस्य केन्द्रम्। यतो हि मध्यग्रहणे ग्राह्यग्राहकयोः केन्द्रान्तरं तात्कालिकशरतुल्यं भवति । अतः शराग्रं केन्द्रमत्वा ग्राहकार्धतुल्यत्रिज्यया कृतेन वृत्तेन (ग्राहकविम्बेन) यावान् ग्रस्तो भवति तावान् एव भागः मध्यग्रहणे छादकविम्बेन छादितो भवति । उपपन्नम् ।

परिलेखे दिग्व्यत्यासः

छेद्यकं लिखता भूमौ फलके वा विपश्चिता ।
दिशां विपर्ययः कार्यः पूर्वापरकपालयोः ।। १२ ।।

ननु पूर्वकपाले ग्रहणयोः सम्भवे सर्वमुक्तमुपपन्नम् । पश्चिमकपाले ग्रहण-सम्भवे परलिखोक्तं वैपरीत्येन भवति । तथाहि । यस्यां दिशि परिलेखे स्पर्शो मोक्षो वा अपरकपाले तस्य पश्चिमाभिमुखत्वेन दर्शने दिग्वैपरीत्यं प्रत्यक्षमित्यत आह । भूमौ फलके काष्ठपट्टिकायाम् इत्यर्थः । वा विकल्पे भूमौ लिखितस्य इतस्ततो नयनासम्भवात् फलक इत्युक्तिः। छेद्यकं प्रागुक्तं लिखता गणकेन विपश्चिता तत्वज्ञेन दिशां पूर्वादिदिशां पूर्वापरकपालयोः विपर्ययो व्यत्यासः कार्यः । यथा पूर्वकपाले सव्यक्रमेण पूर्वादिलेखनं तथापरकपाले सव्यक्रमेण पूर्वादिलेखनं न कार्यम् । किन्तु पश्चिमस्थाने पूर्वा पूर्वस्थाने पश्चिमा । उत्तरदक्षिणदिग्भागे क्रमेण उत्तरदक्षिणे लेख्ये इत्यर्थः । तेन पश्चिमकपाले ग्रहणसम्भवेऽपि परिलेखोक्तं सम्भवत्येवेति भावः ।

अत्रोपपत्तिः । दिग्वैपरीत्यं भवतीति पूर्वमेव वैपरीत्येन दिशां लेखने परिलेखो यथास्थितो भवतीत्युक्तम् । भास्कराचार्यैस्तु न एतदुक्तम् । परिलेखनामुक्यादिश्यमुकं भवतीति ज्ञानस्य आवश्यकत्वेन तस्य तत्र अबाधात् । न हि यथाकाशे तथा दर्शनमपेक्षितम्। भूमौ फलके वा आकाशादीनां वास्तवानामभावात् । अत एव किञ्चिन्यूनसादृश्येन दृष्टान्तत्वमिति ध्येयम् ।। १२ ।।

समान भूमि में अथवा काष्ठादि से निर्मित पट्टिका में छेद्यक बनाते समय गणक को पूर्वापरकपाल में दिशाओं का व्यतिक्रम करना चाहिये । अर्थात् पूर्वकपाल में जिस प्रकार सव्यक्रम से पूर्वादि दिशाओं का अङ्कन किया है उससे विपरीत क्रम से पश्चिमकपाल में करें ।। १२ ।।

उपपत्तिः—यदि ग्रहणं पश्चिम कपाले भवति तदा पूर्वोक्तपरिलेखे दिक्षु व्यत्यासो भवति । अतः आदावेव परिलेखविधौ व्यत्यासेन दिङ्निर्देशः कार्यः ।

ग्रहणप्रमाणम्

स्वच्छत्वाद् द्वादशांशोऽपि ग्रस्तश्चन्द्रस्य दृश्यते ।
लिप्तात्रयमपि ग्रस्तं तीक्ष्णत्वाच्च विवस्वतः ।। १३ ।।

अथ अनादेश्यग्रहणमाह । चन्द्रविम्बस्य द्वादशांशो ग्रस्त आच्छादितः । अपि-शब्दात् आच्छादनेन तेजो हीनतया दृश्यता सम्भावनायामित्यर्थः। न दृश्यते। हेतुमाह। स्वच्छत्वादिति तदतिरिक्तसम्पूर्णदृश्यभागस्य स्वच्छत्वात् ज्योत्स्नावत्वात्। तथा च

तत् ज्योत्स्नाधिक्योन ग्रस्तोऽपि अल्पोऽंशः स्वाकारेण न दृश्यते ज्योत्स्नावत्वेन दूर-तया भासते । सूर्यस्य लिप्तात्रयं ग्रस्तमपि न दृश्यते । अत्र हेतुमाह। तीक्ष्णत्वादिति। सूर्यस्य तेजस्तैक्ष्ण्यात् लोकनयनप्रतिघातार्हत्वाच्च इत्यर्थः । वृद्धवशिष्ठेन तु ।

ग्रस्तं शशाङ्कस्य कलाद्वयं चेत् कलात्रयं भानुमतो न लक्ष्यम् ।
तत्किञ्चिदूनं ह्युदयास्तकाले लक्ष्यं यतस्तौ कारगुम्फहीनौ ।। इत्युक्तम् ।
अत उदयास्तकाले उक्तमदृश्यं दृश्यमिति ध्येयम् ।।१३ ।।

चन्द्र विम्ब के स्वच्छ होने से (चकाचौंध रहित होने से) १२वाँ भाग भी ग्रसित होने पर चन्द्र ग्रहण स्पष्ट दिखलाई देता है किन्तु सूर्यविम्ब के तीक्ष्ण प्रकाश के कारण ३ कला का भी सूर्यग्रहण दृष्टिगत नहीं होता ।। १३ ।।

ग्रहणे छादक मार्गज्ञानम्

स्वसंज्ञितास्त्रयः कार्या विक्षेपाग्रेषु बिन्दवः ।
तत्र्प्राङ्मध्ययोर्मध्ये तथा मौक्षिकमध्ययोः ।। १४ ।।
लिखेन्मत्स्यौ तयोर्मध्यान्मुखपुच्छविनिः सृतम् ।
प्रसार्य सूत्रद्वितयं तयोर्यत्र युतिर्भवेत् ।। १५ ।।
तत्र सूत्रेण विलिखेच्चापं बिन्दुत्रयस्पृशा ।
स पन्था ग्राहकस्योक्तो येनासौ सम्प्रयास्यति ।। १६ ।।

अथ इष्टग्रासपरिलेखार्थं ग्राहकमार्गज्ञानं श्लोकत्रयेण आह । विक्षेपाग्रेषु स्पार्शिकमौक्षिकमाध्यविक्षेपाणां पूर्वं स्वस्वस्थाने स्पर्शमोक्षमध्यग्रहणज्ञानार्थं दत्तानाम् अग्रिमभागेषु स्वसंज्ञया सङ्केतिता विन्दवस्त्रयः कार्याः स्पर्शशराग्रे स्पर्शचिह्नाङ्कितो बिन्दुर्मोक्षशराग्रे मोक्षचिह्नाङ्कितो विन्दुर्मध्यशराग्रे मध्यचिह्नाङ्कितो विन्दुरिति त्रयो विन्दवो गणकेन स्थाप्याः । तत्रोप स्थितविन्दुत्रयमध्ये प्राग्मध्ययोः स्पर्शमध्य-विन्द्वोर्मध्येऽन्तराले मौक्षिकमध्ययोः तत्संज्ञयोः विन्दोस्तथान्तराले प्रत्येकं मत्स्यं लिखेदिति अन्यतरद्वये गणको मत्स्यौ लिखेत् । तयोः मत्स्ययोः मध्याद्गर्भान्मुख-पुच्छाभ्यां विनिःसृतं निष्काशितं प्रत्येकं सूत्रमिति सूत्रद्वितयम् । प्रसार्याग्रेऽपि स्वमार्गेण निःसार्य तयोः स्वस्वमार्ग प्रसारितसूत्रयोः यत्र प्रदेशे युतिर्योगः स्यात् तत्र प्रदेशे केन्द्रं प्रकल्प्य सूत्रेण विन्दुत्रयस्य स्पृशा प्रकल्पितकेन्द्र विन्दुत्रयान्यतमविन्द्वन्तरसूत्रेण व्यासार्द्धरूपेण इत्यर्थः । चापं वृत्तैकदेशरूपं धनुर्विन्दुत्रयस्पृष्टं लिखेत् । गणकः कुर्यात् इत्यर्थः । स चापात्मको वृत्तैकदेशो ग्राहकस्य पन्था मार्गः कथितः । येन मार्गेण असौ ग्राहकः सम्प्रयास्यति ग्राह्यविम्बच्छादनार्थं गमिष्यति । परिलेखस्य ग्रहण-कालपूर्वकालावश्यम्भावित्वात् । अत्रोपपत्तिः । इष्टेऽह्नि मध्ये प्राक्पश्चादिति त्रिप्रश्नाधि-कारन्तर्गत श्लोकोपपत्तिः । प्राक् प्रतिपादिता ।। १४—१६ ।।

स्पर्श, मध्य और मोक्षकालिक शराग्रों पर क्रम से स्पर्श, मध्य और मोक्ष संज्ञक तीन बिन्दु कल्पना कर स्पर्श और मध्य तथा मध्य और मोक्ष संज्ञक बिन्दुओं

से दो मत्स्य (चाप) बनाकर उनकी मुखपुच्छगत (दोनों सम्पात बिन्दुगत) रेखाओं को अपने मार्ग में बढ़ाने से जहाँ उनका योग हो उस योगबिन्दु को केन्द्र मानकर स्पर्श, मध्य और मोक्षसंज्ञक बिन्दुओं को स्पर्श करते हुए व्यासार्धरूप सूत्र से जो चाप बनेगा वह चापात्मक ग्राहकमार्ग होगा । उस मार्ग से ग्राहक बिम्ब ग्राह्यबिम्ब के आच्छादन के लिये गमन करेगा ।। १४–१६ ।।

उपपत्तिः—शराग्रे ग्राहक विम्बस्य केन्द्रं भवति । अतः स्पर्श—मध्य—मोक्षकालिक शराग्रेषु गतश्चापः ग्राहकमार्गं भवति । इत्युपपन्नम् ।

इष्टग्रासार्थं परिलेखः

ग्राह्यग्राहकयोगार्धात् प्रोज्झ्येष्टग्रासमागतम् ।
अवशिष्टांगुलसमां शलाकां मध्यबिन्दुतः ।। १७ ।।
तयोर्मार्गोन्मुखीं दद्याद् ग्रासतः प्राग् ग्रहाश्रिताम् ।
विमुञ्चतो मोक्षदिशि ग्राहकाध्वानमेव सा ।। १८ ।।
स्पृशेद्यत्र ततो वृत्तं ग्राहकार्धेन संलिखेत् ।
तेन ग्राह्यं यदाक्रान्तं तत् तमोग्रस्तमादिशेत् ।। १९ ।।

अथ इष्टग्रासपरिलेखं श्लोकत्रयेण आह। मानैक्यखण्डात् इष्टकालिकाभीष्टग्रासमागतं चन्द्रग्रहणाधिकारोक्तप्रकारावगतं त्यक्त्वा अवशिष्टे यानि अङ्गुलानि तत्प्रमाणां शलाकां यष्टिं मध्यविन्दुतो वृत्तत्रयमध्यकेन्द्र विन्दोः सकाशात् तयोः स्पर्शमोक्षविक्षेपाग्रयोः मार्गोन्मुखीं सम्बद्धमार्गचाप रेखाभिमुखीं मार्गरेखासक्तां दद्यात्। कथमित्यत आह। ग्रासत इति। मध्यग्रासतः प्राक् पूर्वकाले ग्रहाश्रितां ग्रहस्पर्शस्तच्छराग्रसम्बन्धि मार्गचापरेखासक्तां शलाकाम् । विमुञ्चतो मुच्यमानान्तर्गताभीष्टग्रासस्य शलाकाम् । मोक्षदिशि । मोक्षविक्षेपाग्रसम्बन्धिमार्गचाप रेखायां सक्तां दद्यात् सा शलाका ग्राहकाध्वानं ग्राहकमार्गचापरेखां यत्र यस्मिन् भागे स्पृशेत् संलग्ना स्यात् । ततः स्थानात् । एवकारः तदतिरिक्तव्यवच्छेदार्थः । ग्राहकमानार्द्धेन व्यासार्द्धेन वृत्तं संलिखेत् । सम्यक् प्रकारेण कुर्यात् । तेन वृत्तेन ग्राह्यात् ग्राह्यवृत्तात् यद्यन्मितमेकदेशरूपं वृत्तमाक्रान्तं व्याप्तम् । तत् तन्मितग्राह्यवृत्तांशं तमोग्रस्तं छादकाच्छादितमभीष्टकाले आदिशेत् कथयेत् ।

अत्रोपपत्तिः । इष्टग्रासोनं मानैक्यखण्डं कर्णः । स तु ग्राह्यग्राहक केन्द्रान्तररूपः। अतोऽयं ग्राह्यकेन्द्रात् पूर्वज्ञातग्राहकमार्गरेखायां यत्र लग्नस्तत्र अभीष्टसमये ग्राहक केन्द्रम् । तस्मात् ग्राहकवृत्तेन ग्राह्यवृत्तं यदाक्रान्तं तत्काले ग्रास इति सुगमा ।। १७–१९ ।।

मानैक्यखण्ड में इष्टग्रास घटाकर शेष अंगुल तुल्य शलाका को मध्यबिन्दु से स्पर्श मोक्ष शराग्र की दिशा में अंकित करें अर्थात् मध्यग्रास से पूर्व इष्टग्रास होने पर स्पर्शशराग्राभिमुखी और मध्यग्रास से पश्चात् इष्टग्रास होने पर मोक्षशराग्राभि-

मुखी शलाका अंकित करनी चाहिये । शलाका ग्राहकमार्ग को जहां स्पर्श करे उस बिन्दु को केन्द्र मानकर ग्राहक बिम्ब व्यासार्द्ध से वृत्त बनायें वह वृत्त ग्राह्यवृत्त के जितने भाग को काटेगा उतना भाग ग्राहक बिम्ब से आच्छादित होगा । अर्थात् उतना ग्रास इष्टकाल में होगा ।। १७—१९ ।।

उपपत्तिः—ग्राह्य-ग्राहक बिम्बयोः केन्द्रान्तरं इष्टग्रासोन मानैक्यखण्ड तुल्यं भवति । अतः ग्राह्य बिम्बस्य केन्द्रबिन्दुतो कृता इष्टग्रासोनमानैक्यखण्डतुल्या रेखा ग्राहकमार्गं यत्र स्पृशति तत्रैव ग्राहक बिम्बस्य केन्द्रम् । तत्र ग्राहकवृत्तेन ग्राह्यवृत्तं यावानाच्छादितो भवति ता वा नेव इष्ट कालिको ग्रासः । द्रष्टव्यं क्षेत्रम्

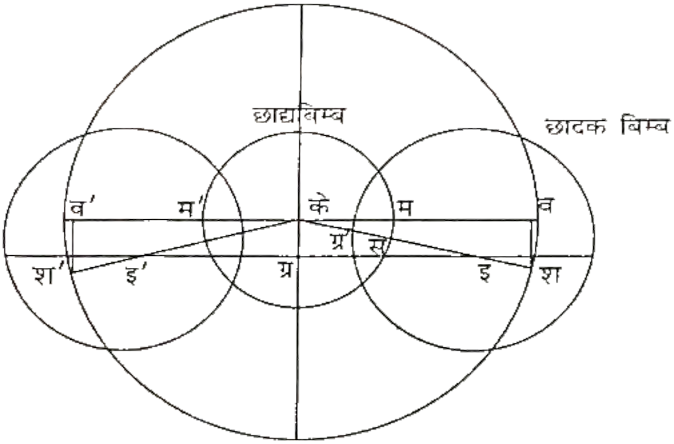

क्षेत्र परिचयः— मानैक्य खण्ड वृत्ते व = वलनाग्र बिन्दुः

व श स्पार्शिकशरः, के म = मध्यग्रहण कालिक शरः, व'श' मौक्षिक शरः,

अतः श म श' = ग्राहक मार्गः । ; के इ = केन्द्रान्तरम्, ग्र'स = इष्टग्रासः।

सम्मीलनोन्मीलन परिलेखः

मानान्तरार्धेन मितां शलाकां ग्रासदिङ्मुखीम् ।
निमीलनाख्यां दद्यात् सा तन्मार्गे यत्र संस्पृशेत्।। २० ।।
ततो ग्राहकखण्डेन प्राग्वन्मण्डलमालिखेत् ।
तद्ग्राह्यमण्डलयुतिर्यत्र तत्र निमीलनम् ।। २१ ।।

अथ श्लोकाभ्यां निमीलनपरिलेखमाह। ग्राह्यग्राहक बिम्बमानयोः अन्तरस्यार्द्धं तेन परिमितां शलाकां निमीलनसंज्ञां ग्रासदिङ्मुखीं स्पार्शिकशराग्रविभागाभिमुखीं मध्यबिन्दोः सकाशात् दद्यात् । सा निमीलनसंज्ञा शलाका तन्मार्गं स्पार्शिक ग्राहकमार्गं चापरेखाकारं यस्मिन् प्रदेशे संलग्ना स्यात् तत्स्थानात् ग्राहकमानार्द्धेन प्राग्वत् मध्याभीष्टग्राससज्ञानार्थं यथा यद्वृत्तं कृतं तथा इत्यर्थः । वृत्तं कुर्यात् । तत् ग्राह्य

मण्डलयुतिर्लिखितवृत्तग्राह्यवृत्तयोः संयोगो यत्र यस्यां दिशि तत्र तस्यां दिशि निमीलनं ग्राह्यविम्बस्य निमज्जनं स्यात् ।

अत्रोपपत्तिः । सम्मीलनकाले ग्राह्यग्राहक केन्द्रान्तरं मानार्द्धान्तरमितं कर्णः । अन्यथा तदनुपपत्तेः । स ग्राह्यकेन्द्रात् स्पर्शमार्गे यत्र लग्नस्तत्र ग्राहक केन्द्रम् । तस्मात् ग्राहकवृत्तं ग्राह्यमण्डलं यत्र स्पृशति तत्र निमीलनं स्पष्टम् ।। २०—२१ ।।

ग्राह्य विम्ब के केन्द्र से मानान्तर खण्ड के तुल्य एक शलाका ग्रास की दिशा की ओर रखने से ग्राहक मार्ग को जिस स्थान पर शलाका स्पर्श करती है उस स्थान पर सम्मीलन का केन्द्र होता है । इसी केन्द्र से ग्राहक (छादक) विम्ब व्यासार्ध से खींचा गया वृत्त ग्राह्य (छाद्य) विम्ब को जहाँ स्पर्श करेगा वहीं सम्मीलन का आरम्भ स्थान होगा ।। २०—२१ ।।

उपपत्तिः—सम्मीलनकाले ग्राह्य—ग्राहकविम्बयोः केन्द्रान्तरं मानान्तरार्धतुल्यं कर्णरूपं भवति । अतः ग्राह्यकेन्द्रात् कृतं कर्णः स्पार्शिकग्रहमार्गे यत्र लगति तत्र ग्राहककेन्द्रम् । तत्र ग्राहकवृत्तं ग्राह्यमण्डलं यत्र स्पृशति तत्र सम्मीलनस्थानम् ।

द्रष्टव्यम् क्षेत्रम्—

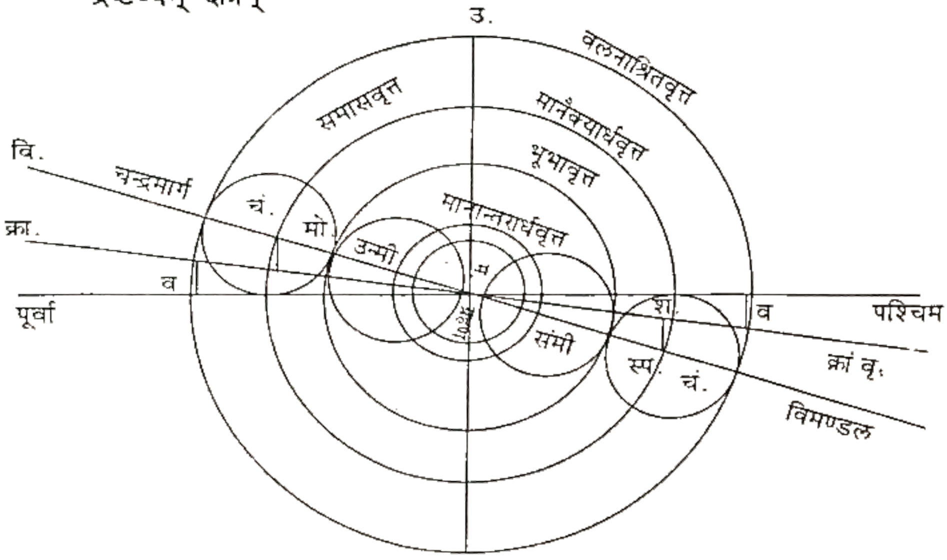

एवमुन्मीलने मोक्ष दिङ्मुखीं सम्प्रसारयेत् ।
विलिखेन्मण्डलं प्राग्वदुन्मीलनमथोक्तवत् ।। २२ ।।

अथ उन्मीलनपरिलेखमाह । उन्मीलने उन्मीलनज्ञानार्थमित्यर्थः । एवं विम्बमानान्तरार्द्धमितां शलाकां मोक्षदिङ्मुखी मौक्षिकशराग्र विभागाभिमुखीं मध्य-विन्दोः सकाशात् सम्प्रसारयेत् दद्यात् इत्यर्थः । प्राग्वत् सम्मीलनार्थं दत्तशलाका-

स्पार्शिकमार्गयोगस्थानात् ग्राहकार्द्धेन वृत्तं कृतं तथा इत्यर्थः । मौक्षिकमार्गदत्त-शलाकायोगस्थानात् ग्राहकवृत्तं कुर्यात् । अथ अनन्तरमुक्त्वात् ग्राहकग्राह्यवृत्तयोगो यस्यां तस्यां दिशीत्यर्थः । उन्मीलनं ग्राह्यविम्बस्य उन्मज्जनं स्यात् ।

अत्रोपपत्तिः । उन्मीलनेऽपि ग्राह्यग्राहक केन्द्रान्तरं मानार्द्धन्तरमितं कर्णः । परमपरमोक्षदिशीति युक्तिस्तुल्या ।। २२ ।।

इसी प्रकार मध्यबिन्दु से मोक्षशराग्र की दिशा में मानान्तरार्ध तुल्य शलाका रखकर, शलाका और ग्राहकमार्ग के योगस्थान से ग्राहक बिम्ब व्यासार्ध से ग्राहकवृत्त बनायें । ग्राहकवृत्त और ग्राह्यवृत्त का जिस दिशा में जिस स्थान पर योग होगा उस स्थान से उस दिशा में उन्मीलन आरम्भ होगा ।। २२ ।।

उपपत्तिः—उन्मीलनेऽपि ग्राह्य—ग्राहक विम्बयोः केन्द्रान्तरं मानान्तरार्धतुल्यं कर्णरूपं भवति । अतः समीलनोपपत्तिरपि उन्मीलनादभिन्न एव । परं मोक्षस्य दिग्भेदत्वात् सम्मीलनादुन्मीलनं भिन्नदिशि एव । क्षेत्रादर्शनात् स्पष्टमेव ।

ग्रहणे चन्द्रस्य वर्णज्ञानम्

अर्धादूने सधूम्रं स्यात् कृष्णमर्धाधिके भवेत् ।
विमुञ्चतः कृष्णताम्रं कपिलं सकलग्रहे ।। २३ ।।

अथ ग्रहणे चन्द्रस्य वर्णानाह । अर्द्धात् अर्द्धविम्बादूने न्यूने ग्रस्ते सति सधूम्रं ग्रासीयविम्बं धूम्रवर्णं स्यात् । अर्द्धाधिकं ग्रस्तविम्बं कृष्णं स्यात् । विमुञ्चत एतत् अनन्तरं ग्रस्तमधिकमपिमुक्तयुन्मुखमिति मोक्षारम्भोन्मुखस्य पादोनविम्बाधिक ग्रस्तस्य असम्पूर्णस्य इत्यर्थः । कृष्णताम्रं श्यामरक्तमिश्रवर्णः । सम्पूर्ण ग्रहणे कपिलं पिशङ्गवर्णं विम्बं स्यात् । अत्र भूभायास्तेजोऽभावतया चन्द्राच्छादकत्वात् एते वर्णाः सम्भवन्ति। सूर्यस्य तु चन्द्रो जलगोलरूप आच्छादकः स दर्शान्तदिवसेऽस्मत् दृश्यार्द्धे सदा कृष्ण एवेति कृष्ण एव सूर्यस्य ग्रस्तोऽंशः सर्वदा । अतएव अविकृतत्वात् भगवता वर्णो नोक्तः ।। २३ ।।

चन्द्रग्रहण में चन्द्रबिम्ब का आधे से अल्प ग्रास होने पर ग्रस्तभाग धूम्रवर्ण का, अर्धाधिक ग्रस्त होने पर ग्रस्तभाग कृष्णवर्ण का, मोक्षाभिमुख अर्थात् पादोनबिम्ब से अधिक ग्रास होने पर कृष्णताम्रवर्ण तथा सम्पूर्ण ग्रहण होने पर कपिलवर्ण (हल्का पीत वर्ण) होता है । सूर्यग्रहण में सूर्य का ग्रास सदैव कृष्णवर्ण ही होता है।।२३।।

उपपत्तिः—चन्द्रग्रहणे आच्छादिका भूभा तेजरहिता कृष्णा च । अतः न्यूनाधिके ग्रासे धूम्रादि वर्णाः दृश्यन्ते । वर्णानां संयोगेन वर्णान्तरमुत्पद्यते इति स्वयं सिद्ध-सिद्धान्तः । भूभा कृष्ण वर्णा चन्द्रश्चेषत् पीतः अर्धाल्पग्रासे पीताधिक्यं श्यामत्वञ्चाल्पमतः धूम्रवर्णो जायते । अर्धाधिके ग्रासे कृष्णत्वमधिकं पीतत्वञ्चाल्पं अतस्तदानीं कृष्णा भूभा भवति । पादोन विम्बग्रासे सति कृष्णवर्णाधिक्येन कृष्णं ताम्रं च वर्णं दृश्यते । सम्पूर्णग्रासे नक्षत्राणां प्रभावेण भूभा पिशङ्ग वर्णा दृश्यते ।

सूर्यग्रहणे छादकश्चन्द्रः सदैव कृष्णवर्णात्मको भवति । यतो हि अमायां चन्द्रस्य दृश्यभागः सूर्यादपरदिशि स्थित्वादप्रकाशितो भवति । इति **उपपन्नम् ।।**

उपसंहारः

रहस्यमेतद्देवानां न देयं यस्य कस्यचित् ।
सुपरीक्षिताशिष्याय देयं वत्सरवासिने ।। २४ ।।

॥ सूर्यसिद्धान्ते छेद्यकाधिकारः सम्पूर्णः ॥ ६ ॥

अथ उक्तच्छेद्यकस्य गोप्यत्वमाह । एतत् ग्रहणच्छेदद्यकं देवानां गोप्यं वस्तु । यस्य कस्यचित् यस्मै कस्मैचित् अपरीक्षिताय न देयम् । कस्मैचित् देयमित्यर्थागतं विवृणोति । सुपरीक्षितशिष्यायेति । सुपरीक्षितमिति अत्र हेतुगर्भं विशेषणमाह । वत्सरवासिने इति । वर्षपर्यन्तं तत्सङ्गत्या तस्य तत्वतया ज्ञानं भवति एव इति भावः ।। २४ ।।

अथ अग्रिमग्रन्थस्य असङ्गतित्व निरासार्थम् अधिकारसमाप्तिं फक्किकया आह । ग्रहणभेदज्ञापकरपरिलेखप्रतिपादनं परिपूर्तिमाप्तमित्यर्थः । इदं दशभेदग्रहगणितमित्युक्त्या गणितक्रियाभावाद् ग्रहणाधिकारान्तर्गतं नाधिकारान्तरम् । अतएवाधिकार इत्युपेक्ष्याध्याय इत्युक्तम् ।

रङ्गनाथेन रचिते सूर्यसिद्धान्तटिप्पणे ।
छेद्यकं ग्रहणान्तं तु पूर्णं गूढप्रकाशके ।।

॥ इति श्रीसकलगणकसार्वभौमबल्लालदैवज्ञात्मजरङ्गनाथगणकविरचिते गूढार्थप्रकाशके छेद्यकाध्यायः सम्पूर्णः ॥ ६ ॥

छेद्यक प्रकरण देवताओं का गोपनीय विषय है । इसे जिस-किसी को नहीं देना चाहिए एक वर्ष पर्यन्त अपने पास रखकर भलीभाँति परीक्षा किये हुए (सदाचारी) शिष्य को यह विद्या देनी चाहिए ।। २४ ।।

॥ पण्डितवर्य बलदेवदैवज्ञात्मज प्रो० रामचन्द्रपाण्डेय द्वारा विरचित सूर्यसिद्धान्त के छेद्यकाधिकार का हिन्दीभाषानुवाद एवं संस्कृतोपपत्ति सम्पूर्ण ॥ ६ ॥

अथ ग्रहयुत्यधिकारः - ७

ग्रहयुतिभेदाः

ताराग्रहाणामन्योऽन्यं स्यातां युद्धसमागमौ ।
समागमः शशाङ्केन सूर्येणास्तमनं सह ॥ १ ॥

अथ युत्याभासग्रहणनिरूपणेन संस्मृततया आरब्धो ग्रहयुत्यधिकारो व्याख्यायते । तत्र युतिभेदानाह । ताराग्रहाणां भौमादिपञ्चग्रहाणां परस्परं योगे युद्ध-समागमौ वक्ष्यमाण लक्षणभिन्नौ स्तः । चन्द्रेण सह पञ्चतारान्यतमस्य योगः समागम-संज्ञः । सूर्येण सह पञ्चताराणामन्यतमस्य चन्द्रस्य वा योगः तदस्तमनं पूर्णास्तङ्ग-तत्वम् । न तु अस्तमात्रम् । युत्यभावे प्रागपरकाले तस्य सत्वात् ॥ १ ॥

भौम आदि पाँचों ग्रहों का परस्पर योग, युद्ध एवं समागम संज्ञक होता है । चन्द्र के साथ भौम आदि ग्रहों का योग होने पर समागम; तथा सूर्य के साथ भौम आदि ग्रहों का अथवा चन्द्रमा का योग हो तो अस्त संज्ञक होता है ॥ १ ॥

युतेर्गतैष्यत्वम्

शीघ्रे मन्दाधिकेऽतीतः संयोगो भविताऽन्यथा ।
द्वयोः प्रागयायिनोरेवं वक्रिणोस्तु विपर्ययात् ॥ २ ॥

अथ युतेर्गतैष्यत्वं सार्द्धश्लोकेन आह । ययोः ग्रहयोः योगोऽभिमतस्तयोः ग्रहयोः मध्ये: यः शीघ्रगतिः ग्रहः तस्मिन् मन्दाधिके मन्दगतिग्रहात् अधिके सति तयोः संयोगो युतिसंज्ञो गतः पूर्वं जात इत्यर्थः । अन्यथा मन्दगतिग्रहे शीघ्रगति ग्रहादधिके सतीत्यर्थः । तयोर्योगो भविता एष्यः एवमुक्तं गतैष्यत्वम् । द्वयोः ग्रहयोः प्राग्यायिनोः पूर्वगतिकयोः भवति। वक्रिणोः वक्र गतिग्रहयोः विपर्ययात् उक्तवैपरीत्यात् । तुकाराद्-गतैष्यो योगो भवति । शीघ्रगतिग्रहे मन्दगतिग्रहात् अधिक एष्यः संयोगो मन्दगतिग्रहे शीघ्रगतिग्रहात् अधिके एष्यः संयोग इत्यर्थः । अथ एकस्य वक्रत्वे आह। प्राग्यायि-नीति । द्वयोर्मध्ये एकतरस्मिन् वक्रिणि सति तदा वक्रगतिग्रहात् पूर्वगतिग्रहेऽधिके सति गतो योगः । यदा तु पूर्वगतिग्रहात् वक्रगतिग्रहेऽधिके सति समागमो योग एष्यः स्यात्।

अत्रोपपत्तिः । पूर्वगत्योर्ग्रहयोर्मध्ये शीघ्रगस्याधिकत्वेऽग्रे योगासम्भवात् पूर्व-योगो जातः । मन्दगस्याधिकत्वे शीघ्रगस्य न्यूनत्वात् अग्रे योगो भविष्यति ।

वक्रिणोस्तु शीघ्रगस्याधिकत्वेऽग्रे तन्यूनत्वेन योगसम्भवादेष्यो योगो मन्दगस्याधिकत्वे शीघ्रगस्य उत्तरोत्तरं न्यूनत्वसम्भवेन अग्रे योगासम्भवाद्गतो योग: ।अथ वक्रगतिग्रहात् पूर्वगतिग्रहेऽधिके उत्तरोत्तरं योगासम्भवाद्गतो योग: ।पूर्वगतिग्रहात् वक्रगतिग्रहेऽधिके वक्रगतिग्रहस्य न्यूनत्वेन अग्रे योगसम्भवादेष्य: संयोग इति ॥ २ ॥

जिन दो ग्रहों की युति ज्ञात करनी हो उनमें यदि मन्दगतिग्रह से शीघ्रगतिग्रह अधिक हो तो गतयुति तथा न्यून हो तो गम्ययुति होती है । यदि दोनों ग्रह वक्री हों तो इससे विपरीत क्रम से युति होती है। अर्थात् मन्दगति ग्रह से शीघ्र गतिग्रह अधिक हो तो गम्य युति और न्यून हो तो गतयुति होती है । यदि एक ग्रह वक्री हो, तथा मार्गी ग्रह से न्यून हो तो गतयुति, अधिक हो तो गम्ययुति होती है ॥ २ ॥

उपपत्ति:—युतिर्नाम ग्रहयोर्ग्रहाणां वा एकराशौ (अंशादि मानेन स्वल्पान्तरेऽपि) स्थितेरन्तराभावो वा । तत्र मन्दगतिका ग्रहा अग्रे शीघ्रगतिकाश्च पृष्ठे यदि भवन्ति तदा कालान्तरे युति: सम्भाव्यते विपरीते च युतिरसम्भवा । वक्रगतौ विपरीतम् । यतो हि शीघ्रग: अग्रे स्थित्वाऽपि पृष्ठगामी भवति अंशादि माने न्यूनत्वं समायाति तथा मन्दग: स्वगत्या अग्रे गच्छति अतो गम्ययुति: सम्भवति । उपपन्नम् ।

ग्रहयोस्तुल्यत्वं युतिकालञ्चाह

प्राग्यायीन्यधिकेऽतीतो वक्रिण्येष्य: समागम: ।
ग्रहान्तरकला: स्वस्वभुक्तिलिप्तासमाहता: ॥ ३ ॥
भुक्त्यन्तरेण विभजेदनुलोमविलोमयो: ।
द्वयोर्वक्रिण्यथैकस्मिन् भुक्तियोगेन भाजयेत् ॥ ४ ॥
लब्धं लिप्तादिकं शोध्यं गते, देयं भविष्यति ।
विपर्ययाद्वक्रगत्योरेकस्मिस्तु धनव्ययौ ॥ ५ ॥
समलिप्तौ भवेतां तौ ग्रहौ भगणसंस्थितौ ।
विवरं तद्वदुद्धृत्य दिनादि फलमिष्यते ॥ ६ ॥

अथ युतिकाले तुल्यग्रहयो: आनयनं युतिकालस्य गतेष्य दिनाद्यानयनं च सार्द्धश्लोकत्रयेण आह । युतिसम्बन्धिनो: ग्रहयो: अभीष्टैककालिकयो: अन्तरस्य कला: पृथक् स्वस्वगति कलाभिर्गुणिता: कर्म द्वयो: ग्रहयो: अनुलोमविलोमयो: मार्गगयो: वक्रगयो: वा इत्यर्थ: । स्फुटगत्यन्तरेण गणको भजेत् । विशेषमाह । वक्रिणीति ।अथ अनन्तरं द्वयोर्मध्ये एकतरे वक्रिणि सति तयो: गतियोगेन भजेत् । फलं कलादि स्वं स्वं गते योगे सति ग्रहयो: मार्गगयो: शोध्यं भविष्यति ।एष्ये योगे सति तयोर्देयं योज्यम् । द्वयो: वक्रगत्यो: स्वं स्वं फलं विपर्ययात् उक्तवैपरीत्यात् कार्यम् । गते योगे योज्यम् ।एष्ययोगे हीनमित्यर्थ: । द्वयोर्मध्ये एकतरे तुकारात् वक्रिणि सति तयोर्ग्रहयो: वक्रमार्गगयो: स्वस्वकलात्मकफलाङ्कौ धनव्ययौ युतहीनौ कार्यौ ।यथाहि ।गतयोगे मार्गगग्रहे स्वफलं हीनं वक्रिणि ग्रहे योज्यम् ।एष्ययोगे

वक्रग्रहे शोध्यम् ।मार्गग्रहे योज्यमिति ।एवं कृते तौ युतिसम्बन्धिनौ ग्रहौ भगणसंस्थौ भगणे राश्यधिष्ठितचक्रे संस्थितिर्ययोः तौ राश्याद्यात्मकौ समलिप्तौ समकलौ स्तः । लिप्तापदस्य भगणावयवोपलक्षणत्वेन समौ स्त इत्यर्थः ।अथ युतिकाल ज्ञानमाह । विवरमिति । अभीष्ट कालिकयोः युतिसम्बन्धिनोः ग्रहयोरन्तरं कलात्मकं तद्वत् समकलोपयुक्तफलज्ञानार्थं यथा गति गुणितमन्तरं गतियोगेन गत्यन्तरेण भक्तं तथा इत्यर्थः । तेन हरेण भक्त्वा फलं दिनादिकं गतैष्ययुतिवशात् अभीष्टकालात् गतैष्यमुच्यते ।तत्समये तद्युतिकाले तौ ग्रहौ समौ स्त इत्यर्थः ।

अत्रोपपत्तिः । गत्यन्तरेण गतिकलास्तदा ग्रहान्तरकलाभिः का इति फले गतयुतौ ग्रहयोः शोध्ये ।एष्ययुतौ योज्ये ।द्वयोर्वक्रत्वे गत्यन्तरभक्त फले गतयुतौ ग्रहयोर्योज्ये ।एष्ययुतौ शोध्ये ।वक्रग्रहस्य उत्तरोत्तरं न्यूनत्वात् ।अथ एको वक्री तदातयोः अन्तरं प्रत्यहं गतियोगेन उपचितम् ।अतो गतियोगहरेण आगतं फलं गतयोगे मार्गगग्रहे हीनं पूर्वं तस्य न्यूनत्वात् ।वक्रग्रहे योज्यम् ।पूर्वं तस्य अधिकत्वात् ।एष्ययोगमार्गगग्रहे योज्यम् ।उत्तरोत्तरमधिकत्वात् ।वक्रग्रहे शोध्यम् ।तस्य अग्रे न्यूनत्वात् ।गतियोगेन गत्यन्तरेण वा दिनमेकं लभ्यते तदा अन्तरकलाभिः किमित्यनुपातेन गतैष्यदिनाद्यम् ।। ३—६ ।।

अभीष्ट युति सम्बन्धि दोनों ग्रह यदि वक्री या मार्गी हो तो उन ग्रहों की अन्तरकला को अपनी अपनी गतिकला से गुणाकर गुणनफल में उन दोनों ग्रहों की गत्यन्तरकला से भाग दें । यदि एक ग्रह वक्री और एक ग्रह मार्गी हो तो उनकी अन्तर कला को अपनी-अपनी गति कला से गुणाकर अपनी गतियोग से भाग दें । जो लब्धि प्राप्त हो उसे गतयोग हो तो मार्गी ग्रहों में हीन और वक्री ग्रहों में युत करें । एष्य युति हो तो मार्गी ग्रहों में युत और वक्री ग्रहों में हीन करें । यदि एक ग्रह वक्री और एक ग्रह मार्गी हो तो स्व-स्वफल को युत-हीन करें । अर्थात् गतयोग होने पर मार्गी ग्रह में अपना फल हीन और वक्री ग्रह में युक्त करें । गम्ययुति हो तो मार्गी ग्रह में धन और वक्री ग्रह में ऋण करें । इस प्रकार राशि चक्र में स्थित राश्यादि ग्रह समकल होते हैं। इष्टकालिक युति सम्बन्धि ग्रहों के अन्तर में उन दोनों ग्रहों के गत्यन्तर का भाग देने से गत युति में गत तथा गम्ययुति में एष्य दिनादि होते हैं ।। ३—६ ।।

उपपत्तिः—एकदिशि गम्यमानानयोर्ग्रहयोर्मध्येऽन्तरं दैनन्दिनगत्यन्तरतुल्यम् भिन्नदिशि गतियोगतुल्यञ्च भवति । अतोऽनुपातेन गत्यन्तर कला साध्यते गतियोगे गत्यन्तरे वा यदि स्वगतिर्लभ्यते तदा ग्रहान्तरकलासु किमिति जातम् =

$$\frac{\text{गतिः} \times \text{ग्रहान्तरम्}}{\text{गत्यन्तर / गतियोगः}} = \text{चालनफलम्} \text{ ।}$$

यदि गतयोगस्तदा फलं ऋणं गम्ययोगस्तदा फलं धनम् । वक्रग्रहे फल-संस्कारः विपरीतः गम्य युतौ ऋणम् गतयुतौ च धनम् । यद्येको वक्री गतयोगश्च

तदा मार्गीग्रहात् चालनं ऋणं वक्रग्रहाच्च धनम् । एवमेव गम्ययुतौ वक्रग्रहे चालनमृणं मार्ग ग्रहे च धनम् । युतिकाले गतैष्ययोः दिनादीनां साधनार्थमनुपातः—गत्यन्तर-कलायां एकदिवसस्तदा ग्रहान्तर कलासु किमिति—

$$\frac{१ \times \text{ग्रहान्तरकला}}{\text{गत्यन्तरम}} = \text{एकदिवसीयं चालनम् ।}$$

इदं गत योगे गत दिनादि एष्य योगे एष्य दिनादिरिति । उपपन्नम् ।

दृक्कर्मण उपकरणानि

कृत्वा दिनक्षपामानं तथा विक्षेपलिप्तिकाः ।
नतोन्नतं साधयित्वा स्वकाल्लग्नवशात्तयोः ।। ७ ।।

अथ दृक्कमर्थिमुपकरणानि साध्यानीत्याह । तयोः समयोः ग्रहयोः दिनक्षपा-मानं प्रत्येकं दिनमानं रात्रिमानं प्रसाध्य विक्षेपकलाः । तथा प्रसाध्येत्यर्थः । अत्र भगवता विक्षेपकलाः प्रसाध्येत्यस्य दिनरात्रिमानं प्रसाध्येति एतदनन्तर मुक्तेः दिन-रात्रिमानं स्पष्टक्रान्तिजचरेण न साध्यम् । किन्तु समग्रहीयशरा संस्कृत केवल-क्रान्तिजचरेण साध्यमिति सूचितम् । समग्रहयोः प्रत्येकं नतकालमुन्नतकालं प्रसाध्य। अत्र समुच्चयार्थकं तथेत्यन्वेति । एतदर्थमेव दिनरात्रिमानं प्रसाध्येति पूर्वमुक्तन् । समनन्तरोक्तं दृक्कर्म्म कार्यमिति वाक्यशेषः । ननु नतोन्नतं कथं साध्यं ग्रहोदयाज्ञानात् तदवधि कालमानज्ञानाभावात् । न हि ग्रहस्य दिनरात्रिगतकालज्ञानं विनापि केवलदिनरात्रिमानाभ्यां तत्सिद्धिः अत आह । स्वकात् लग्नवशात् इति । यस्मिन् काले समौ ग्रहौ जातौ तात्कालिकलग्नं पूर्वोक्तप्राकारावगतं तद्वशात् तद्ग्रहणात् इत्यर्थः । स्वकात् समग्रहात् प्रत्येकमुन्नतनतकालौ साध्यौ इत्यर्थः । एतदुक्तं भवति। युतिकालिक लग्नमधिकसंज्ञं प्रकल्प्य समग्रहं न्यूनसंज्ञं प्रकल्प्य ।

भोग्यासूनूनकस्याथ भुक्तासूनधिकस्य च ।
सम्पीड्यान्तरलग्नासूनेवं स्यात् कालसाधनम् ।।

इति त्रिप्रश्नाधिकारोक्तया ग्रहस्य दिनगतं रात्रिगतं प्रसाध्य दिने दिनगतशेषयोः रात्रौ रात्रिगतशेषयोः यदल्पं तदुन्नतम् । तेन ऊनं दिनार्द्धं रात्र्यर्द्धं वा ग्रहस्य नतम् । दिनक्षपामानं नतोन्नतमित्येकवचनेन समग्रहयोः अभिन्नं दिनमानं रात्रिमानं नतमुन्नतं च इति सूचनात् अपि न उदयलग्नलग्नाभ्याम् अन्तरकालः प्रत्येकं भिन्नः साध्यः । न वा स्पष्टक्रान्तिजचरेण दिनरात्रिमाने प्रत्येकं पूर्वमुदयलग्नस्य एव असिद्धेरिति स्फुटीकृतम् ।

अत्रोपपत्तिः । तात्कालिकार्कलग्नाभ्यां यया सूर्यस्य उदयकालगतकालस्तथा तात्कालिक ग्रह लग्नाभ्यां ग्रहोदयगतकालः सिद्धयति । यद्यपि सूर्यस्य क्रान्ति-वृत्तस्थत्वात् सूर्यस्य युक्तः कालः । ग्रहस्य तु क्रान्तिवृत्तस्थत्वानियमात् उक्तरीत्या

गतकालस्य क्रान्तिवृत्तस्थ ग्रहचिह्नीयत्वेऽपि ग्रहविम्बीयत्वाभावात् अयुक्तत्वम् । अतएव वक्ष्यमाणदृक्कर्मसंस्कृत ग्रहादानीतकालो ग्रहविम्बीयः तथापि वक्ष्यमाण-दृक्कर्मसंस्कृत ग्रहादानीतकालो ग्रहविम्बीयः तथापि वक्ष्यमाणदृक्कर्मार्थं ग्रह-चिह्नीयस्य एव अपेक्षितत्वात् न क्षतिः ।। ७ ।।

दृक्कर्म साधन के लिये समान ग्रहों का दिनमान रात्रिमान और शरकला का साधन कर अपने-अपने लग्न द्वारा नतकाल और उन्नतकाल का साधन करना चाहिए ।। ७ ।।

उपपत्तिः—अत्रापि ''भोग्यासूनूनकस्याथ'' इत्यादि त्रिप्रश्नाधिकारोक्तविधना सायन-ग्रहात् सायनलग्नाच्चेष्टकालस्य साधनं कर्त्तव्यम् । अत्र क्रान्तिवृत्तस्थ चिह्नस्य साधनं कृतमिति असंगतं प्रतीयते यतो हि नतोन्नत कालौ ग्रहणिम्बयोर्भवतः । अग्रेऽपि ग्रहविम्ब-स्योन्नतनतकालौ अभीष्टौ अतः ग्रहचिह्नादेव नतोन्नतकालयोः साधनं युक्तिसंगतम् ।

दृक्कर्मसाधनम्

विषुवच्छायायाऽभ्यस्ताद् विक्षेपाद् द्वादशोद्धृतात् ।
फलं स्वनतनाडीघ्नं स्वदिनार्धविभाजितम् ।। ८ ।।
लब्धं प्राच्यामृणं सौम्ये विक्षेपे पश्चिमे धनम् ।
दक्षिणे प्राक्कपाले स्वं पश्चिमे तु विपर्ययः ।। ९ ।।

अथ अक्षदृक्कर्म तत्संस्कारं च ग्रहस्य श्लोकाभ्यामाह । अक्षभया गुणितात् ग्रहविक्षेपात् आनीतात् द्वादशभक्तात् यत् लब्धं तत् स्वनतनाडीघ्नं विक्षेपसम्बन्धि-ग्रहस्य नतघटीभिः गुणितं तस्य एव दिनार्द्धेन भक्तं रात्रौ रात्र्यर्द्धेन इत्यर्थसिद्धम् । अत्र समग्रहयोः पूर्वोक्तप्रकारेण दिनमाननतयोः अभिन्नत्वात् स्वशब्द उभयत्रानावश्य-कोऽपि युतिव्यतिरिक्तदृग्ग्रहाणां प्रयोजनतया साधनवैयधिकरण्यव्यावृत्यर्थं स्वपदं भगवता दत्तम् । वस्तुतस्तु दृग्ग्रहयोस्तुल्यत्वे भगवताग्रे युतेरूक्तत्वात् तात्कालिकयोः स्पष्टयोः अतुल्यत्वेन दृक्कर्मसाधनार्थं नतदिनमानयोः तयोः भिन्नत्वेन स्वपदं युक्तं प्रयुक्तम् । न तु स्पष्ट क्रान्तिजचरोत्पन्नदिनमानयोः भेदात् नतभेदाच्च स्वमित्युक्तम् । तत्साधनस्य वैयधिकरण्देन अप्रसक्तेरिति ध्येयम् । उक्तरीत्या उत्तराद्विक्षेपात् लब्ध तत्कलात्मकं प्राच्यां प्राक्कपाले ग्रहस्य हीनम् । पश्चिमकपाले योज्यम् । दक्षिणे तथा विक्षेपे । तुकारात् तदुत्पन्नं फलं प्राक्कपाले योज्यं पश्चिमकपाले हीनं कार्यम् ।। ८—९ ।।

पलभा को शर से गुणाकर १२ का भाग देने से जो फल प्राप्त हो उसे अपनी अपनी नत घटी से गुणाकर अपने अपने दिनार्ध से भाग दें यदि रात्रि में नतोन्नतकाल हो तो रात्र्यर्ध से भाग दे । लब्ध कलादि फल को ग्रहों में धन, ऋण करें अर्थात् उत्तर शर हो तो पूर्वकपाल में ऋण और पश्चिमकपाल में धन, तथा दक्षिण शर हो तो पूर्वकपाल में धन और पश्चिमकपाल में ऋण ।। ८—९ ।।

उपपत्तिः—दृशः कर्म दृक्कर्म । येन संस्कारेण गणितागता ग्रहाः द्रक्प्रत्यय कारका भवन्ति तदेव दृक्कर्म । ग्रहगत कदम्बप्रोत—समप्रोतवृत्तयोरन्तरं क्रान्तिवृत्ते दृक्कर्म नाम । यतो हि गणितागता ग्रहा क्रान्तिवृत्तीयाः राश्यादिका भवन्ति । क्रान्तिवृत्ते रविर्भ्रमति । अन्ये ग्रहा क्रान्तिवृत्ताच्छर तुल्यान्तरे स्व स्व विमण्डले भ्रमन्ति । यदा क्रान्ति वृत्ते ग्रहस्थानं उदय क्षितिजमस्तक्षितिजं वा समायाति तदा शर तुल्यान्तरे स्थितं ग्रहबिम्बं उदयास्तक्षितिजयोः सकाशात् ऊर्ध्वमधो वा भवति । यदा कदम्बस्थानं क्षितिजगतं भवति तदा कदम्बप्रोतवृत्तं क्षितिजवृत्तमेव भवति । अन्यत्र कदम्बप्रोतवृत्तं क्षितिजवृत्तादन्तरितं भवति । एवं ग्रहगत कदम्ब प्रोत-समप्रोतयोर्यदन्तरं क्रान्ति वृत्ते तदेव दृक्कर्म नाम । दृक्कर्म द्विविधिम् अयनमाक्षजञ्चेति । ध्रुवप्रोत-कदम्बप्रोतयोरन्तरं क्रान्तिवृत्ते आयनं दृक्कर्म । ध्रुवप्रोत-समप्रोतयोरन्तरन्तरं क्रान्तिवृत्ते आक्षजं दृक्कर्म । अनयोः संस्कारेण समप्रोत-कदम्बप्रोतयोरन्तरं क्रान्तिवृत्ते स्फुटं दृक्कर्म, साधनञ्चैवम्—आक्ष दृक्कर्म साधनार्थ क्षेत्रम्—अत्र स्था = आयनग्रहः

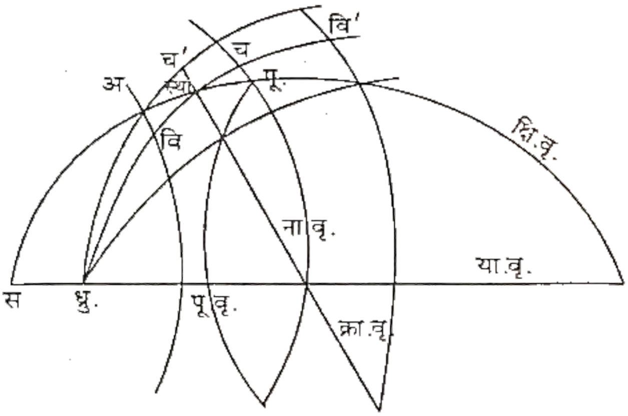

आक्षजं दृक्कर्म नाम बिम्बोपरिगतं समध्रुवप्रोतयोरन्तरं क्रान्तिवृत्तीयं कलात्मकं नाड़ी वृत्तेतयोरन्तरमस्वात्मकं आक्षजं दृक्कर्म । अहोरात्रवृत्ते च तथैव बोध्यम् । यथा चात्र प्रकृते विअ अस्वात्मकं आक्षजं दृक्कर्म अहोरात्रवृत्ते नाडीवृत्ते, च च' चापमिति।

अथ साधनं क्रियते—

पू. च = स्थानीयक्रान्तिसम्बन्धिचरम्

पू. च = बिम्बीयचरम् ।

अनयोरन्तरम् च च' आक्षदृक्कर्म इति ।

परञ्चेत्थं महति शरे, शराल्पत्वे तु स्वल्पान्तरात् ।

क्षितिजेऽक्षज्या तुल्यमित्यादिवचनात्—

∠ स्था = अक्षांशः, ततः ∠ वि = समकोणः सरलाङ्गीकारात् ।

∠ स्था अ वि = लम्बांशाः ।

Δ विस्था त्रिभुजेऽनुपातः—

लम्बज्यायां स्पष्टशरज्या तदा आक्षवलनज्यायां किमिति—

$$\frac{\text{स्पष्टशरज्या} \times \text{आक्षवलनज्या}}{\text{लम्बज्या}} = \text{द्युज्यावृत्तीय दृक्कर्मासवः ।}$$

$$= \frac{\text{स्पशरज्या} \times \text{अक्षज्या}}{\text{लम्बज्या}} = \frac{\text{स्पशरज्या} \times \text{पलभा}}{१२}$$

निष्पत्तिसाम्यात्

अतः द्वितीयानुपातः—

$$\frac{\text{स्प० शरज्या} \times \text{पलभा} \times \text{त्रि}}{१२ \times \text{द्युज्या}} = \text{नाडी वृत्ते अथ दृक्कर्मासुमानम् ।}$$

आयनदृक्कर्म साधनम्

सत्रिभग्रहजक्रान्ति—भागघ्नाः क्षेपलिप्तिकाः ।
विकलाः स्वमृणं क्रान्तिक्षेपयोर्भिन्नतुल्ययोः ।। १० ।।

अथ आनयदृक्कर्माह । विक्षेपकलाः पूर्वसाधिता राशित्रययुतग्रहोत्पन्न-क्रान्त्यंशैर्गुणिता विकला भवन्ति । ता अक्षदृक्कर्म संस्कृतग्रहे विकलास्थाने क्रान्ति-क्षेपयोः सत्रिभग्रहस्य क्रान्तिः ग्रहस्य विक्षेपः । अनयोः भिन्नतुल्ययोः भिन्न-नैकदिक्कयोः सतोः क्रमेण स्वमृणं कार्याः ।

अत्रोपपत्तिः । विक्षेपवृत्तस्य ग्रहविम्बोपरि ध्रुवप्रोतश्लथवृत्तं स्पष्ट्वा क्रान्ति-वृत्ते ग्रहासन्ने यत्र लगति तस्य ग्रहचिह्नस्य अन्तरे याः क्रान्तिवृत्ते कलास्ता आयनकलास्तदानयनार्थं क्षेत्रं ग्रहशरः कदम्बाभिमुखः कर्णः । तत्सम्बद्धद्युरात्रवृत्त प्रदेशध्रुवप्रोतश्लथवृत्तसम्पातयोः अन्तरे द्युरात्रवृत्ते भुजः । ध्रुवप्रोतवृत्ते स्पष्टशरो ग्रह- विम्बतत्सम्पातान्तरे कोटिः । अतस्त्रिज्याकर्णेऽयनवलनज्या भुजस्तदा शरकर्णे क इत्यनुपातेन द्युरात्रवृत्ते द्युज्याप्रमाणेन भुजकलाः । न तु ग्रहचिह्न तद्वृत्त सम्पातान्तरे क्रान्ति वृत्ते भुजकलाः क्रान्तिवृत्तस्य तिर्यक्त्वेन तादृशक्रान्तिवृत्त प्रदेशस्य तिर्यक-त्वात् भुजत्वासम्भवात् । आयन वलनज्या भुजस्त्रिज्या कर्णो यष्टिः कोटिस्तद्वर्गान्तर पदरूपेति क्षेत्रं गोले प्रत्यक्षम् । अतोऽनुपाते न क्षतिः । तत्र भगवता लोकानुकम्पया गणितसुखार्थं द्युरात्रवृत्तस्य भुजकलाः क्रान्तिवृत्तस्था अङ्गीकृताः स्वल्पान्तरत्वात् । अतोऽयनवलनज्या शरकलाभिः गुण्या त्रिज्यया भाज्येति प्राप्ते भगवता आयन वलनस्य सत्रिभग्रहक्रान्ति भागत्वेन अङ्गीकारात् तद्भागा अष्ट- पञ्चाशता गुणनीया ज्या भवति । यतः परमाच्चतुर्विंशत्यंशा अष्ट पञ्चाशता गुणिताः पञ्चोना परमक्रान्तिज्या जाता । इय शरगुणा त्रिज्याभक्ता अयनकलास्तत्र विकलात्मकफलार्थं षष्टिर्गुण इति सत्रिभग्रह क्रान्तिभागगुणितो ग्रहविक्षेपोऽष्ट पञ्चाशत्षष्टिघातेन

विंशत्यूनेन पञ्चत्रिंशच्छतेन गुण्यस्त्रिज्यया भक्त इति सिद्धम् । अत्रापि लाघवाद्गुणस्य त्रिज्यामितत्वेन स्वल्पान्तरत्वात् अङ्गीकारात् गुणहरयोर्नाश इत्युपपन्नं सत्रिभेत्यादिविकला इत्यन्तम् । भास्कराचार्यैस्तु ।

आयनं वलनमस्फुटेषुणा सङ्गुणं द्युगुणभाजितं हतम् ।
पूर्ण पूर्ण धृतिभिर्ग्रहाश्रितव्यक्ष भोदय हृदायनाः कलाः ।।

इति सूक्ष्ममस्मादुक्तम् । धनर्णोपपत्तिस्तु मकराद्युत्तरायणे दक्षिणध्रुवात् दक्षिण-कदम्बोऽधः । उत्तरध्रुवात् उत्तरकदम्ब ऊर्ध्वम् । तत्र शरो यदा तु उत्तरस्तदा ग्रहविम्बस्य उत्तरकदम्बोन्मुखत्वेन उत्तर ध्रुवात् उन्नतत्वात् क्रान्तिवृत्तस्थ ग्रहचिह्नात् क्रान्तिवृत्तध्रुवप्रोतश्लथ वृत्तसम्पात आयनग्रह चिह्नरूपः क्रान्तिवृत्ते पश्चात् भवति अत आयनविकलाः स्पष्ट ग्रह ऋणं कृताश्चेत् आयनग्रहभोगो ज्ञातः स्यात् । एवं दक्षिणशरे ग्रहविम्बस्य दक्षिणकदम्बोन्मुखत्वेन ध्रुवान्नतत्वात् क्रान्तिवृत्ते ग्रहचिह्नात् आयनग्रह चिह्नमग्र एव भवतीति धनमायनविकलाः । कर्कादि दक्षिणायने तु दक्षिण ध्रुवात् दक्षिणकदम्ब उर्द्धमुत्तरध्रुवादुत्तरकदम्बोऽधः । तत्र यदि ग्रहशरो दक्षिणस्तदा ग्रहविम्बस्य दक्षिणध्रुवात् उन्नतत्वात् क्रान्तिवृत्ते ग्रहचिह्नात् आयनग्रह चिह्नं पश्चादत ऋणमायनम् । यदि उत्तरशरस्तदा ग्रहविम्बस्य उत्तरध्रुवान्नतत्वात् ग्रहचिह्नात् आयनग्रह चिह्नमग्रे क्रान्तिवृत्ते भवतीत्यायनं धनमिति गोलस्थित्यायनशरदिगैक्य ऋणमयनशरदिग्भेदे धनमिति सिद्धम् । तत्र ग्रहायनदिशः सत्रिभग्रहगोलदिक् तुल्य-त्वात् सत्रिभग्रहक्रान्ति ग्रहशरयोः एकदिक्त्वे ऋणं भिन्न दिक्त्वे धनमित्युपपन्नम् । अथ अक्षदृक्कर्मोपपत्तिः ।

भूगर्भक्षितिजयाम्योत्तरवृत्त सम्पातरूपसमप्रोत चलवृत्ते ग्रहविम्बसक्ते क्रान्ति-मण्डलस्य ग्रहासन्नो यत्र सम्पातस्तत्राक्षदृक्कला संस्कृतो ग्रहस्तस्य आयनग्रहस्य च अन्तरे क्रान्तिवृत्तप्रदेश आक्षदृक्कलास्ताः क्षितिजस्थ ग्रहविम्बे परमान्तरत्वात् परमा याम्योत्तरवृत्तस्थे ग्रहेऽयनग्रह चिह्नमेव अक्षदृक्कला संस्कृत ग्रहचिह्नं भवतीति तदभावः । अतः क्षितिजस्थे ग्रहविम्बे चलवृत्तं याम्योत्तरक्षितिज सम्पातप्रोतं क्षितिज-वृत्ताभिन्नं तत्र ग्रहविम्बसक्तं ध्रुवप्रोत चलवृत्त क्रान्तिवृत्त सम्पातोऽयनग्रह चिह्नरूपः क्षितिजस्थ क्रान्तिवृत्त प्रदेशात् उर्द्धमधो वा याभिः कलाभिः अन्तरितस्ता आक्षदृक्कलाः आसां ज्ञानार्थं तदन्तर प्रदेशीयद्युरात्रवृत्तखण्ड प्रदेशस्थासवोऽक्षजाः साधिताः । तथाहि ध्रुवद्वयप्रोत ग्रहविम्बगत चलवृत्ते विषुवद् वृत्तग्रह बिम्बान्तरे स्फुटा क्रान्तिः विषुवद्वृत्तक्रान्तिवृत्तस्य आयन ग्रह चिह्नान्तरे मध्यमा क्रान्तिः अयनग्रहस्य अयनग्रह चिह्नग्रह विम्बान्तरे स्फुटशरः । द्वयोः क्रान्त्योः एकदिक्त्वे स्फुटक्रान्ति-रधिका । तत्र उत्तरगोलेऽयनग्रहचिह्नं क्षितिजादधः स्वद्युरात्रवृत्ते क्रान्त्योश्चरान्तरासुभिः भवति । यतोऽयन ग्रह चिह्नद्युरात्रवृत्तस्थोन्मण्डल क्षितिजान्तर रूपचरात् ग्रहविम्बीय-चरस्य अधिकत्वेन मध्यमचर सम्बद्ध क्षितिज वृत्त प्रदेशात् ध्रुवाभिमुखसूत्रं ग्रहविम्बीय चर सम्बद्धद्युरात्रवृत्तप्रदेशे यत्र लगनं तत्क्षितिजान्तराले चरान्तरस्य सत्वेन स्पष्टशरचरान्तराभ्यां कोटिभुजाभ्याम् आयतचतुरस्र क्षेत्रस्य तद्द्युरात्रवृत्त-

द्वयमध्ये स्फुटदर्शनम् । एवं दक्षिणगोलेऽयनग्रहचिह्नं सद्युरात्रवृत्ते क्षितिजादूर्द्धं क्रान्त्योश्चरान्तरासुभिः इति । क्रान्त्योः भिन्नदिक्त्वे तु क्षितिजादयनग्रहचिह्नं स्वद्युरात्रवृत्ते क्रान्त्योश्चरयोगतुल्यासुभिः अध उर्द्धम् । मध्यक्रान्तिद्युरात्र वृत्त उन्मण्डलात् स्पष्टक्रान्तिचर तुल्यान्तरेण दक्षिणोत्तर गोलयोः अध उर्द्धमयन ग्रहचिह्नस्य सत्वात् । क्षितिजात् चरान्तरेण उद्वृत्तस्य सत्वाच्चेति । भास्कराचार्यैः ।

स्फुटास्फुट क्रान्तिजयोश्चरार्द्धयोः समान्यदिक्त्वेऽन्तरयोगजासवः ।
पलोद्भवाख्या भनभः सदाम् ।

इति सूक्ष्ममाक्षदृगसुज्ञानमुक्तम् । भगवता तु पूर्वोक्तरीत्या स्फुटास्फुटक्रान्तिसंस्कारोत्पन्न स्फुटशररूपक्रान्ति खण्डस्य स्वल्पान्तरेण यथागतशरतुल्यस्य चरमाक्षदृगसव इत्यङ्गीकृत्य द्वादशकोटौ पलभा भुजस्तदा विक्षेपरूपक्रान्ति कोटौ क इत्यनुपातात् विक्षेपज्या फलधनुषोस्त्यागात् स्वल्पान्तरेण कुज्या चरज्ययोः अभिन्नत्वेन अङ्गीकाराच्चरासव आक्षासव एता एव कला धृताः स्वल्पान्तरत्वात् । क्षितिजातिरिक्तस्थ ग्रहविम्बे तु एताः कला अभीष्टनतकालपरिणता भवन्तीति विषुवच्छायया इत्यादि स्वदिनार्द्धविभाजितमित्यन्तम् । अत्र ग्रहे आयनं दृक्कर्म संस्कार्य तस्मात् दिनरात्रिमानादिनतं साधयित्वाक्षदृक्कर्म क्रियते तदा किञ्चित् सूक्ष्ममिति सत्रिभग्रहजेत्यादि श्लोकः सप्तमो यत्पुस्तके तत्र तु उक्तं स्वतः सिद्धम् । नतानुपाते स्वपदव्यर्थ प्रयोग शङ्कानवकाशश्च समग्रहयोः आयनदृक्कर्म संस्कारेण भिन्नत्वसम्भवात् तयोः दिनमाननतयोः अपि भिन्नत्वसिद्धेः इत्यवधेयम् । धनर्णोपपत्तिस्तु समप्रोतचलवृत्तं ग्रहविम्बोपरिगं यत्र क्रान्तिवृत्ते लगति स राश्यादिभोग आक्षदृक्कर्मसंस्कृत इति प्रागुक्तम् । तत्र पूर्वकपाले तस्मात् ग्रहात् आयनग्रह चिह्नं क्रान्तिवृत्त उत्तरशरेऽग्रिमभागे भवति दक्षिणशरे पश्चात् भवतीति क्रमेणर्णधनमुक्तम् । पश्चिम कपाले तु उत्तरशरे पश्चात् दक्षिणशरेऽग्रिमभाग इति क्रमेण आयनग्रहे धनर्णं दृक्कर्मद्वयसंस्कृतो ग्रहः सिद्धो भवतीत्युपपन्नं सर्वम् ॥ १० ॥

पूर्व साधित शरकला को सत्रिभग्रह के क्रान्त्यंश से गुणा करने से आयनदृक्कर्म विकला होती हैं। इन विकलाओं को, सत्रिभ ग्रह की क्रान्ति और शर की एक दिशा हो तो ग्रह में ऋण और भिन्न दिशा हो तो ग्रह में धन करना चाहिए ॥ १० ॥

उपपत्तिः—आयनदृक्कर्म साधनोपपत्तिः—

प्रतीत्यर्थ क्षेत्रम्—

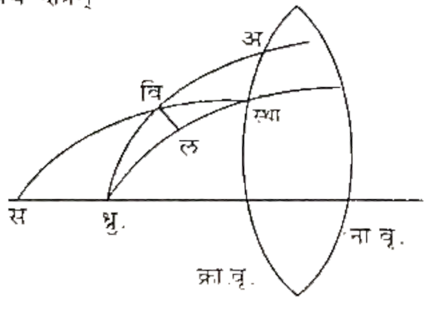

अत्र स्था = स्थानीयायनं वलनम् ।
अस्था = क्रान्तिवृत्ते आयनदृक्कर्मकला ।
अ = आयनदृग्ग्रहः ।

अत्र Δ ध्रुविस्था त्रिभुजेऽनुपातः—

$$\frac{\text{स्थानीयायनवलनज्या} \times \text{शरज्या}}{\text{द्युज्या}} = \text{आयनदृक्कर्मासुज्या ।}$$

$$\frac{\text{१८००} \times \text{स्थानीयायनवलनज्या} \times \text{शरज्या}}{\text{राश्युदयासु} \times \text{द्यु}} = \text{आयनदृक्कर्मकला ।}$$

$$= \frac{\text{१८००} \times \text{स्थानीयआयनवलनज्या} \times \text{शरज्या}}{\text{राश्युदयासु} \times \text{द्युज्या}} = \text{आयनदृक्कर्मकला ।}$$

Δ विस्थाअ त्रिभुजे—

अत्र $\angle$ वि = विम्बीयमायनं वलनम् ।
$\angle$ अ = यष्टिचापः
वि स्था = मध्यमशरः

अतोऽनुपातः—

$$\frac{\text{शर} \times \text{आयनवलनज्या}}{\text{यष्टिः}} = \text{अ स्था}$$

चापीयत्रिभुजत्वात्—

$$\frac{\text{मध्यमशरज्या} \times \text{आयनवलनज्या}}{\text{यष्टिः}} = \text{अ स्था चापज्या ।}$$

$$\frac{\text{मध्यमशर} \times \text{आयनवलनज्या}}{\text{यष्टिः}} = \text{आयनदृक्कर्मकला}$$

Δ वि ल स्था त्रिभुजेऽनुपातः—

$$\frac{\text{शरज्या} \times \text{अवज्या}}{\text{त्रिज्या}} = \text{वि ल ज्या}$$

दृक्कर्म प्रयोजनम्

नक्षत्रग्रहयोगेषु ग्रहास्तोदयसाधने ।
शृंगोन्नतौ तु चन्द्रस्य दृक्कर्मादाविदं स्मृतम् ॥ ११ ॥

अथ प्रसङ्गाद्दृक्कर्मसंस्कारस्थलान्याह । अत्र निमित्त सप्तमी । ग्रहनक्षत्राणां बहुत्वात् बहुवचनम् । नक्षत्रग्रहयोः युत्यर्थं नक्षत्रग्रहयोः इदं द्वयं दृक्कर्म स्मृतं

प्रागुक्तम् । आदौ प्रथमं कार्यम् । ताभ्याम् अनन्तरं क्रिया कार्या इत्यर्थः । अत्र नक्षत्र-ध्रुव कारणम् आयनदृक्कर्म संस्कृतानामेव उक्तत्वात् आयनं दृक्कर्म न कार्यमिति ध्येयम् । ग्रहाणाम् अस्तोदयौ नित्यास्तोदयौ सूर्यसान्निध्यजनितास्तोदयौ च । ग्रहाणाम् उपलक्षणत्वात् नक्षत्राणामपि तयोः साधननिमित्तं ग्रहस्य नक्षत्रस्य वा देयम्। अत्र अक्षदृक्कर्मार्थं केवलः शरः साध्यः । न तु दिनमानरात्रिमाननतोन्नते साध्ये । क्षितिजसम्बन्धेन दृग्ग्रहरूपोदयास्त लग्नस्य आवश्यकत्वेन क्षितिजातिरिक्तनत परिणामस्य व्यर्थत्वात् । युतौ तु समप्रोत चलवृत्ते युगपद्दर्शनार्थं तत्परिणामस्य आवश्यकत्वात् । शृङ्गोन्नतिनिमित्तं चन्द्रस्य । तुकारः समुच्चयार्थकचकारपरः । अत्रापि श्लोके पूर्वार्द्धोक्तमाक्षदृक्कर्मसंस्कार्यमिति ध्येयम् ।। ११ ।।

नक्षत्र और ग्रहों की युतिसाधन में, ग्रहों के उदयास्त साधन में तथा चन्द्र की शृङ्गोन्नति साधन में आयन दृक्कर्म और आक्षदृक्कर्म का संस्कार पहले ही कहा गया है ।। ११ ।।

ग्रहयुतिसाधने वैशिष्ट्यम्

तात्कालिकौ पुनः कार्यौ विक्षेपौ च ततस्तयोः ।
दिक्तुल्येत्वन्तरं भेदे योगः शिष्टं ग्रहान्तरम् ।। १२ ।।

अथ दृक्कर्मसंस्कृत ग्रहयोः युतिकालं तात्कालिकतद्विक्षेपाभ्यां ग्रहयोः याम्योत्तरान्तरं च आह । पुनर्द्वितीयवारं तादृशग्रहाभ्यां शीघ्रे मन्दाधिकेऽतीत इत्यादिना युतेर्गतैष्यत्वं ज्ञात्वा ग्रहान्तरकला इत्यादिना दृक्कर्मसंस्कृतौ समौ स्वयुति समये भवतः । विवरं तद्वदुद्धृत्येत्यादिना समस्पष्टग्रहकाला दृक्कर्मसंस्कृतसमग्रहकालो युत्याख्यो ज्ञेयः । तस्मिन् काले साधितौ तौ ग्रहौ स्फुटौ असमौ तात्कालिकौ मध्यस्पष्टादि क्रियया कार्यौ । तयोः साधित ग्रहयोर्विक्षेपौ । चः समुच्चये । कार्यौ । एतौ ग्रहौ दृक्कर्मसंस्कृतौ समौ भवत इति प्रतीतिः । नो चेत् तस्मादपि उक्तरीत्या मुहुःकालं स्थिरं कृत्वा प्रतीतिर्द्रष्टव्या । ततः सूक्ष्मयुतिसमये ग्रहयोर्विक्षेप साधनानन्तरम् । दिक्तुल्य एकदिक्त्वे तुकाराद्विक्षेपयोः अन्तरं कार्यम् । भेदे भिन्नदिक्त्वे विक्षेपयोर्योगः । शिष्टं संस्कारोत्पन्नं ग्रहान्तरम् । युति सम्बन्धिनोः ग्रहविम्बकेन्द्रयोः अन्तरालं याम्योत्तरं भवति ।

अत्रोपपत्तिः । दृक्कर्मसंस्कृत ग्रहयोः पूर्वापरान्तराभावः समप्रोतचलवृत्त इति तयोः समत्वम् । विक्षेपाग्रे ग्रहविम्बकेन्द्रत्वात् एकदिशि विक्षेपयोः अन्तरं ग्रहविम्ब-केन्द्रयोः याम्योत्तरमन्तरं समप्रोतचलवृत्ते भिन्नदिशि शरयोर्योग एव ग्रहविम्बकेन्द्रयोः याम्योत्तरमन्तरं तद्वते । भास्कराचार्यैस्तु ।

एवं लब्धैर्ग्रहयुतिदिनैश्चालितौ तौ समौ स्तः
ताभ्यां सूर्यग्रहणवदिषू संस्कृतौ स्वस्वनत्या ।
तौ च स्पष्टौ तदनु विशिखौ पूर्ववत् संविधेयौ
दिक्साम्ये या वियुतिरनयोः संयुतिर्भिन्नदिक्त्वे ।।

इत्यनेन सूक्ष्ममुक्तम् । भगवता कृपालुना तदुपेक्षितम् । स्वल्पान्तरत्वात् ॥१२॥

दृक्कर्मद्वयसंस्कृत ग्रहों का युतिकाल जान कर, युतिकाल में ग्रहों का साधन कर दोनों दृक्कर्मो का संस्कार करना चाहिये । इस प्रकार असकृत् कर्म करने से दृक्कर्मद्वयसंस्कृतग्रह तुल्य होते हैं । इन तुल्य ग्रहों के तात्कालिक शरों का एक दिशा में अन्तर और भिन्न दिशा में योग करने से युतिसम्बन्धि ग्रहबिम्बों के केन्द्रों का याम्योत्तर अन्तर होता है ॥ १२ ॥

ग्रहाणां कलाविम्ब मानानि

कुजार्किज्ञामरेज्यानां त्रिंशदर्धार्धवर्धिताः ।
विष्कम्भाश्चन्द्र कक्षायां भृगोः षष्टिरुदाहृता ॥ १३ ॥
त्रिचतुः कर्णयुत्याप्तास्ते द्विघ्नास्त्रिज्यया हताः ।
स्फुटाः स्वकर्णास्तिथ्याप्ता भवेयुर्मानलिप्तिकाः ॥ १४ ॥

अथ पञ्चताराणां विम्बमानकलानयनं श्लोकाभ्यामाह। त्रिंशदर्द्धार्द्धवर्द्धितास्त्रिं- शतोऽर्द्धं पञ्चदश तदर्द्धं सार्द्धसप्त तैः उत्तरोत्तरं युक्तास्त्रिंशत् क्रमेण भौमशनिबुध- बृहस्पतीनां चन्द्रकक्षायां चन्द्राकाशगोले चन्द्रकक्षा प्रमाणेन न स्वकक्षाप्रमाणेन इत्यर्थः।

विष्कम्भा विम्बव्यासा योजनात्मका उक्ताः भौमस्य त्रिंशत् । शनेः सार्द्ध- सप्तत्रिंशत् । बुधस्य पञ्चचत्वारिंशत् । गुरोः सार्द्धद्विपञ्चाशत् । अनेन एव क्रमेण शुक्रस्य षष्टिः । भृगोः षष्टिरित्यनेन अर्द्धार्द्धेत्यस्य प्रत्येकमर्द्धयुक्ता इत्यर्थो निरस्तः स्वाभिमतार्थो व्यक्तीकृतश्च । ते उक्ता विष्कम्भा द्विगुणाः त्रिज्यया गुणितास्त्रिचतुः कर्णयुक्त्याप्ताः तृतीयकर्मणि चतुर्थ कर्मणि च यौ कर्णौ मन्दकर्णशीघ्रकर्णौ तयोर्योगेन भक्ता इति साम्प्रदायिकव्याख्यानम् । नव्यास्तु तृतीयकर्मणि कर्णानुपातानुक्तेः तृतीयकर्णस्य मन्दकर्णस्य अप्रसिद्धे रूपपत्तिविरोधाच्च पूर्वव्याख्यामुपेक्ष्य त्रिशब्देन त्रिज्या चतुःकर्णश्चतुर्थ कर्मणि शीघ्रकर्णस्तयोर्योगेन भक्ता इत्यर्थं कुर्वन्ति । स्पष्टाः स्वकर्णाः स्वविम्बव्यासा भवन्ति । पञ्चदशभक्ता विम्बमानकला भवेयुः ।

अत्रोपपत्तिः । स्वस्वकक्षायां स्थिताः पञ्चताराग्रहा दूरत्वात् लोकैः चन्द्राकाशस्थिता इव दृश्यन्ते । अतस्तेषां वास्तवविम्बव्यासयोजनानि स्वयं ज्ञातानि। यथा सूर्यविम्बव्यासयोजनानि उक्तानि चन्द्रग्रहणाधिकारे रवेः स्वभगणाभ्यस्त इत्यादिना चन्द्रकक्षायां साधितानि तथा स्वभगणानुसारेण उक्तप्रकारेण चन्द्रकक्षायां साधितानि । तथा च शाकल्यसंहितायाम् ।

अन्तरुन्नतवृक्षाश्च वनप्रान्ते स्थिता इव ।
दूरत्वाच्चन्द्रकक्षायां दृश्यन्ते सकला ग्रहाः ॥
व्यर्द्धाष्टवर्द्धितास्त्रिंशद्विष्कम्भाः शास्त्रदृष्टतः ।

इत्येतानि त्रिज्यातुल्यशीघ्रकर्ण उक्तानि । अतः शीघ्रकर्णेऽधिके न्यूनं विम्ब-

ग्रहस्य उच्चासन्नत्वात् अल्पे तु नीचासन्नत्वात् अधिकं विम्बमिति त्रिज्ययोक्तानि विम्बानि तदेष्टशीघ्रकर्णेन कानीति व्यस्तानुपातेन युक्तमपि भगवतोपलब्ध्या त्रिज्यातोऽधिकेन्यूनकर्णयोः क्रमेण व्यस्तानुपातागतात् अधिकं न्यूनं च विम्बं दृष्टमतः कर्ण एव त्रिज्याशीघ्रकर्णयोगार्द्धमितः क्रमेण न्यूनाधिको गृहीतः । अत्र छेदं लवं च परिवर्त्य हरस्य इत्यादिना द्विघ्नास्त्रिज्यागुणिता विष्कम्भास्त्रिज्या शीघ्रकर्णयोगभक्ता इत्युपपन्नम् ।

त्रिचतुः कर्णयोगार्द्धं स्फुटकर्णोऽस्य मस्तके ।
त्रिज्याघ्ना स्फुटकर्णाप्ता विष्कम्भास्ते स्फुटाः स्मृता ॥

इति शाकल्योक्तेश्च । अतएव विम्बस्य द्राङ्नीचोच्चमण्डलस्थत्वेन शीघ्रकर्णस्यैव भूगर्भात् विम्बे सम्बन्धात् मन्दकर्णसम्बन्धस्तु अयुक्तः । न हि छेद्यके मन्दकर्णार्द्धात् शीघ्रकर्णार्द्धे ग्रहविम्बमस्तीति प्रतिपादितम् । येन मन्दशीघ्रकर्णयोः योगार्द्धं कर्णमुपपन्नः । शीघ्रफलानयने तथा अङ्गीकारापत्तेः भास्कराचार्यैस्तु ।

व्यङ्घ्रीषवः सचरणा ऋतवस्त्रिभाग
युक्ताद्रयो नव च सत्रिलवेषवश्च ।
स्युर्मध्यमास्तनुकलाः क्षितिजादिकानां
त्रिज्याशुकर्ण विवरेण पृथग्विनिघ्नाः ॥
त्रिघ्न्या निजान्त्यफलमौर्विकया विभक्ताः ।
लब्धेन युक्तरहिताः क्रमशः पृथक्स्थाः ।
ऊनाधिके त्रिभगुणाच्छ्रवणे स्फुटा स्युः ॥

इत्युपलब्ध्योक्तम् । भास्करानुवर्तिनस्तु त्रिचतुः कर्णयुक्त्याप्ता इत्यस्य त्रिज्याशीघ्रकर्णयोः योगार्द्धेन भक्ता इत्यर्थं वदन्ति ॥ १३—१४ ॥

भौम का ३०, शनि का अर्धार्ध = $\frac{१}{४}$ वर्धित अर्थात् (३० + $\frac{३०}{४}$ = ३० + ७$\frac{१}{२}$) = ३७$\frac{१}{२}$, बुध का (३७$\frac{१}{२}$ + ७$\frac{१}{२}$) = ४५, बृहस्पति का (४५ + ७$\frac{१}{२}$) = ५२$\frac{१}{२}$ और शुक्र का (५२$\frac{१}{२}$ + ७$\frac{१}{२}$) = ६० योजन के तुल्य चन्द्रकक्षा में बिम्बव्यास कहा है । इनके व्यासों को द्विगुणित त्रिज्या से गुणाकर त्रिज्या और चतुर्थ कर्म द्वारा सिद्ध कर्ण के योग से भाग देने पर इनके बिम्ब व्यास स्पष्ट होते हैं । इनमें १५ का भाग देने से मानकला होगी अर्थात् इनके कलात्मक व्यास होंगे ॥ १३—१४ ॥

युतिदर्शन प्रकारः

छायाभूमौ विपर्यस्ते स्वच्छायाग्रे तु दर्शयेत् ।
ग्रहः स्वदर्पणान्तःस्थः शङ्क्वग्रे सम्प्रदृश्यते ॥ १५ ॥

अथ युतिसम्बन्धिनौ ग्रहौ युतिसमये दर्शनीयौ इत्याह । छायाभूमौ छाया-

दानार्थं योग्यायां जलवत् समीकृतायां पृथिव्याम् । विपर्यस्ते वैपरीत्येन दत्ते स्वच्छायाग्रे ग्रहच्छायाग्र स्थाने ।

तुकारोऽन्ययोगवच्छेदार्थैवकारपरः । स्वदर्पणान्तस्थः स्वस्य यो दर्पण आदर्शस्तत्र स्थापितः तन्मध्यस्थितो ग्रहो ग्रहप्रतिविम्बः स्यात् । तद्गणकः शिष्याय दर्शयेत्। एतदुक्तं भवति । समभूमौ दिक्साधनं कृत्वा दिक्सम्पात स्थानात् युतिकालिकच्छायाङ्गुलानि पूर्वापरसूत्रात् भुजविपरीतदिशि भुजान्तरेण ग्रहाधिष्ठितपूर्वापरकपालदिशि दत्वा तत्र आदर्शः स्थाप्यः तत्र प्रतिविम्बं ग्रहस्य दिक्सम्पातस्थो गणकः शिष्याय दर्शयेत् इति ।

अत्रोपपत्तिः। ग्रहविम्बात् अवलम्बसूत्रं महाशङ्कुरूपं यत्र भूमौ पतति तत्र ग्रहविम्बप्रतिविम्बो भवति तज्ज्ञानं तु खमध्यात् ग्रहविम्बपर्यन्तं नतांशा आकाशे तथा भूमौ दिक्सम्पात स्थान्महाशङ्कुकोटौ दृग्ज्या भुजस्तदा द्वादशाङ्गुलशङ्कुकोटौ को भुज इत्यनुपातानीतच्छायामितान्तरेण ग्रहाधिष्ठितकपाले भवति । यथा दृक् सम्पातस्थ द्वादशाङ्गुलशङ्कोश्छाया ग्रहाधिष्ठितकपालान्यकपाले भवति । तथा ग्रहप्रतिविम्बस्थानस्थद्वादशाङ्गुलशङ्कोश्छाया दिक्सम्पाते भवति । अतो दिक्सम्पातस्थानाच्छाया ग्रहाधिष्ठितकपाले दत्ता तदग्रे ग्रह प्रतिविम्ब स्थानं ज्ञातं भवतीत्युपपन्नं छायाभूमौ इत्यादि स्वदर्पणान्तस्थ इत्यन्तम् । अथ ग्रहाधिष्ठितकपालान्यकपाले छायासद्भावनियमात् ग्रहाधिष्ठितकपाले कथं छायादानं युक्तं व्याघातादिति मन्दाशङ्कास्वरसादाह । शङ्क्वग्र इति । दिक्सम्पात स्थापित शङ्कोरग्रे मस्तक आकाशे ग्रहो दृश्यते गणकेन इति शेषः ।। १५ ।।

समतल भूमि में ग्रह से विलोमदिशा में पड़ी हुई ग्रह की छाया के अग्रभाग में स्थापित किये गए दर्पण में स्थित ग्रह को गणक दिखलावे । वह आकाश में दिक्सम्पात में स्थित शंकु के अग्र में दीखता है ।। १५ ।।

उपपत्तिः—ग्रहविम्बाद् धरातलगतं लम्बसूत्रं महाशंकुरिति यत्रायं शंकुः धरातलं स्पृशति तत्रैव ग्रहस्य प्रतिविम्बं भवति । अयं दिक्सम्पातात् छायाग्रे दृश्यते। अतएव प्रथमं छाया साधनं क्रियते । अनुपातः — यदि महाशंकौ दृग्ज्या लभ्यते

द्वादशैः किमिति— $\dfrac{\text{दृग्ज्या} \times १२}{\text{महाशंकुः}}$ = छाया ।

छायायाः ग्रहाधिष्ठितकपाले दानेन प्रतिविम्बस्थानं लभ्यते । यतो हि द्वादशाङ्गुल शंकोश्छाया दिक् सम्पाते एव भवति । **अतोपपन्नम् ।**

युतिकाले ग्रहयोदर्शनम्

पञ्चहस्तोच्छ्रितौ शङ्कू यथा दिग्भ्रमसंस्थितौ ।
ग्रहान्तरेण विक्षिप्तावधो हस्तनिखातगौ ।। १६ ।।

छायाकर्णौ ततो दद्याच्छायाग्राच्छंकुमूर्धगौ ।
छायाकर्णाग्रसंयोगे संस्थितस्य प्रदर्शयेत् ।। १७ ।।
स्वशंकुमूर्धगौ व्योम्नि ग्रहौ दृक्तुल्यतामितौ ।

ननु कथं दृश्यत इत्यतः प्रकृतग्रहयोः युतिसम्बन्धिनोः दर्शनप्रकारं सार्द्ध-श्लोकाभ्यामाह । ग्रहयुतिसम्बन्धिनोः ग्रहयोः आयनदृक्कलां श्लोकपूर्वार्धोक्ताक्ष-दृक्कलाभ्यां संस्कृतयोस्तुल्येऽल्पान्तरेण आसन्ने वा उदयलग्ने स्तः । षड्भयुतयोः ग्रहयोः आयनाक्षदृक्कला संस्कृतयोस्तुल्ये स्वल्पान्तरेण आसन्नेवास्तलग्ने भवतः । यस्मिन् काले ग्रहौ द्रष्टुमभिमतौ तात्कालिकलग्नात् रात्रौ यत् उदयास्तलग्ने क्रमेण न्यूनाधिके यदि भवतः तौ सूर्यसान्निध्य जनितास्ताभावे दर्शनयोग्यौ तदा पञ्च हस्तोच्छ्रितौ । चतुर्विंशत्यङ्गुलो हस्तः । एवं पञ्चहस्तप्रमाणदीर्घौ शङ्कु काष्ठघटितसरलदण्डौ यथादिग्भ्रम संस्थितौ युतिकाले ग्रहयोः यादृशं दिग्भ्रमण । ग्रहौ प्रवहभ्रमेण पूर्वकपाले पश्चिमकपाले वा तत्र संस्थितौ स्वाधिष्ठितस्थानात् ग्रहा-धिष्ठित कपालदिशि स्थाप्यौ न ग्रहानधिष्ठितकपालदिशि । ग्रहान्तरेण दिक् तुल्ये तु अन्तरं भेदे योग इत्यादिना ज्ञातयाम्योत्तरग्रहान्तरेण कलात्मकेन विक्षिप्तौ याम्योत्तरान्तरितौ स्थाप्यौ । अत्र सोन्नतमित्यादिना ग्रहविक्षेपौ अङ्गुलात्मकौ कृत्वा दिक्तुल्ये तु अन्तरमित्यादिना ग्रहान्तरं ज्ञेयम् । अधो भूमेः अन्तः । हस्तनिखातगौ हस्तवेधप्रमाणा या गर्ता तत्र स्थितौ भूम्यां शङ्कोर्हस्तमात्रं रोपयित्वा भूमेरूर्द्ध्वं शङ्कु चतुर्हस्तप्रमाणदीर्घो स्यातामित्यर्थः । ततः शङ्कुमूलाभ्यां प्रत्येकं यच्छायाग्रं ग्रहान-धिष्ठितकपालदिशि तस्मात् प्रत्येकमित्यर्थः छायाकर्णौ स्वकीयौ शङ्कुमूर्द्धगौ निजशङ्क्वग्ररूपमस्तकप्रापिणौ गणको दद्यात् । एतदुक्तं भवति । युति समये लग्नं कृत्वा तात्कालिकोदयलग्नेष्ट लग्नाभ्यां पूर्ववत् अन्तरकालो ग्रहोदयात् गतकालः सावनः । एवं ग्रहयोः युतिसमये स्वदिनगतात् त्रिपश्नाधिकारोक्तविधिना स्पष्ट क्रान्त्या छाया साध्या । ततो यो ग्रहो दक्षिणोत्तरयोर्मध्ये यत् दिशि तच्छाया तद्दिक्स्था शङ्कोर्मूलात् ग्रहानधिष्ठितकपालदिशि पूर्वापरसूत्रात् भुजान्तरेण भुजदिशि देया । परमानीतच्छाया द्वादशाङ्गुलशङ्कोरिति चतुर्हस्तशङ्कुप्रमाणेन प्रसाध्य रेखा तन्मिता समभूमौ शङ्कुमूलात् कार्या । रेखाग्रे छायाग्रे ज्ञापकं चिह्नं कार्यम् । तत्र कीलादिना सूत्रं बध्वा शङ्क्वग्रसक्तं प्रसार्यमिति । छायाकर्णाग्रसंयोगे छायाग्रं कर्णस्य मूल-रूपमग्रं तयोः सम्पाते संस्थितस्य छायाग्रस्थानकृतगर्त्तोपविष्ट शिष्यस्य गणको ग्रहौ आकाशे स्वशङ्कुमूर्द्धगौ निजशङ्क्वरूप मस्तक समसूत्रस्थितौ दृक्तुल्यतां दृष्टि गोचरतामितौ प्राप्तौ प्रदर्शयेत् सन्दर्शयेत् ।

अत्रोपपत्तिः । उच्चतया दर्शनार्थं पञ्चहस्त प्रमाणौ शङ्कु कृतौ । तत्र एक-हस्तस्य भूमिगुप्तत्वं शङ्कुदृढत्वार्थं कृतम् । बहिः पुरुषप्रमाणौ चतुर्मितहस्तौ अवशिष्टौ शङ्कोः पुरुषपर्यायेण अभिधानाच्च शङ्कुसूत्रस्य ग्रहविम्बसक्तत्वात् यथा दिग्भ्रमसंस्थितौ इत्युक्तम् । शङ्क्वग्रसमसूत्रेण ग्रह विम्बावस्थान नियमात् ग्रहान्तरेण याम्योत्तरान्तरितौ स्थापितौ । अत्र यद्यपि स्वस्वस्पष्ट क्रान्त्यग्रां प्रसाध्य ततः कर्णाग्रां

प्रसाध्योक्तदिशा पलभासंस्कारेण स्वस्वभुजं प्रसाध्य ताभ्याम् ।

दिक्तुल्येत्वन्तरं भेदे योगः शिष्टं ग्रहान्तरम् ।

इत्युक्तरीत्या ग्रहान्तरं शङ्कोः अन्तरं युक्तं तथापि भगवता स्वल्पान्तरेण गणित-श्रमापनोदार्थम् आकशस्थित दृष्टान्तरमेवधृतम् । शङ्कोश्छायाग्राच्छायाकर्णसूत्रं ग्रह-विम्बदर्शनसूत्रमतः कर्णमूलदृशा पुरुषेण ग्रहविम्बं द्रष्टव्यमेवेति दिक् ॥१६—१७ ॥

युति सम्बन्धि ग्रहों को देखने के लिये काष्ठादिनिर्मित पाँच हाथ लम्बे दो शंकुओं को, जिस दिशा में ग्रह भ्रमण करते हों, उस दिशा में ग्रहों के याम्योत्तर अन्तर के तुल्य अन्तरित एक दो हाथ गहरे गर्त में दृढ़ता से स्थापित करना चाहिए। शंकुओं के मूल से ग्रहाधिष्ठित कपाल में छायाग्र से शंकुओं के अग्रपर्यन्त छाया कर्णों का दान करना चाहिए। यहाँ ग्रहों की छाया चार हाथ के शंकु के प्रमाण से साधन करनी चाहिए। छायाकर्णाग्र के संयोग में स्थित द्रष्टा को, आकाश में अपने शंकुओं के अग्र में स्थित दृक् तुल्य ग्रहों को दिखलाना चाहिये ॥१६—१७ ॥

उपपत्तिः——अत्र पञ्च हस्तात्मकस्य शंकोः परिकल्पनं नरोच्छ्रितिवशात् कृतम्। पंचहस्तात्मकस्य शंको हस्तपरिमितं भूमौ निक्षिप्य शेषं चतुर्हस्तपरिमितं भूमौ (उपरि) स्थापयेत् । अनेन शंकुना आसनस्थो द्रष्टा उत्थितश्च द्रष्टा शंक्वग्रे ग्रहविम्बं द्रष्टुं-शक्नोति । शंक्वग्रे दृष्टिरिति । उपपन्नम् ।

युद्धसमागमादि लक्षणम्

उल्लेखं तारकास्पर्शाद् भेदे भेदः प्रकीर्त्यते ॥१८ ॥
युद्धमंशुविमर्दाख्यमंशुयोगे परस्परम् ।
अंशादूनेऽपसव्याख्यं युद्धमेकोऽत्र चेदणुः ॥१९ ॥
समागमोऽंशादधिके भवतश्चेद्बलान्वितौ ।

अथ श्लोकाभ्यां पञ्चताराणां प्राक् प्रतिज्ञातौ युद्धसमागमौ आह । भौमादि-पञ्चताराणां मध्ये द्वयोर्युतौ तारकास्पर्शात् विम्बनेम्योः स्पर्शमात्रात् उल्लेखसंज्ञं युद्धं वदन्ति युतिभेदज्ञाः । इदं तु द्वयोः मानैक्य खण्डतुल्ययाम्योत्तरान्तरे भेदे मण्डलभेदे भेदो भेदसंज्ञो युद्धावान्तरभेदो युद्धभेदतत्वज्ञैः कथ्यते । अयं भेदो मानैक्यखण्डादूने द्वयोः याम्योत्तरान्तरे । अत्र भास्कराचार्यैस्तु ।

मानैक्यार्द्धाद्द्युचरविवरेऽल्पे भवेद्भेदयोगः ।
कार्यं सूर्यग्रहवदखिलं लम्बनाद्यं स्फुटार्थम् ॥
कल्प्योऽधःस्थः सुधांशुस्तदुपरिग इनो लम्बनादि प्रसिध्द्यै
किन्त्वर्कादेव लग्नं ग्रहयुतिसमये कल्पितार्कान्न साध्यम् ।
प्राग्वत् यल्लम्बनेन ग्रहयुतिसमयः संस्कृतः प्रस्फुटः स्यात्
खेटौ तौ दृष्टियोग्यौ ग्रहयुतिसमये कार्यमेवं तदैव ॥

याम्योदक्स्थद्युचरविवरं भेदयोगे स वाणो
ज्ञेयः सूर्याद्भवति च यतः शीतगुः सा शराशा ।
मन्दाक्रान्तोऽनृजुरपि तदाधःस्थितः स्यात् तदैन्द्र्यां
स्पर्शो मोक्षोऽपरदिशि तदा पारिलेख्येऽवगम्यः ।।

इति विशेषोऽभिहितः । भगवता तु सूक्ष्मविम्बयोः आकाशे दूरतो विविक्त दर्शनासम्भवात् व्यर्थप्रयासात् उपेक्षितमिति ध्येयम् । युतौ अन्योऽन्यं किरणयोगे सत्यंशुमर्दाख्यं किरणसंघट्टनसंज्ञं युद्धं स्यात् । द्वयोः याम्योत्तरान्तरेऽंशात् । षष्टि-कलात्मकैकभागात् ऊनेऽनधिके सत्यपसव्यसंज्ञं युद्धं भवति । अत्र विशेषमाह । एक इति । अत्र अपसव्ययुद्ध एको द्वयोः अन्यतरोऽणुरणुविम्बश्चेत् स्यात् तदा अपसव्यं युद्धं व्यक्तं स्यात् अन्यथा तु अव्यक्तं युद्धं स्यात् । एषां चतुर्णां फलम् ।

अपसव्ये विग्रहं ब्रूयात् संग्रामं रश्मिसङ्कुले
लेखनेऽमात्यपीडा स्याद्भेदने तु धनक्षयः ।

इति भार्गवीयोक्तं ज्ञेयम् । युद्धभेदानुक्त्वा समागममाह । समागम इति । द्वयोः याम्योत्तरान्तरे षष्टिकलात्मकैकभागाद् अभ्यधिके सति समागमो योगो भवति । अत्रापि विशेषमाह भवत इति । युतिविषयकौ ग्रहौ बलान्वितौ बलेन

स्थानादिबलचिन्तात्र व्यर्था केनापि न स्मृता ।
प्रश्नत्रयेऽथवाप्यस्मिन् स्थौल्यसौक्ष्म्यबलं स्मृतम् ।।

इति ब्रह्मसिद्धान्तवचनात् । स्थूलमण्डलतयान्वितौ युक्तौ स्थूलविम्बौ समौ इत्यर्थः । चेत् अतस्तदा समागमस्तयोः व्यक्तः स्यात् । अन्यथा तु अव्यक्तः समागमः। द्वावपि मयूखयुक्तौ विपुलौ स्निग्धौ समागमे भवतः ।

अत्रान्योऽन्यं प्रीतिविपरीतावात्मपक्षघ्नौ ।।
युद्धं समागमो वा यद्यव्यक्तौ तु लक्षणैर्भवतः ।
भुवि भूभृतामपि तथा फलमव्यक्तं विनिर्दिष्टम् ।। इत्युक्तेः ।।

भेदोल्लेखांशुसम्मर्दा अपसव्यस्तथापरः । ततो योगो भवेदेषामेकांशक समापनात् । इति काश्यपोक्तेश्च सर्वं निरवद्यम् ।। १८–१९ ।।

भौम आदि पञ्चतारा ग्रहों की बिम्ब नेमियों का स्पर्शमात्र हो तो उल्लेखसंज्ञक, और मण्डल का भेद हो तो भेदसंज्ञक तथा परस्पर दो ग्रहों के किरणों का योग हो तो अंशुविमर्द संज्ञक युद्ध होता है । दो ग्रहों का याम्योत्तर अन्तर एक अंश से कम हो तो अपसव्यसंज्ञक युद्ध होता है । यदि इनमें एक ग्रह का बिम्ब छोटा हो तो अपसव्ययुद्ध व्यक्त होता है अन्यथा अव्यक्त । दो ग्रहों का याम्योत्तर अन्तर एक अंश से अधिक हो तो समागम होता है ।

{ यहाँ यदि दोनों ग्रह बलवान् अर्थात् स्थूलता से युक्त हों तो व्यक्त समागम अन्यथा अव्यक्त समागम होता है } ।। १८–१९ ।।

पराजित ग्रहलक्षणम्

अपसव्ये जितो युद्धे पिहितोऽणुरदीप्तिमान् ॥ २० ॥

अथ युद्धे पराजितस्य ग्रहस्य लक्षणमाह । द्वयोः मध्ये यः तदितरेण विध्वस्तो हतः स विजितः पराजितो ज्ञेयः । हतस्य लक्षणमाह । अपसव्य इति । अपसव्ये युद्धे योजितो जयलक्षणैः विवर्जितः । एतेन उल्लेखादित्रये संज्ञाफलं न पराजितस्य फलमिति सूचितम् । पिहित आच्छादितोऽव्यक्त इति यावत् । अणुः इतरग्रहविम्बात् अल्पविम्बः । अदीप्तिमान् प्रभारहितः । रूक्षोऽस्निग्धः विवर्णः वर्णेन स्ववर्णेन स्वाभाविकेन रहित इत्यर्थः । दक्षिणाश्रित इतर ग्रहापेक्षया दक्षिणदिशि स्थितः ।

श्यामो वा व्यपगतरश्मिवान् रश्मिमण्डलो वा
रूक्षो वा व्यपगतरश्मिवान् कृशो वा ।
आक्रान्तो विनिपतितः कृतापसव्यो विज्ञेयो हत इति सग्रहो ग्रहेण ॥

इति भार्गवीयोक्तेः ॥ २० ॥

अपसव्यसंज्ञक युद्ध में जिस ग्रह का बिम्ब आच्छादित हो, अथवा बिम्ब छोटा हो या प्रभारहित, रूखा, स्वाभाविक वर्ण से हीन तथा दक्षिण दिशा में स्थित हो तो उस ग्रह को पराजित समझना चाहिए ॥ २० ॥

जयी ग्रहस्य लक्षणम्

रुक्षो विवर्णो विध्वस्तो विजितो दक्षिणाश्रितः।
उदक्स्थो दीप्तिमान् स्थूलो जयी याम्येऽपि यो बली ॥ २१ ॥

अथ श्लोकार्द्धेन जयिनो ग्रहस्य लक्षणमाह । इतरग्रहापेक्षया उत्तरदिक्स्थः । दीप्तिमान् प्रभायुक्तः । स्थूल इतर ग्रहविम्बापेक्षया पृथुविम्बः । जयी जययुक्तः स्यात् । अथ उत्तर दक्षिण दिक्स्थत्वक्रमेण जयपराजयौ न स्त इत्याह । याम्य इति । दक्षिणदिशि यो ग्रहो बली दीप्तिमान् पृथुविम्बो भवति स जयी । अपिशब्द उत्तरदिशा समुच्चयार्थकः । तथा च जयपराजय लक्षणयोः दिग्दानमनुपयुक्तमिति भावः ॥ २१ ॥

दूसरे ग्रह की अपेक्षा उत्तर दिशा में स्थित, दीप्तिमान्, बृहद् बिम्बवाला ग्रह जयी होता है । दक्षिण दिशा में भी बलवान् अर्थात् जिस ग्रह का बिम्ब दीप्तिमान् और बड़ा हो वह ग्रह जयी होता है ॥ २१ ॥

ग्रहयुद्धे वैशिष्ट्यम्

आसन्नावप्युभौ दीप्तौ भवतश्चेत् समागमः ।
स्वल्पौ द्वावपि विध्वस्तौ भवेतां कूटविग्रहौ ॥ २२ ॥

अथ युद्धे विशेषमाह । उभौ द्वौ । आसन्नौ एकभागान्तरगतान्तरितौ । अपि शब्दात् युद्धलक्षणाक्रान्तौ। दीप्तौ प्रभायुक्तौ चेत् स्यातां तदा बलान्वितौ इति समागम-लक्षणैक देशसद्भावात् समागमाख्यं युक्तम् । द्वावपि ग्रहौ स्वल्पौ सूक्ष्मविम्बौ विध्वस्तौ । द्वावपि पराजय लक्षणाक्रान्तौ स्यातां तदा क्रमेण कूटविग्रह संज्ञकौ युद्धभेदौ स्याताम् ।। २२ ।।

यदि दोनों ग्रहों के बिम्ब आसन्न अर्थात् युद्ध लक्षणों से युक्त होने पर भी प्रभायुक्त हों तो समागमसंज्ञक युद्ध होता है । यदि दोनों के बिम्ब सूक्ष्म और विध्वस्त अर्थात् पराजय के लक्षणों से युक्त हों तो कूट एवं विग्रह संज्ञक युद्ध होता है अर्थात् दोनों के सूक्ष्म बिम्ब हों तो कूटसंज्ञक युद्ध तथा दोनों ग्रहों के बिम्ब विध्वस्त हों तो विग्रह संज्ञक युद्ध होता है ।। २२ ।।

ग्रहयुद्धे शुक्रस्य वैशिष्टयम्

उदक्स्थो दक्षिणस्थो वा भार्गवः प्रायशो जयी ।
शशाङ्केनैवमेतेषां कुर्यात् संयोगसाधनम् ।। २३ ।।

अथ उत्सर्गतः शुक्रस्य जयलक्षणाक्रान्तत्वम् अस्तीति वदन् समागमः शशाङ्केन इति प्राक् प्रतिज्ञातसमागम उक्तप्रकारमतिदिशति । इतरग्रहापेक्षयोदक्स्थो दक्षिणदिक्स्थो वा उभयदिशीत्यर्थः । शुक्रः प्रायश उत्सर्गतो जयलक्षणाक्रान्तत्वेन जयी । कदाचित् पराजयलक्षणाक्रान्तो भवति इति तात्पर्यार्थः । एतेषां भैमादि पञ्चताराणां चन्द्रेण सह संयोगसाधनं युतिसाधनम् एषामुक्तरीत्या गणकः कुर्यात् अत्र विशेषार्थकम् ।

अवनत्या स्फुटो ज्ञेयो विक्षेपः शीतयोर्युतौ । इत्यर्थः क्वचित् पुस्तके दृश्यते न सर्वत्र इति क्षिप्तं गत्वोपेक्षितम् । अधिकारस्य अपूर्णश्लोकत्वापत्तेश्च । एतत् उक्त्यान्ययोगे नतिसंस्कार निषेधस्य सिद्धेस्तस्य अयुक्तत्वमिति तदनुक्तौ सूर्यग्रहणो-क्तरीत्या साधारण्येन सर्वत्र तद्विशेषोक्तिरर्थसिद्धेःरिति ध्येयम् ।। २३ ।।

उत्तर दिशा में या दक्षिण दिशा में स्थित शुक्र, प्रायः विजयी ही होता है । (अर्थात् कदाचित् ही पराजित होता है) । चन्द्रमा के साथ भौम आदि पञ्च ताराग्रहों का युति साधन पूर्वोक्त रीति से करना चाहिए ।। २३ ।।

युतिसाधन प्रयोजनम्

भावाभावाय लोकानां कल्पनेयं प्रदर्शिता ।
स्वमार्गगाः प्रयान्त्येते दूरमन्योऽन्यमाश्रिताः ।। २४ ।।

॥ सूर्यसिद्धान्ते ग्रहयुत्यधिकारः सम्पूर्णः ॥ ७ ॥

ननु एषां ग्रहाणां दूरान्तरेण सदा ऊर्ध्वाधरान्तर—सद्भावात् परस्परं

योगासम्भवेन कथं युतिः सङ्गतेत्यत आह । एते ग्रहाः स्वमार्गगाः स्वस्वकक्षास्था अन्योन्यमाश्रिता युतिकाल ऊर्ध्वाधरान्तराभावेन संयुक्ताः सन्तः प्रयान्ति गच्छन्ति । इति दूरं दूरान्तरेण दर्शनादियं ग्रहयुतिकल्पना कल्पनात्मिकावास्तवा प्रदर्शिता पूर्वोक्त ग्रन्थेन कथिता । ननु अवस्तुभूता किमर्थमुक्तेत्यतः प्रयोजनमाह । भावाभावायेति । लोकानां भूस्थप्राणिनां भावः शुभफलम् अभावोऽशुभफलं तस्मै शुभाशुभफला देशायावस्तु भूतापि युतिरूक्तेति भावः ।। २४ ।।

अथ अग्रिमग्रन्थस्य असङ्गतित्वनिरासार्थम् अधिकार समाप्ति फक्किकया आह । स्पष्टम् ।

रङ्गनाथेन रचिते सूर्यसिद्धान्तटिप्पणे ।
ग्रहयुत्यधिकारोऽयं पूर्णो गूढप्रकाशके ।।

॥ इति श्रीसकलगणकसार्वभौमबल्लादैवज्ञात्मजरङ्गनाथगणकविरचिते गूढार्थप्रकाशके ग्रहयुत्यधिकारः सम्पूर्णः ॥ ७ ॥

अपनी-अपनी कक्षा में स्थित, भ्रमण करते हुए ग्रह युतिकाल में परस्पर अति दूर होते हुये भी ऊर्ध्वाधर अन्तर के दृश्य न होने से मिले हुए (अन्योन्याश्रित) दिखाई देते हैं । यह ग्रहयुतिरूप कल्पना लोक के शुभाशुभफल के लिये कही गई है । वस्तुतः न ग्रहों का युद्ध होता है और न ग्रह परस्पर युक्त होते हैं ।। २४ ।।

॥ पण्डितवर्य बलदेवदैवज्ञात्मज प्रो० रामचन्द्रपाण्डेय द्वारा विरचित सूर्यसिद्धान्त के ग्रहयुत्यधिकार का हिन्दीभाषानुवाद एवं संस्कृतोपपत्ति सम्पूर्ण ॥ ७ ॥

अथ नक्षत्रग्रहयुत्यधिकारः - ८

नक्षत्राणां ध्रुवानयनम्

प्रोच्यन्ते लिप्तिकाभानां स्वभोगोऽथ दशाहतः।
भवन्त्यतीत्यधिष्ण्यानां भोगलिप्तायुता ध्रुवाः ॥ १ ॥

अथ प्रसङ्गात् आरब्धो नक्षत्रग्रहयुत्यधिकारो व्याख्यायते । तत्र प्रथमं नक्षत्राणां ध्रुवकज्ञानमाह। भानाम् अश्विन्यादिनक्षत्राणाम् उत्तराषाढाभिजिच्छ्रवणधनिष्ठावर्जितानां लिप्तिका भोगसंज्ञाः कलाः प्रोच्यन्ते समनन्तरमेव कथ्यन्ते । अथ अनन्तरं स्वभोगः स्वाभीष्टनक्षत्रभोगः कलात्मको वक्ष्यमाणो दशभिर्गुणितः कार्यः। तत्र स्वाभीष्टनक्षत्रगतनक्षत्राणाम् अश्विन्यादीनां भोगलिप्ताः । भभोगोऽष्टशती लिप्ता इत्युक्ता अष्टशतकलाः प्रत्येकं युताः । अश्विन्याद्यतीत नक्षत्रसङ्ख्यागुणितकलाष्टशतं युतमित्यर्थः । ध्रुवा नक्षत्राणां भवन्ति ॥ १ ॥

{उत्तराषाढा अभिजित् श्रवण और धनिष्ठा को छोड़कर शेष} अश्विन्यादि नक्षत्रों की वक्ष्यमाण भोगकलाओं को १० से गुणाकर अश्विन्यादि गत नक्षत्रों की भोग कलाओं को जोड़ने से अश्विन्यादि नक्षत्रों के ध्रुव होते हैं ॥ १ ॥

उपपत्तिः—अत्र स्वभोगाः दशगुणिताः भोगकलाः भवन्ति। अतः सुस्पष्टं यत् स्वभोगाः भोगांशाः न सन्ति। वस्तुतः योगताराऽभीष्टतारकयोरन्तरं स्वभोगाः। एकस्मिन् अंशे १० कलात्मकमन्तरं भवति अतः स्वभोगाः × १० = नक्षत्रभोगकलाः। इत्युपपन्नम् ।

ध्रुवकसाधनम्—

अश्विनीनक्षत्रस्य पाठपठितास्वभोगाः ४८ × १० = ४८० कलाः

गतनक्षत्रस्य कला = ०, उभयोरैक्यं = ४८० कलाः ध्रुवा ।

भरणीनक्षत्रस्य पाठपठिताः स्वभोगाः ४० × १० = ४००

गत (अश्विनी) नक्षत्रस्य भोगकला (भभोगोष्टशती लिप्ता) = ८००

उभयोरैक्यं ४०० + ८०० = १२०० कलाः ध्रुवाः ।

एवमेव कृत्तिकायाः स्वभोगाः ६५ × १० = ६५०

गत नक्षत्राणि २ × ८०० = १६०० कला ध्रुवा। उभयोरैक्यं २२५० कला ध्रुवा।

रोहिण्याः स्वभोगाः ५७ × १० = ५७०

गतनक्षाणि ३ × ८०० = २४०० कला ध्रुवा,

उभयोरैक्यं = २९७० कला ध्रुवा, इत्यादयः ।

नक्षत्राणां भोगकलाः विक्षेपाश्च

अष्टार्णवाः शून्यकृताः पञ्च षष्टिर्नगेषवः ।
अष्टार्था अब्धयोऽष्टागा अङ्गागा मनवस्तथा ।। २ ।।
कृतेषवो युगरसाः शून्यबाणा वियद्रसाः ।
खवेदाः सागरनगा गजागाः सागरर्तवः ।। ३ ।।
मनवोऽथ रसा वेदा वैश्वमाप्यार्धभोगगम् ।
आप्यस्यैवाभिजित् प्रान्ते वैश्वान्ते श्रवणस्थितिः ।। ४ ।।
त्रिचतुष्पादयोः सन्धौ श्रविष्ठा श्रवणस्य तु ।
स्वभोगतो वियन्नागाः षट्कृतिर्यमलाश्विनः ।। ५ ।।
रन्ध्राद्रयः, क्रमादेषां विक्षेपाः स्वादपक्रमात् ।
दिङ्मासविषयाः सौम्ये याम्ये पञ्चदिशो नव ।। ६ ।।
सौम्ये रसाः खं याम्येऽगाः सौम्ये खार्कास्त्रयोदश ।
दक्षिणे रुद्रयमलाः सप्तत्रिंशदथोत्तरे ।। ७ ।।
याम्येऽध्यर्धत्रिकृता नव सार्धशरेषवः ।
उत्तरस्यां तथा षष्टिस्त्रिंशत् षट्त्रिंशदेव हि ।। ८ ।।
दक्षिणेत्वर्धभागस्तु चतुर्विंशतिरुत्तरे ।
भागाः षड्विंशतिः खं च दास्रदीनां यथाक्रमम् ।। ९ ।।

अथ प्रतिज्ञाता नक्षत्रभोगलिप्ता उत्तराषाढाभिजिच्छ्रवणधनिष्ठाव्यतिरिक्तानां तेषां ध्रुवकान्नक्षत्रशरांश्च अष्टश्लोकैः आह ।अश्विन्यादिनक्षत्राणां क्रमाद्भोगा एते । तत्र अश्विन्याम् अष्टचत्वारिंशत् कलाः । भरण्याश्चत्वारिंशत् । कृत्तिकायाः कलाः पञ्चषष्टिः । रोहिण्याः सप्तपञ्चाशत्कलाः । मृगशिरसोऽष्टपञ्चाशत् । आर्द्रा-याश्चत्वारः ।अत्राब्धय इत्यत्र गोऽब्धयो गोग्नय इति वा पाठस्तु अयुक्तः ।शाकल्य संहिता विरोधात् । एतेन ।

सौरोक्तरुद्रभस्यांशास्त्र्यद्र्ययोऽगाब्धयः कलाः । इति नार्मदोक्तं दशकलोन-पञ्चदशभागा मिथुने सर्वजनाभिमतध्रुवको दशकलायुतत्रयोदशभागाः पर्वताभिमत-ध्रुवकश्च निरस्तः । पुनर्वसोः अष्टसप्ततिः । पुष्यस्य षट्सप्ततिः । आश्लेषायाः चतुर्दश। तथेति छन्दः पूरणार्थम् ।मघायाः चतुःपञ्चाशत् ।पूर्वाफाल्गुन्याः चतुःषष्टिः। उत्तराफाल्गुन्याः पञ्चाशत् । हस्तस्य षष्टिः । चित्रायाः चत्वारिंशत् । स्वात्या चतुः सप्ततिः । विशाखाया अष्टसप्ततिः ।अनुराधायाः चतुःषष्टिः । ज्येष्ठायाः चतुर्दश । अनन्तरं मूलस्य षट् । पूर्वाषाढायाः चत्वारः उत्तराषाढाया ध्रुवकमाह । वैश्वमिति । उत्तराषाढायोगतारानक्षत्रम् ।आप्यार्द्धभोगगम् ।आप्यस्य पूर्वाषाढानक्षत्रस्यार्द्धभोगः । धनूराशेर्विंशतिभागास्तत्र स्थितं ज्ञेयम् ।अष्टौ राशयो विंशतिभागा उत्तराषाढाया ध्रुव इत्यर्थः । एतेन पूर्वाषाढयोगतारायाः सकाशात् उत्तराषाढायोगतारा विंशतिकलोन-

सप्तभागान्तरिता । तेन पूर्वाषाढाध्रुवकोऽष्टराशयः चतुर्दशभागा विंशतिकलोनसप्तभागैर्युत उत्तराषाढाया ध्रुवश्चत्वारिंशत्कलाधिकोक्तध्रुव इति पर्वतोक्तमपास्तम् ।

ब्रह्मसिद्धान्तविरोधात् । अभिजिद्ध्रुवकमाह । आप्यस्येति । पूर्वाषाढाया अवसाने धनूराशेर्विंशतिकलोनसप्तविंशतिभागेऽभिजिद्योगतारा ज्ञेया । चत्वारिंशत्कलाधिकषड्विंशतिभागाधिका अष्टौ राशयोऽभिजितो ध्रुव इत्यर्थः । एवकारोऽन्ययोगव्यवच्छेदार्थः । ते संहिता सम्मतं श्रवणपञ्चदशांशस्थानं विंशतिविकलायुतत्रयोदश कलायुत चतुर्दशभागादिकनवराशयो निरस्तम् । श्रवणस्य ध्रुवकमाह । वैश्वान्त इति । उत्तराषाढाया अवसाने श्रवणयोगतारायाः स्थानं ज्ञेयम् । नवराशयो दशभागाः श्रवणध्रुवक इत्यर्थः । धनिष्ठाया ध्रुवकमाह । त्रिचतुः पादयोरिति श्रवणस्य तृतीयचतुर्थचरणयोः क्रमेणान्तादिसन्धौ मकरराशेर्विंशतिभागे श्रविष्ठा धनिष्ठा ज्ञेया । नवराशयो विंशति भागा धनिष्ठाध्रुव इत्यर्थः । तुकारात् क्षेत्रान्तर्गतधनिष्ठा स्थानं कुम्भस्य विंशतिकलोन सप्तभागा निरस्तम् । शतताराया भोगमाह । स्वभोगत इति । धनिष्ठाभोगात् कुम्भस्य विंशति कलोनसप्तभागावधेरित्यर्थः । शततारायाः अशीतिर्भोगः । अतः प्राग्वद्ध्रुवा इति ज्ञापनार्थं स्वभोगत इत्युक्तम् । शततारायाः स्थानं शततारकाध्रुव इति पर्यवसन्नम् । अवशिष्टनक्षत्राणां भोगानाह । षट्कृतिरिति । पूर्वभाद्रपदायाः षट्त्रिंशत् कला भोगः । उत्तराभाद्रपदायाः द्वाविंशतिः । रेवत्या एकोनाशीतिः । अथ ध्रुवकानयनं यथा । अश्विन्या भोगः ४८ । दशगुणितः । ४८० । अतीतनक्षत्राभावात् भोगयोजनाभावः । अतोऽश्विन्याः कलात्मको ध्रुवः । ४८० । राश्याद्यस्तु । ८ । भरण्या भोगः । ४० । दशाहतः । ४०० । अतीतनक्षत्रस्य एकत्वात् अष्टशतयुतो भरण्याः परिभाषया राश्याद्यो ध्रुवः । ० । २० । एवमार्द्राभोगः । ४ । दशहतः । ४० । अतीतनक्षत्राणां पञ्चतया पञ्चगुणिताष्ट शतेन । ४००० । चतुः सहस्रात्मकेन युतः कलाद्यो ध्रुवः । ४०४० । राश्याद्यस्तु । २ । ७ । २० । एवं पूर्वाषाढाया दशगुणितो भोगः । ४० । एकोनविंशति गुणिताष्टशतेन । १५२०० । युतः परिभाषया राश्याद्यो ध्रुवः । ८ । १४ । शतताराया दशगुणितो भोगः । ८०० । त्रयोविंशतिगुणिताष्टशतेन । १८४०० । युतश्चतुर्विंशति गुणिताष्टशतरूपो । १९२०० । जातो ध्रुवो राश्याद्यः । १० । २० । पूर्वाभाद्रपदाया दशगुणितो भोगः । ३६० । चतुर्विंशतिगुणिताष्टशतेन १९२०० युतो । १९५६० । जातो ध्रुवो राश्याद्यः । १० । २६ । उत्तराषाढाभिजिच्छ्रवण धनिष्ठानां स्वभोगस्थानात् पश्चात् स्थितत्वेनोक्तरीत्यसम्भवात् भिन्नरीत्या ध्रुवका उक्ताः स्वादिस्थानाद्योगतारा यदन्तरकलाभिस्थितास्ता लाघवात् दशापवर्त्तिता भोगसंज्ञा उक्ताः । तथा च ब्रह्मसिद्धान्ते ।

अष्टौ विंशतिरर्द्धेन गजाग्निव्यर्द्धखेषवः ।
त्रितर्काः सत्रिभागाद्रिरसास्त्र्यङ्काश्च षट्शतम् ॥
नवाशा नवसूर्याश्च वेदेन्द्राः शरबाणभूः ।
खात्यष्टिः खधृतिर्गोऽतिधृतिर्विश्वाश्विनस्तथा ॥
वेदाकृतिर्गोद्वघ्नस्ताः क्वब्धिहस्ता युगार्थदृक् ।
खोत्कृतिस्त्र्यंशहीनाश्व रसहस्ताः खहस्तिदृक् ।

खगोऽश्विनः खदन्ताः षड्दन्ताः खहस्तिदृक् ।
खगोऽश्विनः खदन्ताः षड्दन्ताः शैलगुणाग्नयः ।
मेषाद्यश्व्यादिमध्यांशाः षडंशोनाः खषड्गुणाः ।

इति । अथ नक्षत्राणां विक्षेपभागानाह । एषामिति । उक्तध्रुवक सम्बन्धिनाम् अश्विन्यादिनक्षत्राणां यथाक्रमं क्रमात् इत्यर्थः । स्वात् स्वकीयापक्रमात् क्रान्त्यग्रात् क्रान्तिवृत्तस्थ ध्रुवकस्थानात् इत्यर्थः । विक्षेपा विक्षेपभागा दक्षिणा उत्तरा वा भवन्ति। तत्र उत्तरदिशि अश्विन्यादित्रयाणां दिङ्मासविषयाः क्रमेण दश द्वादश पञ्चेत्यर्थः । दक्षिणदिशि रोहिण्यादित्रयाणां पञ्चदश नव । उत्तरस्यां पुनर्वसोः षड्भागाः । पुष्यस्य खं विक्षेपाभावः । अत्र पञ्चमाक्षरस्य गुरुत्वेन छन्दोभङ्ग आर्षत्वात् न दोषः । दक्षिणस्याम् आश्लेषाया सप्त । उत्तरस्यां मघादित्रयाणां शून्यं द्वादश त्रयोदश । दक्षिणस्यां हस्तचित्रयोः एकादश द्वौ । अनन्तरं स्वात्या उत्तरदिशि सप्तत्रिंशत् । दक्षिणस्यां विशाखादीनां षण्णां सार्द्धैकः । त्रयं चत्वारः नव सार्द्धपञ्च पञ्चक्रमेण उत्तरदिशि तथा विक्षेपभागा अभिजितः षष्टिः । श्रवणस्य त्रिंशत् । धनिष्ठायाः षट्त्रिंशत् । एवकारो न्यूनाधिकव्यवच्छेदार्थः । चकारः पूरणार्थः । दक्षिणस्यां तुकारस्तथा । अर्द्धभागः शततारायाः । तुकारस्तथा । उत्तरस्यां पूर्वाभाद्रपदायाः चतुर्विंशतिः । तस्याम् एव दिशि भागा विक्षेपभागा उत्तराभाद्रपदायाः षड्विंशतिः रेवत्या विक्षेपाभावः चकारः पूरणार्थम् ॥ २—९ ॥

अश्विन्यादि नक्षत्रों के कलात्मक भोग, ध्रुवा तथा शर—

नक्षत्र	स्वभोग	ध्रुवक	विक्षेपभाग	
अश्विनी	४८′	४८०′	१०°	उत्तर
भरणी	४०′	१२००′	१२°	उ.
कृत्तिका	६५′	२२५०′	५°	उ.
रोहिणी	५७′	२९७०′	५°	दक्षिण
मृगशिरा	५८′	३७८०′	१०°	द.
आर्द्रा	४′	४०४०′	९°	द.
पुनर्वसु	७८′	५५८०′	६°	उ.
पुष्य	७६′	६३६०′	०°	उ.
आश्लेषा	१४′	६५४०′	७°	उ.
मघा	५४′	७७४०′	०°	द.
पूर्वाफाल्गुनी	६४′	८६४०′	१२°	उ.
उत्तराफाल्गुनी	५०′	९३००′	१३°	उ.
हस्त	६०′	१०२००′	११°	उ.
चित्रा	४०′	१०८००′	२°	द.
स्वाती	७४′	११९४०′	३७°	उ.

विशाखा	७८′	१२७८०′	$१\frac{१}{२}°$	द.
अनुराधा	६४′	१३४४०′	३°	द.
ज्येष्ठा	१४′	१३७४०′	४°	द.
मूल	६′	१४४६०′	९°	द.
पूर्वाषाढा	४′	५०२४०′	$५\frac{१}{२}°$	द.
उत्तराषाढा	—	१५६००′	५°	द.
अभिजित्	—	१६०००′	६०°	उ.
श्रवण	—	१६८००′	३०°	उ.
धनिष्ठा	—	१७४००′	३६°	उ.
शततारा	८०′	१९२००′	$३०\frac{१}{२}°$	द.
पूर्वाभाद्रपदा	३६′	१९५६०′	२४°	उ.
उत्तराभाद्रपदा	२२′	२०२२०′	२६°	उ.
रेवती	७९′	२१५९०′	०°	उ.

ध्रुवसाधन—अश्विनी नक्षत्र की भोगकला ४८ को दश से गुणा किया तो ४८० हुए, गत नक्षत्र का अभाव होने के कारण अश्विनी का यही कलात्मक ध्रुव ४८० हुआ । भरणी की भोगकला ४० को १० से गुणाकर ४०० एक गत नक्षत्र की (भभोगोऽष्टशतीलिप्ता द्वारा) भोगकला ८०० जोड़ने से भरणी नक्षत्र का ध्रुव १२०० हुआ । इसी प्रकार सम्पूर्ण नक्षत्रों की ध्रुवकला साधन कर ऊपर दी गई हैं। यहाँ भगवान् सूर्य ने पाठ में लाघव के लिए सब नक्षत्रों की भोगकला ही पढ़ी हैं । अपने-अपने ध्रुव स्थानों से अपनी-अपनी योगताराएँ जितनी-जितनी कलाओं के अन्तर से स्थित हैं वे अपनी-अपनी भोगकलाएँ होती हैं, परन्तु यहाँ भगवान् सूर्य ने लाघव के लिए भोगकलाओं में बीस का अपवर्तन दे कर लिखा है । उत्तराषाढा अभिज्रित् श्रवण और धनिष्ठा नक्षत्र की योगतारा अपने भोगस्थान से पश्चिम में स्थित होने के कारण उक्त रीति से उनके ध्रुव नहीं आते इसलिए भिन्न रीति से इनके ध्रुव कहे गये हैं ।। २—९ ।।

अगस्त्यादीनां ध्रुवा विक्षेपाश्च

अशीतिभागैर्याम्यायामगस्त्यो मिथुनान्तगः ।
विंशे च मिथुनस्यांशे मृगव्याधो व्यवस्थितः ।। १० ।।
विक्षेपो दक्षिणे भागैः खार्णवैः स्वादपक्रमात् ।
हुतभुग्ब्रम्हहृदयौ वृषे द्वाविंश भागगौ ।। ११ ।।
अष्टाभिस्त्रिंशता चैव विक्षिप्तावुत्तरेण तौ ।
गोलं बध्वा परीक्षेत विक्षेपं ध्रुवकं स्फुटम् ।। १२ ।।

अथ अगस्त्यलुब्धक वह्निब्रह्महृदयताराणां ध्रुवकविक्षेपान् तदुपपत्तिं श्लोकत्रयेण आह । स्वकीयात् क्रान्तिविभागस्थानात् दक्षिणस्याम् अशीत्यंशैः तारात्मकोऽगस्त्यो मिथुनान्तगः कर्कादिभागे स्थितः । अगस्त्यनक्षत्रस्य राशित्रयं ध्रुवकः । दक्षिण विक्षेपोऽशीतिरित्यर्थः । मृगव्याधो लुब्धको मिथुनराशेर्विंशति भागे स्थितः । चकारः समुच्चये । लुब्धकनक्षत्रस्य राशिद्वयं विंशतिभागा ध्रुवक इत्यर्थः । दक्षिणस्यां चत्वारिंशता भागैः परिमितस्तस्य च क्रान्तिवृत्तस्थानात् विक्षेपः । वृषराशौ वह्निब्रह्महृदयौ द्वाविंशभागस्थितौ वह्निब्रह्महृदयनक्षत्रयोर्द्वाविंशतिभागाधिकैकराशिर्ध्रुवकः । तौ वह्नि ब्रह्महृदयौ । अष्टाभिः त्रिंशता । चकारः क्रमार्थे । एवकारो न्यूनाधिकव्यवच्छेदार्थः उत्तरेण उत्तरस्यामित्यर्थः । विक्षिप्तौ विक्षेपवन्तौ । वह्नेर्विक्षेपोऽष्टभाग उत्तरः । ब्रह्महृदयस्य उत्तरो विक्षेपस्त्रिंशत् इत्यर्थः । ननु एते ध्रुवा विक्षेपाश्च कालक्रमेण नियता अनियता वा इत्यत आह । गोलमिति । गोलं वक्ष्यमाणं वध्वा वंशशलाकादिभिर्निर्बध्य स्फुटं विक्षेपं क्रान्तिसंस्कारयोग्यं ध्रुवाभिमुखं ध्रुवकं स्फुटमायनदृक्कर्मसंस्कृतं परीक्षेत । स्वस्वकाले दृग्गोचरसिद्धम् अङ्गीकुरूत । तथा च क्रान्ति संस्कारयोग्यविक्षेपायन संस्कृत ध्रुवकयोः अयनांशवशात् अस्थिरत्वात् अपि मया इदानीन्तनसमयानुरोधेन लाघवार्थमायनदृक्कर्म संस्कृता ध्रुवाः क्रान्तिसंस्कारयोग्यविक्षेपाश्च नियता उक्ताः ।

कालान्तरे गोलयन्त्रेण वेधसिद्धा ज्ञेयाः । नैत इति भावः । गोलयन्त्रेण वेधस्तु गोलबन्धोक्तविधिना गोलयन्त्रं कार्यम् । तत्र खगोलस्योपरि भगोलमाधारवृत्तस्योपरि विषुवद्वृत्तम् । तत्र यथोक्तं क्रान्तिवृत्तं भगणांशाङ्कितं च बध्वा ध्रुवयष्टिकीलयोः प्रोतमन्यच्चलं भवेधवलयम् । तच्च भगणांशाङ्कितं कार्यम् । ततः तद्गोलयन्त्रं सम्यग्ध्रुवाभिमुखयष्टिकं जलसमक्षितिजवलयं च यथा भवति तथा स्थिरं कृत्वा रात्रौ गोलमध्यच्छिद्रगतया दृष्ट्या रेवतीतारां विलोक्य क्रान्तिवृत्ते मीनान्तात् दशकलान्तरित पश्चाद्भागं रेवतीतारायां निवेश्य मध्यगतयैव दृष्ट्याश्विन्यादेः नक्षत्रस्य योगतारां विलोक्य तस्या उपरि तद्वेधवलयं निवेश्यम् । एवं कृते सति वेधवलयस्य क्रान्तिवृत्तस्य च यः सम्पातः स मीनान्तात् अग्रतो यावद्भिरंशैस्तावन्तस्तस्य नक्षत्रस्य ध्रुवांशा ज्ञेयाः । वेधवलये तस्यैव सम्पातस्य योगतारायाश्च यावन्तोऽन्तरेऽंशास्तस्य विक्षेपांशा दक्षिणा उत्तरा वा वेद्याः । अथ कदम्बप्रोतवेधवलयेन वेधे तु सदा स्थिरा ध्रुवका आयनदृक्ककर्मासंस्कृताः परन्तु कदम्बतारयोः अभावात् अशक्यमिति यथोक्तवेधेनैव अयनदृक्कर्मसंस्कृता ध्रुवाः शराच्च ध्रुवाभिमुखाः स्फुटाः सिद्धा भवन्तीति दिक् ॥ १०—१२ ॥

अगस्त्य का ध्रुवक ३ राशि और दक्षिण शर ८० अंश है । लुब्धक का ध्रुवक ८० अंश और दक्षिण शर ४० अंश है । अग्नि का ध्रुवक ५२ अंश और उत्तर शर ८ अंश है । ब्रह्महृदय का ध्रुवक ५२ अंश और उत्तर शर ३० अंश है । इन अश्विनी आदि नक्षत्रों के तथा अगस्त्य आदि ताराओं के ध्रुवक और शरों की गोल रचना कर गणक वेध द्वारा इनकी परीक्षा करे, क्योंकि यह पाठ पठित ध्रुवक

और शर, ग्रन्थ निर्माण काल के हैं। कालान्तर में वेधोपलब्ध लेने चाहिए ।।१०—१२ ।।

उपपत्तिः—गोले गर्भीयं सूत्रं मीनान्त बिन्दौ क्रान्ति वृत्ते यत्र लगति ततः १० कलान्तरे रेवतीतारा स्थापनीया । एवं अश्विन्यादीनामपि योगतारां लक्षीकृत्य वेधवलयाः स्थापनीयाः। वेधवलयक्रान्तिवृत्तयोः सम्पातात् मीनान्तं यावन्नक्षत्र ध्रुवकाः भवन्ति। सम्पातात् योगतारां यावत् याम्ये सौम्ये वा विक्षेपः । कदम्बप्रोते वास्तविकध्रुवाः भवन्ति । परं क्रिया न सिध्यति कदम्बताराभावात् । अतः ध्रुवप्रोतेन वेधोपलब्धाः ध्रुवकाः शराश्च आयनदृक्कर्मसंस्कृता स्फुटा भवन्ति ।

रोहिणीशकट भेदः

वृषे सप्तदशे भागे यस्य याम्योंऽशकद्वयात् ।
विक्षेपोऽभ्यधिको भिन्द्याद्रोहिण्याः शकटं तु सः ।। १३ ।।

अथ रोहिणी शकटभेदमाह । वृषराशौ सप्तदशेऽंशे यस्य ग्रहस्य भागद्वयाधिको विक्षेपो दक्षिणः स ग्रहो रोहिण्याः शकटं शकटाकारसन्निवेशं भिन्द्यात् । तन्मध्यगतो भवेदित्यर्थः । तुकाराद् ग्रहविक्षेपो रोहिणीविक्षेपाद् अल्प इति विशेषार्थकः । विक्षेपस्य दक्षिणस्य रोहिणीविक्षेपाद् अधिकत्वे शकटाद्बहिर्दक्षिणभागे ग्रहस्य स्थितत्वेन तद्भेदकत्वाभावात् । अत्र शकटाग्रिमनक्षत्रस्य ध्रुव एकाराशिः सप्तदशांशाः । दक्षिणः शरो भागद्वयमिति वेधसिद्धा स्पष्टा युक्तिः ।। १३ ।।

वृषराशि के १७ अंश में स्थित जिस ग्रह का दक्षिण शर दो अंश से अधिक होता है वह (ग्रह) रोहिणी शकट का भेदन करता है ।। १३ ।।

उपपत्तिः—रोहिणीनक्षत्रस्य स्वरूपं शकटाकारमिति । रोहिणी नक्षत्रगतानां तारकाणां स्थितिः शकटाकारा वर्तते । तत्र मूलबिन्दुर्योगविन्दुर्वा वृषराशितः १७ अंशान्तरेऽस्ति । अतो वृषस्य ध्रुवाः १७ अंशात्मकाः । क्रान्तिवृत्तस्यासन्नतारायाश्च याम्यः शरः अंशद्वयात्मकः अतो यस्य ग्रहस्य वृषराशौ १७ अंशे याम्यः शर अंशद्वयादधिकः स रोहिणी शकटाभ्यन्तरे एव भवति । अतः स रोहिणी शकटं भिनत्ति । अतो वृषे सप्तदशे भागेत्यादिः युक्तियुक्तमेव । उपपन्नम् ।

ग्रहनक्षत्रयोर्युति साधनम्

ग्रहवद् द्युनिशे भानां कुर्याद् दृक्कर्म पूर्ववत् ।
ग्रहमेलकवच्छेषं ग्रहभुक्त्या दिनानि च ।। १४ ।।

अथ भग्रहयोग साधनार्थं ग्रहयोग साधनरीत्यतिदेशमाह। ग्रहवद्द्युनिशे ग्रहाणां यथा दिनरात्रिमाने आक्षदृक्कर्मार्थं कृते तथा दिनमानरात्रिमाने भानां नक्षत्रध्रुवकाणाम् आक्षदृक्कर्मार्थं गणकः कुर्यात् । तदनन्तरं पूर्ववन्नक्षत्रनित्योदयास्तौ साधयित्वा अभीष्टकाले दिनगतशेषाभ्यां नतं कृत्वा विषुवच्छाययाभ्यस्तादित्यादिना इत्यर्थः । दृक्कर्म कुर्यात् । अत्र नक्षत्रध्रुवके पर्वतेन अयनदृक्कर्मापि उदाहरणे कृतं तदयुक्तम् ।

तस्य ध्रुवके स्वतः सिद्धत्वात् । तदनन्तरं शेषं नक्षत्रग्रहयुति साधनं ग्रहध्रुवतुल्यतारूपं ग्रहमेलकवद् ग्रहयोगसाधनरीत्या ग्रहान्तरकला इत्यादिना कार्यम् । ननु तत्र ।

ग्रहान्तरकलाः स्वस्वभुक्ति लिप्तासमाहताः ।

भुक्त्यन्तरेण विभजेदित्युक्तेर्नक्षत्रस्य का गतिर्ग्राह्या इत्यत आह ग्रहभुक्त्येति। केवलया ग्रहगत्या ग्रहस्य फलं ग्रहध्रुवान्तररूपग्रहे संस्कार्यं ध्रुवसमो ग्रहो भवति । नक्षत्रस्य पूर्वगत्यभावात् ध्रुवो यथास्थित इत्यर्थः । ननु तथापि ग्रहनक्षत्रयुतिकाल साधनं भुक्त्यन्तरासम्भवात् कथं कार्यमिति मन्दाशङ्केत्यत आह । दिनानीति अभीष्ट-समयाद्विवरमित्यादिना केवलया ग्रहगत्या ग्रहनक्षत्रयुतिदिनानि साध्यानि । चः समुच्चये । नक्षत्राणां गत्यभावात् ।। १४ ।।

जिस प्रकार ग्रहों का दिनमान, रात्रिमान साधन किया गया है उसी प्रकार नक्षत्रों का भी दिनमान और रात्रिमान साधन करना चाहिए । अनन्तर आक्षदृक्कर्म का साधन कर नक्षत्रों के ध्रुवक में इसका संस्कार कर ग्रहयुति साधन की तरह नक्षत्रग्रहयुतिकाल का साधन करना चाहिए । ग्रह नक्षत्र की युति के दिनों का साधन केवल ग्रहगति से ही करना चाहिए ।। १४ ।।

उपपत्तिः—नक्षत्रस्थानं, नक्षत्रध्रुवं, नक्षत्रगतिञ्च शून्यं प्रकल्प्य ग्रहयुति साधनरीत्या भग्रहयुतिसाधनमपि कर्त्तव्यमिति ।

एष्यो हीने ग्रहे योगो ध्रुवकादधिके गतः ।
विपर्ययाद् वक्रगते ग्रहे ज्ञेयः समागमः ।। १५ ।।

अथ अभीष्टकालात् ग्रहनक्षत्रयुतिकालस्य गतैष्यत्वमसम्भ्रमार्थं पुनराह । नक्षत्रध्रुवात् उक्ताद्ग्रह आयनदृक्कर्म संस्कृतग्रह आक्षदृक्कर्मसंस्कृत नक्षत्र ध्रुवकात् । दृक्कर्मद्वय संस्कृतग्रह इति विवेकार्थः । न्यूने सति योगो नक्षत्रग्रह योगः स्वाभीष्ट समयाद्भावी अधिके सति पूर्वं जातः । वक्रगते ग्रहे विपर्ययात् उक्तवैपरीत्यात् समागमो नक्षत्रग्रहयोगो ज्ञेयः । हीने ग्रहे गतोऽधिके ग्रह एष्यो योगः। अत्रोपपत्तिर्नक्षत्रस्य गत्यभावेन सदा स्थिरत्वात् ग्रहगमनेन एव योगसम्भवादिति सुगमतरा ।। १५ ।।

आयनदृक्कर्म संस्कृतग्रह, आक्षदृक्कर्म संस्कृत नक्षत्र ध्रुव से हीन हो तो गम्य और अधिक हो तो गत योग होता है । वक्रगति ग्रह का इससे विलोम अर्थात् नक्षत्रध्रुव से ग्रह अधिक हो तो गम्य और न्यून हो तो गत योग होता है ।। १५ ।।

नक्षत्राणां योगतारा निर्णयः

फाल्गुन्योर्भाद्रपदयोस्तथैवाषाढयोर्द्वयोः ।
विशाखाश्विनिसौम्यानां योगतारोत्तरा स्मृता ।। १६ ।।
पश्चिमोत्तरताराया द्वितीया पश्चिमे स्थिता ।
हस्तस्य योगतारा सा, श्रविष्ठायाश्च मध्यमा ।। १७ ।।

ज्येष्ठाश्रवणमैत्राणां बार्हस्पत्यस्य मध्यमा ।
भरण्याग्नेयपित्र्याणां रेवत्याश्चैव दक्षिणा ।। १८ ।।
रोहिण्यादित्यमूलानां प्राची सार्पस्य चैव हि ।
यथा प्रत्यवशेषाणां स्थूला स्याद् योगतारका ।। १९ ।।

अथ अश्विन्यादि नक्षत्रस्य बहुतारात्मकत्वात् कस्याः ताराया एते ध्रुवका इत्यस्य योगताराया ध्रुवकमित्युत्तरं मनसि धृत्वा अश्विन्यादिनक्षत्राणां योगतारां विवक्षुः प्रथममेषां नक्षत्राणां योगतारामाह । एषाम् उक्त नक्षत्राणां प्रत्येकं स्वतारासु योत्तरदिक्स्था तारा सा योगतारा गोलतत्वज्ञैरुक्ता ।। १६ ।।

अथ अन्ययोः अनयोराह । हस्तनक्षत्रं पञ्चतारात्मकं हस्तपञ्चाङ्गुलि-सन्निवेशाकारम् । तत्र नैर्ऋत्यदिगाश्रितपश्चिमावस्थितताराया उत्तरदिगवस्थितताराया द्वितीया पूर्वोक्तातिरिक्ता पश्चिमे वायव्याश्रिते स्थिता सा हस्तस्य योगतारा ज्ञेया । उत्तरतारासन्ना पश्चिमाश्रिता तारा हस्तस्य योगतारा इति फलितार्थः । धनिष्ठाया योगतारामाह । श्रविष्ठाया इति । धनिष्ठायाः तारासु या पश्चिमदिक्स्था सा तस्या योगतारा । चः समुच्चये ।। १७ ।।

अथ अन्येषामेषामाह । ज्येष्ठाश्रवणानुराधानां पुष्यस्य च प्रत्येकं तारा-त्रयात्मकत्वात् मध्यमतारा योगतारा स्यात् । भरणीकृत्तिकामघानां रेवत्याः । चः समुच्चये । प्रत्येकं स्वतारासु या दक्षिणदिक्स्था सा योगतारा ।। १८ ।।

अथ अन्येषाम् एषामवशिष्टानां च आह । रोहिणी पुनर्वसुमूलानाम् अश्लेषा-याश्च प्रत्येकं स्वतारासु पूर्वदिक्स्था सैवयोगतारेत्येवोह्योरर्थः । प्रत्यवशेषाणाम् अवशिष्टनक्षत्राणाम् आर्द्राचित्रास्वात्यभिजिच्छततारााणां स्वतारासु यात्यन्तं स्थूला महती सा योगतारा स्यात् ।। १९ ।।

पूर्वाफाल्गुनि, उत्तराफाल्गुनि, पूर्वाभाद्रपदा, उत्तराभाद्रपदा, पूर्वाषाढा, उत्तराषाढा, विशाखा, अश्विनी और मृगशिरा इनके तारापुञ्जों में उत्तरदिशा स्थित तारों को योग तारा कहते हैं । पञ्चतारात्मक हस्तनक्षत्र के पश्चिमोत्तर में स्थित पश्चिमतारा से उत्तर दिशा में स्थित जो तारा, उससे दूसरी पश्चिम तारा अर्थात् वायव्यदिशा में स्थित तारा योगतारा है । धनिष्ठा नक्षत्र की पश्चिम दिशा में स्थित तारा योगतारा है । ज्येष्ठा, श्रवण, अनुराधा और पुष्य इनकी मध्यतारा योगतारा है । भरणी, कृत्तिका, मघा और रेवती इनकी दक्षिण दिशा में स्थित तारा योगतारा है । रोहिणी, पुनर्वसु, मूल और आश्लेषा इनके पूर्व दिशा में स्थित तारा योगतारा है । शेष नक्षत्रों की स्थूल अर्थात् बड़ी और कान्तिमती (प्रकाशमान) तारा योग तारा कही जाती है ।। १६–१९ ।।

ब्रह्महृदयादीनां स्थानम्

पूर्वस्यां ब्रह्महृदयांदशकैः पञ्चभिः स्थितः ।
प्रजापतिर्वृषान्तेऽसौ सौम्येऽष्टत्रिंशदंशकैः ।। २० ।।

अथ ब्रह्मसंज्ञकनक्षत्रावस्थानमाह । ब्रह्महृदयस्थानात् पूर्वभागे पञ्चभिरंशैः प्रजापतिस्तारात्मको ब्रह्मा क्रान्तिवृत्ते स्थितः । कुत्रेत्यत आह । वृषान्त इति । वृषान्त-निकटे । एकराशिः सप्तविंशत्यंशा ब्रह्मध्रुवक इत्यर्थः। अस्य विक्षेपमाह । असाविति। ब्रह्मा। उत्तरस्यामष्टत्रिंशद्भागैः स्थितः। अष्टत्रिंशद्भागा अस्य विक्षेप इत्यर्थः ॥ २० ॥

ब्रह्महृदय से ५ अंश पूर्व वृषान्त के निकट अपने क्रान्त्यग्र से ३८ अंश उत्तर की दिशा में तारात्मक ब्रह्मा की स्थिति है । अर्थात् ब्रह्मा का ध्रुवक १ राशि २७ अंश तथा उत्तर शर ३८ अंश है ॥ २० ॥

अपांवत्सस्तु चित्राया उत्तरेंऽशैस्तु पञ्चभिः ।
बृहत् किञ्चिदतो भागैरापः षड्भिस्तथोत्तरे ॥ २१ ॥

॥ सूर्यसिद्धान्ते नक्षत्रग्रहयुत्यधिकारः सम्पूर्णः ॥ ८ ॥

अथ अपांवत्सापयोस्तारयोः अवस्थानमाह । चित्रायाः सकाशात् अपांवत्स-संज्ञकस्तारात्मकः पञ्चभिः भागैः उत्तरस्यां स्थितः । प्रथमतुकारश्चित्राध्रुवतुल्य-ध्रुवकार्थकः । द्वितीय तुकारश्चित्राविक्षेपस्य दक्षिणभागद्वयात्मकत्वात् अपांवत्स-विक्षेप उत्तरस्त्रिभाग इति स्फुटार्थकः । अतोऽपांवत्सात् किञ्चिदल्पान्तरेण बृहत् स्थूलतारात्मक आपसंज्ञकः । तथा अपांवत्सात् षड्भिरंशैः उत्तरस्यां स्थितश्चित्रा-ध्रुवक एवापस्य ध्रुवको विक्षेप उत्तरो नवांशा इत्यर्थः ॥ २१ ॥

अथ अग्रिमग्रन्थस्य असङ्गतित्वनिरासार्थकमधिकार समाप्तिं फक्किकया आह । स्पष्टम् ।

रङ्गनाथेन रचिते सूर्यसिद्धान्तटिप्पणे ।
ग्रहर्क्षैक्याधिकारोऽयं पूर्णो गूढप्रकाशके ॥

॥ इति श्रीसकलगणकसार्वभौमबल्लालदैवज्ञात्मजरङ्गनाथगणकविरचिते गूढार्थप्रकाशके नक्षत्रग्रहयुत्यधिकारः पूर्णः ॥ ८ ॥

चित्रा नक्षत्र से ५ अंश उत्तर की ओर अपांवत्स की तारा है। अर्थात् अपांवत्स का ध्रुवक ६ राशि और अपने क्रान्त्यग्र से ३ अंश उत्तर शर है । अपांवत्स से कुछ दूरी पर स्थूलतारात्मक आपसंज्ञक ६ अंश उत्तर दिशा में स्थित है । अर्थात् आप संज्ञक तारा का ध्रुवक १८० अंश और उत्तर शर ६ अंश है ॥ २१ ॥

॥ पण्डितवर्य बलदेवदैवज्ञात्मज प्रो० रामचन्द्रपाण्डेय द्वारा विरचित सूर्यसिद्धान्त के नक्षत्रग्रहयुत्यधिकार का हिन्दीभाषानुवाद एवं संस्कृतोपपत्ति सम्पूर्ण ॥ ८ ॥

अथोदयास्ताधिकारः - ९

उदयास्तयोर्वैशिष्ट्यम्

अथोदयास्तमययोः परिज्ञानं प्रकीर्त्यते ।
दिवाकरकराक्रान्तमूर्तीनामल्पतेजसाम् ॥ १ ॥

अथ उदयास्ताधिकारो व्याख्यायते । ननु सूर्येणास्तमनसहेति प्रागुक्तेः ग्रहयुत्यधिकारानन्तरं नक्षत्रग्रहयुत्यधिकारात् प्रागेवोदयास्ताधिकारो निरूपणीय इत्यतोऽत्र तत्सङ्गतिप्रदर्शनार्थमादौ तदधिकारं प्रतिजानीते। अथ नक्षत्रग्रहयुत्यधिकारानन्तरं सूर्यकिरणाभिभूता मूर्त्तिर्विम्बं येषां तेषां चन्द्रादिषड्ग्रहाणां नक्षत्राणां च । अतएव अल्पतेजसां न्यूनप्रभावतामुदयास्तमययोः। अग्रिमकाले सूर्यादधिकासन्निहित सन्निहितत्वसम्भावनया क्रमेण उदयास्तयोः सूर्यान्निसृतस्य यस्मिन् काले यदन्तरेण प्रथमदर्शनं सम्भावितं स उदयः। सूर्यात् दूरस्थितस्य यस्मिन् काले यदन्तरेण प्रथमादर्शनं सम्भावितं सोऽस्तः । अनेन नित्योदयास्तव्यवच्छेदस्तयोः इत्यर्थः। परिज्ञानं सूक्ष्मज्ञानप्रकारः प्रकीर्त्यते। अतिसूक्ष्मत्वेन मयोच्यत इत्यर्थः। तथा च ग्रह इत्युद्देशेऽस्तमनमुद्दिष्टमपि तस्य पूर्वमेव सूर्यासमत्व एव सम्भवात् तद्विलक्षणतया ग्रहयुतिप्रसङ्गेनोक्तम् । नक्षत्रग्रहयुतिस्तु ग्रहयुतिवदिति तदनन्तरमुक्ता । अतः प्रतिबन्धकजिज्ञासापगमेऽवश्य वक्तव्यत्वात् अस्य अवसरसङ्गतित्वात् तत्सङ्गत्या नक्षत्रग्रहयुत्यधिकारानन्तरं प्रागुद्दिष्टमस्तमनं तत्प्रसङ्गात् उदयश्च प्रतिपाद्यत इति भावः ॥ १ ॥

सूर्य की किरणों से आक्रान्त अल्प तेजवाले ज्योतिष्पिण्डों के उदय एवं अस्त कालज्ञान का विवेचन कर रहा हूँ । {अपनी-अपनी गति से भ्रमण करते हुए चन्द्र आदि ग्रह और नक्षत्रों का जब सूर्य से सान्निध्य होता है तब उनका सूर्यकिरणों में निमग्न होने के कारण दीखना बन्द हो जाता है इसी को अस्त कहते हैं तथा जब सूर्य से दूर हटकर दिखलाई देने लगते हैं तब उसे उदय कहते हैं } ॥ १ ॥

उदयास्तयोर्दिग्ज्ञानम्

सूर्यादभ्यधिकाः पश्चादस्तं जीवकुजार्कजाः ।
ऊनाः प्रागुदयं यान्ति शुक्रजौ वक्रिणौ तथा ॥ २ ॥

तत्र प्रथमं पञ्चताराणां पश्चिमास्तपूर्वोदयौ आह । वक्रगती शुक्रबुधौ तथा । सूर्यादधिकौ पश्चिमास्तं गच्छतः । सूर्यादल्पौ पूर्वोदयं प्राप्नुतः । शेषं स्पष्टम् ॥ २ ॥

गुरु, भौम और शनि ये तीनों ग्रह सूर्य से राश्यादिमान में अधिक होने पर पश्चिम में अस्त तथा न्यून होने पर पूर्व में उदय होते हैं । इसी प्रकार वक्री शुक्र और बुध, सूर्य से अधिक होने पर पश्चिम में अस्त तथा न्यून होने पर पूर्व में उदय होते हैं ।। २ ।।

उपपत्ति:—यो मन्दगतिग्रह: सूर्यादंशेष्वधिक: स एव सूर्यास्तादनन्तरं पश्चिमकपाले दृश्यते । शीघ्रगत्या भ्रमन् सूर्य: यदा मन्दगतिग्रहेण योगं करोति तदा मन्दगतिक: ग्रहोऽस्तं व्रजति । सूर्यकरैराक्रान्तो मन्दग्रहो यो प्रतीच्यामस्तं गत: स एव सूर्यात् पृष्ठवर्ती भूत्वा प्राच्यामुदेति । अत: भौम-गुरुशनय: मन्दगतिग्रहा: सूर्यान्न्यूना प्राच्यामेवोदयं यान्ति प्रतीच्याञ्चास्तं यान्ति। बुध शुक्रावपि वक्रत्वे मन्दगतिकत्वात्तथैव। उपपन्नम् ।

ऊना विवस्वत: प्राच्यामस्तं चन्द्रज्ञभार्गवा:।
व्रजन्त्यभ्यधिका: पश्चादुदयं शीघ्रयायिन: ।। ३ ।।

अथ चन्द्रबुधशुक्राणां पूर्वास्तपश्चिमोदयौ आह। शीघ्रयायिन: सूर्यगत्यधिकगतय इत्यर्थ: । एतेन बुधशुक्रौ अर्कगत्यल्पगती सूर्यादल्पौ पूर्वास्तमधिकौ च पश्चिमोदयं न प्राप्नुत इत्युक्तम् । शेषं स्पष्टम् ।

अत्रोपपत्ति:। रविगतितोऽल्पगति: ग्रहोऽर्कादूनश्चेत् प्राच्यां दर्शनयोग्यो भवितुमर्हति । यत: सूर्यास्याधिकत्वेन बहुगतित्वात् च उत्तरोत्तरमधिकविप्रकर्षात् प्रवहशेन न्यूनस्य पूर्वमुदयात् अधिकस्यानन्तरमुदयनियमात् ग्रहविम्बस्य प्राक्क्षितिज संलग्नताकालानन्तरं यावत् सूर्यस्य तादृश: कालस्तावत्पर्यन्तं विप्रकर्षे दर्शनसम्भवात् । एवं यदाल्पगति सूर्यादधिकस्तदा प्रवहवशेन अर्कस्य पूर्वमुदयादनन्तरमुदितग्रहस्य दर्शनासम्भवात् प्रवहवशेनादौ न्यूनार्कस्यास्तसंम्भवादनन्तरमधिक ग्रहस्यासम्भवात् सूर्यास्तानन्तरं पश्चिमभागे ग्रहदर्शनसम्भवेऽप्यधिकगतिसूर्यस्य पृष्ठस्थितत्वेन उत्तरोत्तरमधिकसन्निकर्षात् पश्चिमायामदर्शनं सम्भवत्येव । ते तु भौमगुरुशनय: । वक्रत्वे न्यूनगतित्वात् बुधशुक्रौ च इति । अथ अर्कगतितोऽधिकगति ग्रह: सूर्यादूनस्तदोक्तरीत्या उत्तरोत्तरमधिकसन्निकर्षात् पूर्वस्मिन् अदर्शनं याति । यदा सूर्यादधिकस्तदोक्तरीत्या उत्तरोत्तरमधिकविप्रकर्षात् पश्चिमायामुदय: । ते तु शीघ्रा: चन्द्रबुधशुक्रा इत्युपपन्नमुंक्तम् ।। ३ ।।

शीघ्रगामी ग्रह चन्द्र, बुध और शुक्र सूर्य से न्यून होने पर पूर्व में अस्त होते हैं तथा सूर्य से अधिक होने पर पश्चिम में उदय होते हैं ।। ३ ।।

उपपत्ति:—सूर्यान्न्यूनाश्चन्द्रबुधशुक्रा: शीघ्रगतिका: प्राच्यामुदयं यान्ति । एते ग्रहा: शीघ्रगत्या भ्रमन् प्राच्यामेवं सूर्येण सह योगं कुर्वन्ति । अतश्चन्द्रबुधशुक्रा: प्राच्यामेवास्तं यान्ति । एते ग्रहा: सूर्यादधिका प्रतीच्यामुदयं यान्ति। अत: सूर्यादधिका: शीघ्रगतिका: ग्रहा: प्राच्यामस्तं प्रतीच्याञ्चोदयं यान्ति इति । उपपन्नम् ।

अत्र नव्यानां मतमुपस्थाप्यते—नव्यसिद्धान्तानुसारेण सर्वे ग्रहा दीर्घवृत्ताकारायां कक्षायां भ्रमन्ति यस्यैकनाभौ सूर्यस्य स्थितिः । अत्र भुवं स्थिरां प्रकल्प्य चित्र द्वारा ग्रहणामुदयास्तादि प्रदर्श्यते—

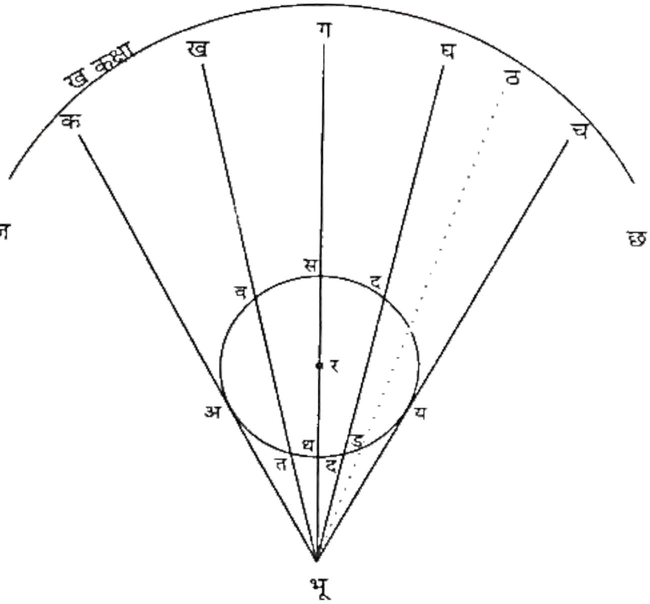

अत्र भू = भू केन्द्रम्, र = रविः

अ व स द य = ग्रहकक्षा

ज क ग छ = ख कक्षा नक्षत्र कक्षा वा ।

ज विन्दुतः मेषादि राशयः ।

अस्मिन् क्षेत्रे भूवासिनां कृति अ, व, स, द स्थाने स्थिताः ग्रहाः भवलये क्रमेण क, ख ग, घ, च स्थाने दृश्यन्ते ।

भ वलये ग्रहाः पूर्वगत्या ज विन्दुतः छ विन्दुं यावत् गच्छन्तो दृश्यन्ते । सूर्योऽपि ग विन्दौ दृश्यते । अतः यदा भ्रमन् ग्रहः स विन्दौ स्वकक्षायां गमिष्यति तदा सः भवलये ग बिन्दौ भविष्यति । तदानीं रवेरासन्नतयां अदृश्यो अस्तङ्गतो भविष्यति । यदा ग्रह स्वकक्षायां भ्रमन् 'ड' विन्दौ गमिष्यति तथा तस्य स्थितिः भवलये ठ विन्दौ भविष्यति । इयं स्थितिः ग्रहस्य वक्रत्वं प्रदर्शयति । एवं पुनः वक्रगत्या गच्छन् ग्रहः यदा स्वकक्षायां 'थ' स्थानमेति तथा पुनः रवेरासन्नतया अस्तङ्गतो भविष्यति । अतः मार्गो ग्रहः पश्चिमायामुदेति वक्रत्वे च तत्रैवास्तं गच्छति । एवमेवान्यत्रापि वोध्यम् ।

कालांशे इतिकर्त्तव्यताम्

सूर्यास्तकालिकौ पश्चात् प्राच्यामुदयकालिकौ ।
दिवा चार्कग्रहौ कुर्याद् दृक्कर्माथ ग्रहस्य तु ॥ ४ ॥

अथ अभीष्टदिन आसन्ने सूर्योदयास्तकालिकौ सूर्यदृग्ग्रहौ तत्कालज्ञानार्थं कार्यौ इत्याह । पश्चात् पश्चिमास्तोदयसाधनेऽभीष्टदिन आसन्ने सूर्यग्रहौ सूर्यास्त-कालिकौ कुर्याद्गणकः । पूर्वास्तोदयसाधने सूर्योदयकालिकौ कुर्यात् । दिनेऽभीष्ट-काले कुर्यात् । चकारो विकल्पार्थकः । अनन्तरं ग्रहस्य दृक्क्कर्म । आयनाक्ष-दृक्कर्मद्वयं कुर्यात् । तुकार आक्षदृक्कर्मश्लोकपूर्वार्द्धोक्तमिति विशेषार्थकः ।

अत्रोपपत्तिः । पञ्चादस्तोदयसाधने पश्चिमायां तद्दर्शनमिति सूर्यास्तकालिकौ सूर्यग्रहौ इष्टकालांशसाधनार्थं सूक्ष्मौ । पूर्वोदयास्त साधने पूर्वदिशि तद्दर्शनमिति सूर्योदयकालिकौ सूर्यग्रहौ इष्टकालांशसाधनार्थं सूक्ष्मौ अन्यकाले तु किञ्चित् स्थूलौ अपि कृतौ दृक्कर्मसंस्कृत ग्रहस्य सूर्यवत् क्षितिजसंलग्नता योग्यत्वात् दृक्कर्म-संस्कृतो ग्रहः कार्यः इति ।। ४ ।।

पश्चिम दिशा में ग्रहों का उदयास्त साधन करना हो तो सूर्यास्तकालिक, पूर्वदिशा में उदयास्त साधन करना हो तो सूर्योदय कालिक तथा दिन में इष्ट कालिक सूर्य और ग्रह का साधन करना चाहिये । तदनन्तर ग्रह में आयन और आक्षदृक्कर्म का संस्कार करना चाहिये ।। ४ ।।

उपपत्तिः—प्रतीच्यामुदयास्तयोः साधने प्रतीच्यामेव ग्रहाणां दर्शनं भवति। तथा च सूर्यास्तकालिकं पूर्वोदयास्त साधने प्रायः ग्रहाः प्रतीच्यामेव दृश्यमाणा भवन्ति । अस्मादेव सूर्योदयकालिकस्य सूर्यस्य ग्रहाणाञ्च साधनं कृतम् । अन्येषु कालेषु किञ्चित् स्थूला भवन्ति । अत्रेष्टकालिका अपि ग्रहाः साधिता । दृक्कर्म संस्कृता ग्रहाः सूर्यवत् क्षितिजसंलग्ना एव भवन्ति अतोऽदृक्कर्म संस्कारो विहितः ।। ४ ।।

कालांशानयनम्

ततो लग्नान्तरप्राणाः कालांशाः षष्टिभाजिताः ।
प्रतीच्यां षड्भयुतयोस्तद्वल्लग्नान्तरासवः ।। ५ ।।

अथ इष्टकालांशानयनमाह। ततस्ताभ्यां सूर्यदृग्ग्रहाभ्यां लग्नान्तप्राणाः। भोग्या-सूनूनकस्य अथ इत्युक्तप्रकारेणान्तरकालासवः षष्टिभक्ता इष्टाः कालांशा भवन्ति । प्रागुदयास्तसाधने प्रतीच्यां पश्मिमोदयास्तसाधने षड्भयुतयोः षड्राशियुक्तयोः सूर्य-दृग्ग्रहयोः लग्नान्तरासवः । अन्तरासवस्तद्वत् षष्टिभक्ता इष्टकालांशा भवन्तीत्यर्थः ।

अत्रोपपत्तिः । दृग्ग्रह सूर्याभ्यामन्तरकालो ग्रहस्य सूर्योदयकाले दिनगतं पूर्वोदयास्त निमित्तमुपयुक्तम् । एवं पश्चिमोदयास्तनिमित्तं सूर्य दृग्ग्रहाभ्याम् अस्त-कालासुभिः अन्तरकालः सूर्यास्तकाले ग्रहस्य दिनशेषकाल उपयुक्तः । तत्र अस्तकालानाम् अनुक्तेः उदयासुभिः साधनार्थं सषड्भौ सूर्यदृग्ग्रहौ कृतौ स कालोऽस्वात्मकः । अहोरात्रासुभिः । चक्रकला तुल्यैश्चक्रांशा लभ्यन्ते तदेष्टासुभिः क इत्यनुपाते प्रमाणफलयोः फलापवर्त्तनेन हरस्थाने षष्टिः । अतोऽस्वात्मकान्तरकालः षष्टिभक्त इष्टकालांशा इत्युपपन्नमुक्तम् । अत्रेदमवधेयम् । सूर्योदयकालिकाभ्याम्

अर्कदृग्ग्रहाभ्याम् आनीतेन दिनगतेन पूर्वं चाल्यो दृग्ग्रहः सूर्यास्तकालिकाभ्यां सषड्भाभ्याम् अर्कदृग्ग्रहाभ्याम् आनीतेन दिनशेषेण अग्रे चाल्यः सषड्भो दृग्ग्रहः । क्रमेण ग्रहोदयास्तकाले प्राक्पश्चिमदृग्ग्रहौ भवतः । ताभ्यां सूर्यसषड्भ सूर्याभ्यां च क्रमेण पूर्वरीत्यान्तरकालो ग्रहस्य सूर्योदयास्तकाले क्रमेण दिनगतशेषौ नाक्षत्रौ षष्टि-भक्तौ कालांशौ इष्टौ सूक्ष्मौ । अथ इष्टकालिकाभ्याम् आनीतकालेन पूर्ववच्चा-लिताभ्यां प्राक्पश्चिमदृग्ग्रहाभ्यां सूर्यसषड्भसूर्याभ्यां च आनीतकालो नाक्षत्रोऽपि सूक्ष्मासन्नः । सूर्योदयास्तसम्बन्धाभावात् तदुत्पन्नाः कालांशा अपि तथा । अथ सूर्योदयास्तकालिकाभ्याम् आनीतैकवारं कालात् कालांशाः स्थूला इष्टकालिकाभ्याम् आनीतैकवारकालात् कालांशा अतिस्थूला उभयत्र कालस्य सावनत्वात् । न हि सावनषष्टिघटीभिः चक्रपरिपूर्त्तिर्येन सूक्ष्माः सिद्ध्यन्तीति ।। ५ ।।

पूर्वोदयास्तसाधन करना हो तो सूर्य और दृग्ग्रह के "भोग्यासूनूनकस्याथ भुक्तासूनधिकस्य च" इत्यादि प्रकार से अन्तरासुओं का साधन कर तथा पश्चिमोदयास्तसाधन करना हो तो छः राशियुत सूर्य और छः राशियुत दृग्ग्रह के अन्तरासुओं का साधन कर इन अन्तरासुओं में ६० का भाग देने से जो लब्धि प्राप्त हो उसे इष्टकालांश कहते हैं ।। ५ ।।

उपपत्तिः—लग्नान्तरासूनां साधनोपपत्तिं पूर्वमेव प्रतिपादितम् । कालांशानां साधनार्थमत्रानुपातः क्रियते—अहोरात्रासुभिः चक्रांशाः लभ्यन्ते तदा अन्तरासभिः किमिति जातम्—

$$\frac{३६० \times \text{अन्तरासु}}{\text{अहोरात्रासु}} = \frac{३६० \times \text{अन्तरासु}}{२१६००}$$

$$= \frac{\text{अन्तरासु}}{६०} = \text{इष्टकालांशाः}$$ उपपन्नम् ।

उदयास्तयोरुपलब्धकालांशाः

एकादशामरेज्यस्य तिथिसंख्याऽर्कजस्य च ।
अस्तांशा भूमिपुत्रस्य दश सप्ताऽधिकास्ततः ।। ६ ।।
पश्चादस्तमयोऽष्टाभिरुदयः प्राङ्महत्तया ।
प्रागस्त उदयः पश्चादल्पत्वाद्दशभिर्भृगोः ।। ७ ।।
एवं बुधो द्वादशभिश्चतुर्दशभिरंशकैः ।
वक्री शीघ्रगतिश्चार्कात् करोत्यस्तमयोदयौ ।। ८ ।।

अथ यैः कालांशैः उदयोऽस्तो वा भवति तान् विवक्षुः प्रथमं गुरुशनिभौमानां कालांशानाह । तत इष्टकालांशावगमानन्तरमस्तांशाः । अस्तो यैः अंशैः भवति तेऽंशा अस्तोपलक्षणाद् उदयांशा ज्ञेयाः । अमरेज्यस्य गुरोः एकादश कालांशाः । शनेः पञ्चदश संख्या कालांशानाम् । चः समुच्चये । भौमस्य सप्ताधिकादश सप्तदश कालांशा इत्यर्थः ।। ६ ।।

अथ शुक्रस्य आह । शुक्रस्य महत्तया वक्रत्वेन नीचासन्नत्वात् स्थूल-विम्बतया पश्चिमायाम् अस्तोऽष्टाभिः कालांशैः प्राच्याम् उदयश्च तैः । नाधिकैः । प्राच्यां शुक्रस्य अल्पत्वात् अणुविम्बत्वात् दशभिः कालांशैः अस्तं गणकः कुर्यात् । नाल्पैः । पश्चिमायाम् उदयस्तस्य अणुविम्बस्य दशभिः कालांशैरेव ज्ञेयः ॥ ७ ॥

अथ बुधस्य आह । वक्री शीघ्रगतिः चः समुच्चये बुधः सूर्यात् द्वादशभिः चतुर्दशभिश्च कालांशैः अस्तोदयौ । एवं शुक्ररीत्या करोति । पश्चादस्तं प्रागुदयं च द्वादशभिः कालांशैः महाविम्बतया बुधः करोति । प्रागस्तं पश्चादुदयं च चतुर्दशभिः कालांशैः अणुविम्बत्वात् बुधः करोतीत्यर्थः ॥ ८ ॥

बृहस्पति के ११ शनि के १५ तथा मङ्गल के १७ कालांश होते हैं । {सूर्य से अपने-अपने कालांशों के तुल्य अन्तरित होने पर ग्रह उदय-अस्त होते हैं ।} शुक्र का (वक्री होने पर) नीचासन्न में बड़ा बिम्ब होता है, इसलिये पश्चिम में ८ अस्तकालांश और पूर्व में ८ उदय कालांश होता हैं । छोटे बिम्ब के कारण पूर्व में १० कालांशों से अस्त और पश्चिम में १० कालांशों से उदय होता है । वक्री होने पर शीघ्रगति बुध का बड़ा बिम्ब होने के कारण पश्चिम में १२ कालांशों से अस्त और पूर्व में १२ कालांशों से उदय होता है । बुध का विम्ब छोटा होने से १४ कालांशों पर पूर्व में अस्त तथा पश्चिम में उदय होता है ॥ ६—८ ॥

उपपत्तिः—उच्चासन्ने ग्रहविम्बानामल्पत्वात् कालांशा अधिका भवन्ति । नीचे नीचासन्ने वा ग्रहबिम्बस्य महत्त्वात् कालांशा अल्पा भवितुमर्हन्ति । लघुबिम्बात्मकानां भौमगुरुशनीनाञ्चोच्चनीचयोः कालांशे समत्वमवलोक्य तेषामुदये अस्ते चैका एव कालांशापठिताः । बुधशुक्रयोस्तु नीचासन्ने वक्रत्वे वा द्विहीना कालांशाः विम्बयो-र्विपुलत्वं प्रकल्प्य कृतमित्युपपन्नम् ॥ ६—८ ॥

कालांशानां प्रयोजनम्

एभ्योऽधिकैः कालभागैर्दृश्या न्यूनैरदर्शनाः ।
भवन्ति लोके खचरा भानुभाग्रस्तमूर्तयः ॥ ९ ॥

अथ प्रोक्ता इष्टकालांशाभ्याम् अस्तस्य उदयस्य वा गतैष्यत्वज्ञानमाह । एभ्य एकादशामरेज्यस्येति श्लोकत्रयोक्तेभ्योऽधिकैः इष्टकालांशैः दृश्या दर्शनयोग्या अभीष्ट-काले ग्रहा भवन्ति। तथा च अस्तसाधने दृश्यत्व अस्त एष्यः । उदय साधने दृश्यत्व उदयो गत इति भावः। अल्पैः इष्टकालांशैः ग्रहा लोके भूलोके अदर्शना न विद्यते दर्शनं दृष्टिगोचरता येषां ते। अदृश्या अभीष्टकाले भवन्ति । ननु अदृश्याः कुतो भवन्तीत्यत आह । भानुभाग्रस्तमूर्त्तय इति। सूर्यासन्नत्वेन सूर्यकिरणदीप्त्या ग्रस्ता अभिभूता सूर्य-किरणप्रतिहतलोकनयनाविषया मूर्त्तिविम्बस्वरूपं येषां त इत्यर्थः। तथा च अस्त-साधन अदृश्यत्वेऽस्तो गतः । उदयसाधनेऽदृश्यत्व उदय एष्य इति भावः । अत एव।

उक्तेभ्य ऊनाभ्यधिका यदीष्टाः, खेटोदयो गम्यगतस्तदा स्यात् ।
अतोऽन्यथा चास्तमयोऽवगम्यः, इति भास्कराचार्योक्तं सङ्गच्छते ।

अत्रोपपत्तिः । उक्त कालांशतुल्येष्टकालांशे यत्काले ग्रहौ साधितौ तत्काल एव ग्रहस्योदयोऽस्तो वा अर्ककृतः उक्त कालांशानां सूर्यसान्निध्यजनिताद्यन्त-ग्रहादर्शने हेतुत्वप्रतिपादनात् । तथा च इष्ट कालांशा उक्तेभ्योऽल्पास्तदा ग्रहस्यास्तङ्ग-तत्वमेवेति उदयसाधन इष्टकालांशा उक्तेभ्योऽल्पास्तदेष्टकालात् अग्रे ग्रहस्योदयः यदीष्टकालांशा उक्तेभ्योऽधिकास्तदेष्टकालाद्ग्रहस्योदयः पूर्वं जातः। एवमस्तसाधन इष्टकालांशा अधिकास्तदेष्टकालात् अग्रे ग्रहास्तः । यदीष्टकालांशा न्यूनास्तदेष्ट-कालात् पूर्वं ग्रहास्तो जात इत्युपपन्नमुक्तम् ।। ९ ।।

सूर्य के तीक्ष्ण किरणों से ढँके (ग्रस्त) हुए ग्रहों के बिम्ब अपने-अपने उक्त कालांशों से अधिक इष्टकालांश होने पर दर्शन योग्य होते हैं । और न्यून इष्टकालांश होने पर अदृश्य होते हैं ।। ९ ।।

उपपत्तिः—सूर्यग्रहयोरन्तरमन्तरांशाः । यावन्मितेऽन्तरे ग्रहा अस्तं यान्ति तावा-नेव कालांशाः । यदि ग्रहा पठितकालांशेभ्योऽधिका भवन्ति तदा सूर्येणसहान्तरा-धिक्यात् ग्रहाणां दृश्यत्वमल्पत्वे चादृश्यत्वमित्युपपन्नम् ।। ९ ।।

ग्रहोदयास्तयोर्गतगम्य दिनादयः

तत्कालांशान्तरकला भुक्त्यन्तरविभाजिताः ।
दिनादि तत्फलं लब्धं भुक्तियोगेन वक्रिणः ।। १० ।।

अथ उदयास्तयोर्गतैष्यदिनाद्यानयनमाह । उक्तेष्टकालांशयोः अन्तरस्य कलाः सूर्यग्रहयोर्गत्योः कलात्मकान्तरेण भक्ताः। दिनादिकमुदयास्तयोः फलमुदयास्तयोर्गतै-ष्यदिनाद्यं भवतीत्यर्थः । वक्रगतिग्रहस्य विशेषमाह । लब्धमिति । वक्रिणो वक्र ग्रहस्य भुक्तियोगेन सूर्यग्रहयोः कलात्मकगतियोगेन भक्ताः फलं गतैष्यदिनाद्यं ज्ञेयम् ।

अत्रोपपत्तिः।सूर्यग्रहयोर्गत्यन्तर कलाभिरेकं दिनं तदेष्टप्रोक्तकालांशयोः अन्तर-कलाभिः किमित्यनुपातेन उदयास्तयोः अभीष्टकालाद्गतैष्यदिनाद्यवगमः । वक्रग्रहे तु सूर्यग्रहयोर्गतियोगेन प्रत्यहमन्तरवृद्धेर्गतियोगात् अनुपात उपपन्न इत्युपपन्नमुक्तम् ।।१०।।

पाठपठित कालांश और इष्टकालांशों की अन्तर कलाओं में सूर्य और ग्रह की (वक्ष्यमाण) कालगति की अन्तर कला का तथा वक्री ग्रह हो तो गतियोगकला का भाग देने से लब्ध फल गत-गम्य दिनादि होते हैं ।। १० ।।

उपपत्तिः—ग्रहाणां कालांशाः नाडी वृत्तीयाः भवन्ति । पठितं कालांशान्तर-मपि नाडीवृत्तीयम् अतोनुपातः—कालात्मक ग्रहार्कयोर्गत्यन्तरेण चैकं दिनं तदा

पठितकालांशान्तरेण किमिति— $\frac{\text{कालांशान्तरकला} \times १}{\text{गत्यन्तरकला}}$ = गत-गम्य दिनादिः ।

एवमेव वक्रत्वे सति गतियोग कलाभिरनुपातः क्रियते—

$$\frac{\text{कालांशान्तरकला} \times १}{\text{गतियोगकला}}$$ = गत-गम्यदिनादिः ।। १० ।। **उपपन्नम् ।**

तल्लग्नासुहते भुक्ती अष्टादशशतोद्धृते ।
स्यातां कालगती ताभ्यां दिनादि गतगम्ययोः ।। ११ ।।

अथ ग्रहगतिकलयोः क्रान्तिवृत्तस्थत्वात् कालांशान्तरस्य अहोरात्रवृत्तस्थत्वाच्च अनुपातः प्रमाणेच्छयोः वैज्यात्येन अयुक्त इति मनसि धृत्वा तयोः एकजातित्वसम्पादनार्थं ग्रहगत्योः इच्छाजातीयत्वं वदन् तदन्तरेण अनुपातस्तु युक्त एवेत्याह । भुक्ती रविग्रहयोर्गती कलात्मके तल्लग्नासुहते कालसाधनार्थं ग्रहस्य यो राश्युदयो गृहीतस्तेनास्वात्मकोदयेन गुणित अष्टादशशतेन भक्ते फले सूर्यग्रहयोः कालांशवत् कालगती स्याताम् । ताभ्यां गतिभ्यां गतगम्ययोः उदयास्तयोर्दिनादि पूर्वोक्तप्रकारेण साध्यम् । न तु पूर्वोक्त प्रकारेण यथास्थितगतिभ्यां स्थूलत्वापत्तेः । अत्रोपपत्तिः । एकराशिकलाभिः राश्युदयासवस्तदा गतिकलाभिः क इत्यनुपातेन अहोरात्रवृत्ते गत्यसवः कलासमा इत्युपपन्नमुक्तम् ।। ११ ।।

सूर्य और इष्टग्रह की कलात्मक गतियों को ग्रहाधिष्ठित राशि के लग्नोदयासुओं से पृथक्-पृथक् गुणाकर १८०० का भाग दें, लब्ध फल क्रम से सूर्य और ग्रह की कालगति होती हैं । इन कालगतियों से पूर्वोक्त प्रकार से पूर्वोक्त कालांशों के अन्तर द्वारा उदय और अस्तकाल के गत-गम्य दिनादि का साधन करना चाहिए ।। ११ ।।

उपपत्तिः—कालात्मक गत्यानयनायानुपातः—अत्र कालांशा कालवृत्तीया अतः ग्रहगतिकलानां क्रान्तिवृत्तात् अहोरात्रवृत्तीयकरणार्थ प्रयासः क्रियते—यदि क्रान्तिवृत्तीय एकराशिकलाभिः ग्रहार्कनिष्ठराश्युदयासवः लभ्यन्ते तदा स्व स्व गति कलाभिः किमिति ? $\frac{\text{ग्रहार्कनिष्ठराश्युदयासवः} \times \text{ग्रहगतिकला}}{\text{एकराशिकला}}$

$$= \frac{\text{स्वोदयासवः} \times \text{ग्रहगतिकला}}{१८००} = \text{गतिकलोत्पन्नासवः ।}$$

गतिकलोत्पन्नासवः अहोरात्रवृत्तीया एव भवन्ति । अहोरात्रवृत्ते कला असवश्च तुल्या एव अतोपपन्नम् ।। ११ ।।

नक्षत्राणां कालांशाः

स्वात्यगस्त्यमृगव्याधचित्राज्येष्ठाः पुनर्वसुः ।
अभिजिद् ब्रह्महृदयं त्रयोदशभिरंशकैः ।। १२ ।।
हस्तश्रवणफाल्गुन्यः श्रविष्ठा रोहिणी मघा ।
चतुर्दशांशकैर्दृश्या विशाखाऽश्विनिदैवतम् ।। १३ ।।
कृत्तिकामैत्रमूलानि सार्पं रौद्रर्क्षमेव च ।
दृश्यन्ते पञ्चदशभिराषाढाद्वितयं तथा ।। १४ ।।

भरणीतिष्यसौम्यानि सौक्ष्म्यात् त्रि:सप्तकांशकैः।
शेषाणि सप्तदशभिर्दृश्यादृश्यानि भानि तु ॥ १५ ॥

अथ नक्षत्राणां सूर्यसान्निध्यवशात् अस्तोदयज्ञानार्थं कालांशान् विवक्षुः प्रथममेषामाह । मृगव्याधो लुब्धकः । त्रयोदशभिः कालांशैः दृश्यानि नक्षत्राणि भवन्ति । शेषं स्पष्टम् ॥ १२ ॥

अथ अन्येषामेषामाह । फाल्गुनीं पूर्वोत्तराफाल्गुनीद्वयम् । अश्विनिदैवतम् अश्विनीकुमारो दैवतं स्वामी यस्य इति अश्विनीनक्षत्रम् । दृश्या उपलक्षणात् अदृश्या अपि । लिङ्गपरिणामश्च यथायोग्यं बोध्यः । शेषं स्पष्टम् ॥ १३ ॥

अथ अन्येषामेषामाह । कृत्तिकानुराधामूलनक्षत्राणि पञ्चदशभिः कालांशैः दृश्यन्ते । उपलक्षणान्न दृश्यन्तेऽपि । एवकारो न्यूनाधिकव्यवच्छेदार्थः । आश्लेषार्द्रा । चः समुच्चये । आषाढाद्वितयं पूर्वोत्तराषाढाद्वयं तथा पञ्चदशकलांशैः दृश्यन्त इत्यर्थः ॥ १४ ॥

अथ अन्येषाम् अवशिष्टानां च आह । तिष्यः पुष्यः सोमदैवतं मृगशिरो नक्षत्रमेतानि नक्षत्राणि सौक्ष्म्यात् अणुविम्बत्वात् त्रि:सप्तकांशकैः एकविंशति-कालांशैर्दृश्यादृश्यानि । उदितानि अस्तङ्गतानि च भवन्तीत्यर्थः । शेषाणि पूर्वाधिक-रोक्तनक्षत्रेषु उक्तातिरिक्तानि शततारापूर्वोत्तराभाद्रपदारेवतीसंज्ञानि । वह्निब्रह्मापां-वत्सापसंज्ञानि च सप्तदशभिः कालांशैर्दृश्यादृश्यानि भवन्ति । तुकारो दृश्या-दृश्यानीत्यत्र समुच्चयार्थकः ॥ १५ ॥

स्वाती, अगस्त्य, मृगव्याध, चित्रा, ज्येष्ठा, पुनर्वसु, अभिजित् और ब्रह्महृदय के १३ कालांश होते हैं । हस्त, श्रवण, पूर्वाफाल्गुनी, उत्तराफाल्गुनी, धनिष्ठा, रोहिणी और मघा के १४ कालांश, विशाखा, अश्विनी, कृत्तिका, अनुराधा, मूल, आश्लेषा, आर्द्रा, पूर्वाषाढ़ा तथा उत्तराषाढ़ा के १५ कालांश, भरणी, पुष्य और मृगशिरा के सूक्ष्म बिम्ब होने के कारण २१ कालांश हैं तथा शेष शततारा, पूर्वाभाद्रपदा, उत्तराभाद्रपदा, रेवती, अग्नि, ब्रह्म, अपांवत्स और आप के १७ कालांश हैं । ये सभी नक्षत्र और तारे अपने-अपने कालांशों के तुल्य सूर्य से अन्तरित होने पर दृश्य और अदृश्य होते हैं । अर्थात् कालांशों से अधिक अन्तरित होने पर दृश्य (उदय) और न्यून अन्तरित होने पर अदृश्य (अस्त) होते हैं ॥ १२-१५ ॥

प्रकारान्तरेणोदयास्त साधनम्

अष्टादशशताभ्यस्ता दृश्यांशाः स्वोदयासुभिः ।
विभज्य लब्धाः क्षेत्रांशास्तैर्दृश्याऽदृश्यताऽथवा ॥ १६ ॥

अथ दिनाद्या नयनार्थमिच्छाया एव प्रमाणजातीयकरणत्वमाह । दृश्यांशाः कालांशा अष्टादशशतगुणितास्तान् स्वोदयासुभिः ग्रहराश्युदयासुभिः भक्ता लब्धाः क्षेत्रांशाः क्रान्तिवृत्तस्थांशास्तैः अंशैः दृश्यादृश्यता । उदयास्तौ प्रकारान्तरेण उक्तरीत्या

ज्ञेयौ । कालांशाभ्यां क्षेत्रांशौ आनीय तदन्तरकला यथास्थितगत्यो: अन्तरेण योगेन वा भक्ता: फलम् उदयास्तयोर्गतैष्यदिनाद्यं पूर्वागतमेव स्यात् इत्यर्थ: ।

अत्रोपपत्ति: । राश्युदयासुभि: एकराशिकलास्तदा कालांशकला तुल्यासुभि: का इति क्रान्तिवृत्ते कलास्ता: षष्टिभक्ता अंशा इति पूर्वमेव इच्छास्थाने कालांशा एव धृता लाघवात् । इत्युक्तमुपपन्नम् ।। १६ ।।

नक्षत्र और ताराओं के पूर्वोक्त कालांशों को १८०० से गुणाकर ग्रह की राशि के उदयासुओं से भाग देने पर भागफल उन नक्षत्र और तारों के क्षेत्रांश अर्थात् क्रान्तिवृत्तगत अंश होते हैं । उनसे ग्रहों की तरह नक्षत्र और तारों का भी उदय-अस्त साधन पूर्वोक्तरीति से करना चाहिए ।। १६ ।।

उपपत्ति:—ग्रहाणां नक्षत्राणां वा कालांशा: नाडी वृत्तीया: भवन्ति । कालांशा: $\times$ ६० = कालासव: ।

अतोऽनुपात:—यदि स्वोदयासुभि: राशिकला लभ्यते तदा कालांश कला तुल्यासुभि: किमिति—

$$\frac{\text{१८०० × कालांशतुल्यासु}}{\text{स्वोदयासु}} = \text{क्रान्तिवृत्तस्थकला ।}$$

लब्धकला षष्टिभिर्विभज्यांशात्मकं क्रियते ।

$$\text{अत:}\quad \frac{\text{१८०० × कालांशतुल्यासु}}{\text{स्वोदयासु × ६०}} = \frac{\text{१८०० × कालांशा × ६०}}{\text{स्वोदयासु × ६०}}$$

$$= \frac{\text{१८०० × कालांशा}}{\text{स्वोदयासु}} = \text{क्षेत्रांशा: क्रान्ति वृत्तीया:}$$

उपपन्नम् ।

नक्षत्राणामुदयास्त दिग्ज्ञानम्

प्रागेषामुदय: पश्चादस्तो दृक्कर्म पूर्ववत् ।
गतैष्यदिवसप्राप्तिर्भानुभुक्त्या सदैव हि ।। १७ ।।

ननु ग्रहाणाम् अमुकदिश्यस्तोऽमुकदिश्युदय इत्युक्तम् । तथा नक्षत्राणां नोक्तम्। गत्यभावाद्वियोगयोगासम्भवेन गतैष्य दिनाद्यानयनासम्भवश्चेत्यत आह । एषां नक्षत्राणां प्राच्याम् उदय: प्रतीच्याम् अस्तो गत्यभावात् अल्पगति ग्रहवत् । एषां नक्षत्राणां दृक्कर्माक्षदृक्कर्म पूर्ववत् पूर्वप्रकारेण कार्यम् । परन्तु श्लोकपूर्वार्द्धोक्तमिति ध्येयम् । सदा नित्यम् । एवकारात् कदाचिदपि अन्यथा न इत्यर्थ: । हि निश्चयेन । रविगत्या गतैष्यदिवसानां लब्धि: स्यात् नक्षत्रगत्यसम्भवात् । योगे ग्रहगतिवत् ।। १७ ।।

नक्षत्रों का पूर्व में उदय और पश्चिम में अस्त होता है । नक्षत्रों में पूर्ववत् आक्षदृक्कर्म का संस्कार करना चाहिए । सदैव सूर्य की गति से ही गत गम्य दिनादि का साधन होता है ।। १७ ।।

सदोदित नक्षत्राणि

अभिजिद् ब्रह्महृदयं स्वातिवैष्णववासवाः ।
अहिर्बुध्न्यमुदक्स्थत्वान्न लुप्यन्तेऽर्करश्मिभिः ॥ १८ ॥

॥ सूर्यसिद्धान्ते उदयास्ताधिकारः सम्पूर्णः ॥ ९ ॥

अथ कतिपयानां नक्षत्राणां सूर्यसान्निध्यवशादस्तो नास्तीत्याह । अभिजित् । ब्रह्महृदयम् । अनेन एकदेशस्य ब्रह्मणोऽपि ग्रहणम् । स्वातीश्रवणधनिष्ठाः । अहिर्बुन्ध्य-मुत्तराभाद्रपदा । एतानि नक्षत्राणि उत्तरदिक्स्थत्वात् उत्तर विक्षेपाधिक्यात् इत्यर्थः । सूर्यकिरणैर्न लुप्यन्ते । अस्तं न यान्तीत्यर्थः । अत्रोपपत्तिः ।

यस्योद्‌याकर्दिधिकोऽस्तभानुः
प्रजायते सौम्यशरातिदैर्घ्यात् ।
तिग्मांशुसान्निध्यवशेन नास्ति
धिष्ण्यस्य तस्यास्तमयः कथञ्चित् ॥

इति भास्कराचार्योक्ता । परमिदमुक्तमष्टाक्षभायाम् । अन्यथा पूर्वाभाद्रपदाया अपि तथात्वापत्तेरिति दिक् ॥ १८ ॥

अथ अग्रिमग्रन्थस्य असङ्गतित्वनिरासार्थम् अधिकारसमाप्तिं फक्किकया आह । नक्षत्रग्रहयोः अस्तोदयनिरूपणात् साधारण्येन उदयास्ताधिकार इत्युक्तम् ।

रङ्गनाथेन रचिते सूर्यसिद्धान्तटिप्पणे ।
उदयास्ताधिकारोऽयं पूर्णो गूढप्रकाशके ॥

॥ इति श्रीसकलगणकसार्वभौमबल्लालदेवज्ञात्मजरङ्गनाथगणकविरचिते गूढार्थप्रकाशके उदयास्ताधिकारः पूर्णः ॥ ९ ॥

अभिजित्, ब्रह्महृदय, स्वाती, श्रवण, धनिष्ठा तथा उत्तराभाद्रपदा का उत्तर शर अधिक है इसलिए ये कभी भी अस्त नहीं होते ॥ १८ ॥

उपपत्तिः—नक्षत्राणां गतिकलाभावात् अल्पगतिग्रहतुल्यमेव नक्षत्राणामुदयास्तौ भवतः । अत्र रविगतिवशादेव गत-गम्ययोर्दिनयोः साधनं क्रियते ॥ १८ ॥ उपपन्नम् ।

॥ पण्डितवर्य बलदेवदैवज्ञात्मज प्रो० रामचन्द्रपाण्डेय द्वारा विरचित सूर्यसिद्धान्त के उदयास्ताधिकार का हिन्दीभाषानुवाद एवं संस्कृतोपपत्ति सम्पूर्ण ॥ ९ ॥

अथ शृङ्गोन्नत्यधिकारः - १०

चन्द्रस्य दृश्यादृश्यत्वम्

उदयास्तविधिः प्राग्वत् कर्तव्यः शीतगोरपि ।
भागैर्द्वादशभिः पश्चाद् दृश्यः प्राग् यात्यदृश्यताम् ।। १ ।।

अथ भौमादीनां सूर्यसान्निध्योदयास्तासन्ने दीप्त्या सकलविम्बदर्शनं तथा चन्द्रस्य स्वोदयास्तकाले सकलविम्बदर्शनं शुक्लत्वेन न भवति । किन्तु विम्बैकदेश एव शुक्लत्वेन दृश्यत इति भौमादिविसदृशत्वं चन्द्रस्य कुत इत्याशङ्कायाः पूर्वाधिकारे समुपस्थितेस्तदुत्तरभूतशृङ्गोन्नमनाधिकारोऽवश्यमुपस्थित आरब्धो व्याख्यायते । तत्र शृङ्गोन्नतेरुदयकालात् पूर्वकालेऽस्तकालानन्तरकाले च आसन्नकतिपय दिवसेषु दर्शनात् पूर्वाधिकारे चन्द्रस्य कालांशानुक्त्या तदुदयास्तानुक्तेश्च प्रथममुपस्थित-चन्द्रोदयास्तयोः साधनमतिदिशति । चन्द्रस्य । अपि शब्दः पूर्वाधिकारोक्तैः ग्रहनक्षत्रैः समुच्चयार्थकः । उदयास्त विधिरुदयास्तयोः साधनप्रकारः प्राग्वत् पूर्वाधिकारोक्त-रीत्या गणकेन कार्यः । ननु कालांशानां पूर्वमनुक्तेः कथं तत्सिद्धिः अत आह । भागैरिति । द्वादशभिः अंशैः चन्द्रः पश्चिमायां दृश्य उदितो भवति । प्राच्याम् अदृश्यताम् अस्तं प्राप्नोति । अत्र पश्चात् प्रागिति पुनरुक्तमपि पूर्वं बुधशुक्रयोः साहचर्येण चन्द्रोदयास्तदिगुक्त्या तत्साहचर्येण चन्द्रस्य पश्चिमास्तपूर्वोदयौ वर्तेते इति कस्यचित् मन्दबुद्धेर्भ्रमस्य वारणायेति ध्येयम् ।। १ ।।

चन्द्रमा के भी उदय और अस्त का साधन पूर्वोक्त विधि से करना चाहिए । चन्द्रमा १२ अंशों (कालांशों) तक सूर्य से अन्तरित होकर पश्चिम में उदित और पूर्व दिशा में अस्त होता है ।। १ ।।

उपपत्तिः—चन्द्रस्य कालांशाः = १२ । अतश्चन्द्रसूर्ययोर्मध्ये यदि १२ कालांशाः भवन्ति तदा चन्द्रमा दृश्यस्तथा च तावानेवान्तरांशेनादृश्यो भवति । कथमिति प्रदर्श्यते रवीन्द्वोः परमान्तरं ३६०° अंशात्मकं भवितुमर्हति । अतोऽनुपातः त्रिंशत् तिथिभिः भगणांशतुल्यान्तरं समायाति तदा एकतिथौ किमिति जातम् $\frac{३६० \times १}{३०}$ = १२ अंशाः । अतः सूर्यचन्द्रयोर्युतिकालाद् आमान्तात् १२ अंशान्तरे प्रतिपदन्ते प्रतीच्यां चन्द्रः सूर्यादन्तरितो भूत्वा दृश्यो भवति । एवमेव सूर्यात् पृष्ठवर्ती चन्द्रश्चतुर्दश्यादौ १२ अंशान्तरे पूर्वस्यां दिशि अस्तङ्गतो भवति । इत्युपपन्नम् ।

सूर्यास्तानन्तरं चन्द्रास्तकालज्ञानम्

रवीन्द्वोः षड्भयुतयोः प्राग्वल्लग्नान्तरासवः ।
एकराशौ रवीन्द्वोश्च कार्या विवरलिप्तिकाः ।। २ ।।
तन्नाडिकाहते भुक्ती रवीन्द्वोः षष्टिभाजिते ।
तत्फलान्वितयोर्भूयः कर्तव्या विवरासवः ।। ३ ।।
एवं यावत् स्थिरीभूता रवीन्द्वोरन्तरासवः ।
तैः प्राणैरस्तमेतीन्दुः शुक्लेऽर्कास्तमयात् परम् ।। ४ ।।

अथ उदयास्तप्रसङ्गेन स्मृतयोः चन्द्रनित्यास्तोदययोः साधनं विवक्षुः प्रथमं श्लोकत्रयेण इन्दोर्नित्यास्तसाधनमाह । शुक्ले शुक्लपक्षाभीष्टदिने सूर्यास्तकाले स्पष्टौ सूर्यचन्द्रौ साध्यौ । चन्द्रस्य दृक्कर्मद्वयं संस्कार्यम् । तत्राक्षदृक्कर्मश्लोकपूर्वार्द्धोक्तमेव । तयोः सूर्यचन्द्रयोः षड्राशियुतयोः लग्नान्तरासवोऽन्तरकालासवः प्राग्वद्भोग्यासूनूनकस्य इत्यादिना साध्याः । तौ सषड्भार्कचन्द्रौ एकराशौ अभिन्नराशौ चेत् स्तः तदा सषड्भयोस्तयोः सूर्यचन्द्रयोः अन्तरकलाः कार्याः । चकारो विषयव्यवस्थार्थकः । तयोः असुकलयोः घटिकाभिः असवः षष्ट्यधिकशतत्रयेण भाज्याः । घटिकाः कला उदयासुगुणिता एकराशिकलाभिः भक्ता असवस्ते षष्ट्यधिकशतत्रयेण भाज्याः । घटिकाः । आभिः सूर्येन्द्वोर्गती कलात्मके गुण्ये षष्टिभक्ते तत् फलान्वितयोः स्वस्वफलयुक्तयोः सषड्भ सूर्यचन्द्रयोः भूयः पुनर्विवरासवोऽन्तरप्राणाः पूर्वरीत्या कर्तव्याः । एवं तद्घटिकाभिः सूर्यास्तकालिकौ सषड्भसूर्यदृक्कर्मसंस्कृतचन्द्रौ प्रचाल्य तयोर्विवरासव इति यावत् स्थिरीभूता अभिन्नास्तावत् साध्याः। तैः अभिन्नैः असुभिः सूर्यास्ताद् अनन्तरं चन्द्रोऽस्तं प्राप्नोति ।

अत्रोपपत्तिः । सूर्यास्तकाले सषड्भार्को लग्नं दृक्कर्मसंस्कृतश्चन्द्रः षड्भयुतश्चन्द्रास्तकाले लग्नम् । परन्तु सूर्यास्तकालिकं न स्वास्तकालिकम् । पश्चिमदृग्ग्रहः सूर्यास्तकालिक इति तत्त्वम् । तदन्तरासवः सावनाश्चन्द्रस्य सूक्ष्मा दिनशेषाः । परन्तु परिभाषया नाक्षत्रज्ञासम्भवात् नाक्षत्राः साध्या इति चन्द्रस्ताभिश्चाल्यः स्वास्तकाले सषड्भो लग्नमस्मात् सूर्यास्तकालिकसषड्भसूर्याच्च अन्तरासवो नाक्षत्राः सूक्ष्मा अपि भगवतैकरीतिप्रदर्शनार्थं भिन्नकालिकाभ्यां सूर्यचन्द्राभ्यां कथं सूक्ष्मसमयसिद्धिरिति मन्दाशङ्कापनोदार्थं च सषड्भः सूर्योऽपि साधितः चन्द्रास्तकाले । ताभ्याम् अन्तरासवो नाक्षत्रा अपि सूर्यास्तकालिकलग्नाग्रहात् असूक्ष्मा इति असकृत् सूक्ष्मा इत्युक्तमुपपन्नम् । वस्तुतस्तु सावनाभ्युपगमे ।

रवीन्द्वोः षड्भयुतयोः प्राग्वल्लग्नान्तरासवः ।
तैः प्राणैरस्तमेतीन्दुः शुक्लेऽर्कास्तमनात् परम् ।।

इत्येक एव सूर्यसिद्धान्ते श्लोकः । श्लोकमध्य एकराशौ इत्यादि रवीन्द्वोः इति अन्तरासव इत्यन्तं श्लोकद्वयं केनचित् मन्दमतिना समयोऽसकृदेव साध्य इति शिष्यधीवृद्धिदतन्त्रोक्तं सुबुद्धिम्मन्येन अयुक्तमपि युक्तियुक्तमत्वा निक्षिप्तम् । कथमन्यथा भगवतः सर्वज्ञस्य शुद्धसावनघटी ज्ञानानन्तरम् असकृत् साधनोक्तिः सङ्गच्छते । किञ्च ।

एकराशौ रवीन्द्वोश्च कार्यं विवरलिप्तिका:। इत्यर्द्धस्य त्रिपश्नाधिकारे भोग्या-सूनूनकस्य इत्यादि श्लोकाग्रेऽपेक्षितत्त्वेन अत्रानपेक्षितत्वम् । प्राग्वल्लग्नान्तरासव इत्यनेन एव अत्र तत्सिद्धेरिति । अथ नाक्षत्राभ्युपगमे तु चन्द्रस्यं सावनघटीभिश्चालनं स्वास्तकालिकसिद्धयर्थमावश्यकं न तु सूर्यस्य प्रयोजनाभावात् । न हि चन्द्रास्त-कालसाधित सषड्भसूर्य: सूर्यास्तकालिकं लग्नं येन सूर्यचालनं युक्तम् । अपि च । एकस्य चन्द्रस्य चालनेन पुनरेकवारेणैव सूक्ष्मनाक्षत्रकालसिद्धौ द्वयोश्चालनोक्त्या नाक्षत्रस्य असकृत् क्रियानयनमतत्वं गौरवं सर्वज्ञेन कथमुक्तम् । असकृत्साधनेन सूक्ष्मनाक्षत्रसिद्धौ युक्त्यभावश्च । अतएव ।

ज्ञातं यदा भाभिमता ग्रहस्य तत्कालखेटोदयलग्नलग्ने ।
साध्ये तयोरन्तरनाडिका या: ता: सावना: स्युर्द्युगता ग्रहस्य ।।
इति भास्कराचार्योक्तं सङ्गच्छत इति तत्वम् ।। ४ ।।

शुक्लपक्ष में अभीष्टदिन में सूर्यास्तकाल के समय स्फुट सूर्य और चन्द्रमा का साधन कर चन्द्रमा में आयन और आक्षदृक्कर्म का संस्कार करें । स्फुट सूर्य और चन्द्र में ६ राशि जोड़कर इनके अन्तरासुओं का साधन करना चाहिये । सूर्यास्त के अनन्तर इन अन्तरासुओं के तुल्य रात्रि व्यतीत होने पर चन्द्रमा अस्त होता है ।। २—४ ।।

उपपत्ति:——सूर्यास्तसमये षड्राशियुतो रविरेवलग्नम् । दृक्कर्मसंस्कृतश्चन्द्र: षड्राशियुत: चन्द्रास्तसमये लग्नं भवति। अनयोरन्तरं सावनात्मकस्य चन्द्रस्य दिनशेष:। यतो हि ग्रहक्षितिजयोर्मध्ये सावनात्मक: कालस्तिष्ठति । परमत्र नाक्षत्रकालोऽभीष्ट: । अत: सूर्यास्तकाले षड्राशियुतस्य सूर्यस्य चन्द्रस्य चान्तरासूनां साधनं कर्त्तव्यम् । एवं असकृतकर्मणा नाक्षत्रकाल: समायाति । सूर्यास्तात् परं साधित नक्षत्रासूनां तुल्यं रात्र्यवसाने शुक्लपक्षे चन्द्रास्तो भवति ।   उपपन्नम् ।

सूर्यास्तादनन्तरं चन्द्रोदयज्ञानम्

भगणार्धं रवेर्दत्वा कार्यास्तद्विवरासव: ।
तै: प्राणै: कृष्णपक्षे तु शीतांशुरुदयं व्रजेत् ।। ५ ।।

अथ उदयसाधनमाह । कृष्णपक्षे भगणार्द्धं षट्राशीन् सूर्यस्य दत्वा संयोज्य तुकारात् चन्द्रस्य अदत्वेत्यर्थ: । तद्विवरासव: तयो: दृक्कर्मसंस्कृत चन्द्रसषड्भ-सूर्ययो: अन्तरासव: प्रागुक्तप्रकारेण साध्या: । तै: साधितै: असुभिश्चन्द्र: सूर्यास्तानन्तरमुदयं गच्छेत् । अत्रोपपत्ति: । सूर्यास्तकाले सषड्भार्कस्य लग्नत्वात् सूर्ये षट्राशियोजनम् । उदयसाधनार्थम् । प्राग्दृग्ग्रहस्यापेक्षितत्वाच्चन्द्रो दृक्कर्मसंस्कृतो यथास्थितो न षट्राशियुक्त: । तद्विवरासुभि: चन्द्रस्य सूर्यास्तानन्तरमुदय: सावनै: । तच्चालितचन्द्रात् सूर्यास्तकालिकसषड्भार्काच्च विवरासवो नाक्षत्रा इति । शृङ्गोन्नतिसाधनार्थं दृश्यकाले सूर्यचन्द्रौ साध्यौ इति ज्ञापनार्थं चन्द्रस्य नित्योदयास्तौ उक्तौ अन्येषां ग्रहनक्षत्रादीनां प्रयोजनाभावाद् अनुक्तौ चन्द्रोपलक्षणादुक्तौ वा तत्र शुक्लकृष्णपक्षविवेको न इति ध्येयत् ।। ५ ।।

भगणार्ध अर्थात्, ६ राशि सूर्य में जोड़कर दृक्कर्मसंस्कृत केवल चन्द्र के अन्तरासुओं का साधन करना चाहिये इन्हीं अन्तरासुओं के तुल्य सूर्यास्त के अनन्तर कृष्णपक्ष में चन्द्रमा उदित होता है ।। ५ ।।

उपपत्ति:—सूर्यास्तकाले षड्राशियुतो रविरेवास्तलग्नम्। कृष्णापक्षे सूर्यास्तानन्तरं क्षितिजादधश्चन्द्रो भवति। अतोऽस्तलग्नचन्द्रान्तरासुभि: चन्द्रोदय: स्यादित्युपपन्नम्।

शृङ्गोन्नति साधने भुज-कोटि कर्णानामानयनम्

अर्केन्द्वो: क्रान्तिविश्लेषो दिक्साम्ये युतिरन्यथा।
तज्ज्येन्दुरर्काद्यत्रासौ विज्ञेया दक्षिणोत्तरा ।। ६ ।।
मध्याह्नेन्दुप्रभाकर्णसङ्गुणा यदि सोत्तरा।
तदाऽर्कघ्नाक्षजीवायां शोध्या योज्या च दक्षिणा ।। ७ ।।
शेषं लम्बज्यया भक्तं लब्धो बाहु: स्वदिङ्मुख:।
कोटि: शङ्कुस्तयोर्वर्गयुतेर्मूलं श्रुतिर्भवेत् ।। ८ ।।

अथ प्रकृतं विवक्षु: प्रथमं तदुपयुक्तभुज कोटिकर्णात्मकं क्षेत्रं श्लोकत्रयेण आह । सूर्यचन्द्रयो: स्पष्टक्रान्त्योर्दिगैक्येऽन्तरम् । अन्यथा दिग्भेदे योग: । अत्र क्रान्तिशब्द: क्रान्तिज्यापरो ज्ञेय: । उपपत्यविरोधात् । तज्ज्या सा च असौ ज्या च संस्कारसिद्धाङ्कमिता ज्येत्यर्थ: ।अर्काच्चन्द्रो यत्र यस्यां दिशि तद्दिका दक्षिणोत्तरा वा असौ ज्या ज्ञेया । एकदिशि रविक्रान्तितश्चन्द्रक्रान्ते: अधिकत्वे सूर्याच्चन्द्रस्य क्रान्तिदिक्स्थत्वेन ज्या क्रान्तिदिक् । ऊनत्वेऽर्कात् क्रान्तिदिग्विपरीत दिक्स्थत्वेन क्रान्तिभिन्नदिक् ।भिन्नदिशि चन्द्रक्रान्तिदिग्ज्या ज्ञेया इत्यर्थ: । सा ज्या मध्याह्नेन्दु प्रभाकर्णसङ्गुणा यत्काले चन्द्र: शृङ्गोन्नत्यर्थं साधितस्तत्काले मध्याह्नच्छायाकर्णवच्छायाकर्णश्चन्द्रस्य साध्य: । स तु अक्षांशचन्द्रस्पष्टक्रान्त्यो: उत्तरदिशि वियोगो दक्षिणदिशि योगस्तदूननवत्यंशज्यया भक्ता द्वादशगुणितत्रिज्येति ।उपपत्यनुरोधेन तु मध्याह्नपदं तत्कालपरम् । यत्काले चन्द्रस्तत्काले चन्द्रस्य द्युगतं दिनशेषं वा प्रसाध्य त्रिप्रश्नाधिकारविधिना शङ्कु प्रसाध्य छायाकर्ण: साध्य: ।अह्नोऽहोरात्रस्य मध्यं सूर्यास्तस्तात् कालिक: । चन्द्रस्य छायाकर्णो वायमेव भगवदभिप्रेत: । कथमन्यथा चन्द्रस्य शृङ्गोन्नतौ दृक्कर्मद्वयसंस्कार: शृङ्गोन्नतौ शशाङ्कस्येति प्रागुक्त: सङ्गच्छते । दिनार्द्धातिरिक्तच्छायासाधनार्थमेव दृक्कर्मणो: उपयोगात् अन्यत्र शृङ्गोन्नतिगणित उपयोगाभावात् । स्पष्टक्रान्त्यैव छायाकर्णसिद्धे: । अत्रापि श्लोकपूर्वार्द्धोक्तमेवाक्षदृक्कर्मसंस्कार्यम् ।तेन छायाकर्णेन गुणिता इत्यर्थ: ।सा तादृशी ज्या यद्युत्तरा तदा द्वादशगुणितायाम् अक्षज्यायां शोध्यान्तरिता । तेन द्वादशगुणितायाम् अक्षज्यायां शोध्यान्तरिता । तेन द्वादशगुणिता अक्षज्याधिका तादृशी ज्या । तदापि विपरीतशोधने न क्षति: ।यदि दक्षिणा तदा तस्यामेव युक्ता कार्या चोव्यवस्थार्थक:। शेषं संस्कारजं स्वदेशलम्बज्यया भक्तं फलं भुज: प्राप्त: । स्वदिङ्मुख: स्वशब्देन संस्कारस्तस्य दिक् तस्यां मुखमग्रं यस्य असौ । संस्कारदिक्क इत्यर्थ: । भुजस्य

कोटिकर्णसापेक्षत्वात् तौ आह । कोटिरिति । शङ्कुर्द्वादशाङ्गुलः कोटिः । तयोः भुजकोट्योः । वर्गयोर्योगात् पदं कर्णः स्यात् ।

अत्रोपपत्तिः— स्वाग्रास्वशङ्कुतलयोः समभिन्नदिक्त्वे ।
योगोऽन्तरं भवति दोरिनचन्द्रदोष्णोः
तुल्यांशयोर्विवरमन्यदिशोस्तु योगः ॥
स्पष्टो भुजो भवति चन्द्रभुजांश इन्दोः
शुद्धे भुजे रविभुजाद्विपरीतदिक्कः ।

इति सूक्ष्मभुजसाधनं भास्कराचार्येण सिद्धान्तशिरोमणौ उक्तम् । तदुपपत्तिस्तु तट्टीकायां व्यक्ता । अनया रीत्या भुजसाधनार्थं क्रान्तिज्ययोः अग्रे साध्ये लम्बज्याकोटौ त्रिज्या कर्णस्तदा क्रान्तिज्याकोटौ कः कर्ण इत्यनुपातेन । तत्स्वरूपं तु प्रत्येकं सूर्यचन्द्रयोः सूर्यक्रान्तिज्या त्रिज्यागुणा लम्बज्या भक्ता $\left\{\frac{\text{सू.क्रां.ज्या} \times \text{त्रि १}}{\text{लं.ज्या १}}\right\}$ चन्द्रस्पष्टक्रान्तिज्या त्रिज्यागुणा लम्बज्याभक्ता $\left\{\frac{\text{चं.क्रां.ज्या} \times \text{त्रि १}}{\text{लं.ज्या १}}\right\}$ अनयोः स्वं स्वं शङ्कुतलं संस्कार्यम् । तत्र शृङ्गोन्नत्यर्थं सूर्येण भगवता सूर्योदयास्त कालिक गणितस्यैवाभ्युपगमात् । तत्र सूर्यशङ्कोरभावात् तच्छङ्कुतलाभावाच्च सूर्याग्रैव सूर्यभुजः सिद्धः । चन्द्रस्य तु तदा शङ्कोः सद्भावाच्छङ्कुतलमुत्पद्यते तत्तु लम्बज्याकोटौ अक्षज्याभुजस्तदा शङ्कुकोटौ को भुज इत्यनुपातेन तात्कालिक चन्द्रोन्नतनतकालसाधितो त्रिप्रश्नाधिकारोक्त चन्द्रमहाशङ्कु गुणिता अक्षज्या लम्बज्याभक्तेति दक्षिणमेव शङ्कुतलस्वरूपम् $\left\{\frac{\text{अक्षज्या} \times \text{चंश १}}{\text{लं.ज्या १}}\right\}$ इदं चन्द्र दक्षिणाग्रायां योज्यम्। चन्द्रस्य दक्षिणो भुजः । चन्द्रोत्तराग्रायां तु हीनं चन्द्रस्योत्तरो भुजः । चन्द्रोत्तराग्रया हीनमिदं चन्द्रस्य दक्षिणो भुजः । यथा दक्षिणो भुजः

$\left\{\frac{\text{चं.क्रांज्या} \times \text{त्रि १} \times \text{अक्षज्या} \times \text{चंशं १}}{\text{लं.ज्या १}}\right\}$ वा $\left\{\frac{\text{चं.क्रांज्या} \times \text{त्रि १} \times \text{अक्षज्या} \times \text{चंशं. १}}{\text{लं.ज्या १}}\right\}$

$\left\{\frac{\text{चं.क्रांज्या} \times \text{त्रि १} \times \text{अक्षज्या} \times \text{चंशं १}}{\text{लं.ज्या १}}\right\}$ उत्तरो भुजः $\left\{\frac{\text{चं.क्रांज्या} \times \text{त्रि१} \times \text{अक्षज्या} \times \text{चंशं१}}{\text{लं.ज्या १}}\right\}$ अयं चन्द्रभुजः सूर्याग्रयैक दिश्यन्तरितो भिन्नदिशि युक्तः स्पष्टः शृङ्गोन्नत्युपयुक्तो भुजः । यथा सूर्यस्य दक्षिण गोले

$\left\{\frac{\text{सू.क्रांज्या त्रि१ चं.क्रांज्या त्रि१ अक्षज्या चंशं १}}{\text{लं.ज्या १}}\right\}\left\{\frac{\text{सू.क्रांज्या त्रि१ चं.क्रांज्या त्रि१ अक्षज्या चंशं १}}{\text{लं.ज्या १}}\right\}$

इदं भुजद्वयं स्पष्टो भुजो भवति चन्द्रभुजांश इत्युक्तेः दक्षिणम् । सूर्यभुजस्य न्यूनत्वेन शोध्यत्वात् । सूर्यभुजस्याधिकत्वे तु $\left\{\frac{\text{सू.क्रांज्या त्रि१ चं.क्रांज्या त्रि१ अक्षज्या चंशं १}}{\text{लं.ज्या १}}\right\}$

$\left\{\frac{\text{सू.क्रांज्या। त्रि१चं.क्रांज्या। त्रि१अक्षज्या।चंशं १}}{\text{लं.ज्या। १}}\right\}$ इदं भुजद्वयमुत्तरम् । इन्दोः शुद्धे भुजे रविभुजाद्विपरीतदिक्क इत्युक्तेः । योगे तु उत्तरो भुजः $\left\{\frac{\text{सू.क्रांज्या। त्रि१चं.क्रांज्या। त्रि१अक्षज्या।चंशं १}}{\text{लं.ज्या। १}}\right\}$ सूर्योत्तरगोलेऽपि $\left\{\frac{\text{सू.क्रांज्या। त्रि१चं.क्रांज्या। त्रि१अक्षज्या।चंशं १}}{\text{लं.ज्या। १}}\right\}$ $\left\{\frac{\text{सू.क्रांज्या। त्रि१चं.क्रांज्या। त्रि१अक्षज्या।चंशं १}}{\text{लं.ज्या। १}}\right\}$ इदं भुजद्वयं दक्षिणम् । अन्तरे तु सूर्यभुजस्य न्यूनत्व उत्तरो भुजः $\left\{\frac{\text{सू.क्रांज्या। त्रि१चं.क्रांज्या। त्रि१अक्षज्या।चंशं १}}{\text{लं.ज्या। १}}\right\}$ सूर्यभुजस्याधिकत्वे तु $\left\{\frac{\text{सूय क्रांज्या। त्रि१चं.क्रांज्या। त्रि१अक्षज्या।चंशं १}}{\text{लं.ज्या। १}}\right\}$ दक्षिणोऽयं भुजः । इन्दोः शुद्धेभुज इत्युक्तत्वात् ।

अत्र नवसु पक्षेषु प्रथमपक्षे सूर्यचन्द्रक्रान्तिज्ययोः एकदिशयोः अन्तरं त्रिज्यागुणितं तत्सूर्यक्रान्तिसम्बद्धं चेत् तेनोनाक्षज्येन्दुशङ्कुघातो लम्बज्याभक्त इति । चन्द्रक्रान्तिसम्बद्धं चेत् तेन युतस्तद्घातो लम्बज्या भक्त इति सिद्धम् । तत्राक्षांशानां दक्षिणत्वेनैकदिशि योगार्थं चन्द्रशेषे दक्षिणत्वं सूर्यशेषे उत्तरत्वं भिन्नदिशि वियोगार्थं कल्पितम् । युक्तं च एतत् । सूर्यक्रान्त्यधिकत्वे सूर्यात् चन्द्रस्य उत्तरत्वात् । शृङ्गोन्नतौ चन्द्रस्यैव प्राधान्याच्च । द्वितीयपक्षे क्रान्तिज्ययोः भिन्नदिशयोर्योगेन तादृशेन तद्घात-मूनं कृत्वा लम्बज्यया भजेत् इत्यत्रापि योगस्य अग्रेऽन्तरार्थमुत्तरदिक्त्वं चन्द्रक्रान्ते-रुत्तरत्वेन दक्षिणस्थसूर्यात् चन्द्रस्य सुतराम् उत्तरत्वाच्च । तृतीयपक्षे क्रान्तिज्ययोः एकदिशयोः अन्तरे सूर्यसम्बद्ध एव तादृशे तद्वध ऊन इति वियोगार्थमन्तरस्य उत्तरदिक्त्वम् । द्वयोर्दक्षिण गोलस्थत्वेऽपि अधिकसूर्यात् न्यूनचन्द्रस्य उत्तरत्वात् । चतुर्थपक्षे भिन्नदिशयोः क्रान्तिज्ययोर्योगे तादृशे तद्वध ऊन इति वियोगार्थं योगस्योत्तर-दिक्त्वम् । चन्द्रस्य उत्तरदिक्स्थत्वात् । पञ्चमपक्षे तु चतुर्थपक्षोक्तं तुल्यत्वात् । षष्ठपक्षे क्रान्तिज्ययोर्भिन्नदिशयोर्योगो दक्षिणस्तद्वधे योगार्थं चन्द्रस्य दक्षिणगोलस्थ-त्वात् । सप्तमपक्षे क्रान्तिज्ययोः एकदिशयोः अन्तरं सूर्यसम्बद्धं तदा तद्वधे योज्यमित्यन्तरं दक्षिणम् । द्वयोः उत्तरगोलस्थत्वेऽपि चन्द्रस्य न्यूनत्वेन अर्काद् दक्षिणस्थत्वात् । अधिकत्वे तु उत्तरं तद्वधे हीनमिति । अष्टमपक्षे क्रान्तिज्ययोः एकदिशयोः अन्तरे चन्द्रसम्बद्ध उत्तरे तद्वध ऊनः । चन्द्रस्याधिकत्वेन उत्तरस्थत्वात् । अन्त्यपक्षे तु समदिशयोः क्रान्तिज्ययोः अन्तरं सूर्यसम्बद्धं तद्वधे योज्यमिति दक्षिणम् । चन्द्रस्य न्यूनत्वेन दक्षिणस्थत्वात् इत्युपपन्नं प्रथमश्लोकोक्तम् ।

अत्र केनचित् क्रान्तिशब्देन चापात्मक क्रान्ती गृहीत्वा तत्संस्कारः कृतस्तस्य ज्या कार्येति व्याख्यातम् । तदुपपत्तिविरूद्धम् । न हि भुजसाधने चापात्मक क्रान्ती प्रयोजकत्वेनोपपन्ने । येन व्याख्योक्ता युक्ता । नवा क्रान्तिज्यायोग वियोगाभ्यां चापात्मकक्रान्तियोग वियोगयोर्ज्ये तुल्ये येनोक्तं सङ्गतं स्यात् । अन्यथा अक्षांश

क्रान्त्यंशसंस्कारांशज्यां विनापि क्रान्तिज्याक्षज्ययो: । संस्कारेण नतांशज्याया: साधनापत्तेरिति दिक् । अथ अयं भुजस्त्रिज्यावृत्त इति लाघवात् तात्कालिके चन्द्रच्छायाकर्णमितवृत्ते स्वेच्छया साधितस्त्रिज्यावृत्तेऽयं भुजस्तदा चन्द्रच्छाया कर्णवृत्ते क इत्यनुपातेन क्रान्तिज्ययो: संस्कारमितमाद्यं खण्डं चन्द्रच्छायाकर्ण गुणमिति । सिद्धम् । त्रिज्यामितपूर्वगुणस्य इदानीन्तनत्रिज्यामितहरस्य तुल्यत्वेन द्वयोर्नाशाच्च । अथ अपरखण्डं चन्द्रशङ्क्वक्षज्याघातात्मकं चन्द्रच्छायाकर्णगुणं त्रिज्याभक्तं कार्यम् । तत्र त्रिज्याद्वादशघातस्य चन्द्रशङ्कुभक्तस्य छायाकर्णत्वात् शङ्कुत्रिज्यामितयोर्गुण-हरयो: प्रत्येकं नाशात् अक्षज्या द्वादश गुणेति अपरं खण्डं सिद्धम् । द्वयो: एकदिशि योगो भिन्नदिशि अन्तरमिति संस्कारो लम्बज्या भक्तो भुज: संस्कारदिक्क: सिद्ध: । शङ्कु: कोटिरिति चन्द्रच्छायाकर्णवृत्ते भुजसाधनात् तद्वृत्ते कोटिरपि साध्या । सा तु नियता द्वादश । नियतकोट्यर्थमेव भुजश्चन्द्रच्छायाकर्ण वृत्ते साधित: सूर्योदयास्तयो: सूर्यशङ्को: अभावात् सूर्यशङ्कुसंस्काराभाव: । तदितरकाल उक्तक्रियया न निर्वाह: कोटिभुजयोर्वर्गयोगान्मूलं कर्ण इत्युपपन्नं मध्याह्नेत्यादि श्लोकद्वयोक्तम् ॥ ६—८ ॥

सूर्य और चन्द्र की स्पष्टक्रान्तिज्यांओं का एक दिशा में अन्तर तथा भिन्न दिशा में योग करने से सूर्य से, चन्द्रमा जिस दिशा में रहता है उस दिशा की ज्या होती है । अर्थात् सूर्य से चन्द्र दक्षिण दिशा में हो तो दक्षिण तथा उत्तर दिशा में हो तो उत्तर ज्या भुज होता है । इस ज्या रूप भुज को चन्द्रच्छायाकर्ण से गुणाकर द्वादश गुणित अक्षज्या में, उत्तर भुज होने पर ऋण तथा दक्षिण भुज होने पर धन करने से जो शेष रहे उसमें स्वदेशीय लम्बज्या का भाग देने से भाग फल संस्कारोत्पन्न दिशा में भुज होता है । द्वादशांगुल शंकु कोटि होती है । इन दोनों के वर्गयोग का वर्गमूल लेने से शृङ्गोन्नति में कर्ण होता है ॥ ६—८ ॥

उपपत्ति:—अत्र प्रथमं सूर्यास्तकाले चन्द्रशृङ्गोन्नतिसाधनार्थं भुजसाधनं क्रियते ।

Δ लम्बज्या-त्रिज्या-अक्षज्या, Δ क्रान्तिज्या-कुज्या-अग्रा इति क्षेत्रद्वयो: साजा-त्यादनुपात: क्रियते—

यदि लम्बज्यायां त्रिज्या तदा चन्द्र क्रान्तिज्यायां किमिति—

$$\frac{\text{त्रिज्या} \times \text{चन्द्रक्रान्तिज्या}}{\text{लम्बज्या}} = \text{अग्रा} \text{ ।}$$

एवमेव—लम्बज्यायां यदि अक्षज्या तदा चन्द्रशङ्कौ किमिति—

$$\frac{\text{अक्षज्या} \times \text{चन्द्रशंकु:}}{\text{लम्बज्या}} = \text{शंकुतलम् ।}$$

अनयोर्योगवियोगाभ्यां भुज:—

$$\frac{(\text{त्रिज्या} \times \text{चं. क्रान्तिज्या}) \pm (\text{अक्षज्या} \times \text{चं. शंकु:})}{\text{लम्बज्या}} = \text{चन्द्रभुज: ।}$$

पुनरनुपात:—लम्बज्यांयां त्रिज्या तदा रविक्रान्तिज्यायां किमिति—

$$\frac{\text{त्रिज्या} \times \text{रविक्रान्तिज्या}}{\text{लम्बज्या}} = \text{अग्रा}$$

सूर्यास्तसमये सूर्यशङ्कोरभावाच्छङ्कुतलस्यापि अभावो भवति । अतोऽत्र अग्रा एव रवि-भुजः । रवि-चन्द्रयोः संस्कारेण स्पष्ट भुजो भवति ।

अतः चन्द्रभुजः $\pm$ सूर्यभुजः = स्पष्टभुजः ।

$$\text{स्पष्ट भुजः} = \frac{(\text{त्रिज्या} \times \text{क्रांज्या}) \pm (\text{अक्षज्या} \times \text{चं. शंकु}) \pm (\text{त्रि.} \times \text{सू० क्रां})}{\text{लम्बज्या}}$$

$$= \frac{\text{त्रि (चं० क्रा} \pm \text{सू. क्रा)}}{\text{लम्बज्या}} \pm \frac{\text{अक्षज्या} \times \text{चं शंकु}}{\text{लम्बज्या}}$$

अत्रानुपातः—चन्द्रशङ्कौ त्रिज्या तदा द्वादशाभिः किमिति—

$$\frac{\text{त्रिज्या} \times १२}{\text{चन्द्रशङ्कु}} = \text{चन्द्रच्छायाकर्णः ।}$$

त्रिज्याकर्णे स्पष्टभुजस्तदा चन्द्रच्छायाकर्णे किमिति—

$$\frac{\text{स्पष्टभुजः} \times \text{चन्द्रच्छायाकर्णः}}{\text{त्रिज्या}} =$$

$$\frac{\dfrac{\text{त्रि (च. क्राज्या} \pm \text{सू.क्रांज्या)}}{\text{लम्बज्या}} \pm \dfrac{(\text{अक्षज्या} \times \text{चं शंकु) छायाकर्णः}}{\text{लम्बज्या}}}{\text{त्रिज्या}}$$

$$= \frac{\text{त्रि (चं. क्रांज्या} \pm \text{सू० क्रांज्या) छा० कर्ण}}{\text{लम्बज्या} \times \text{त्रि}} \pm \frac{\text{अक्षज्या} \times \text{चं. शं.} \times \text{छा. का.}}{\text{लम्बज्या} \times \text{त्रि}}$$

अत्र द्वितीयभागे छायाकर्णस्य रूपान्तरग्रहणेन—

$$= \frac{\text{त्रि. (चं. क्रांज्या} \pm \text{सू. क्रांज्या) छा. क}}{\text{त्रिज्या} \times \text{लम्बज्या}} \pm \frac{\text{अक्षज्या} \times \text{चं. शं.} \times \text{त्रि} \times १२}{\text{त्रि} \times \text{लम्बज्या} \times \text{चं. शंकुः}}$$

$$= \frac{\text{छा क (चन्द्रक्राज्या} \pm \text{सू. क्रांज्या)}}{\text{लम्बज्या}} \pm \frac{\text{अक्षज्या} \times १२}{\text{लम्बज्या}}$$

$$= \frac{\text{छा. क. (चं. क्रा + सू. क्रा)}}{\text{लम्बज्या}} \pm \frac{\text{अक्षज्या} \times \text{द्वादश}}{\text{लम्बज्या}}$$

$$= \frac{\text{छाक (चं. क्रा० } \pm \text{ सू. क्राज्या) } \pm \text{ अक्षज्या} \times 12}{\text{लम्बज्या}} = \text{स्पष्टभुजः}$$

अत्र स्पष्टो भुज एव भुजः ।   अतोपपन्नम् ।

शुक्लाङ्गुल साधनम्

सूर्योनशीतगोर्लिप्ताः शुक्लं नवशतोद्धृताः ।
चन्द्रबिम्बाङ्गुलाभ्यस्तं हृतं द्वादशभिः स्फुटम् ।। ९ ।।

अथ शुक्लानयनमाह । सूर्योनितचन्द्रस्य कला नवशत भक्ताः फलं शुक्लं तच्चन्द्रग्रहणाधिकारोक्तप्रकारेण आगतचन्द्रविम्बाङ्गुलैर्गुणितं द्वादशभिर्भक्तं फलं स्फुटं शुक्लं स्यात् ।

अत्रोपपत्तिः । दर्शान्ते सूर्यचन्द्रयोः अन्तराभावात् अस्मद् दृश्यार्द्धे चन्द्रगोले सूर्यकिरणप्रतिफलनाभावात् शौक्ल्याभावः । ततो यथायथार्काच्चन्द्रः पूर्वतोऽन्तरितस्तथा तथा चन्द्रगोलास्मद्दृश्यार्द्धे चन्द्रपश्चिमभागक्रमेण शौक्ल्यवृद्धिः । एवं षट्राश्यन्तरे पौर्णमास्यन्ते चन्द्रगोलास्मद् दृश्यार्द्धं सम्पूर्णं श्वेतं भवति । इतः षट्राशिकलाभिः खखाष्टदिग्भिर्द्वादशाङ्गुलव्यासविम्बं श्वेतं तदेष्टेन सूर्योनचन्द्र कलागुणेन किमित्यनुपाते प्रमाणफलयोः फलापवर्तनेन प्रमाणस्थाने नवशतम् ।अतः सूर्योनचन्द्रस्य कला नवशतभक्ताः शौक्ल्यमिदं द्वादशाङ्गुलव्यास प्रमाणेन सिद्धम् । अतो द्वादशाङ्गुल प्रमाणेन इदं तदाभिमतचन्द्र विम्बाङ्गुलव्यासप्रमाणेन किमित्यनुपातेन उक्तमुपपन्नम् । अनेन प्रकारेण त्रिभान्तरे चन्द्रगोलास्मद्दृश्यार्द्धमर्द्धं श्वेतं भवतीति सिद्धम् । भास्कराचार्यैस्तु ।

कक्षाचतुर्थस्तरणेर्हि चन्द्रः कर्णान्तरेतिर्यगिनो यतोऽब्जात् । पादोनषट्काष्टलवान्तरेऽतो दलं नृदृश्यं दलमस्य शुक्लम् । इति शृङ्गोन्नतिवासनायामुक्तम् । शृङ्गोन्नत्यधिकारे ।

चन्द्रस्य योजनमयश्रवणेन निघ्नो व्यर्केन्दुदोर्गुण इनश्रवणेन भक्तः ।
तत्कार्मुकेण सहितः खलु शुक्लपक्षे कृष्णोऽमुना विरिहितः शशभृद्विधेयः ।।
इति तदभिप्रेतश्वेतानयनोपयुक्तश्चन्द्रः साधित इत्यलम् ।। ९ ।।

सूर्य रहित चन्द्र की कला में, ९०० का भाग देने से लब्धि चन्द्रमा का अङ्गुलात्मक शुक्ल मान होता है । इसे अङ्गुलात्मक चन्द्रबिम्ब से गुणा कर १२ से भाग देने पर प्राप्त लब्धि स्पष्ट शुक्लमान होता है ।। ९ ।।

उपपत्तिः—अमान्ते रविचन्द्रयोरन्तराभावात् (समत्वात्) दृश्यचन्द्रविम्बार्धे सूर्यकरावरोधेन शुक्लाभावः । यथा-यथा चन्द्रः सूर्यादन्तरितो भवति तथा-तथा दृश्यविम्बार्धे शुक्लत्ववृद्धिरिति । पूर्णान्ते रविचन्द्रयोः परमान्तरं भार्धांशतुल्यं (६ राशिपरिमितं) भवति अतस्तदानीं दृश्यचन्द्रविम्बस्य पूर्णशुक्लत्वं दृश्यते । यद्यपि दृश्यो पूर्णविम्बः चन्द्रपिण्डस्य अर्धांश एव । अतोऽनुपातः—

६ राशिकलाभिः द्वादशाङ्गुलशुक्लस्तदा चन्द्रसूर्ययोरन्तरकलाभिः किमिति—

$$\frac{१२ \times (\text{चन्द्र-सूर्य})}{६ \text{ राशिकला}} = \frac{१२ \times (\text{चन्द्र-सूर्य})}{१०८००}$$

$$= \frac{(\text{चन्द्र-सूर्य})}{९००}$$ = शुक्लः । परमिदं फलं १२ अङ्गुलात्मके व्यासे एव समायाति अतः पुनरनुपातः—१२ अंगुलैः इष्टशुक्लस्तदा इष्टव्यासैः किमिति—

$$\frac{\text{इष्टशुक्लः} \times \text{इष्टव्यास}}{१२}$$ = स्पष्टशुक्लव्यासः उपपन्नम् ।

शृङ्गोन्नति परिलेखः

दत्वाऽर्कसंज्ञितं बिन्दुं ततो बाहुं स्वदिङ्मुखम् ।
ततः पश्चान्मुखीं कोटिं कर्णं कोट्यग्रमध्यगम् ॥ १० ॥
कोटिकर्णयुताद्बिन्दोर्बिम्बं तात्कालिकं लिखेत् ।
कर्णसूत्रेण दिक्सद्धिं प्रथमं परिकल्पयेत् ॥ ११ ॥
शुक्लं कर्णेन तद्बिम्बयोगादन्तर्मुखं नयेत् ।
शुक्लाग्रयाम्योत्तरयोर्मध्ये मत्स्यौ प्रसाधयेत् ॥ १२ ॥
तन्मध्यसूत्रसंयोगाद् बिन्दुत्रिस्पृग् लिखेद्धनुः ।
प्राग्बिम्बं यादृगेव स्यात् तादृक् तत्र दिने शशी ॥ १३ ॥

अथ श्लोकचतुष्टयेन शृङ्गोन्नतिपरिलेखमाह । समभूमौ अभीष्टस्थाने दिक्साधनं कृत्वा पूर्वापरा दक्षिणोत्तरा च रेखा कार्या । तत्र दिक्सम्पातेऽर्क संज्ञितमर्कसंज्ञासञ्जाता यस्येति एतादृशमर्कसंज्ञं विन्दुं चिह्नं दत्वा कृत्वेत्यर्थः । ततो विन्दोः सकाशाद्भुजं पूर्वसाधितं स्वदिङ्मुखं स्वदिशा दक्षिणोत्तरा अन्यतरा तदभिमुखं दत्वा भुजाङ्गुलानि गणयित्वा चिह्नं कृत्वा ततो भुजाग्रचिह्नात् पश्चान्मुखीं पश्चिमदिक्समसूत्राभिमुखाग्रां कोटिं द्वादशाङ्गुलात्मिकां दत्वा कर्णं पूर्वसाधितं कोट्यग्रमध्यगं कोट्यग्रचिह्नं मध्यं सूर्यसंज्ञकचिह्नं तयोर्गतं स्पृष्टम् । तदन्तरकाले कर्णांगुलानि दत्वेत्यर्थः । कोटिकर्णरेखासंयोगे मध्यं प्रकल्प्या तात्कालिकं सूर्यास्तोदय कालिकं चन्द्रस्य साधितं मण्डलं लिखेत् । तत्र लिखितचन्द्रविम्बे कर्णसूत्रेण कर्ण-रेखया प्रथममादौ दिक्सिद्धं दिशानिष्पत्तिं परिकल्पयेत् । कुर्यात् । चन्द्रमण्डलं कर्ण-रेखायां यत्र लग्नं तत्र चन्द्रवृत्ते पूर्वा । कर्ण-रेखां स्वमार्गेण अग्रे निःसार्य चन्द्रवृत्तपरिधौ यत्र कर्ण-रेखापरभागे लग्ना तत्र पश्चिमा । तन्मत्स्याभ्यां रेखा दक्षिणोत्तरा चन्द्रवृत्ते यत्र लग्ना तत्र दक्षिणोत्तरेति फलितार्थः । शुक्लं पूर्व-साधितं कर्णेन कर्ण-रेखामार्गेण तद्बिम्बयोगात् कर्णरेखाचन्द्रमण्डल परिध्योः सम्पातात् अपूर्वात् । अन्तर्मुखं चन्द्रवृत्तकेन्द्राभिमुखं नयेत् । शुक्लाग्रचिह्नं कुर्यात् । चन्द्रवृत्तान्तः कर्णरेखायां पश्चिम चिह्नात् शुक्लाङ्गुलानि गणयित्वा चिह्नं कुर्यात् इत्यर्थः ।

शुक्लग्रयाम्योत्तरयोश्चन्द्रवृत्तान्तर्यत्र शुक्लाग्रचिह्नं यत्र च चन्द्रवृत्तपरिधौ दक्षिणोत्तरयोश्चिह्नं तयोरित्यर्थः । मध्येऽन्तराले । मत्स्यौ प्रत्येकं साधयेत् । शुक्लाग्रदक्षिण चिह्नाभ्यां मत्स्यशुक्लाग्रोत्तर चिह्नाभ्यां मत्स्यश्चेति पूर्वोक्तरीत्या मत्स्यौ कुर्यादित्यर्थः। तन्मध्यसूत्रसंयोगात् । तयोर्मत्स्ययोः मध्यसूत्रं मुखपुच्छस्पृग्गर्भसूत्रं प्रत्येकं तयोर्यत्र चन्द्रमण्डलान्त सतद्वहिर्वा केन्द्रात् शुक्लाग्रस्य पश्चिमत्वे पूर्वभागे संयोगः पूर्वत्वे पश्चिमभागे संयोगः स्वस्वमार्गेण प्रसारितयोः तयोः सम्पातस्तस्मात् स्थानात् विन्दुत्रिस्पृक् शुक्लाग्रविन्दुर्याम्योत्तरयोश्चिह्नविन्दुरिति विन्दुत्रितयस्पर्शि धनुर्वृतैकदेशात्मकं लिखेत् । सूत्रसस्पात शुक्लाग्रविन्द्वन्तरालाङ्गुलव्यासार्द्धेन सम्पातस्थानात् विन्दुत्रयस्पृष्ट वृत्तपरिध्येकदेशात्मकं चन्द्रमण्डलान्तश्चापं कुर्यात् इत्यर्थः । प्राक् पूर्वकाले । लिखितं चन्द्रविम्बम् । यादृक् । लिखितचापच्छेदेन यादृशं पश्चिमभागे भवति । तादृशः एवकारस्तद्भिन्ननिरासार्थकः । तस्मिन् दिने । शृङ्गोन्नति गणिताश्रयी भूतसन्ध्यासमये चन्द्र आकाशस्थो भवति ।

अत्रोपपत्तिः । भुजस्तु सूर्याच्चन्द्रो यावतान्तरेण तद्रूप इति सूर्यस्थानं प्रकल्प्या तस्मात् यथा दिग्भुजो देयस्तस्मात् शुक्लपक्षे पश्चिमदिक्स्थस्य चन्द्रस्य शृङ्गोन्नतिर्भवतीति सूर्यचन्द्रयोरूर्द्धाधरान्तरं कोटिर्दत्ता । सूर्यचन्द्रयोः अन्तरं तिर्यक्कर्ण इति कोट्यग्रसूर्यविम्बान्तराले कर्णो दत्तः । कर्णदानं कोटेः सरलत्वसिद्ध्यर्थं तत्र कोटिकर्णयोगे चन्द्रावस्थानात् चन्द्रवृत्तं तन्मध्यत्वेन लिखितम् । कर्णमार्गेण शुक्लदर्शनात् चन्द्रविम्बे कर्णसूत्रानुरुद्धा पूर्वापरा तदनुरूद्धा दखिणोत्तरा च । शुक्लपक्षे चन्द्रपश्चिमभागेऽर्काभिमुखत्वेन शौक्ल्यात् पश्चिमस्थानात् कणरिखायां चन्द्रवृत्तान्तः श्वेतं दत्तम् । तत्र चन्द्रमण्डले याम्योत्तरचिह्नौ अधिकं वृत्तैकदेशरूपं धनुः शुक्लाग्रबिन्दुस्पृष्टं चन्द्राकृतिदर्शनार्थं कार्यम् । अतो विन्दुत्रयस्पृग् वृत्तस्य केन्द्रज्ञानार्थं प्रागुक्तरीत्या बिन्दुत्रयेभ्यो मत्स्यौ प्रसाध्य तत्सूत्रयुतिः केन्द्रमस्मात् चापं तथैव भवतीति चन्द्राकृतिः प्रत्यक्षा ।। १०—१३ ।।

समतल भूमि में दिक्साधन कर दिक्सूत्र संपात में अर्क संज्ञक विन्दु बना कर वहाँ से अपनी दिशा में पूर्व साधित भुज के तुल्य रेखा करें । उस भुज के अग्र से पश्चिमाभिमुखी द्वादश अङ्गुलात्मक कोटि का दान कर कोटि के अग्र से सूर्यसंज्ञक विन्दु पर्यन्त कर्ण के तुल्य रेखा करें । कोटिकर्ण के योग बिन्दु को केन्द्र मानकर तात्कालिक अंगुलात्मक चन्द्रबिम्ब व्यासार्द्ध से चन्द्रमण्डल बनाकर कर्णरेखा से दिक्साधन करना चाहिए । अर्थात् चन्द्रबिम्बपरिधि एवं कर्णरेखा के योग को पूर्व तथा कर्ण रेखा को अपने मार्ग में बढ़ाने से दूसरे भाग में चन्द्र बिम्बपरिधि में जहाँ स्पर्श करे वहाँ पश्चिम दिशा कल्पना कर इनसे दक्षिण और उत्तर दिशा का साधन करना चाहिए । फिर चन्द्रबिम्बपरिधि और कर्णरेखा के सम्पात विन्दु से कणरिखा के मार्ग से चन्द्रबिम्ब केन्द्र की ओर पूर्व साधित शुक्ल अंकित कर शुक्लाग्र और दक्षिणोत्तर चिह्नों से दो मत्स्य बनाकर उनके मुखपुच्छगत रेखाओं के सम्पात विन्दु को केन्द्र मानकर शुक्लाग्र और दक्षिणोत्तर

चिह्नों को स्पर्श करते हुए चाप से निर्मित चन्द्रवृत्त क्षेत्रस्थ चापच्छेद से यहाँ जैसा दीखता है वैसा ही उस दिन आकाश में भी चन्द्रमण्डल दीखेगा ।। १०—१३ ।।

उपपत्तिः—सूर्याच्चन्द्रं यावदन्तरं याम्योत्तरं भुजतुल्यं भवति । अतः कल्पित-सूर्यविन्दुतः स्वदिशि भुजदानं क्रियते । भुजाग्राच्चन्द्रपर्यन्तमूर्ध्वाधरमन्तरं कोटितुल्य-मिति । कोट्यग्रे चन्द्रविम्बं भवति । ततो रविविम्बपर्यन्तं कर्णः । अतो भुजाग्रात् कर्णदानपूर्वकं कोट्यग्रे चन्द्रमण्डलं विधाय कोट्यग्रात् सूर्यपर्यन्तं कर्णरेखा कृता । शुक्लः कर्णमार्गात् दृश्यो भवति। अतः कर्ण मार्गात् शुक्लदानं कृत्वा चन्द्रस्याकृति-सिद्धये शुक्लाग्रे याम्योत्तरविन्द्वोः स्पर्शकरं चापं निर्मीयते । एवमेव चापाद् पृष्ठवर्ति-चन्द्रविम्बं यादृशं भवति तादृश एव चन्द्रविम्बं दृश्यं भवति । उपपन्नम् ।

कोट्या दिक्साधनात् तिर्यक् सूत्रान्ते शृङ्गमुन्नतम् ।
दर्शयेदुन्नतां कोटिं कृत्वा चन्द्रस्य साऽऽकृतिः ।। १४ ।।

ननु यदर्थमयमुद्योगस्तस्याः शृङ्गोन्नतेर्ज्ञानं नोक्तम् अत आह । कोट्या कोटि-रेखया चन्द्रवृत्ते कर्णरेखावत् दिक्साधनात् परिलेखे शुक्लधनुषः कोटिमग्रभागात्मिका मुन्नतामुच्चां कृत्वा दृष्ट्वा । तिर्यक्सूत्रान्ते । दक्षिणोत्तररेखाया अन्ते अवसाने । उन्नतमुच्चं शृङ्गं दर्शयेत् । सा परिलेखसिद्धा । आकृतिः स्वरूपम् । चन्द्रस्य आकाशस्थचन्द्रस्य । भवति । परिलेखसिद्धरूपम् आकाशस्थचन्द्रे प्रत्यक्षमित्यर्थः ।

अत्रोपपत्तिः । यथा चन्द्रवृत्ते कर्णरेखया चन्द्रदिशस्तथा कोटिरेखया चन्द्रवृत्ते सूर्यदिशस्तयोः अन्तरं भुजश्चन्द्र वृत्तपरिणतः । अथ चन्द्र दक्षिणोत्तरयोर्धनुः कोट्योः संलग्नत्वात् सूर्यदक्षिणोत्तराभ्यां कोटिरूपशृङ्गेण नतोन्नते भवतस्तत्र भुजदिक्कं शृङ्गं नतम् । तदितरदिक्कं शृङ्गमुन्नतम् । अत एव भास्कराचार्यरूक्तम् ।

स्यात् तुङ्गशृङ्गं वलनान्यदिक्स्थम् । इति ।। १४ ।।

चन्द्रमण्डल में कर्णरेखा की तरह कोटिरेखा से दिक्साधन कर कोटि को उन्नत करके दक्षिणोत्तर रेखा के अन्त में अर्थात् दक्षिण दिशा की ओर अथवा उत्तर दिशा की ओर उन्नत शृङ्ग को बनाने से आकाश में स्थित चन्द्रमा की दृश्य आकृति होती है ।। १४ ।।

उपपत्तिः—चन्द्रमण्डले कर्णरेखया चन्द्रदिक् कोटिरेखया च सूर्यस्य दिग्ज्ञानं भवति । अनयोरन्तरं चन्द्रपरिणतभुजो भवति । सूर्यश्चन्द्रात् यस्यां दिशि भवति तस्यां दिशि दक्षिणोत्तररेखायां चन्द्रस्य शृङ्गमुन्नतं भवति । अर्थात् भुजस्य पार्श्वे शृङ्गं नतमपरदिशिचोन्नतं भवति । **उपपन्नम् ।**

चन्द्रविम्बेऽसितानयनम्

कृष्णे षड्भयुतं सूर्यं विशोध्येन्दोस्तथाऽसितम् ।
दद्याद् वामं भुजं तत्र पश्चिमे मण्डलं विधोः ।। १५ ।।

॥ सूर्यसिद्धान्ते शृङ्गोन्नत्यधिकारः सम्पूर्णः ॥ १० ॥

ननु सूर्योनचन्द्रस्य षड्भाधिकत्व उक्तप्रकारेण चन्द्र विम्बाभ्यधिकं शुक्ल-मायाति तत् कथं युक्तं व्याघातादित्यतः तदुत्तरं विशेषं च आह । कृष्णपक्षे षड्राशिभिः सहितमर्कं चन्द्राद्विशोध्य । तथा लिप्ता नवशतभक्ता इति पूर्वप्रकारेण । असितं श्याममानेयम् । तथा च पूर्वोक्तं शुक्लानयनं शुक्लपक्ष एव चन्द्रशौल्क्यवृद्धि ज्ञानार्थम्। कृष्णपक्षे तु शौल्क्यह्रासात् कृष्णतावृद्धेः कृष्णानयनं युक्तं न शुक्लानयनम्। अत एव दर्शान्तमासस्य शुक्लकृष्णौ द्वौ पक्षौ इति भावः । अथ कृष्ण परिलेखार्थं पूर्वोक्ते विशेषमाह । दद्यादिति । तत्र कृष्णपरिलेखविषये वामं विपरीतं भुजं प्रागुक्तं दद्यात् । अर्कचिह्नात् उत्तरं भुजं दक्षिणतो दक्षिणं भुजमुत्तरतो गणको दद्यात् । चन्द्रस्य मण्डलं पश्चिमं दर्शयेत् । यथा शुक्लपक्षे चन्द्रमण्डलस्य पश्चिमभागे शौक्ल्यं तथा कृष्णपक्षे चन्द्रमण्डलस्य पश्चिमभागे कृष्णाभिवृद्धिं दर्शयेत् इत्यर्थः ।

अत्रोपपत्तिः । कृष्णपक्षारम्भे सूर्यचन्द्रयोः षट्राश्यन्तरम् । ततः षट्राशि पर्यन्तं कृष्णाभिवृद्धिः। अतः षट्राशियुतसूर्येण वर्जितचन्द्रात् पूर्वप्रकारेण कृष्णानयनं युक्तम्। अथ शुक्लशृगं यत्रनतं तत्र कृष्णशृङ्गमुन्नतं यत्र चोन्नतं तत्र नतम् । अतः कृष्ण परि-लेखार्थं भुजो विपरीतो देयः । तदपि कृष्णं पश्चिम भागात् एवाभिवृद्धम् । अतः कर्ण-रेखायां चन्द्रविम्बान्तः पश्चिमस्थानात् देयम्। ततः प्राग्वत् कृष्णशृङ्गोन्नतिरिति ।।१५ ।।

अथ अग्रिम ग्रन्थस्य असङ्गतित्वनिरासार्थमधिकार समाप्तिं फक्किकया आह। चन्द्रोदयास्तयोः शृङ्गोन्नति विषयत्वेन उक्तत्वात् अस्यामेवान्तर्भावो न स्वतन्त्राधि-कारत्वमन्यथा ग्रहोदयास्ताधिकारे तदुक्त्यापत्तेः । एतेन चन्द्रोदयास्तयोः पौर्णमास्य-धिकारत्वं पर्वतोक्तं निरस्तम् । तत्संज्ञायां प्रमाणाभावात् अन्यथा अमावास्या-धिकारत्वस्यैव सुवचत्वापपत्तेरिति ध्येयम् ।

रङ्गनाथेन रचिते सूर्यसिद्धान्तटिप्पणे ।
शृङ्गोन्नत्यधिकारोऽयं पूर्णो गूढप्रकाशके ।।

॥ इति श्रीसकलगणकसार्वभौमबल्लालदैवज्ञात्मजरङ्गनाथगणकविरचिते
गूढार्थप्रकाशके शृङ्गोन्नत्यधिकारः पूर्णः ॥ १० ॥

कृष्णपक्ष में ६ राशियुत सूर्य को चन्द्रमा में घटाकर पूर्वोक्त प्रकार से असितमान का साधन करना चाहिए । यहाँ भुज का संस्कार विपरीत होता है तथा चन्द्रमण्डल के पश्चिम भाग में कृष्णमान की वृद्धि होती है ।। १५ ।।

उपपत्तिः—कृष्णपक्षस्यादौ सूर्याचन्द्रमसोरन्तरं षड्राशिसमं भवति । अत्र सम्पूर्णं दृश्यविम्बं शुक्लं भवति । अतः परं षड्राशिपर्यन्तं कृष्णभागस्य वृद्धिर्भवति। अतः षड्राशियुतो रविश्चन्द्राद् विशोध्य कृष्णभागस्य मानमानीयते । यस्यां दिशि शुक्लशृङ्गोन्नतं तस्यां दिशि कृष्णशृङ्गमुन्नतं भवति । अतोऽत्र शुक्लदानं विपरीतम् ।

अस्यां स्थितौ चन्द्रस्य, पृष्ठभागः कृष्णः । अतश्चन्द्रवृत्ताभ्यन्तरे कर्णमार्गात् पश्चिमे कृष्णमानं देयम् । शृङ्गोन्नतेः शुक्लस्य च साधनार्थं क्षेत्रं प्रदर्श्यते—

शृङ्गोन्नति परिलेखः

क्षेत्र परिचयः—

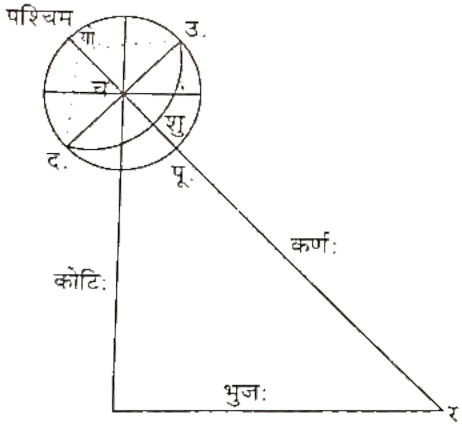

अत्र र = रवि केन्द्रम् । च = चन्द्रबिम्बकेन्द्रम् ।
र भु = स्पष्टो भुजः । द उ = कर्णरेखोपरिलम्बरूपायाम्योत्तरा रेखा।
च भू = कोटिः । पू भु = शुक्लाङ्गुलम् ।
द पू उ, उ भु द = दृश्यश्चन्द्रः, द = दक्षिणशृङ्गम्, उ = सौम्यशृङ्गम् ।

॥ पण्डितवर्य बलदेवदैवज्ञात्मज प्रो० रामचन्द्रपाण्डेय द्वारा विरचित सूर्यसिद्धान्त के शृङ्गोन्नत्यधिकार का हिन्दीभाषानुवाद एवं संस्कृतोपपत्ति सम्पूर्ण ॥ १० ॥

अथ पाताधिकारः - ११

वैधृति-व्यतिपातयोर्लक्षणम्

एकायनगतौ स्यातां सूर्याचन्द्रमसौ यदा ।
तद्युतौ मण्डले क्रान्त्योस्तुल्यत्वे वैधृताभिधः ॥ १ ॥

अथ पाताध्यायो व्याख्यायते । तत्र भेदद्वयात्मकपातस्य सम्भवं विवक्षुः प्रथमं वैधृतसंज्ञापातस्य सम्भवमाह । सूर्य चन्द्रौ । सूर्याचन्द्रसमौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् इति श्रुत्युक्तप्रयोगः । एकायनगतौ । अभिन्न दक्षिणोत्तरान्यतरायनस्थौ भवतस्तत्र यदा यस्मिन् काले तद्युतौ सूर्यचन्द्रयोः भाद्योर्योगे मण्डले द्वादशराशिमिते सति तदा तयोः क्रान्त्योः समत्वे महापातरूपे वैधृतसंज्ञः पातो भवति ॥ १ ॥

यदि सूर्य और चन्द्र एक ही अयन में गये हो, दोनों का योग १२ राशि हो, तथा इनकी स्पष्ट क्रान्ति समान हो तो वैधृतसंज्ञक पात होता है ॥ १ ॥

विपरीतायनगतौ चन्द्रार्कौ क्रान्तिलिप्तिकाः ।
समास्तदा व्यतीपातो भगणार्धे तयोर्युतौ ॥ २ ॥

अथ व्यतीपातसंज्ञपातस्य सम्भवमाह । चन्द्रार्कौ विपरीतायनगतौ भिन्नायनस्थौ भवतस्तत्र यदा तयोः सूर्यचन्द्रयोः भाद्योर्योगे भगणार्द्धे रशिषट्के सति। तयोः क्रान्तिकलास्तुल्या भवन्ति तदा तस्मिन् काले व्यतीपातसंज्ञकः पातो भवति ।

अत्रोपपत्तिः । समक्रान्तिकालो महापातकालः । तत्र स्पष्टक्रान्त्योरति वैलक्षण्योपचयापचयोः नियमाभावाच्च समकालो दुर्लक्ष्य इति मध्यमक्रान्त्योः समत्वकालात् पूर्वम् अपरत्र वा शरवशेन शरसंस्कृत क्रान्तिसमत्वं भवतीति निश्चित्य वस्तुभूत तत्कालज्ञानार्थं प्रथमं तदासन्नकालस्य मध्यमक्रान्ति तुल्यस्य ज्ञानमावश्यकं तत्तु सूर्यचन्द्रयोः क्रान्तिसमत्वं भुजतुल्यत्वे सम्भवति भुजोत्पन्नत्वात् । भुजसमत्वं सूर्यचन्द्रयोः षड्राशिमितयोगे द्वादशराशिमितयोगे वा षड्शिमितान्तरेऽन्तराभावे वा कुत एवमिति चेत् शृणु । तत्र अन्तराभावे द्वयोः तुल्यत्वेन भुजसाम्ये विवादाभावः । एवं षड्भान्तरेऽपीतरयोः विषमपदस्थयोः समपदस्थयोर्वा क्रमेण पदगतैष्ययोस्तुल्ययोः भुजत्वमित्यविवादः । षड्द्वादशराशियोगे तु तयोर्विषमसमपदस्थत्वात् क्रमेण तुल्यगतैष्यत्वेन भुजतुल्यत्वम् । रविगोलायनसन्धिस्थयोस्तु क्रान्तिपरमाभावत्व इति तत्रापि तदन्तरयोगयोः षड्द्वादशराश्योः यथायोग्यसत्वात् क्रान्तिसाम्यं सहजत एव ।

अत एकायनस्थयोः भिन्नगोलस्थयोः द्वादशराशियोग एकगोलायनस्थयोः अन्तराभावे क्रान्तिसाम्यम् । एवं भिन्नायनस्थयोः एकगोलस्थयोः षड्राशियोगे गोलभेदस्थयोः षड्राश्यन्तरे क्रान्तिसाम्यमिति युतौ इत्युपलक्षणादन्तर इत्यपि ज्ञेयम् । न तु तद्युतौ मण्डले भगणार्द्धे तयोर्युतौ इत्युक्तेन क्रमेण गोलभेदैक्ययोः अन्तरनिरासार्थकोक्तिस्तत्रापि क्रान्तिसाम्यत्वेन अनिवार्यत्वात् । अत्र एकायनगतौ इति विपरीतायनगतौ इति च स्वरूपोक्तिः अनावश्यकीति ध्येयम् । वस्तुतस्तु सूर्यचन्द्रयोः द्वादशमिते योगेऽन्तरे वा वैधृताख्यं क्रान्तिसाम्यम् । षड्राशिमिते तयोर्योगेऽन्तरे वा व्यतीपाताख्यं क्रान्तिसाम्यमिति तात्पर्योक्तिः । अत एवाग्रे भास्करेन्द्वोः इत्याद्युक्तं युक्तमिति तत्वम् ॥ २ ॥

जब सूर्य और चन्द्र का अयन परस्पर विपरीत हो, दोनों का योग ६ राशि हो तथा दोनों की क्रान्ति समान हो तब व्यतीपातसंज्ञक पात होता है ॥ २ ॥

उपपत्तिः—सूर्याचन्द्रमसोः क्रान्तिसाम्यं पातसंज्ञकं भवति। यदा चन्द्रसूर्यौ समौ भवतस्तदानीं तयोर्भुजयोः साम्यात् क्रान्तिसाम्यमपि भवति । यदा चन्द्रसूर्ययोर्योगः षड्राशिसमो द्वादशराशिसमो वा भवति तदा तयोर्भुजावपि तुल्यौ स्याताम् । अस्मात् तयोर्मध्यक्रान्तिरपि तुल्या । अनयोः क्रान्तिसाम्यकालः महापातकाल इति । यदि तयोर्योगः एकायनगते भिन्नगोले अर्थात् १२ राशिपर्यन्तं भवेत् तदा क्रान्तिसाम्ये वैधृतिपातः । एवमेव भिन्नायनगते ६ राशिपर्यन्तमेवार्थात् एकस्मिन् गोले तयोर्योगस्तदा क्रान्तिसाम्ये व्यतिपातयोगः ।

पातस्याशुभत्वम्

तुल्यांशुजालसम्पर्कात् तयोस्तु प्रवहाहतः ।
तद्दृक्क्रोधभवो वह्निर्लोकाभावाय जायते ॥ ३ ॥

ननु क्रान्त्योः साम्ये कथं पातो भवतीत्यत आह । तयोः चन्द्रसूर्ययोः । तुकारात् क्रान्तिसाम्यकालिकयोः । तुल्यांशुजालसम्पर्कात् समकिरणानां जालं समूहस्तयोः अन्योन्याभिमुखयोः सम्पर्कात् । एकीभावापन्नत्वात् । तद्दृक्क्रोधभवः सूर्यचन्द्रयोः अन्योन्याभिमुखयोः दृक्क्रोधो विम्बकेन्द्रयोः दृग्रूपयोः क्रोधः परस्पराभिमुखेन दीप्त्याधिक्यं तदुत्पन्नोऽग्निः । प्रवहाहतः प्रवहवायु प्रज्वलितः । लोकाभावाय जनानामशुभफलाय जायते ॥ ३ ॥

क्रान्तिसाम्य कालिक सूर्य और चन्द्र के किरणों के संपर्क से तथा परस्पर दृष्टियों के क्रोध से उत्पन्न अग्नि, जो प्रवहवायु के वेग से आहत होकर प्रज्वलित होती है, वह लोक के लिए अशुभ फलदायक होती है ॥ ३ ॥

व्यतिपातवैधृतयोरन्वर्थता

विनाशयति पातोऽस्मिन् लोकानामसकृद्यतः ।
व्यतीपातः प्रसिद्धोऽयं संज्ञाभेदेन वैधृतः ॥ ४ ॥

अथ अयं वह्निर्व्यतीपाताख्यो वैधृताख्यो वा इत्यत आह । अस्मिन्

क्रान्तिसाम्यकाले । प्रसिद्धः पूर्वश्लोकोक्तस्वरूपः । पातो वह्निः । यतः कारणात् । असकृत् स्वसम्भवेन वारं वारम् । लोकानां विनाशयति । नाशं करोति । अतः कारणात् अयं वह्निर्व्यतीपातसंज्ञोऽयमेवाग्निः संज्ञाभेदेन नामान्तरेण वैधृतिसंज्ञः । तथा चोभयत्र पाताख्यो वह्निर्भवतीति भावः ।। ४ ।।

क्रान्तिसाम्यकालिक यह पातरूप अग्नि बार-बार लोक के मङ्गलों का नाश करती है इसलिये यह व्यतीपातसंज्ञक पात प्रसिद्ध है । यही व्यतीपातसंज्ञक अग्नि नाम भेद से वैधृतिपात संज्ञक होती है ।। ४ ।।

पातस्वरूपम्

स कृष्णो दारुणवपुर्लोहिताक्षो महोदरः ।
सर्वानिष्टकरो रौद्रो भूयो भूयः प्रजायते ।। ५ ।।

अथ तत्स्वरूपमाह । स क्रान्ति साम्यकालोत्पन्न उभय संज्ञकः पाताख्योऽग्निपुरुषः कृष्णः श्यामः । दारुणवपुः कठिनशरीरः । लोहिताक्ष आरक्तनेत्रः । महोदरः पृथूदरः । अतएव सर्वानिष्टकरः सर्वलोकनामशुभकारकः । रौद्रः क्षयकारकः । भूयो भूयोऽनेकवारम् । प्रजायते । प्रत्येकं क्रान्ति साम्यकाल उत्पन्नो भवतीत्यर्थः ।। ५ ।।

कृष्णवर्ण वाला, कठोर एवं भयङ्कर शरीरवाला, लाल नेत्रों से युक्त, विशाल उदरवाला, सबका अनिष्ट करने वाला भयानक वह (अग्निपुरुष रूपी पात) बार-बार उत्पन्न होता है। (प्रायः एक मास में दो बार पात की स्थिति आती है।) ।। ५ ।।

पातसाधनार्थमुपकरणम्

भास्करेन्द्वोर्भचक्रान्तश्चक्रार्धावधिसंस्थयोः ।
दृक्तुल्यसाधितांशादियुक्तयोः स्वावपक्रमौ ।। ६ ।।

अथ स्पष्टकालज्ञानं विवक्षुः प्रथमं तादृशयोः सूर्यचन्द्रयोः सायनांशयोः क्रान्ती साध्ये इत्याह ।

सूर्यचन्द्रयोर्दृक्तुल्यसाधितांशादियुक्तयोः ।
प्राक् चक्रं चलितं हीने छायार्कात् करणागते ।।

इत्यादिना । दृग्गोचरीभूतं साधितमंशादिकं तेन संस्कृतयोः इत्यर्थः । एतेन पूर्वसाधारणोक्तिरपि स्पष्टीकृता क्रान्त्योः सायनोत्पन्नत्वात् । भचक्रान्तर्भचक्रं द्वादशराशयस्तन्मध्ये । संस्थयोः स्थितयोः । ययोर्योगो द्वादशराशयस्तयोः इत्यर्थः । चक्रार्द्धावधि संस्थयोः । चक्रार्द्धं राशिषट्कं तदवधि तदन्तः स्थितयोः ययोः योगो राशिषट्कं तयोरित्यर्थः । स्वौ स्वकीयौ । अपक्रमौ साध्यौ । सूर्यस्य क्रान्तिः साध्या। चन्द्रस्य विक्षेपसंस्कृता क्रान्तिः साध्येत्यर्थः ।। ६ ।।

दृक्तुल्य अर्थात् अयनांशों से संस्कृत सूर्य और चन्द्र का योग १२ राशि या ६ राशि के तुल्य होने पर उनकी क्रान्ति का साधन करना चाहिये । अर्थात्

सायन सूर्य द्वारा क्रान्ति तथा सायन चन्द्रमा द्वारा शर संस्कृत स्पष्ट क्रान्ति का साधन करना चाहिये ।। ६ ।।

पातस्य गतैष्यत्वसाधनम्

अथौजपदगस्येन्दोः क्रान्तिर्विक्षेपसंस्कृता ।
यदि स्यादधिका भानोः क्रान्तेः पातो गतस्तदा ।। ७ ।।
ऊना चेत् स्यात् तदा भावी वामं युग्मपदस्य च ।
पदान्यत्वं विधोः क्रान्तिर्विक्षेपाच्चेद्विशुद्धयति ।। ८ ।।

अथ साधितक्रान्तिभ्यां स्वकालात् स्पष्टपात कालस्य गतैष्यत्वं विशेषं च श्लोकाभ्यामाह । अथ सूर्यचन्द्रयोः क्रान्ति साधनान्तरम् । चन्द्रस्य विषमपदस्थस्य । विक्षेपसंस्कृता क्रान्तिः । स्पष्टक्रान्तिरित्यर्थः । यदि यर्हि । सूर्यस्य विषम सामान्यतर-पदस्थस्य । साधितक्रान्तेः सकाशादधिका स्यात् । तदा तर्हि । पातः स्पष्टक्रान्ति साम्यात्मकः । गतः । साधित क्रान्तिकालात् पूर्वकाले जात इत्यर्थः । चेत् यर्हि । सूर्य क्रान्ते विषमपदस्थचन्द्र स्पष्टक्रान्तिर्न्यूना भवति तदा तर्हि स्पष्ट क्रान्तिसाम्यरूपपातः। भावी । साधितक्रान्तिकालात् उत्तरकाले भवतीत्यर्थः । ननु विषमपदे चन्द्रो न भवति तदा गतैष्यत्वज्ञानं कथं स्यादत आह । वाममिति । युग्मपदस्य । समपदस्थचन्द्रस्य इत्यर्थः । चकारात् स्पष्टक्रान्तिः सूर्यक्रान्तेः सकाशादधिकोना वा स्यात् तर्हीत्यर्थः । वामम् । उक्त गतैष्यक्रमेण वैपरीत्यम् । एष्यगतत्वं पातस्य भवतीत्यर्थः । अथ चन्द्रस्य विशेषमाह । पदान्यत्वमिति । चन्द्रस्य स्पष्ट क्रान्तिक्रियायाम् । चेद्यर्हि । चन्द्रस्य विक्षेप संस्कृत केवल क्रान्तिर्विक्षेपात् भिन्नदिक्काद्विशुध्यति हीना भवति । क्रान्ति वर्जित विक्षेपरूपा स्पष्टक्रान्तिर्यदि स्यात् तदा इत्यर्थः । पदान्यत्वं राश्यादि चन्द्राधिष्ठितपदभिन्नपदस्थत्वं चन्द्रस्य ज्ञेयम् । सायनराश्यादिना समपदस्थस्य चन्द्रस्य विषमपदस्थत्वम् । सायनराश्यादिना विषमपदस्थस्य चन्द्रस्य समपदस्थत्वम् तत्पदसम्बन्धा स्पष्टा क्रान्तिर्ज्ञेया इत्यर्थः ।

अत्रोपपत्तिः । विषमपदे क्रान्तिरूपचिता समपदेऽपचिता । अतः सूर्यक्रान्तेः विषमपदस्थ इन्दुक्रान्तिरधिका तदा अग्रे सुतराम् अधिकत्वात् रविक्रान्त्युपचयस्य अल्पत्वाच्च न्यूनया रविक्रान्त्या चन्द्रक्रान्तेः समत्वम् अग्रिमकालेन भवति । अतः पूर्वकाले चन्द्रक्रान्तेर्न्यूनत्वात् रविक्रान्त्यपचयस्य अल्पत्वाच्च तत्क्रान्ति साम्यं जात-मित्यनुमितम् । एवं समपदस्थ इन्दुक्रान्तिरूना तदा अग्रे सूर्यक्रान्तेर्न्यूना । तदा अग्रे सुतरां न्यूनत्वात् तत् साम्याभावः । पूर्वं तु अधिकत्वात् तत्समत्वं जातमिति ज्ञातम्। यदा तु सूर्यक्रान्तेः विषमपदस्थ इन्दुक्रान्त्यधिकत्वेन तत् क्रान्तिसाम्यं भवति पूर्वं तन्यूनत्वे तदभावात् । एवं सूर्यक्रान्तेः समपदस्थेन्दुक्रान्तिरधिका तदा अग्रे न्यूनत्वेन तत्साम्यं भवति । अत एव तत्तुल्यत्वे वर्तमान इति । अत्र चन्द्रस्य विक्षेपवृत्तं विषुवद्वृत्ते लग्नं यत्र तत्र स्पष्टक्रान्तेः अभावात् गोलसन्धिः । तस्मात् त्रिभान्तरे विक्षेपवृत्तेऽयनसन्धिः। स्पष्टक्रान्तिः तदन्तराल उपचितापचितायनसन्धिस्थ क्रान्त्यनधिका। यदा चन्द्रक्रान्तिर्मध्यमा शरभिन्नदिक्का शरादल्पा तदा शराच्छोधनेन स्पष्टक्रान्तिः

मध्यम क्रान्ति सम्बन्ध पदभिन्नपदसम्बन्धा भवति । अतः ।

पदान्यत्वं विधोः क्रान्तिर्विक्षेपाच्चेद्विशुध्यति । इति सम्यगुक्तम् । भास्कराचार्योक्तं च ।

चक्रे चक्रार्द्धे च व्ययनांशेऽर्कस्य गोलसन्धिः स्यात् ।
एवं त्रिभे च नवभेऽयनसन्धिर्व्ययनभागेऽस्य ॥
अयनांशोनितपाताद्दोः कोटिज्ये लघुज्यकोत्थे ये ।
ते गुणसूर्यैरश्वैर्गुणिते भक्ते कृतेः सूर्यैः ॥
अयनांशोनितपाते मृगकर्क्यादिस्थिते द्विषड्रामैः ।
कोटिफलयुतविहीनैर्बाहुफलं भक्तमाप्तांशैः ॥
मेषादिस्थे गोलायनसन्धी भास्करस्योनौ ।
तौ चन्द्रस्य स्यातां तुलादिषट्कस्थिते तु संयुक्तौ ॥
गोलायनसन्ध्यन्तं पदं विधोरत्र धीमता ज्ञेयम् ।
रविगोलवदस्पष्टा स्पष्टा क्रान्तिः स्वगोलदिक् शशिनः ॥

इति पदज्ञानम् । अनेनैव प्रकारेण चन्द्रस्पष्टक्रान्तेः पदं ज्ञेयं विक्षेपवृत्त सम्बन्धत्वात् । न साधारणपदज्ञानेन स्पष्टक्रान्तेः क्रान्तिवृत्तसम्बन्धाभावात् । अन्यथा पदज्ञानासम्भवापत्तेः । एतदङ्गीकारे पदान्यत्वमित्यार्द्धं व्यर्थमपि भगवता तदर्द्धेन एतादृशं पदं ज्ञापितमन्यथा तदनुक्त्यापत्तेरिति दिक् ॥ ७—८ ॥

विषमपद में स्थित चन्द्र की शरसंस्कृत क्रान्ति अर्थात् स्पष्टक्रान्ति यदि सूर्य की क्रान्ति से अधिक हो तो गत पात तथा ऊन हो तो गम्य पात होता है । समपद में चन्द्रमा हो तो इससे विपरीत अर्थात् सूर्य की क्रान्ति से चन्द्र की क्रान्ति यदि न्यून हो तो गत पात, अधिक हो तो गम्यपात होता है । भिन्न दिशा के शर में चन्द्रक्रान्ति घट जाने पर चन्द्रमा का पद भिन्न होता है ॥ ७—८ ॥

उपपत्तिः—रविक्रान्तिः विषमपदे प्रत्यहं वर्धमाना तथा च समपदे क्षीयमाणा दृश्यते । अतः विषमपदे स्थितस्य चन्द्रस्य क्रान्तिः सूर्यक्रान्त्यापेक्षयाधिकाश्चेत् तदा अग्रेऽपि अधिका एव भवति । यतो हि रविः स्थिरगतिकश्चन्द्रस्तीव्रगत्याश्चलः । तस्तस्य क्रान्तेः प्रतिक्षणं वैलक्षण्यमिति । विषमपदे वर्तमानस्य चन्द्रस्य क्रान्तिरुपचीयते । यथा-यथा ग्रहोऽग्रतो याति तथा तथा तस्य क्रान्तिरुपचीयते । प्रथमपदस्य तृतीय पदस्य च गोलसन्धौ आदिः । तदग्रतः राशित्रयान्तरे क्रान्तेः परमत्वम् । अतो विषमपदे स्थितः यथा यथा अग्रतो याति तथा तथा क्रान्तिरुपचीयते । अनन्तरं सत्रिभात् द्वितीयगोलसन्धिं यावत् समपदम् । तत्र स्थितो ग्रहः यथा यथाग्रतो याति तथा तथा क्रान्तिरपचीयते । एवमेव तृतीय-चतुर्थपदयोरपि । अतः विषमपदे स्थितस्य चन्द्रस्य क्रान्तिर्यदा सूर्यक्रान्त्यापेक्षयाधिका तदाग्रे चालितस्य चन्द्रस्यातिशयेनाधिका भवति । यदि चन्द्रो यथा-यथा पृष्ठतश्चाल्यते तथा-तथा तस्य क्रान्तिर्न्यूना भवति । अतोऽस्या रविक्रान्त्या सह साम्यं गतमेव कल्पितम् । एवमेव समपदे स्थितस्य चन्द्रस्य क्रान्तिः सूर्यापेक्षया स्वल्पा भवति तदापि पृष्ठतश्चालितस्य चन्द्रस्य क्रान्तिरधिका भवति ।

अतोऽत्रापि सूर्यक्रान्त्या सह-चन्द्रक्रान्त्या साम्यं गतिमिति सुस्पष्टम् । अस्माद् भिन्नत्वे क्रान्तिसाम्यैष्यमिति । अतो गतगम्यलक्षणं युक्तियुक्तमेव । उपपन्नम् ।

पातस्य गतगम्यकालज्ञानम्

क्रान्त्योर्ज्ये त्रिज्ययाऽभ्यस्ते परक्रान्तिज्ययोद्धृते।
तच्चापान्तरमर्धं वा योज्यं भाविनि शीतगौ ।। ९ ।।
शोध्यं चन्द्राद्गते पाते तत्सूर्यगतिताडितम् ।
चन्द्रभुक्त्या हृतं भानौ लिप्तादि शशिवत् फलम् ।। १० ।।
तद्वच्छशाङ्कपातस्य फलं देयं विपर्ययात् ।
कर्मैतदसकृत् तावद् यावत् क्रान्ती समे तयोः ।। ११ ।।

अथ गतैष्यकालानयनं विवक्षुः प्रथमं स्पष्टक्रान्तिसाम्यानयनप्रकारं श्लोकत्रयेण आह। सूर्यचन्द्रयोः साधितक्रान्त्योर्ज्ये कार्ये ते त्रिज्यया गुणिते । पराक्रान्तिज्यया। परमापक्रमज्या तु सप्तरन्ध्रगुणेन्दवः । इति । पूर्वोक्तपरमक्रान्तिज्यया इत्यर्थः । भक्ते। तयोः फलयोः धनुषी कार्ये । चन्द्रस्य यदा त्रिज्याधिकं फलं तदोक्तप्रकारेण धनुषोऽसम्भवात् त्रिज्यया नवत्यंशास्तदेष्टज्यया क इत्यनुपातेन धनुः कार्यमथवा त्रिज्यातो यदधिकं तदुत्क्रमधनुषा युक्ताश्चतुः पश्चाशच्छतकला धनुः स्यात् इति ध्येयम् । तयोः अन्तरम् । अर्द्धम् । अन्तरार्द्धम् । वा विकल्पार्थकः । अथवा विषयव्यवस्थार्थकः । सा तु यदान्तरमल्पं तदान्तरम् । यदा तु बह्वन्तरं तदान्तरार्द्धं ग्राह्यमिति । भाविनि भविष्यत्पाते । चन्द्रे राश्यात्मके । तत्कालात्मकं युक्तं कार्यम् । गते पाते सति । चन्द्राद्धीनं कार्यं चन्द्रः स्यात् ।

सूर्यसाधनमाह । तदिति । चन्द्रसम्बन्धि संस्कृतफलम् । स्पष्टसूर्यगत्या गुणितं स्पष्टचन्द्रगत्या भक्तं फलं कलादिकं चन्द्रवत् । चन्द्रयुतहीनक्रमेण सूर्ये युतहीनं कार्यं सूर्यः स्यात् । चन्द्र पातसाधनमाह । तद्वदिति । चन्द्रपातस्य फलं कलादिकम् । तद्वत् । चन्द्रफलं पातगत्या गुणितं स्पष्टचन्द्रगत्या भक्तं विपर्ययात् व्यत्यासात् । देयं संस्कार्यम् । चन्द्रयुतहीनक्रमेण चन्द्रपाते हीनयुतं कार्यम् । चन्द्रपातः स्यात् ।

उक्तक्रियातिदेशमाह । कर्मेति । एतत् । उक्तं कर्म गणित क्रियारूपम् । असकृत् अनेकवारम् । साधितसूर्यात् । सूर्यक्रान्तिं प्रसाध्य साधितचन्द्र पाताभ्यां चन्द्रस्पष्टक्रान्तिं प्रसाध्य ताभ्यां क्रान्तिभ्यां क्रान्त्योर्ज्ये इत्यादिना चापान्तरं तदर्द्धं वा तत्क्रान्तिभ्यामवगतगतैष्यपात लक्षणवशात् । द्वितीयचन्द्रे हीनयुतं तृतीयचन्द्रः स्यात्। आद्यसूर्य चन्द्र गतिभ्याम् अवगतसूर्य पातफलं द्वितीयसूर्य पातयोः यथोक्तं संस्कृतं तृतीय सूर्यपातौ । एभ्यः सूर्य चन्द्रपातेभ्यः सूर्य चन्द्र क्रान्तिभ्यां साधिताभ्यां चापान्तरं तदर्द्धं वा तृतीयचन्द्रे तत् क्रान्त्यवगत गतैष्यपातवशात् संस्कृतं चतुर्थचन्द्रः स्यात् । आद्यसूर्य चन्द्रगत्यवगतस्वफल संस्कृतौ तृतीय सूर्य पातौ चतुर्थ सूर्यपातौ स्तः । एवमेभ्यः पञ्चमाश्चन्द्रसूर्यपाता उक्तरीत्या साध्या इत्युत्तरोत्तरं मुहुः साध्याः इत्यर्थः ।

अवधिमाह । तावदिति । यावद्यदवधि तयोः सूर्य चन्द्रयोः क्रान्ती स्पष्ट क्रान्तितुल्ये स्तः तावत् तदवधि क्रिया कार्या इत्यर्थः ।

अत्रोपपत्तिः । मध्यमक्रान्तिसाम्यरूप पातकालिक स्पष्टक्रान्तिभ्यां स्पष्टक्रान्ति साम्यरूपवस्तुभूत ,पातकालो गतैष्यत्वेन ज्ञातोऽपि विशेषतस्तत्कालज्ञानार्थं सूर्य-चन्द्रयोः क्रान्ती समे स्पष्टे उपपन्ने कार्ये । तत्र मध्यपातकालाद्गतैष्यपातवशाद् अभीष्टकाले चन्द्रसूर्यपातान् प्रसाध्य तयोः क्रान्ती साध्ये । एवं साधित-क्रान्त्योर्यदैवातुल्यत्वं तदैव स्पष्टपातः । अथ अनियमात् प्रथमं पूर्वाग्रिमकाले चन्द्रसाधनार्थं चन्द्रस्येष्टांशा हीना योज्याश्चेति नियता भागा उक्तप्रकारानीता एवेष्टाः कल्पिताः । तथाहि । सूर्यक्रान्तिज्यातः परक्रान्तिज्यया न्यूनया चतुर्दश शतमितया त्रिज्या तुल्या दोर्ज्या तदेष्टक्रान्तिज्यया केत्यभीष्ट दोर्ज्यायाश्चापं सायनसूर्यभुज एव। एवं चन्द्रस्पष्टक्रान्तिज्यातश्चापं सायनसूर्यभुजान्नयूनमधिकं भवति । क्रान्तिसमत्वा-भावात्। यद्यपि न्यूनचतुर्दशशताधिकस्पष्टक्रान्तेरुक्तरीत्या भुजज्यायास्त्रिज्याधिकत्वेन चापाकरणमशक्यं तथापि ।

त्रिज्याधिकस्य क्रमचापलिप्ताः खखाब्धिवाणा धनुरुत्क्रमात् स्यात् ।

इति सिद्धान्तशिरोमण्युक्त वैपरीत्येन त्रिज्यातो यदधिकं तदुत्क्रमचापयुक्ताः चतुः पञ्चाशच्छतकला इत्यनेन चापोत्पत्तौ न क्षतिः । एतेन चापासम्भवशङ्कया सार्द्धाष्टविंशत्यंशानां ज्या परमक्रान्तिज्येति स्वायनसन्धिस्थस्पष्टक्रान्तिज्या च इति च निरस्तम् । ग्रन्थे तयोः परमक्रान्तिज्यात्वानुक्तेः । स्पष्ट क्रान्तिसाम्यानन्तरमपि उक्तरीत्या कर्मान्तर निवारणानुपपत्तेश्च क्रान्त्योस्तुल्यत्वेऽपि हरभेदात् तच्चापान्तरसद्-भावेन क्रियाकुण्ठनासम्भवात् । न हि असकृत्कर्मणि स्वाभीष्टसिद्ध्यनन्तरं कर्मान्तरं सम्भवति । अप्रसिद्धेः स्वरूपव्याघाताच्च । तच्चापयोः अन्तरमिष्टांशाश्चन्द्रस्य गतैष्यपातवशाद्धीनयुता अभीष्टचन्द्रो भवति । तदिष्टांशानां बहुत्वे बहुपरिवर्त्तैः अभीष्टसिद्धिरतोऽल्पपरिवर्त्तैः अभीष्टसिद्ध्यर्थं तदर्द्धमिष्टांशा इति ।

अथ एते चन्द्रस्येष्टांशा इत्येभ्यश्चन्द्र गतिप्रमाणेन एते तदा सूर्यपातगतिभ्यां क इत्यनुपातेन तयोश्चन्द्रगति प्रमाणेन एते तदा सूर्यपातगतिभ्यां क इत्यनुपातेन तयोश्चन्द्रकालिकत्व सिद्धार्थमिष्टांशा एते सूर्यस्य संस्कृताश्चन्द्रवदभीष्टसूर्यो भवति । पातस्य तु चक्रशुद्धत्वेन विपरीतत्वात् पातेष्टांशाः पातस्य व्यस्तं संस्कार्या अभीष्टपातो भवति । एभ्यः सूर्यचन्द्रयोः स्पष्टक्रान्ती साध्ये । तयोः असमत्व उक्तरीत्या चन्द्रस्येष्टांशा एतत्साधित चन्द्रे संस्कार्याः । न प्रथमचन्द्रे । तत्क्रान्तिजत्वा भावात् । अन्यथा समक्रान्त्यनन्तरमपि तयोरिष्टांशाभावे प्रथम चन्द्र सूर्यपातानां तत्संस्कृतेऽपि अविकारा तत्क्रान्त्योः द्वितीयपरिवर्त्तक्रान्तिसमत्वेन कर्मान्तरसम्भवात् क्रियाकुण्ठनत्वानुपपत्तेः। अव्यवहित पूर्वग्रहयोजने तु अन्त्यकर्मण एव सिद्धेः । कर्मान्तरासम्भवाच्च । सूर्यपातयोरिष्टांशास्तु पूर्वचन्द्र सूर्यस्पष्टगतिभ्याम्मेव स्वल्पान्तरात् कार्याः । अव्यवहित पूर्वकाले स्पष्टगत्यज्ञानात् । एवमसकृत् करणेन

क्रान्त्योः सामयमुत्तरोत्तर परिवर्त्तान्तिरे भवति एव इत्युपपन्नं क्रान्तयोर्ज्ये इत्यादि श्लोकत्रयम् ॥ ९—११ ॥

सूर्य और चन्द्रमा की क्रान्तिज्या को पृथक्-पृथक् त्रिज्या से गुणाकर दोनो में परमक्रान्तिज्या का भाग देने से जो लब्धि प्राप्त हो उनके चापों के अन्तर को अथवा अन्तर के आधे को गत-गम्य पातों के अनुसार चन्द्रमा में हीन युत करने से अभीष्ट चन्द्रमा होता है । इस चन्द्र सम्बन्धिफल (चापान्तर वा चापान्तरार्ध) को सूर्य की गति से गुणाकर चन्द्र की गति का भाग देने से प्राप्त लब्धि को सूर्य में चन्द्रमा की तरह युत हीन करने से सूर्य होता है । ऐसे ही चन्द्र सम्बन्धी फ़ल को चन्द्रपात की गति से गुणाकर चन्द्रगति का भाग देने से जो फल आवे उसका पात में विलोम संस्कार (अर्थात् चन्द्रमा में धन किया हो तो पात में ऋण और हीन किया हो तो युत) करने से चन्द्रपात होता है । इस प्रकार से साधन किये हुए सूर्य की क्रान्ति और पात संस्कृत चन्द्र की, स्पष्टक्रान्ति, अतुल्य हों तो फिर पूर्ववत् साधन किये हुए चापान्तर से संस्कृत सूर्य और चन्द्र की क्रान्ति का साधन करना चाहिए । फिर भी यदि क्रान्ति अतुल्य हों तो जब तक क्रान्ति समान न हो जाय तब तक असकृत (यही क्रिया बार-बार) करनी चाहिए । इस प्रकार सूर्य और चन्द्रमा की क्रान्ति समान होगी ॥ ९—११ ॥

उपपत्तिः—सूर्य—चन्द्रयोः क्रान्तिसाम्यं पातः । अतः रविचन्द्रयोः इष्ट-क्रान्तिज्यातोऽनुपातद्वारा तयोर्भुजयोः साधनं क्रियते ।

यदि परमक्रान्तिज्यायां त्रिज्या रूपभुजज्या तदा सूर्यक्रान्तिज्यायां किमिति—

$$\frac{\text{त्रिज्या} \times \text{रविक्रान्तिज्या}}{\text{परमक्रांज्या}} = \text{रविभुजज्या}$$ । अस्या चापं भुजः ।

एवमेव $$\frac{\text{त्रिज्या} \times \text{चन्द्रक्रांज्या}}{\text{परमक्रांज्या}} = \text{चन्द्रभुजज्या}$$ । अस्या चापं = भुजः

चन्द्रभुजः — रविभुजः = भुजान्तरम् ।

यद्यपि क्रान्तेरन्तरं याम्योत्तरं भवति परन्त्वत्र क्रान्तिसाम्यज्ञानार्थं भुजान्तरं साधितम् तत् सूर्याचन्द्रमसोः पूर्वापरान्तरम् ।

गत-गम्ययोः पातयोः क्रमेण चन्द्रेण रहितं सहितं वा करणेन अभीष्टश्चन्द्रो भवति । अत्र क्रिया लाघवार्थं चापान्तरार्धस्य संस्कारः कृतः । यावंता कालेन चन्द्रस्य चापान्तरांशानां भोगं करोति तावत्कालपर्यन्तं स्व स्व गत्या सूर्यः पातश्चापि चलति ।

अतोऽनुपातः—

यदि चन्द्रगतौ चापान्तरम् तदा सूर्यगतौ किमिति—

$$\frac{\text{चापान्तरम्} \times \text{सूर्यगतिः}}{\text{चन्द्रगतिः}} = \text{सूर्यफलम्}$$ ।

एवमेव $$\frac{\text{चापान्तरम्} \times \text{चन्द्रपातगतिः}}{\text{चन्द्रगतिः}} = \text{पातफलम्}$$ ।

सूर्यफलस्य संस्कारः (धनर्णत्वम्) सूर्ये चन्द्रवद्भवति । तथा च विलोम गतित्वात् पाते पातफलस्य विपरीत संस्कारो भवति । अनया रीत्या चन्द्रकालिकौ सूर्यपातौ भवतः । आभ्यां चापान्तरद्वारा असकृत् कर्मणा सूर्याचन्द्रमसोः साधनेन अनयोस्तुल्या क्रान्तिः स्फुटा भविष्यति । **उपपन्नम्** ।

क्रान्त्योः समत्वे पातोऽथ प्रक्षिप्तांशोनिते विधौ ।
हीनेऽर्धरात्रिकाद् यातो भावी तात्कालिकेऽधिके ॥ १२ ॥

अथ क्रान्तिसाम्यं पात इति स्पष्टं कथयन् तत्कालज्ञानार्थं साधितक्रान्तिसाम्य सम्बन्धि चन्द्रासन्नार्द्धरात्रात् पातकालस्य गतगम्यत्वमाह । सूर्यचन्द्रयोः स्पष्टक्रान्तयोः साम्ये स्पष्टः पातः स्यात् । अथ अनन्तरम् । स्पष्टपातसम्बन्धी साधित चन्द्रः पूर्वानुसन्धानेन आपाततो यद्दिनीयो भवति तदासन्नार्द्धरात्रकाले स्पष्टचन्द्रो मध्यस्पष्टाधिकारोक्तप्रकारेण साध्यः । तस्मादर्द्धरात्रकालिकाच्चन्द्रात् प्रक्षिप्तांशोनिते क्रान्तिचापान्तरेण तदर्द्धेन वा युतोनिते चन्द्रे स्पष्टक्रान्ति साम्यसम्बद्ध साधितचन्द्रे न्यूने सति तदर्द्धरात्रकालात् पातकालो गतः । तात्कालिके क्रान्तिसाम्य कालिक साधित-चन्द्रेऽर्द्धरात्रकालिकचन्द्रादधिके सति, तदर्द्धरात्रकालात् पातकाल एष्य इत्यर्थः ।

अत्रोपपत्तिः । यद्यपि स्पष्टक्रान्तिसाम्य सम्बद्ध चन्द्रमध्य क्रान्ति साम्यकालिक चन्द्राभ्यां वक्ष्यमाण प्रकारेण पातकालस्य मध्य क्रान्तिसाम्य कालात् गतैष्यघट्यादि-ज्ञानं भवतीति निकटार्द्ध रात्रिकचन्द्रात् तत्साधनं पुनस्तत् गतैष्यकथनं च गौरवम् ।

आर्द्धरात्रिकस्पष्टचन्द्रसाधनक्रियाधिक्यात् । तथापि चन्द्र गतेरतिमहत्वेन प्रतिक्षणं गतेर्वह्वन्तरेणान्यादृशत्वात् बहुकालान्तरे बहुकालान्तरित स्पष्टगत्यानीत-घट्यात्मकस्याति स्थूलत्वात् आसन्नकाले स्वल्पान्तराच्च आसन्नार्द्धरात्रिकः स्पष्ट-चन्द्रो ग्रन्थोक्तः स स्पष्टगतिकोऽवश्यमपेक्षितः । अतस्तस्माच्चन्द्रात् स्पष्ट क्रान्ति साम्य सम्बद्ध चन्द्रस्य न्यूनाधिकत्वे क्रमेण तदर्द्धरात्रात् स्पष्टपातो गतैष्य इति सम्यगुक्तम् । अतएव । ''समीपतिथ्यन्त समीप चालनं विधोस्तु तत्कालजयैव युज्यते ॥'' इति भास्कराचार्योक्तं सङ्गच्छते ॥ १२ ॥

सूर्य और चन्द्र की स्पष्टक्रान्ति समान होने पर स्पष्टपात अर्थात् पात का मध्यकाल स्पष्ट होता है । स्पष्टपात सम्बन्धि चन्द्रमा अपने आसन्न अर्द्धरात्रकालिक चन्द्रमा से हीन हो तो उस अर्धरात्रिकाल से पातकाल गत तथा अधिक हो तो पातकाल गम्य होता है ॥ १२ ॥

स्थिरीकृतार्धरात्रेन्द्वोर्द्वयोर्विवरलिप्तिका: ।
षष्टिघ्न्यश्चन्द्रभुक्त्याप्ता: पातकालस्य नाडिका: ।। १३ ।।

अथ स्पष्टकाल ज्ञानमाह । स्थिरीकृतार्द्धरात्रेन्द्वो: स्पष्ट क्रान्तिसाम्य सम्बद्धसाधिता सकृत्क्रिया नियतचन्द्रस्तदा सन्नार्द्धरात्रिक स्पष्टचन्द्र: ।तयो: उभयो:। अत्र द्वयोरिति पूर्वपदार्थ व्यक्तीकरणाय । तयो: उभयो: । अत्र द्वयोरिति पूर्वपदार्थ व्यक्तीकरणाय ।अन्यथा एकचनप्रमादाद्व्याकुलतापत्ते: ।अन्तरकला: षष्ट्या गुणिता अर्द्धरात्रिकचन्द्रस्पष्टकलात्मकगत्या भक्ता: फलम् ।पातकालस्य आर्द्धरात्रात् गतैष्य स्पष्टक्रान्ति साम्यस्य घटिका भवन्ति । आर्द्धरात्रात् गतैष्यक्रमेण फलघटीभि: पूर्वमुत्तरत्र स्पष्टक्रान्ति साम्यरूप पात: स्यात् इत्यर्थ: ।

अत्रोपपत्ति:।चन्द्रस्पष्टगत्या षष्टिसावन घटिकास्तदा स्वाभीष्टार्द्धरात्रकालिक-क्रान्तिसाम्यकालिकस्पष्टचन्द्रयो: अन्तरकलाभि: का इत्युपपन्नमुक्तम् ।साधितसूर्यस्य प्राथमिक चन्द्रगतिग्रहणेन स्थूलत्वात् अर्द्धरात्रिकस्पष्ट सूर्यादुक्तरीत्या पातकालानयनं स्थूलं नोक्तमिति ध्येयम् ।। १३ ।।

स्थिरीकृतचन्द्र अर्थात् स्पष्टक्रान्तिसाम्यकालिक चन्द्र और अर्धरात्रकालिकचन्द्र की अन्तरकला को ६० से गुणा कर गुणनफल में अर्धरात्रकालिक चन्द्रगति का भाग देने से प्राप्त लब्धितुल्य घटिका अर्धरात्रिकाल से पातकाल की गत गम्य घटिका होती हैं ।। १३ ।।

उपपत्ति:—अभीष्टपातकालस्य गत-गम्यघटिका साधनार्थमनुपात:—

चन्द्र-स्पष्टगतिकलाभि: षष्टिघटिका: लभ्यन्ते तदा स्थिरीकृतचन्द्र-अर्धरात्रि-कालिकचन्द्रयोरन्तरकलाभि: किमिति—

$$\frac{\text{६० × (स्थिर चन्द्रकला ∼ अर्धरात्रिकालिकश्चन्द्रकला)}}{\text{चन्द्रस्पष्टगतिकला}} = \text{गत-गम्य घटिका पातस्य ।}$$

उपपन्नम् ।

पातस्याद्यन्तकालयो: साधनम्

रवीन्दुमानयोगार्धं षष्ट्या संगुण्य भाजयेत् ।
तयोर्भुक्त्यन्तरेणाऽऽप्तं स्थित्यर्धं नाडिकादि तत्।। १४ ।।

अथ पातकालस्य स्थित्यर्द्धानयनमाह । सूर्यचन्द्रयो: चन्द्रग्रहणाधिकारोक्त प्रकारेण ये विम्बमानकाले स्वस्वगति कलोत्पन्ने तयो: ऐक्यस्यार्द्धं षष्ट्या गुणयित्वा सूर्यचन्द्रयो: कलात्मक स्पष्टगत्योरन्तरेण भजेत् ।यत् लब्धं तद्घटिकादिकं स्थित्यर्द्धं पातकालात् पूर्वमपरत्र च स्थित्यर्द्धकालपर्यन्तं पातस्य अवस्थानमित्यर्थ: ।

अत्रोपपत्ति: ।सूर्यचन्द्र विम्ब केन्द्रयो: एकद्युरात्रवृत्तस्थत्वे विषुवद्वृत्तादुभय-तस्तुल्यान्तरत्वे वा पातमध्यं केन्द्रसाम्याद्विषुवद् वृत्तात् क्रान्तिसूत्रस्थो मण्डलपरिधि

प्रदेशो य आसन्न: स विम्बपृष्ठप्रान्त: दूरस्थस्तु बिम्बाग्रप्रान्त: । याम्योत्तरगमनेन पातस्य उक्ते: । तत्र शीघ्रविम्बाग्र प्रान्तमन्दपृष्ठविम्बप्रान्तयो: तथात्वे पातारम्भ: सूर्यबिम्बाग्रप्रान्त चन्द्रविम्बपृष्ठप्रान्तयो: तथात्वे पातान्त: । अत आद्यन्तकालाभ्यां क्रमेण पूर्वोत्तरकालयो: चन्द्रार्क विम्बान्तर्गतप्रदेशानां केषामप्युक्त रूपस्थितित्वाभावेन सूर्यचन्द्रयो: तथाभावात् पाताभाव इत्यादिकालमारभ्यान्कालपर्यन्तं सूर्यचन्द्रयो: तथात्वात् पातस्थिति:।पातमध्यकाले क्रान्त्यन्तराभाव: पाताद्यन्तकालयो: मानैक्यार्द्ध-तुल्यं क्रान्त्यन्तरम् । तेन तत्तुल्यान्तरस्यापचयकाल उपचय्यकालश्चाद्यन्तस्थित्यर्द्धे । तत्र तत्कालानयनं सूर्यचन्द्रगत्यन्तरेण षष्टिघटिकास्तदा मानैक्यखण्डकलाभि: का इत्यनुपातेन उक्तमुपपन्नम् ।यद्यपि प्रमाणेच्छयो: समजातित्वाभावात् अनुपातोऽसङ्गत: क्रान्तो: दक्षिणोत्तरान्तरस्यो पचयापचयो: सूर्यचन्द्र गत्यन्तरस्य पूर्वापरान्तरस्यो-पचयापचयाभ्याम् अतिविलक्षणत्वात् । तथापि गणितलाघवार्थं भगवता स्वल्पान्तरत्वेनानुपातो लोकानुकम्पया अङ्गीकृत इत्यदोष: । भास्कराचार्यैस्तु ।

मानैक्यार्द्धं गुणितं स्पष्टघटीभिर्विभक्तमाद्येन ।
लब्धघटीभिर्मध्यादादि: प्रागग्रतश्च पातान्त: ।।

इति युक्तमुक्तम् । केचित् तु षष्टिघटिकाभि: ग्रहान् प्रचाल्य क्रान्ति: स्पष्टा साध्या । प्रत्येकं तयोरन्तरं योगो वा गत्यन्तरमिति भास्कराभिमतमाहु: ।। १४ ।।

सूर्य और चन्द्र की {चन्द्रग्रहणाधिकारोक्त प्रकार से} बिम्बमान कला का साधन कर दोनों के योग के आधे (मान योग दल) को ६० से गुणाकर गुणनफल में सूर्य और चन्द्र की गत्यन्तर का भाग देने से लब्धि स्थित्यर्ध घटिका होती हैं ।। १४ ।।

उपपत्ति:—रविविम्ब-चन्द्रविम्ब केन्द्राभिप्रायेण क्रान्तिसाम्यकाल: पातमध्य-कालो भवति । चन्द्रविम्बाग्रप्रान्तसूर्यविम्बपृष्ठप्रान्तयो: क्रान्तिसाम्यात् पातारम्भकाल: । एवमेव चन्द्रविम्बपृष्ठप्रान्तसूर्यविम्बाग्रप्रान्तयो: क्रान्तिसाम्यकाल: पातान्तकालो भवति । क्रान्त्यन्तराभाव: पातमध्यकाले भवति तथा च पातादौ पातान्ते च मानैक्यार्धतुल्यं क्रान्त्यन्तरं भवति । अत: मानैक्यार्धतुल्य-क्रान्त्यन्तरस्यापचयोपयचकालौ क्रमेण पातादौ पातान्ते च स्थित्यर्धघटिकातुल्यौ भवत: । स्थित्यर्धघटिकानां साधनमनुपातद्वारा क्रियते—

गत्यन्तरकलाभि: षष्टिघटिकास्तदा मानैक्यार्धकलाभि: किमिति—

$$= \frac{६० \times \text{मानैक्यार्धकला}}{\text{गत्यन्तरकला}} = \text{स्थित्यर्धघटिका} ।$$

अत्र सूर्याचन्द्रमसो: एकदिवसीय क्रान्त्यन्तरेणानुपातोऽपेक्षित: । परं क्रियालाघ-वार्थं भगवता सूर्येण स्वल्पान्तरत्वात् गत्यन्तरकलाभिरनुपात: कृत: । **उपपन्नम् ।**

पातकाल: स्फुटो मध्य: सोऽपि स्थित्यर्धवर्जित: ।
तस्य सम्भवकाल: स्यात् तत्संयुक्तोऽन्त्यसंज्ञित: ।। १५ ।।

अथ पातस्यादिमध्यान्त कालानाह । स्थिरीकृतार्द्धरात्रेत्यादिना स्पष्टः पातकालः क्रान्तिसाम्यस्य काल आनीतो मध्यसंज्ञो ज्ञेयः । स मध्यकाल आनीतस्थित्यर्द्धेन हीनस्तस्य पातस्य सम्भवकाल आरम्भकालः । अपिः समुच्चये । तत् संयुक्तः स्थित्यर्द्धयुक्तोः मध्यकालोऽन्त्यसंज्ञितः पातो भवति । पातस्यान्तकालो भवति इत्यर्थः । अत्रोपपत्तिः—चन्द्र ग्रहणस्पर्शमोक्षवत् स्पष्टा । स्वरूपं तु प्राग्व्यक्तीकृतम् ॥ १५ ॥

पूर्वोक्त (''स्थिरीकृतार्धरात्रेन्द्वोः—'' इत्यादि) प्रकार से साधित स्पष्टपातकाल ही पात का मध्यकाल कहा गया है । इसमें स्थित्यर्ध घटिका घटाने से पात का आरम्भ काल तथा जोड़ने से पात का अन्तकाल अर्थात् निवृत्तिकाल होता है ॥ १५ ॥

पातस्थितिकालस्य फलम्

आद्यन्तकालयोर्मध्यः कालो ज्ञेयोऽतिदारुणः ।
प्रज्वलज्ज्वलनाकारः सर्वकर्मसु गर्हितः ॥ १६ ॥
एकायनगतं यावदर्केन्द्वोर्मण्डलान्तरम् ।
सम्भवस्तावदेवास्य सर्वं कर्मविनाशकृत् ॥ १७ ॥

अथ एतत् ज्ञानस्य प्रयोजनं किमित्यतः पातस्थितिकालो मङ्गलकृत्ये निषिद्ध इत्याह । पातस्यारम्भ-समाप्ति-समययोः अन्तरालवर्त्ती समयः । अत्यन्तं कठिनः । सर्वेषु मङ्गल कृत्येषु निन्दितो ज्ञेयः । अत्र हेतुगर्भं विशेषणमाह । प्रज्वलज्जवलनाकार इति । देदीप्यमानाग्निस्वरूपः । तथाच कृतं मङ्गलकृत्यं भस्मावशेषं स्यात् इति भावः ॥ १६ ॥

ननु पातस्य क्रान्तिसाम्यत्वेन सूक्ष्मकालरूपत्वादागतमध्यकाल एव सूक्ष्मः शुभकर्मसु निन्दितो न पातस्थित्यात्मकस्थूलकालः क्रान्तिसाम्याभावादित्यत आह । सूर्यचन्द्रयोः मण्डलान्तरं प्रत्येकं विम्बैकदेशरूपं यावद्यत्कालपर्यन्तमेकायनगतं तुल्यमार्गस्थितं भवति । तावत् तत्काल पर्यन्तम् । एवकारो न्यूनाधिकव्यवच्छेदार्थकः । अस्य पातस्य । सकलशुभकर्मणामाचरितानां नाशकारी । सम्भव उत्पत्तिः । स्थितिरिति यावत् । न क्रान्तिसाम्यमात्रं स्थितिरलक्ष्यत्वात् । तथाच विषुवद् वृत्तादुभयत एकतो वा चन्द्रार्कविम्बैकदेशयोः कयोरपि तुल्यान्तरेण यावदवस्थानं केन्द्रावस्थानाभावेऽपि विम्बसम्बन्धात् पातस्थितिः अतएव ।

तावत् समत्वमेव क्रान्त्योर्विवरं भवेद्यावत् ।
मानैक्यार्द्धादूनं साम्याद्बिम्बैक देशजक्रान्त्योः ॥

इति भास्कराचार्योक्तं युक्ततरमिति भावः ॥ १७ ॥

पात के आरम्भ और अन्त के मध्य का काल, अत्यन्त दारुण काल होता

है । यह काल अत्यन्त कठिन और सम्पूर्ण (शुभ) कार्यों में निन्दित है । इसका स्वरूप देदीप्यमान अग्नि के तुल्य है । इसलिये इसमें किये हुए सम्पूर्ण कर्म जलकर भस्मीभूत हो जाते हैं । अतः इस काल में कोई शुभ कर्म नहीं करना चाहिए । सूर्य और चन्द्र के बिम्बों के किसी एक प्रदेश की क्रान्ति जितने काल तक तुल्य रहती है उतने काल तक संपूर्ण शुभ कर्मों के नाश करने वाले पात की स्थिति रहती है ।। १६–१७ ।।

स्नानदानजपश्राद्धव्रतहोमादिकर्मभिः ।
प्राप्यते सुमहच्छ्रेयस्तत् कालज्ञानतस्तथा ।। १८ ।।

ननु अयं केवलं मङ्गलनाशको न शुभकारक इत्यत आह । व्रतं स्वाभिमतदेवताराधनम् । आदिपदाद्धर्मान्तरम् । इत्यादि पुण्यक्रियाभिस्तत्काल-कृताभिः सुतरामुत्कृष्टं कल्याणं मनुष्यैर्लभते । तस्य पातस्य स्थित्यादिकालज्ञानात्। तथा समुच्चये । तेन महच्छ्रेयः प्राप्यत इत्यर्थः ।। १८ ।।

उस (पात) काल में स्नान, दान, जप, श्राद्ध एवं अभीष्ट देवता की आराधना और होम आदि धर्म क्रिया करने से अत्यन्त पुण्य प्राप्त होता है । उस काल के जानने वाले (ज्योतिषी) को स्नान, दान आदि के तुल्य पुण्य स्वतः ही प्राप्त हो जाता है ।। १८ ।।

पाते विशेषः

रवीन्द्वोस्तुल्यता क्रान्त्योर्विषुवत्सन्निधौ यदा ।
द्विर्भवेद्धि तदा पातः स्यादभावो विपर्ययात् ।। १९ ।।

अथ पातविशेषमाह । यदा यस्मिन् काले विषुवन्निकटे क्रान्त्यभावासन्ने । अत्र चन्द्रस्य स्पष्टक्रान्त्यभावासन्नत्वं ध्येयम् । सूर्यचन्द्रयोः क्रान्त्योः समता भवति । तदा तस्मिंस्तदासन्नकाले स्थूलरूपे क्रान्त्यभावात् उभयत्र द्विर्वैधृतव्यतीपात-भेदद्वयात्मकः पातः । द्विः प्रत्येकं द्विधा वारद्वयं भवेत् । विपर्ययात् उक्तव्यत्यासात्। चान्द्रायणसन्निधिनिकटे तयोः क्रान्त्योस्तुल्यत्व इत्यर्थः । अत्र अतुल्यत्वं सूर्यक्रान्तितश्चन्द्रस्पष्टक्रान्तेः न्यूनत्वमेव न अधिकत्वमिति ध्येयम् । अभावः क्रान्तिसाम्यरूपपातस्य तस्मिन् स्थूलकाले किञ्चिन्मितेऽनुत्पत्तिः स्यात् । एतेन ।

स्वायनसन्धाविन्दोः क्रान्तिस्तत्कालभास्करक्रान्तेः ।
ऊना यावत् तावत् क्रान्त्योः साम्यं तयोर्नास्ति ।।

इति भास्कराचार्योक्तं सङ्गच्छते । तत्साधनं तु प्रथमागत चापान्तरा-दिष्टांशाश्चन्द्रे युता हीना इति प्रत्येकमसकृत्क्रियया द्विधा पातकालस्य ज्ञेयम् ।

अत्रोपपत्तिः । व्यतीपाते विषुवद्वृत्तात् उभयस्तुल्यान्तरेण सूर्यचन्द्रयोः

अवस्थिति कालेऽपि पातत्वम् । क्रान्तिसाम्यादेवं वैधृतेऽपि एकाहोरात्र वृत्तस्थत्वकाले पातत्वम् । एवमेव वियोगव्यतीपातवैधृतयोरपि एकाहोरात्र वृत्तस्थत्वे विषुवद्वृत्तात् उभयतस्तुल्यान्तरावस्थितौ च पातत्वम् । क्रान्तिसाम्यादियुक्तं गोलसिद्धं चन्द्रगोल-सन्धि निकटे प्रत्यक्षम् । अभावोमपत्तिस्तु चन्द्रस्य स्वायनसन्धौ तत्स्पष्टक्रान्तितुल्यं परमं विषुवद्वृत्तात् दक्षिणोत्तरं गमनं भवति अस्माद् अग्रे पृष्ठे वा विक्षेपवृत्ते भ्रमतश्चन्द्रस्य क्रान्तिः न्यूनैव सम्भवति अतः स्वायनसन्धिस्थ चन्द्रकालिक सूर्यक्रान्तिः स्वायनसन्धिस्थचन्द्रस्पष्टक्रान्तेः अधिका तदेष्टचन्द्रक्रान्तेः न्यूनत्वेन अधिकसूर्येष्टक्रान्त्या समत्वानुत्पत्तिः'।

सूर्यस्य चन्द्राल्पगमनवत्वात् क्रान्त्यपचयस्यापि चन्द्रकान्त्यपचयाल्पत्व सम्भ-वात् । सूर्यक्रान्त्युपचये तु सुतरां तदसम्भवः । एवं तत्रत्यसूर्यक्रान्तिर्न्यूना तदापच-याधिक्यात् चन्द्रस्पष्टक्रान्तिस्तत्समा तदुत्तरपूर्वकाले सम्भवति । सूर्यक्रान्त्युपचये तु सुतराम् । तथाच द्वितीयरविगोल सन्ध्यासन्ने चन्द्रपाते स्वायनसन्ध्यासन्ने सूर्ये च तदसम्भवः कियन्तिचित् दिनानीति यावत् तावत् उक्तमन्यत्र तत्सम्भावना भवतीति गोलयुक्तया फलितम् । अथ असम्भव लक्षणेऽपि क्रान्त्यन्तरस्य मानैक्यखण्डात् अल्पत्वे । एकायनगतं यावदर्केन्द्वोर्मण्डलान्तरम् ।

इति पूर्वोक्तेन पातसम्भवः । तत्र पातमध्यं तस्मिन्नेव काले स्थित्यर्द्धं तु रवीन्दुमानयोगार्द्धमित्युक्तरीत्या मानयोगार्द्धमिति स्थाने क्रान्त्यन्तर मानैक्यखण्डयोः अन्तरं गृहीत्वा साध्यमिति ध्येयम् ॥ १९ ॥

विषुवद्वृत्त की सन्निधि में अर्थात् गोलसन्धि के आसन्न में सूर्य और चन्द्र की क्रान्ति समान हो तो व्यतीपात-वैधृति भेदद्वयात्मक पात दो बार होगा । चन्द्र की अयन सन्धि के निकट यदि सूर्य की क्रान्ति से चन्द्र की क्रान्ति न्यून हो तो पात का अभाव होता है ॥ १९ ॥

उपपत्तिः—रविगोलसन्धिसमीपे क्रान्तिसाम्ये कल्पिते सति चन्द्रः उत्तरगोले सूर्यश्चोत्तरगोले परं द्वयोरयनं भिन्नम् । अस्मिन् समये व्यतिपाताख्यो पातः चेच्चन्द्रशराभावः । तदग्रे चन्द्रमध्ये ७० कला धनचालनेन रविमध्ये च स्वल्पान्तरात् चन्द्रचालन त्रयोदशांशचालनेन भुजयोः साम्यात् स्वल्पान्तरात् शराभावाच्च पुनः क्रान्त्योः समत्वे पातः स्यादिति वारद्वयं पातसम्भवः । न ह्येकायनगतौ स्यातामित्यादि लक्षणोक्तः पातो वारद्वयम् भविष्यतीति बुधैर्भृशं विभावनीयम् । रव्ययनसन्धिसमीपे क्रान्तिसाम्याभावे बहुकालपर्यन्तं पातस्यासम्भव इति ।

योगान्तर्गतं पातज्ञानम्

शशाङ्कार्कयुतेर्लिप्ता भभोगेन विभाजिताः ।
लब्धं सप्तदशान्तोऽन्यो व्यतीपातस्तृतीयकः ॥ २० ॥

अथ शुभकार्ये महापातस्य निषिद्धत्वोक्तिप्रसङ्गात् पञ्चाङ्गान्तर्गतयोगान्तर्गत-व्यंतीपातस्यैव ज्ञानमाह । अयनांश संस्कृतयोः चन्द्रसूर्ययोर्योगस्य राश्यादेः कला अष्टशतेन भक्ताः सप्तदशान्तः । सप्तदशमध्ये षोडशानन्तरं सप्तदशपर्यन्तम् इत्यर्थः। तदपि व्यतीपातः । अन्य एतदधिकार पूर्वोक्तातिरिक्तः । तृतीय एव तृतीयकः । सूर्य चन्द्रयोगान्तराभ्यां व्यतीपातद्वैविध्यात् । एवमुपलक्षणात् उक्तरीत्या फलं षड्-विंशत्यनन्तरं सप्तविंशतिस्तदा तृतीया वैधृतिः । तत्संज्ञपातस्यापि योगान्तराभ्यां द्वैविध्यात् इति ।

अत्रोपपत्तिः । विष्कम्भादिर्व्यतीपातः सप्तदशो योग इति ।। २० ।।

अयनांश संस्कृत सूर्य और चन्द्रमा के योग की कला में ८०० का भाग देने से लब्धि सप्तदशान्त (१६ से अधिक तथा १७ से अल्प) हो तो एक अन्य तीसरा व्यतिपात होता है । {क्रान्तिसाम्यरूप जो व्यतीपात और वैधृति ये दो पात कहे गये हैं उनसे भिन्न तीसरा व्यतीपात नामक योग है} यह भी सम्पूर्ण शुभ कर्मों में निषिद्ध है । २६ वें योग से आगे २७ वाँ वैधृति नामक योग भी सम्पूर्ण शुभ कर्मों में निषिद्ध है । यह भी पञ्चाङ्गस्थ वैधृति योग एवं पूर्वोक्त वैधृत से भिन्न है ।। २० ।।

गण्डान्त लक्षणम्

सार्पेन्द्रपौष्ण्यधिष्ण्यानामन्त्याः पादा भसन्धयः ।
तदग्रभेष्वाद्यपादो गण्डान्तं नाम कीर्त्यते ।। २१ ।।

अथ प्रसङ्गादेतत् तुल्यनिषिद्धे गण्डान्तभसन्धी विवक्षुःतयोः स्वरूपज्ञानमाह । आश्लेषाज्येष्ठा रेवती नक्षत्राणाम् अन्त्याः चतुर्थाश्चरणाः नक्षत्रसन्धयो भवन्ति । तदग्रभेषु तेषामाश्लेषाज्येष्ठारेवती नक्षत्राणाम् अग्रिमनक्षत्रेषु मघामूलाश्विनी नक्षत्रेषु इत्यर्थः । प्रथमचरणो गण्डान्तं नाम प्रसिद्धमुच्यते । यद्यपि आश्लेषाज्येष्ठा रेवती नक्षत्राणामन्तिमं घटिकाद्वयं मघामूलाश्विनी नक्षत्राणाम् आदिमं घटिकाद्वयम् इति चतस्रोऽन्तरघटिका गण्डान्तम् । एतदतिरिक्तो नक्षत्रसन्धिः पूर्वनक्षत्रान्त घटिकोत्तर नक्षत्रादिमघटिकेत्यन्तराल घटिकाद्वयं चन्द्रमण्डल सम्बन्धेन घटिकाः सार्द्धद्वयमिति संहिताविरुद्धं तथापि सूर्योक्तस्य स्वतः प्रामाण्यान्न क्षतिः । अथवा एकवाक्यतार्थं पादशब्दः । करनेत्रादिवत् द्विसंख्यावाचकः । घटिका इत्यध्याहारश्च । तथा च द्विसंख्यामिता अन्त्यघटिका नक्षत्रसन्धयः । प्रथमद्विघटिकामितः कालो गण्डान्त-मित्यर्थः । अत्रापि गण्डान्तत्वात् भसन्धि कथनमयुक्तं गण्डान्तमित्यर्थः । अत्रापि गण्डान्तत्वात् भसन्धिकथनमयुक्तं गण्डान्तस्य तदन्तरालरूपत्वात् तथापि तत्कालस्य निषिद्धत्वोक्ति तात्पर्याद्विभागद्वयेन उक्तौ अपि तदन्तरालकाल उत्तरोत्तरकालस्य अतिनिषिद्धत्वसूचनान्न क्षतिः ।। २१ ।।

आश्लेषा, ज्येष्ठा तथा रेवती नक्षत्र के चतुर्थ चरण को भसन्धि कहते हैं ।

इनसे अग्रिम नक्षत्रों मघा, मूल और अश्विनी नक्षत्रों के प्रथम चरण को गण्डान्त कहते हैं ।। २१ ।।

व्यतीपातत्रयं घोरं गण्डान्तत्रितयं तथा ।
एतद् भसन्धित्रितयं सर्वकर्मसु वर्जयेत् ।। २२ ।।

अथ एतदधिकारोक्तानां तुल्यनिषिद्धत्वमाह । व्यतीपातानां त्रयं योगवियोगात्मकौ क्रान्तिसाम्यरूपौ द्वौ व्यतीपातौ विषुवत्सन्निधौ क्रान्तिसाम्यान्तरेण व्यतीतपातस्तयोरेव भेदः । न पृथक् । पञ्चाङ्गान्तर्गतयोगान्तर्गतव्यतीपातश्चेति त्रयं स्पष्टम् । उपलक्षणम् वैधृति त्रयमपि । योगवियोगात्मकौ क्रान्तिसाम्यरूपौ द्वौ वैधृतिसंज्ञौ । विषुवत्सन्निधौ क्रान्तिसाम्यान्तरेण । वैधृतिसंज्ञस्तु तयोरन्तर्गतः । न पृथक् । पञ्चाङ्गान्तर्गत योगान्तर्गतवैधृतियोगश्चेति स्पष्टं त्रयम् ।

केचित्तु व्यतीपातवैधृतिसंज्ञं व्यतीपातद्वयं संज्ञाभेदेन वैधृतिरिति पूर्वमुक्तेः पञ्चाङ्गान्तर्गतयोगान्तर्गतव्यतीपातश्चेति व्यतीपातत्रयमिति यथा श्रुतमाहुः । घोरं दुष्टं गण्डान्तत्रयम् । तथा घोरं नक्षत्रसन्धित्रयम् । एतत् पूर्वोक्तं घोरम् । अतः कारणात् सर्वमाङ्गल्यकर्मसु शुभेच्छुरेतद् दुष्टं जह्यादित्यर्थः ।। २२ ।।

व्यतीपातत्रय, वैधृतित्रय, गण्डान्तत्रय और भसन्धित्रय ये सब घोर अर्थात् अशुभ हैं । अतः ये चारों घोर संज्ञक संपूर्ण शुभ कर्मों में वर्जित हैं ।। २२ ।।

उपसंहारः

इत्येतत् परमं पुण्यं ज्योतिषां चरितं हितम् ।
रहस्यं महदाख्यातं किमन्यच्छ्रोतुमिच्छसि ।। २३ ।।

।। सूर्यसिद्धान्ते पाताधिकारः सम्पूर्णः ।। ११ ।।

अथ अर्कांशपुरुषः शिष्टावशिष्टं स्ववाक्यमुपसंहरति । हे मय ! तुभ्यमिति । एवमेतत् । शृणुष्व एकमना इत्यादि सर्वकर्मसु वर्जयेदित्यन्तम् । ज्योतिषां ग्रहनक्षत्रादीनां चरितं माहात्म्यं गणितादिज्ञानमिति यावत् । हितमिह लोके कीर्तिकरम् । परमं पुण्यं परत्र लोक उत्कृष्टं धर्म्यम् । अतएव महत् रहस्यम् । अतिगोप्यमाख्यातं मया कथितम् ।

अथ स्वोक्तं युक्त्यप्रतिपादितमेतस्य मनसि निश्चितार्थं न आगतम् इति तदधरोष्ठस्फुरणदर्शनादनुमितं च अस्मै मत्सङ्कोचेन स्वाशङ्कोद्घाटनाशक्तायैतत्प्रश्न प्रतीक्षावसाने मया युक्त्यापि वक्तव्यमित्याशयेन आह । किमिति । अतः परं त्वमन्यत्

उक्तातिरिक्तं किं कतरत् श्रोतुं ज्ञातुमिच्छति । तथाच मया तुभ्यं पूर्वमुक्तं तत्र यत्र यत्र तव संशयस्तत्र तत्र मत्सङ्कोचमुपेक्ष्य मां प्रति प्रश्नस्त्वया कार्यः । तव समाधानं करिष्यामीति भावः ।। २३ ।।

अथ अग्रिमग्रन्थस्य प्रतिपादिताधिकारासङ्गतित्वपरिहारायारब्धाधिकारसमाप्तिं फक्किकया आह । इति स्पष्टम् ।

दशभेदं ग्रहगणितमिति दशाधिकारात्मकग्रन्थपूर्वार्द्धं पाताधिकारसमाप्त्या समाप्तमिति तु पाताधिकारान्तस्थेन इत्येतत् परमं पुण्यमित्यादिश्लोकेनैव सूचितम् ।

रङ्गनाथेन रचिते सूर्यसिद्धान्तटिप्पणे ।
पाताधिकारः पूर्णोऽयं तद्गूढार्थ प्रकाशके ।।
सूर्यसिद्धान्तगूढार्थप्रकाशकमिदं दलम् ।
रङ्गनाथकृतं दृष्ट्वा लभन्तां गणकाः सुखम् ।।

॥ इति श्रीसकलगणकसार्वभौमबल्लादैवज्ञात्मजरङ्गनाथगणकविरचिते
गूढार्थप्रकाशके पाताधिकारः सम्पूर्णः ॥ ११ ॥

हे मयासुर ! यह सब कुछ परम पवित्र, ग्रह नक्षत्रादिकों का रहस्यमय महान चरित्र तुम्हारे लिए मैंने कहा, अब इससे अतिरिक्त और क्या सुनना चाहते हो ।। २३ ।।

॥ पण्डितवर्य बलदेवदैवज्ञात्मज प्रो० रामचन्द्रपाण्डेय द्वारा विरचित सूर्यसिद्धान्त
के पाताधिकार का हिन्दीभाषानुवाद एवं संस्कृतोपपत्ति सम्पूर्ण ॥ ११ ॥

अथ भूगोलाध्यायः - १२

पूर्वोक्त (प्रथम अध्याय १-९ श्लोक पर्यन्त) मयासुर और सूर्यांशपुरुष के संवाद के अनन्तर सूर्यांश पुरुष द्वारा और भी अधिक ज्ञान प्राप्ति की अभिलाषा से मयासुर ने पुनः जिज्ञासा व्यक्त की—

अथार्कांशसमुद्भूतं प्रणिपत्य कृताञ्जलिः ।
भक्त्या परमयाऽभ्यर्च्य पप्रच्छेदं मयासुरः ।। १ ।।

महादेवं वक्रतुण्डं वाणीं सूर्य्यं प्रणम्य च ।
कृष्णं गुरुं रङ्गनाथो व्याख्याम्युत्तरखण्डकम् ।।

अथ मुनीन् प्रति मुनिः सूर्य्यांशपुरुषवचनमनुवाद्यानन्तरं मयासुरेण सूर्य्यांशपुरुषः पृष्ट इत्याह । अथ सूर्य्यांशपुरुषवचनश्रवणानन्तरं मयासुरो मयनामा श्रोता दैत्यः कृताञ्जलिः । रचितहस्ताग्राञ्जलिपुटः । अर्कांशसमुद्भूतं सूर्य्यांशोत्पन्नं पुरुषं स्वाध्यापकं गुरुं परमया उत्कृष्टया भक्त्या । आराध्यत्त्वेन ज्ञानरूपया । अभ्यर्च्य सम्पूज्य प्रणिपत्य नमस्कृत्य । समुच्चयार्थश्चकारोऽत्रानुसन्धेयः । इदं वक्ष्यमाणं पप्रच्छ पृष्टवान् ।। १ ।।

तदनन्तर सूर्यांश पुरुष को करबद्ध प्रणाम कर अत्यन्त भक्ति भाव से अर्चन कर मयासुर ने ये प्रश्न पूछे ॥ १ ॥

भूसम्बन्धिनः प्रश्नाः

भगवन्! किम्प्रमाणा भूः किमाकारा किमाश्रया ।
किं विभागा कथं चात्र सप्तपातालभूमयः ।। २ ।।

अथ किं पप्रच्छेत्यतस्तत्प्रश्नानुवादे प्रथमं तत्कृतं भूप्रश्नमाह । हे भगवन् ! भूर्भूमिः किं प्रमाणा कियत् प्रमाणं यस्याः सा । किमाकारा कथमाकारः स्वरूपं यस्याः सा । किमाश्रया क आश्रयो यस्याः सा । किं विभागा कथं विभागा विभक्तांशा यस्याः सा । अत्र भूम्यां पातालभूमयः पातालविभागरूपा आश्रयाः सप्तसंख्याकाः कथं तिष्ठन्ति । च समुच्चयार्थः किमाकारेत्यादौ प्रत्येकमन्वेति । अयमभिप्रायः । योजनानि शतानि अष्टौ इत्यादिना अवगतभूमानं पञ्चाशत्कोटिविस्तीर्णेति सर्वजनावगतभूमानाद् भिन्नमिति त्वदुक्तभूमाने संशयात् किम्प्रमाणेति प्रश्नः । अन्यथा पूर्वं भूमानकथनात् प्रश्नवैयर्थ्यापत्तेः । उक्तश्रुतत्वापत्तेश्च । एवं लम्बज्याघ्न इत्यादिना स्पष्ट-

परिध्यन्तरसम्भवात् सर्वजनावगतादर्शाकारतायां भूमौ तदसम्भवेन भवदभिमतत्वाकारस्तदतिरिक्त इति किमाकारेति प्रश्न: । एवं तेन देशान्तराभ्यस्तेत्यादिना ग्रहाणां भूम्यभितो भ्रमणसूचनादाधारे शेषादौ तेषामभितो भ्रमणासम्भवेन आधारे संशयात् किमाश्रया इति प्रश्न: । निराधाराया अवस्थानासम्भवात् । एतेन सर्वजनावगतभूस्वरूपातिरिक्त भूस्वरूपेण उत्तरार्द्धप्रश्नौ अपि प्रसङ्गात् उक्तौ सङ्गतौ इति ।। २ ।।

हे भगवन् ! इस पृथ्वी का परिमाण क्या है ? इसका स्वरूप कैसा है ? पृथ्वी का आश्रय (आधार) क्या है ? इसके कितने विभाग हैं तथा कौन कौन सी सात पाताल भूमि हैं ? ॥ २ ॥

अहोरात्रव्यवस्था प्रश्न:

अहोरात्रव्यवस्थां च विदधाति कथं रवि: ।
कथं पर्येति वसुधां भुवनानि विभावयन् ।। ३ ।।

अथ किमाश्रयेति प्रश्नकारणे भूम्यभितो ग्रहभ्रमणे सूर्यस्य उपलक्षणत्वेन प्रश्नौ आह । सूर्य: । अहोरात्रव्यवस्थां दिनरात्र्योर्विवेकं कथं केन प्रकारेण विदधाति करोति । अयं भाव: । आदर्शाकारभूम्या मध्ये मेरुस्तदभितो भूम्युपरि प्रदक्षिणतया सूर्यभ्रमणेन स्वदृश्यविभागे सूर्य्ये दिनं स्वादृश्यविभागे रात्रिरिति सर्वजनावगताद् भवदभिप्रेतं सूर्यभ्रमणं भिन्नं तर्हि त्वन्मते सूर्य्यो दिनं रात्रिं च व्यवधायकाव्यवधायकौ विना कथं करोति । अन्ये ग्रहा अपि कथं स्वदिनं स्वरात्रिं च कुर्वन्ति । सूर्योपलक्षणत्वात् इति। अथ भूम्यभितो भ्रमणाङ्गीकारे भूरेव व्यवधायिकेति अहोरात्रव्यवस्था युक्तैव इत्यत: प्रश्नान्तरमाह । कथमिति । सूर्य्यो भुवनानि वक्ष्यमाणस्वरूपाणि विभावयन् प्रकाशयन् सन् वसुधां पृथ्वीं कथं केन प्रकारेण पर्य्येति प्रदक्षिणतया भ्रमति । भूमेर्निराधारावस्थानासम्भवेन साधारत्वे भूम्यभितो ग्रहभ्रमणमाधारे बाधितमिति भाव: ।। ३ ।।

सूर्य अहोरात्र (दिन-रात्रि) की व्यवस्था कैसे करते है तथा भुवनों (भूर्भुवादि १४ भुवनों) को प्रकाशित करते हुये पृथ्वी की परिक्रमा किस प्रकार करते हैं ॥ ३ ॥

देवासुराणामहोरात्रव्यवस्था प्रश्न:

देवासुराणामन्योन्यमहोरात्रं विपर्ययात् ।
किमर्थं तत् कथं वा स्याद् भानोर्भगणपूरणात् ।। ४ ।।

अथ दिव्यं तदह उच्यत इत्यत्र सुरासुराणामन्योन्यमहोरात्रं विपर्य्ययादित्यत्र चोत्क्रमेण प्रश्नौ आह । पूर्वार्द्ध पूर्वार्द्धे व्याख्यातम् । किमर्थं कोऽर्थोऽभिप्रायो यस्य तदिति अहोरात्रविशेषणम् । देवासुरयोर्दिनं रात्रिश्च अभिन्ना कथं न उक्ता व्यत्यासे नियामकाभावात् इति भाव: । तत् देवासुरयो: अहोरात्रं सूर्यस्य द्वादशराशिभोगादित्यर्थ: । कथं कुत: । वाकार: समुच्चये भवति । उभयत्र नियामका-

भावादुभयत्र मम सन्देहः । दिनरात्र्योः सूर्यदर्शनादर्शननियामकत्वात् यत्र सूर्य्यं षण्मासावधि देवाः पश्यन्ति तत्र असुरा न पश्यन्ति । यत्र देवाः षण्मासावधि न पश्यन्ति तत्र असुराः पश्यन्तीत्यहं भगवता बोधनीय इति भावः ॥ ४ ॥

देवताओं और असुरों की अहोरात्र व्यवस्था एक-दूसरे से विपरीत क्यों और कैसे होती है तथा सूर्य की भगण पूर्ति के साथ इनका अहोरात्र कैसे होता है? ॥ ४ ॥

पैत्र्य-मानुषदिनव्यवस्था

पित्र्यं मासेन भवति नाडीषष्ट्या तु मानुषम् ।
तदेव किल सर्वत्र न भवेत् केन हेतुना ॥ ५ ॥

अथ प्रश्नान्तरे पूर्वोक्तश्लोकद्वयस्य तात्पर्य्यप्रश्नं च आह । पितृणामिदमहोरात्रं मासेन दर्शावधिकचान्द्रमासेन केन हेतुना इत्यस्य प्रत्येकं समन्वयात् केन कारणेन भवति । अन्यथा प्रश्नानुपपत्तेः । सावनघटीषष्ट्या मानुषं मनुष्याणामहोरात्रं केन कारणेन भवति इत्यर्थः । न च यथा दिव्यं तदह उच्यत इत्युक्तं तथा पूर्वोक्ते पित्र्यमानुषाहोरात्रयोः अनुक्तेः प्रश्नौ असङ्गतौ इति वाच्यम् । दिव्यं तदह उच्यत इत्यनेन एव पूर्वोक्तसावनाहोरात्र चान्द्रमासयोस्तदहोरात्रसूत्रसूचनात् । दिव्यमित्यत्र पितृणामनुक्तेः सूर्यसावनाहोरात्रस्य मानुषाहोरात्रत्वेन प्रत्यक्षत्वाच्च परिशेषान्मासस्य एव पित्र्याहोरात्रत्वसिद्धेः । ननु तथापि प्रत्यक्षसिद्धमानुषाहोरात्रे प्रश्नोऽनुपपन्न एव इत्यतस्तात्पर्य्यप्रश्नमाह । तदेव इति । तन्मानुषाहोरात्रम् । एवकारस्तदन्यनिरासार्थकः। सर्वत्र सर्वलोके किल निश्चयेन केन कारणेन न स्यात् । पितृदेवदैत्यानाम-प्रत्यक्षमहोरात्रं कथमङ्गीकृतम् । कथं च मानुषाहोरात्रं प्रत्यक्षसिद्धं तेषामपि न उक्तमित्यर्थः ॥ ५ ॥

पितरों का अहोरात्र एक चान्द्र मास के तुल्य तथा मनुष्यों का अहोरात्र ६० घटी के तुल्य होता है । यही (षष्टि घटिकात्मक) अहोरात्र सर्वत्र क्यों नहीं होता इसमें क्या हेतु (कारण) है ? ॥ ५ ॥

दिनादिनामधीशसम्बन्धिप्रश्नः

दिनाब्दमासहोराणामधिपा न समाः कुतः ।
कथं पर्येति भगणः सग्रहोऽयं किमाश्रयः ॥ ६ ॥

अथ अहर्गणाद अवगतदिनमासवर्षेश्वरेषु तत्प्रसङ्गात् होरेश्वरे प्रश्नं पश्चात् व्रजन्तोऽतिजवादित्यत्र प्रश्नद्वयं च आह । दिनवर्षमासहोराणां स्वामिनोऽभिन्नाः कुतः कस्मान्न भवन्ति । यथा दिनाधिपतित्वं सूर्य्यादीनां क्रमेण तथा प्रथमादिमासवर्षक्रमेण सूर्य्यादीनां क्रमेण मासवर्षाधिपत्वं युक्तम् । आनयने युक्त्यप्रतिपादनादिति भावः । यद्यपि पूर्वं होरेश्वरानयनं न उक्तमिति तत्प्रश्नोऽसङ्गतस्तथापि लोके प्रसिद्धतरो होरेश्वरस्त्वया किमर्थं न उक्त इति तत्प्रश्नतात्पर्य्यमिति ध्येयम् । भगणो नक्षत्रसमूह

सग्रहो ग्रहसहित: कथं केन प्रकारेण पर्य्येति भ्रमति । नक्षत्राणि ग्रहाश्च केन प्रयुक्ता: सन्तो भूम्यभितो भ्रमन्ति इत्यर्थ: । अथ एषामन्तरिक्षावस्थानेऽपि प्रश्नमाह । अयमिति सग्रहो भगणो दृश्यमान: किमाश्रय: क आधारो यस्य इति । विनाधारमन्तरिक्षावस्थानं न सम्भवति इत्यर्थ: ॥ ६ ॥

दिन, वर्ष, मास और होरा के स्वामी समान क्यों नहीं होते । नक्षत्र, मण्डल, ग्रहों के साथ-साथ कैसे भ्रमण करते हैं तथा इनका आधार क्या है? ॥ ६ ॥

ग्रहाणां कक्षाविषयकप्रश्न:

भूमेरुपर्युपर्यूर्ध्वा: किमुत्सेधा: किमन्तरा: ।
ग्रहर्क्षकक्षा: किंमात्रा: स्थिता: केन क्रमेण ता: ॥ ७ ॥

ननु कक्षा एवाधारा: पूर्वं तत्र एव स्वमार्गगा इत्युक्ते: इत्यत: कक्षाणां प्रश्नचतुष्टयमाह । भूमे: सकाशादूर्ध्वमुच्चा ग्रहर्क्षकक्षा ग्रहनक्षत्राणामाकाशे मार्गा: किमुत्सेधा: कियानुत्सेध उच्चता यासां ता: । भूमे: सकाशात् ग्रहनक्षत्रमार्गकक्षा: कियदन्तरेण सन्तीत्यर्थ: । किमन्तरा: कियदन्तरालं यासां ता: । उत्तरोत्तरमुच्चा अपि परस्परं तासां कियदन्तरालमित्यर्थ: । किं मात्रा: किमात्मिका: । किं स्वरूपा: किं प्रमाणा वा । ता ग्रहनक्षत्रकक्षा: केन क्रमेणाधिष्ठिता: सन्ति । पूर्वं कस्तदुत्तरं क इत्यादिक्रमो न ज्ञात इत्यर्थ: ॥ ७ ॥

भूमि के ऊपर उर्ध्वोर्ध्व क्रम से कितनी उचाई पर ग्रहों एवं नक्षत्रों की कक्षायें हैं तथा उनमें परस्पर कितना अन्तराल है ? उनकी मात्रा (संख्या) तथा उनका क्रम क्या है ? ॥ ७ ॥

सूर्यावस्थासम्बन्धिप्रश्न:

ग्रीष्मे तीव्रकरो भानुर्न हेमन्ते तथाविध: ।
कियती तत्करप्राप्तिर्मानानि कति किञ्च तै: ॥ ८ ॥

अथ अनुभवप्रश्नं तत्प्रसङ्गात् सूर्यकिरणप्रचारप्रश्नं च पूर्वोक्तमानानां प्रश्नद्वयं च आह । ग्रीष्मर्त्तौ सूर्य्यो यथा तीक्ष्णकिरण ऊष्णकिरणस्तथाविधस्तादृशो हेमन्ते न भवति इति किम् । सूर्यस्य किरणानां प्राप्तिर्गमनपद्धति: कियती कियत्प्रमाणा । मानानि नाक्षत्रसावनचान्द्रसौरादीनि पूर्वोक्तानि कति कियन्ति । उपक्रम एव संक्षेपेण मानान्युक्तानि इति तत्तत्वं सम्यक् न ज्ञातमित्यर्थ: । तैर्मानै: किं प्रयोजनम् । च: समुच्चयार्थ: प्रत्येकमन्वेति ॥ ८ ॥

ग्रीष्मऋतु में सूर्य की रश्मियाँ अति तीक्ष्ण होती है किन्तु हेमन्त ऋतु में उस प्रकार (अर्थात् तीक्ष्ण) नहीं होती । कितनी दूरी तक सूर्य की रश्मियाँ प्राप्त होती है? उनके आधार पर कालमान कितने हैं ? तथा उनका प्रयोजन क्या है? ॥ ८ ॥

प्रश्नोपसंहारः

एवं मे संशयं छिन्धि भगवन्! भूतभावन!।
अन्यो न त्वामृते छेत्ता विद्यते सर्वदर्शिवान् ।। ९ ।।

अथ अस्य प्रश्नमुपसंहरति । हे भगवन् ! षड्गुणैश्वर्य्यसम्पन्न ! सर्वबोधकेति तात्पर्य्यार्थः । भूतभावन ! भूतस्यातीत कालस्य भावना विचारो यस्य भूतस्योपलक्षणाद्वर्तमानभविष्यतोरपि कालज्ञेति सिद्धोऽर्थः । त्वं मे मम । एतमुक्तं संशयम् । जात्यभिप्रायेण एकवचनम् । तेन मत्कृतान् प्रश्नानित्यर्थः । छिन्धि छेदय।

ननु अहम् इदानीमेतदुक्त्वैव वक्तुं न शक्नोमि अन्यस्मात् संशयान् दूरीकुर्वित्यत आह । अन्य इति । त्वामृते विना । अन्यः सर्वदर्शिवान् सर्वद्रष्टा । सर्वज्ञ इत्यर्थः । छेत्ता संशयापनोदकः । न विद्यते नास्ति । तथाच एतावत्काल पर्य्यन्तं यथोक्तं तथान्यदपि कृपया वक्तव्यमिति भावः ।। ९ ।।

हे भूत भावन भगवान् ! मेरे इन संशयों को दूर करें । आप सर्वद्रष्टा हैं । अतः आपके अतिरिक्त अन्य कोई भी मेरे इन संशयों को दूर करने में समर्थ नहीं है ।। ९ ।।

सूर्यांशस्योत्तरक्रम्

इति भक्त्योदितं श्रुत्वा मयोक्तं वाक्यमस्य हि ।
रहस्यं परमध्यायं ततः प्राह पुनः स तम् ।। १० ।।

अथ मुनीन् प्रति मुनिर्मया सुरोक्त प्रश्नानुवादं कृत्वा सूर्य्यांश पुरुषो मयासुरं प्रति पुनर्वदति स्मेत्याह । स सूर्य्यांश पुरुषः । इति पूर्वोक्तम् । भक्त्याराध्य ज्ञानेन । उदितमुत्पन्नम् । मयेन कथितं वचनम् श्रुत्वा आकर्ण्य । पुनर्द्वितीयवारं ततः पूर्वार्द्धोक्त्यनन्तरं तं मयासुरं प्रति परं द्वितीयमध्यायं ग्रन्थम् । ग्रन्थस्योत्तरखण्डमित्यर्थः अस्य ग्रन्थपूर्वखण्डस्य हि निश्चयेन रहस्यं गोप्यत्वेन तत्वभूतं प्राह । प्रकर्षेण अवददित्यर्थः ।। १० ।।

इस प्रकार भक्ति पूर्वक मय द्वारा कहे गये वचनों (पूछे गये प्रश्नों) को सुनकर सूर्यांशावतार पुरुष ने पूर्वोक्त ग्रहचरित के अनन्तर अत्यन्त रहस्यमय उत्कृष्ट ज्ञानयुक्त उत्तरवर्ती ज्योतिष शास्त्र रूपी अध्यायों को पुनः कहा ।। १० ।।

अध्यायमहात्म्यम्

शृणुष्वैकमना भूत्वा गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
प्रवक्ष्याम्यतिभक्तानां नादेयं विद्यते मम ।। ११ ।।

अथ सूर्य्यांशपुरुषवचनानुवादे सूर्य्यांशपुरुषो मयासुरं प्रति मदुक्तं सावधानतया श्रोतव्यमित्याह । यतः कारणात् अतिभक्तानामत्यन्तमद्भजनकारकाणां भवादृशां मम सूर्य्यांश पुरुषस्य । अदेयमदातव्यं वस्तु न विद्यते । अतः कारणात् अहं त्वां प्रति गुह्यं

गोप्यमध्यात्मसंज्ञितमध्यात्मज्ञानसंज्ञं यत् प्रवक्ष्यामि कथयिष्यामि तत् त्वमेकमना एकस्मिन् मदुक्ते मनो विद्यते यस्य असौ भूत्वा शृणुष्व श्रोत्रद्वारात्ममनः संयोगेन प्रत्यक्षं कुर्वित्यर्थः ॥११ ॥

सूर्यांश पुरुष ने मय को संबोधित करते हुये कहा—

''एकाग्रचित्त होकर सुनो ! मै अत्यन्त गुह्य (रहस्यमय) अध्यात्म संज्ञक शास्त्र को कह रहा हूँ । मेरे पास अतिभक्तों (जिज्ञासु शिष्यों) के लिए कुछ भी अदेय नहीं है ॥ ११ ॥

सृष्टिक्रमनिरूपणम्

वासुदेवः परं ब्रह्म तन्मूर्त्तिः पुरुषः परः ।
अव्यक्तो निर्गुणः शान्तः पञ्चविंशात् परोऽव्ययः॥ १२ ॥

गुह्यं वक्ष्यामीति यदुक्तं तदाह । वसत्यस्मिन् जगत् समस्तमसौ वा जगति समस्ते वसतीति वसतेरुणि वासुः । देवनाद्भासनाद्देवः । वासुश्चासौ देवश्चेति वासुदेवः । तथाचोक्तम् ।

सर्वत्रासौ समस्तं च वसत्यत्रेति वै यतः ।
अतोऽसौ वासुदेवाख्यो विद्वद्भिः परिगीयते ॥ इति ।

न तु वसुदेवस्यापत्यमिति विग्रहः । तस्य जगत्कारणतानिरूपणावसरेऽनुपयोगात् । अस्मत्पक्षे पुनरुपादाने कार्य्यस्याधारतया कार्य्ये वा उपादानस्यानुस्यूततया वा स उपयुक्त एव । यथा चोक्तं श्रुतौ । ईशावास्यमिदं सर्वमित्यादि । भागवते च । अजनि च यन्मयं तदविमुच्यमियं नृभवेदिति । जीवानामपि ब्रह्मात्मकतया तद्वारणाय परमिति सर्वोत्तम मित्यर्थकम् ।

यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि वेदे लोके च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥

'इति स्मृतेः । तन्मूर्तिस्तस्य वासुदेवस्य मूर्तिः अंशः । इदं विशेषणं वक्ष्यमाणस्य सङ्कर्षणस्य । चिन्मूर्तिरिति पाठस्तु प्रामादिकः । वासुदेवः सङ्कर्षण इत्यस्माद्वासुदेवात् सङ्कर्षण इत्यस्यार्थस्य विवक्षितस्याप्रतीतेः । अव्यक्त इत्यतीन्द्रिय इत्यर्थः । तथा च श्रुतिः ।

नतं विदाथ य इमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव ।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति ।
न संदृशं तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् ॥

इति । अव्यक्तत्वे हेतुर्निर्गुण इति । शान्तः षडूर्मिरहितत्वात् । पञ्चविंशात् परः। षोडश विकृतयः सप्त प्रकृतिविकृतयो मूलप्रकृतिश्चेति चतुर्विंशतितत्वानि । पञ्चविंशस्तु जीवस्तस्मात् पर इत्यर्थः । पञ्चविंशात्मक इति पाठे जगदात्मक इति ॥ १२ ॥

वासुदेव परं ब्रह्म हैं । इन्हीं की मूर्ति परम पुरुष है, ये अव्यक्त, निर्गुण, शान्त और २५ तत्वों से परे हैं तथा अव्यय हैं, अर्थात् निर्विकार हैं ॥ १२ ॥

प्रकृत्यन्तर्गतो देवो बहिरन्तश्च सर्वगः ।
सङ्कर्षणोऽपः सृष्ट्वादौ तासु वीर्यमवासृजत् ॥ १३ ॥

शुद्धस्य ब्रह्मणो जगत्कारणत्वासम्भवादाह । प्रकृत्यन्तर्गतो मायोपहितो वहिरन्तश्च सर्वगो जगदुपादानत्वात् । एतानि सर्वाणि विशेषणानि सङ्कर्षणस्य वासुदेवांशस्यापि वासुदेवात्मकताध्यवसानेन बोध्यानि । वासुदेवांशात्मकः सङ्कर्षणः प्रथमं जलानि निर्माय । तास्वप्सु । वीर्य्यं शक्तिविशेषम् । अवासृजच्चिक्षेप ॥ १३ ॥

सर्वत्र अनुभव योग्य सङ्कर्षण देव ने इसी प्रकृति के अन्तर्गत प्रविष्ट होकर सर्वप्रथम जल की रचना की । अनन्तर उस जल में बीज स्वरूप अपने तेज को स्थापित किया ॥ १३ ॥

तदण्डमभवद् हैमं सर्वत्र तमसावृतम् ।
तत्रानिरुद्धः प्रथमं व्यक्तीभूतः सनातनः ॥ १४ ॥

ततः किमत आह । तत् तच्छक्तिमिलितं जलं हैमं सौवर्णमण्डं गोलाकारं सर्वत्र वहिरन्तश्च अन्धकारेण आवृतमभवत् । अन्धकारसहिताकाशे सुवर्णाण्डम् अजनीत्यर्थः । तत्र सुवर्णाण्ड आदौ अनिरुद्धः सनातनो नित्यो वसुदेवांश सङ्कर्षणोंऽशरूपत्वात् व्यक्तीभूतोऽभिव्यक्तः । न तु उत्पन्नः । सत्कार्य्यवादाभ्युपगमात् । यथा तिलेभ्यस्तैलं सदेवाभिव्यक्तं न तु उत्पन्नम् ॥ १४ ॥

वह बीज स्वरूप तेज स्वर्ण अण्ड का रूप धारण कर लिया । वह चारों तरफ से अन्धकार से घिरा हुआ था । वहाँ (अण्ड के भीतर) सर्वप्रथम सनातन भगवान् अनिरुद्ध प्रकट हुये ॥ १४ ॥

हिरण्यगर्भो भगवानेष छन्दसि पठ्यते ।
आदित्यो ह्यादिभूतत्वात् प्रसूत्या सूर्य उच्यते ॥ १५ ॥

अथ अस्याभिधान्तराणि लोकसुज्ञानार्थमाह । एष सङ्कर्षणांशोऽनिरुद्ध भगवान् षाड्गुण्यैश्वर्य्य सम्पन्नश्छन्दसि वेदे हिरण्यगर्भः सुवर्णाण्डमध्यरूपगर्भे स्थितत्वात् पठ्यते निरूप्यते । वेदेऽस्य हिरण्यगर्भ इति प्रसिद्धमभिवान्तरमित्यर्थः । हि निश्चयेन आदित्यः प्रथममभिव्यक्तत्वादुच्यते । प्रसूत्या । अस्माज्जगतोऽभिव्यक्ततयायमनिरुद्धः सूर्य उच्यते ।

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।

इति श्रुतिः ॥ १५ ॥

यही भगवान् हिरण्य गर्भ हैं जिनका वेदों में उल्लेख है । सर्वप्रथम

(आदिभूत) उत्पन्न होने से इन्हें आदित्य तथा अण्ड से प्रसूत होने के कारण सूर्य कहा गया ॥ १५ ॥

परं ज्योतिस्तमः पारे सूर्योऽयं सवितेति च ।
पर्येति भुवनान्येष भावयन् भूतभावनः ॥ १६ ॥

अस्य स्वरूपं स्थितिं च आह । अयमनिरुद्धः सूर्यनामकः सविता । इति नाम्ना। चः समुच्चये । प्रसिद्धः । तमः पारेऽन्धकारस्य विरामे परमुत्कृष्टं ज्योतिस्तेजोरूपम्। अन्धकारनाशक इति तात्पर्य्यार्थः । आदित्यवर्णं तमसस्तु पारे इति श्रुतिः । एष सविता भूतभावनः प्राण्युत्पत्ति स्थिति संहारकारको भुवनानि वक्ष्यमाणानि भावयन् प्रकाशयन् पर्य्येति सुवर्णाण्डमध्ये सदा भ्रमति ॥ १६ ॥

परम ज्योतिसम्पन्न होने के कारण इन्हें सूर्य तथा अन्धकार से परे होने से (अन्धकार को नष्ट करने से) सविता कहते हैं । ये भगवान् भूतभावन (प्राणियों का पोषण करने वाले) समस्त भुवनों को प्रकाशित करते हुये परिभ्रमण कर रहे हैं ॥ १६ ॥

प्रकाशात्मा तमोहन्ता महानित्येष विश्रुतः ।
ऋचोऽस्य मण्डलं सामान्युस्रा मूर्त्तिर्यजूंषि च ॥ १७ ॥
त्रयीमयोऽयं भगवान् कालात्मा कालकृद्विभुः ।
सर्वात्मा सर्वगः सूक्ष्मः सर्वमस्मिन् प्रतिष्ठितम् ॥ १८ ॥

अथ परं ज्योतिरिति पादं विवृण्वन् अन्यदपि एतत् स्वरूपं श्लोकाभ्यामाह । प्रकाशरूपोऽन्धकारनाशकोऽत एवैष अनिरुद्धाख्यः सूर्योमहान् महत्त्वमिति एवं विश्रुतो वेद पुराणादौ निरुक्तोऽस्य निरुक्तस्य सूर्यस्य । ऋचः । ऋग्वेदमन्त्रमण्डलं सामानि सामवेदमन्त्रा उस्राः किरणा यजूंषि यजुर्वेदमन्त्रा मूर्त्तिः स्वरूपम् । चः समुच्चये । अत एवायं निरुक्तो भगवान् षाड्गुण्यैश्वर्य्य सम्पन्नः । त्रयीमयो वेदत्रयात्मकः । कालरूपः कालस्य कारणम् । विभुर्जगदुत्पत्ति स्थितिनाशाय समर्थः । अत एव सर्वात्मा जगत्स्वरूपः सर्वगः सर्वत्र स्थितो व्यापकः सूक्ष्मोऽव्यापकमूर्त्तिधारी । अस्मिन् निरुक्तसूर्य्ये सर्वं जगत् प्रतिष्ठितम् । एतेन व्यापकाव्यापकत्वयोः अत्र अविरोधः ॥ १७–१८ ॥

यहीं भगवान् प्रकाश की आत्मा हैं, यहीं अन्धकार का नाश करने वाले हैं, ये हीं महत् तत्व के रूप में विख्यात हैं । ऋचायें (ऋग्वेद) इनका मण्डल है । सामवेद इनकी रश्मियाँ हैं तथा यजुर्वेद इनकी मूर्ति है ॥ १७ ॥

यहीं भगवान् वेदत्रयी के रूप में भी हैं ये ही काल की आत्मा हैं, काल के कर्ता हैं और स्वयं प्रकाश हैं । सभी प्राणियों की आत्मा हैं सर्वत्रव्यापी एवं सूक्ष्म हैं तथा सब कुछ इन्हीं में प्रतिष्ठित है ॥ १८ ॥

रथे विश्वमये चक्रं कृत्वा संवत्सरात्मकम् ।
छन्दांस्यश्वाः सप्त युक्ताः पर्य्यटत्येष सर्वदा ।। १९ ।।

अथ पर्य्येति भुवनान्येषेत्यर्द्धं विवृणोति । त्रिलोक्यात्मके रथे संवत्सरात्मकं द्वादशमासात्मकं वर्षचक्रं नियोज्य सप्तछन्दांसि गायत्र्युष्णिगनुष्टुब्वृहतीपङ्क्ति त्रिष्टुब्-जगत्योऽश्वाः युक्ताः संयोजिताः कृत्वा । छन्दांसि अश्वास्तत्र युक्तेति पाठे सप्ताश्वान् रथे नियोज्येत्यर्थः । सर्वदा नित्यमेषोऽनिरुद्धनामा पर्य्यटति भ्रमति ।। १९ ।।

विश्वरूपी रथ में संवत्सर (वर्ष) का चक्र लगाकर तथा छन्द-रूपी अश्वों को युक्त कर भगवान् सूर्य सदैव पर्यटन (भ्रमण) करते रहते हैं ।। १९ ।।

त्रिपादममृतं गुह्यं पादोऽयं प्रकटोऽभवत् ।
सोऽहङ्कारं जगत्सृष्ट्यै ब्रह्माणमसृजत् प्रभुः ।। २० ।।

अथ अस्य स्वरूपं ब्रह्मण उत्पत्तिं च आह । अस्य वेदात्मनस्त्रिपादं चरणत्रयममृतं दिवि ज्ञेयम् अत एव गुह्यमगम्यमिदम् । पादश्चतुर्थश्चरणः । अयं स्थावरजङ्गमात्मकजगद्रूपः प्रकटः प्रत्यक्षोऽभवत् । त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोस्येहा भवत् पुनरिति श्रुतिरपि व्यक्ता । सोऽनिरुद्धनामा प्रभुरुत्पत्ति समर्थः । अहङ्कारतत्त्वरूपं ब्रह्माणं पुरुषं जगत्सृष्ट्यै जगत्सर्जननिमित्तमसृजदुत्पादयामास ।। २० ।।

भगवान् सूर्य के तीन पाद अमृत हैं, अर्थात् कभी नष्ट न होने वाले हैं, इसलिए वे अगम्य हैं। एक चतुर्थ पाद से ही प्रकट (दृश्य) हैं। उसी (सूर्य) भगवान् ने अहङ्कार स्वरूप ब्रह्मा को संसार की सृष्टि के लिए उत्पन्न किया ।। २० ।।

तस्मै वेदान् वरान् दत्वा सर्वलोकपितामहम् ।
प्रतिष्ठाप्याण्डमध्येऽथ स्वयं पर्येति भावयन् ।। २१ ।।

अथोत्पादित ब्रह्मपुरुषं जगत्सर्जनार्थं नियुज्य स्वयं भ्रमन् अवतिष्ठत इत्याह । अथ ब्रह्मोत्पादनानन्तरं स्वयमनिरुद्धनामा । तस्मै । उत्पादित ब्रह्मपुरुषाय । वरान् उत्कृष्टान् वेदान् दत्वा वेदोक्तमार्गेण सृष्टिसर्जनार्थं सर्वलोकानां पितामहरूपं तं ब्रह्माणं सुवर्णाण्डमध्ये प्रतिष्ठाप्य निधाय । चोऽत्रानुसन्धेयः । भावयन् प्रकाशयन् सन् पर्य्येति भ्रमति ।। २१ ।।

उस समस्त लोकों के पितामह (ब्रह्मा) को श्रेष्ठ वेदों को प्रदान कर तथा उन्हें अण्ड के मध्य में स्थापित कर स्वयं भगवान् (सूर्य) समस्त विश्व को प्रकाशित करते हुये परिभ्रमण करने लगे ।। २१ ।।

ब्रह्मणः कर्तव्यतां निरूपयति

अथ सृष्ट्यां मनश्चक्रे ब्रह्माऽहङ्कारमूर्तिभृत् ।
मनसश्चन्द्रमा जज्ञे सूर्योऽक्ष्णोस्तेजसां निधिः ।। २२ ।।

अथ जातसृष्टीच्छो ब्रह्मा चन्द्रसूर्य्यौ अस्मत्प्रत्यक्षौ उत्पादयामासेत्याह । अथ अधिकार प्राप्त्यनन्तरम् । अहङ्कार तत्वमूर्त्तिधारको ब्रह्मा सृष्टयां मनोऽन्तः करणं चक्रे करोति स्म । ब्रह्मणोऽहं सृष्टिं करोमि इतीच्छा जाता इत्यर्थः । अनन्तरं तस्य मनसः सकाशाच्चन्द्रमा जज्ञे उत्पन्नः । चन्द्रो भवतु इति मनसा चन्द्रो जात इत्यर्थः । अक्ष्णोः नेत्राभ्यां सकाशात् तेजसां निधिराकरभूतः सूर्य उत्पन्नः । चक्षुरिन्द्रियस्य तैजसत्वात् ॥ २२ ॥

तदनन्तर अहङ्कार मूर्ति रूपी ब्रह्मा ने सृष्टि रचना का मन में विचार किया । ब्रह्मा के मन से चन्द्रमा की उत्पत्ति हुई तथा नेत्रों से प्रकाशात्मा (प्रकाश स्वरूप) सूर्य की उत्पत्ति हुई ॥ २२ ॥

पञ्चमहाभूतोत्पत्तिः

मनसः खं ततो वायुरग्निरापो धरा क्रमात् ।
गुणैकवृद्ध्या पञ्चेति महाभूतानि जज्ञिरे ॥ २३ ॥

अथ महाभूतोत्पत्तिमाह । मनस आकाशो भवतु इतीच्छया आत्मनः खम् आकाशं तत आकाशात् क्रमाद्यथोत्तरं वायुरग्निर्जलं पृथिवी । आकाशात् वायुर्वायोः अग्निः अग्नेः आपोऽद्भ्यः पृथिवीति गुणैकवृद्ध्या गुणस्यैकोपचयेन महाभूतानि पञ्च-संख्याकानि । एवकारान्यूनाधिकव्यवच्छेदः । जज्ञिरे । उत्पन्नानि । शब्दगुण-सहित-माकाशं शब्दस्पर्शगुणद्वयसमेतो वायुः शब्दस्पर्शरूपात्मकगुणत्रयसमेतोऽग्निः शब्द स्पर्शरूपरसात्मकगुणचतुष्टय समेतं जलं शब्दस्पर्श रूपरसगन्धात्मकगुण पञ्चक-समेता पृथिवीति स्फुटार्थाः ॥ २३ ॥

(उस) ब्रह्मा के मन से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल तथा जल से पृथ्वी की क्रमशः उत्पत्ति हुई । एक-एक गुणों की वृद्धि से ये पाँचों पञ्च महाभूत कहे गये हैं ।

अर्थात् आकाश में एक गुण	= शब्द,
वायु में दो गुण	= शब्द + स्पर्श,
अग्नि में तीन गुण	= शब्द + स्पर्श + रूप,
जल में चार गुण	= शब्द + स्पर्श + रूप + रस,
पृथ्वी में पाँच गुण	= शब्द + स्पर्श + रूप + रस + गन्ध ।

पञ्चमहाभूतात् सूर्यादीनामुत्पत्तिः

अग्नीषोमौ भानुचन्द्रौ ततस्त्वङ्गारकादयः ।
तेजोभूखाम्बुवातेभ्यः क्रमशः पञ्च जज्ञिरे ॥ २४ ॥

अथ चन्द्रसूर्ययोः स्वरूपं वदन् पञ्चताराणामुत्पत्तिमाह । सूर्यचन्द्रौ प्रागुदितोत्पत्ती अग्निषोमौ सूर्य्योऽग्नि स्वरूपस्तेजो गोलकश्चाक्षुषत्वात् । चन्द्रस्तु सोमस्वरूपः ।

मद्यस्य सोम वाच्यत्वाज्जलगोलरूपः । अग्नीषोमौ इतिप्रयोगश्छान्दसिकः । ततोऽनन्तरमङ्गारकादयो भौमादयः पञ्च ताराग्रहास्तेजोभूखाम्बुवातेभ्यः क्रमादुत्पन्नाः। तुकारादुक्तभूतस्य भागाधिक्यमन्यभूतानां च भागसाम्यमित्यर्थः । मङ्गलस्तेजस उत्पन्नोऽत एवाऽयमङ्गारक उच्यते । बुधो भूमितः । बृहस्पतिराकाशात् । शुक्रो जलात्। शनिर्वायोः ॥ २४ ॥

अग्नि सोमात्मक सूर्य और चन्द्रमा की उत्पत्ति हुई । अर्थात् अग्नि स्वरूप (तैजस-पिण्ड) सूर्य की तथा सोम (अमृत) स्वरूप (जलमय-पिण्ड) चन्द्र की उत्पत्ति हुई। तदनन्तर क्रमशः तेज (अग्नि) महाभूत से मङ्गल, भू (पृथ्वी) से बुध, आकाश से बृहस्पति, जल से शुक्र तथा वायु से शनि की उत्पत्ति हुई ॥ २४ ॥

राशिनां नक्षत्रणाञ्चोत्पत्तिः

पुनर्द्वादशधाऽऽत्मानं विभजेद् राशिसंज्ञकम् ।
नक्षत्ररूपिणं भूयः सप्तविंशात्मकं वशी ॥ २५ ॥

अथ राशीन् नक्षत्राणि च आह । पुनरनन्तरमात्मानं द्वादशधा द्वादशस्थानेषु राशिसंज्ञकं विभजत् । मनः कल्पितं वृत्तं द्वादशविभागं राशिवृत्तमकरोत् इत्यर्थः । भूयो द्वितीय वारमात्मानं नक्षत्ररूपिणं सप्तविंशात्मकं विभजत् मनः कल्पितं तदेव वृत्तं सप्तविंशतिविभागं च अकरोदित्यर्थः । ननु न्यूनाधिकविभागाः कथं न कृता उक्तसंख्यायां नियामकाभावात् इत्यत आह । वशीति । इच्छाविषयं वशं विद्यते यस्येति वशी स्वतन्त्रेच्छस्य नियोगानर्हत्वात् । स्वेच्छया तत्संख्याका विभागाः कृता इति भावः । सप्तविंशति विभाग व्यञ्जकानि नक्षत्राणि तारात्मकानि निर्मितानि इत्यर्थसिद्धम् ॥ २५ ॥

इस प्रकार ब्रह्मा जिनके वशीभूत समस्त सृष्टि है उन्होंने अपने आप (ब्रह्माण्ड) को द्वादश भागों में विभक्त कर दिया जो राशि संज्ञक हुये । तथा पुनः उस ब्रह्माण्ड को सत्ताइस भागों में विभक्त किया तो वे नक्षत्र संज्ञक हुये ॥ २५ ॥

चराचराणां सृष्टिः

ततश्चराचरं विश्वं निर्ममे देवपूर्वकम् ।
ऊर्ध्वमध्याधरेभ्योऽथ स्रोतोभ्यः प्रकृतीः सृजन् ॥ २६ ॥

अथ चराचरं जगदकरोदित्याह । ततः स चक्रग्रहसर्जनानन्तरमूर्ध्वमध्याधरेभ्यः श्रेष्ठमध्याधमेभ्यः स्रोतोभ्यो व्यक्तिभ्यः प्रकृतीः सत्वरजस्तमोविभेदात्मक प्रकृतीः सृजन् निर्मायन् देवपूर्वकं देवमनुष्यासुरादिकं विश्वं जगच्चराचरं चेतनाचेतनात्मकं निर्ममे कृतवान् ॥ २६ ॥

तत्पश्चात् (ग्रहनक्षत्र आदि की सृष्टि के अनन्तर) ब्रह्मा ने उत्तम, मध्यम, अधम स्रोतों से सत्व-रज-तम स्वरूप त्रिगुणात्मक प्रकृति की रचना कर देव आदि

(देव-मनुष्य-असुर-पशु-पक्षि-वृक्ष-लता प्रभृति) चर-अचर (चेतन-जड़) विश्व की रचना की ।। २६ ।।

ब्रह्मा की उत्पत्ति

वासुदेव = परब्रह्म
|
अनिरुद्ध (सूर्य)
|
ब्रह्मा (अहङ्कारायुक्त) स्रष्टा

सृष्टि क्रम

ब्रह्मा
|
(गुण १) आकाश
(गुण २) वायु
(गुण ३) अग्नि → मन ——— नेत्र
(गुण ४) जल
(गुण ५) पृथ्वी

मन | चन्द्र (सोम)

नेत्र | सूर्य (अग्नि)

तारा ग्रहों की उत्पत्ति

पञ्च महाभूत

अग्नि	पृथ्वी	आकाश	जल	वायु
मङ्गल	बुध	गुरु	शुक्र	शनि

पञ्चमहाभूत और सत्व-रज-तम तीन प्रकृतियों के सहयोग से चराचर सृष्टि—

पञ्चमहाभूत + सत्व = उत्तम सृष्टि
पञ्चमहाभूत + रज = मध्यम सृष्टि
पञ्चमहाभूत + तम = अधम सृष्टि

रचितपदार्थानामवस्थानम्

गुणकर्म विभागेन सृष्ट्वा प्रागुवदनुक्रमात् ।
विभागं कल्पयामास यथास्वं वेददर्शनात् ।। २७ ।।
ग्रहनक्षत्रताराणां भूमेविश्वस्य वा विभुः ।
देवासुरमनुष्याणां सिद्धानां च यथाक्रमम् ।। २८ ।।
ब्रह्माण्डमेतत् सुषिरं तत्रेदं भूर्भुवादिकम् ।
कटाहद्वितयस्यैव सम्पुटं गोलकाकृतिः ।। २९ ।।

अथ रचितपदार्थानामवस्थानं कृतवानित्याह । गुणाः सत्त्वरजस्तमोरूपा । कर्म पूर्वजन्मार्जितं सदसत् कर्म । अनयोर्विभागेन एकीकरणात्मकेन प्राग्वच्चन्द्रसूर्य्यादि प्रागुक्तसृष्टिरित्यनुक्रमात् सृष्ट्वा देवमनुष्यासुरभूमिपर्वतादिकचरा चरसर्जनं कृत्वा वेददर्शनात् वेदोक्तप्रकारात् यथास्वं यथादेशं यथाकालं विभागमवस्थानविभागं कल्पयामास कृतवान् ।। २७ ।।

केषामित्यत आह । विभुर्नियोजनसमर्थो ब्रह्मा ग्रहनक्षत्रयोर्विम्बानां पृथिव्यास्त्रैलोक्यस्य । वाकारः समुच्चये । आकाशेऽवस्थानं कृतवान् । तत्र ग्रहनक्षत्राणां यथाकालम् अनियतावस्थानम् । पृथिव्यास्तु नियतावस्थानम् । पृथिव्यां तु त्रैलोक्यस्य यथादेशमवस्थानम् । तत्र यथाक्रमं यथायोग्यं देवासुरमुनष्याणां सिद्धानाम् । चः समुच्चये । अवस्थानं यथा देशं कृतवान् ।। २८ ।।

ननु सर्वत्र आकाशस्य सत्वाद् ब्रह्माण्डमध्यस्थेन ब्रह्मणा ग्रहनक्षत्राणां भूमेश्च अवस्थानं ब्रह्माण्डवहिराकाशे कृतमथवा ब्रह्माण्डान्तराकाशे कृतमित्यत आह । एतत् प्रागुक्तं ब्रह्मणाधिष्ठितं सुवर्णाण्डं सुषिरमवकाशात्मकं तत्र अवकाश इदं जगत् भूर्भुवादिकं भूर्भुवः स्वर्गात्मकमवस्थितं न वहिः । ननु अण्डस्य गोलाकारत्वेनान्तरवकाशात्मकत्वम् असम्भवतीत्यत आह । कटाहद्वितयस्येति । कटाहोऽर्द्धगोलाकारं सावकाशं पात्रं तस्य द्वितयं द्वयं समं तस्य । एवकारो न्यूनाधिकव्यवच्छेदकार्थः । सम्पुटमाभिमुख्येन मिलितं गोलकाकृतिर्गोलाकारः स्यात् । तथा च न क्षतिः ।। २९ ।।

तत्पश्चात् गुण-कर्म विभागानुसार पूर्वकल्पोक्त विधि से (चराचर) सृष्टि की रचनाकर वेदों में बताये गये मार्गानुसार ग्रहनक्षत्र तारा भूमि विश्व (भूर्भुवादि) देव-असुर मनुष्य एवं सिद्ध आदि का ब्रह्मा ने विभाजन किया ।

यह ब्रह्माण्ड अण्ड के मध्य का अत्यन्त विस्तृत छिद्र है । अर्थात् दो अण्ड कटाहों के मध्य का विशाल रिक्त स्थान अनन्त आकाश संज्ञक हैं । दो अण्ड कटाहों द्वारा सम्पुट होने से यह गोल आकृति वाला है । इसी के मध्य में भूर्भुवादि लोक अवस्थित हैं ।। २७—२९ ।।

ब्रह्माण्डाभ्यन्तरे सर्वेषामवस्थानम्

ब्रह्माण्डमध्ये परिधिर्व्योमकक्षाऽभिधीयते ।
तन्मध्ये भ्रमणं भानामधोऽधः क्रमशस्तथा ।। ३० ।।
मन्दामरेज्य-भूपुत्र-सूर्य-शुक्रेन्दुजेन्दवः ।
परिभ्रमन्त्यधोऽधःस्थाः सिद्धा विद्याधरा घनाः ।। ३१ ।।

अथ ब्रह्माण्डान्तः परिधिं वदन् तदन्तर्भग्रहादिकमाकाशे यथास्थानं परिभ्रमतीति श्लोकाभ्यामाह । ब्रह्माण्डान्तः परिधिस्तुल्यवृत्तमानं व्योमकक्षा वक्ष्यमाणाकाशकक्षोच्यते । तन्मध्ये ब्रह्माण्डमध्य आकाशे भानां नक्षत्राणां सर्वेषां सर्वतस्तुल्योर्ध्वान्तरितानां भ्रमणं भवति । तथा तुल्योर्ध्वान्तरेण अधो नक्षत्रेभ्योऽधोधः क्रमात्

शनिबृहस्पतिभौमार्कशुक्रबुधचन्द्रा अधस्तात् परिभ्रमन्ति । सिद्धा विद्याधराश्च अधस्थाश्चन्द्रात् अधस्थिता अधोऽधः क्रमेण आकाशे स्थिताः । एषां प्रवहवायौ अवस्थानाभावाच्चन्द्रवन्न परिभ्रमः ।। ३०—३१ ।।

ब्रह्माण्ड (अण्ड कटाह) की भीतरी परिधि खकक्षा या आकाश कक्षा कही गई हैं । उसके मध्य में अधोध: (एक दूसरे से नीचे) क्रम से नक्षत्रादि भ्रमण करते हैं । नक्षत्रों के नीचे क्रमशः शनि, बृहस्पति, भौम, सूर्य, शुक्र, बुध और चन्द्रमा की कक्षायें हैं जिनमें वे भ्रमण करते हैं । ग्रहों के नीचे क्रमशः सिद्ध विद्याधर और घन (मेघ) हैं ।। ३०—३१ ।।

सुगमता के लिए कक्षा क्रम—

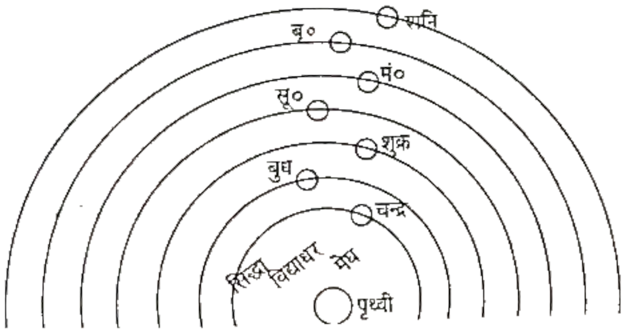

ग्रह कक्षा का विचार दो प्रकार से किया जाता है ।

१. भूकेन्द्रिक, २. सूर्यकेन्द्रिक ।

भूकेन्द्रिक कक्षा का व्यवहार भारतीय ज्योतिष शास्त्र के प्राचीन ग्रन्थों में किया गया है । यद्यपि इसे भूकेन्द्रिक कहा जाता है किन्तु ग्रहों की कक्षाओं के मध्य (केन्द्र) में पृथ्वी नहीं है । इसी प्रकार सूर्यकेन्द्रिक कक्षा में ग्रहों की कक्षाओं के केन्द्र में सूर्य नहीं हैं ।

सूर्यकेन्द्रिक कक्षा इस प्रकार है—

आधुनिक ग्रहों में तथा प्राचीन ग्रहों में कुछ अन्तर हैं उन्हें भी स्पष्ट कर देना ही आवश्यक है ।

प्राचीन			आधुनिक		
सूर्य	—	ग्रह	सूर्य	—	तारा
चन्द्र	—	ग्रह	चन्द्र	—	उपग्रह
भौम	—	तारा ग्रह	भौम	—	ग्रह
बुध	—	तारा ग्रह	बुध	—	ग्रह
गुरु	—	तारा ग्रह	गुरु	—	ग्रह
शुक्र	—	तारा ग्रह	शुक्र	—	ग्रह
शनि	—	तारा ग्रह	शनि	—	ग्रह
राहु	—	पात ग्रह	पृथ्वी	—	ग्रह
केतु	—	पात ग्रह	यूरेनस	—	ग्रह
			नेपच्यून	—	ग्रह
			प्लूटो	—	ग्रह
			राहु, केतु,	—	पात

भुवः स्थितिः

मध्ये समन्तादण्डस्य भूगोलो व्योम्नि तिष्ठति ।
विभ्राणः परमां शक्तिं ब्रह्मणो धारणात्मिकाम् ।। ३२ ।।

अथ भूम्यवस्थानमाह ।अण्डस्य ब्रह्माण्डस्य समन्तात् सर्वप्रदेशान्मध्ये मध्यस्थाने केन्द्ररूपआकाशे भूगोलस्तिष्ठति । ननु आकाशे निराधारवस्तुनोऽवस्थानासम्भवात् कथमवस्थितो भूमिगोल इत्यतो भूगोलविशेषणमाह । बिभ्राण इति । ब्रह्मणः परमां शक्तिं धारणात्मिकां निराधारावस्थानरूपां बिभ्राणो धारयन् ।तथाच न क्षतिः ।एतेन भूः किमाकारा किमाश्रयेति प्रश्नद्वयमुत्तरितम् ।। ३२ ।।

ब्रह्माण्ड के चारों ओर से मध्य भाग में यह भूगोल ब्रह्मा की धारणात्मिका परमशक्ति (आकर्षण शक्ति) से आकाश में अवस्थित है ।। ३२ ।।

पातालभूमयः

तदन्तरपुटाः सप्त नागासुरसमाश्रयाः ।
दिव्यौषधिरसोपेता रम्याः पातालभूमयः ।। ३३ ।।

अथ कथं च अत्र सप्त पातालभूमय इति प्रश्नस्योत्तरमाह । तस्य भूगोलस्यान्तरपुटा मध्यस्थपुटा गुहारूपाः सप्तातलवितलसुतलादिकाः पातालभूमयः पातालप्रदेशा रम्या मनोहराः सन्ति । ननु भूगोले मुनष्यादिकमस्ति तथा तत्र के सन्तीत्यतः तद्विशेषणमाह । नागासुरसमाश्रया इति । वासुकिप्रमुखादयः सर्पा दैत्या

एषामाश्रयभूता: । ननु तत्र सूर्यसञ्चाराभावात् तमोमयत्वेन तत्स्थितलोकानां व्यवहार: कथं भवतीत्यतो द्वितीयं विशेषणमाह । दिव्यौषधिरसोपेता इति । दिव्या या ओषधय: स्वप्रकाशास्तासां रसैर्युक्ता: । तथाच तत्प्रकाशेन व्यवहारो भवति तद्वशेन तल्लोकानां जीवनं च भवतीति भाव: ।। ३३ ।।

पृथ्वी के आन्तरिक भाग में नाग और असुरों के आश्रय रूप में तथा दिव्य औषधियों (प्रकाश युक्त वनस्पतियों) एवं रसों से युक्त अतिसुन्दर सात पाताल भूमि हैं ।

विशेष—यहाँ पृथ्वी के अन्तरपुट में सात पाताल भूमियों का उल्लेख है जो व्यावहारिक दृष्टि से असङ्गत हैं क्योंकि पृथ्वी के भीतरी भाग में ऐसा खोखला स्थान नहीं है जहाँ कोई नगरी बस सके । अत: यहाँ ''तदन्तरपुटा'' का अर्थ ''पृथिव्या अन्तरपुटा'' न लेकर ''अण्डकटाहस्यान्तरपुटा सप्तपातालभूमय:'' इस प्रकार का अन्वय करने से ही सङ्गति हो सकती है । यहाँ अण्डकटाह के अन्दर ही अनेक लोकों की कल्पना युक्तिसङ्गत हो सकती है ।

मेरो: स्थिति:

अनेकरत्ननिचयो जाम्बूनदमयो गिरि: ।
भूगोलमध्यगो मेरुरुभयत्र विनिर्गत: ।। ३४ ।।

अथ भूगोलमुक्त्वा दक्षिणोत्तरभूव्यासाधिकप्रमाणमेरोरवस्थानमाह । भूगोल-मध्यगत: पर्वतो मेर्वाख्योऽनेकरत्ननिचयोऽनेकानि नानाविधानि माणिक्यवज्रादीनि तेषां निचय: समूहो यत्र असौ । जाम्बूनदमयो जाम्बूनदम् ।

जम्बूफलामलगलद्रसत: प्रवृत्ता
जम्बूनदीरसयुता मृदभूत् सुवर्णम् ।
जाम्बूनदं हि तदत: सुरसिद्धसङ्घा:
शश्वत् पिबन्त्यमृतपानपराङ्मुखास्ते ।।

इति भास्कराचार्य्योक्तेश्च सुवर्णं तन्मय: स्वर्णघटित उभयत्र व्यासान्तरित भू-पृष्ठप्रदेशाभ्यां विनिर्गतो बहि: स्थितदण्डाकारस्वर्णाद्रिमध्ये भूगोल: प्रोतोऽस्ति । अतएव भूभृदित्यन्वर्थ संज्ञ इति तात्पर्य्यार्थ: ।। ३४ ।।

अनेक रत्नों के समूह से परिपूर्ण जाम्बूनद (स्वर्णनदी) से युक्त भूगोल के मध्य में गया हुआ तथा पृथ्वी के दोनों भाग (उत्तर-दक्षिण) में निकला हुआ मेरु पर्वत है ।। ३४ ।।

देव-दानवयो: स्थिति:

उपरिष्टात् स्थितास्तस्य सेन्द्रा देवा महर्षय: ।
अधस्तादसुरास्तद्वद् द्विषन्तोऽन्योन्यमाश्रिता: ।। ३५ ।।

अथ मेरोरूर्ध्वाधः प्रदेशयोर्देवादयोऽसुराश्च वसन्तीत्याह । उपरिष्टात् स्थितास्तस्य सेन्द्रा इन्द्रसहिता देवा इन्द्रादयो देवा महर्षयः । चः समुच्चयार्थोऽनुसन्धेयः । स्थिताः अधस्तान्मेरोरधः प्रदेशे। असुरा-दैत्याः। तद्वत्। यथोर्ध्वभागे देवास्तद्वदित्यर्थः। आश्रिता आस्थिता । ननु देवा असुराश्चैकत्र कथं न स्थिता इत्यत आह । द्विषन्त इति। अन्योन्यं परस्परं द्वेषं कुर्वन्तः । तथाच देवासुरयोः परस्परं द्वेषसद्भावादेकत्रावस्थानासम्भवेन उत्तमा देवास्तदूर्ध्वभागे स्थिता महर्षयश्च दैत्यभीतास्तत्रैव स्थितास्तदधोभागे तन्निकृष्टा दैत्याः स्थिता इति भावः ॥ ३५ ॥

मेरु पर्वत के ऊपरी भाग (उत्तर दिशा) में इन्द्रादि देवता और महर्षिगण रहते हैं । इसी प्रकार अधोभाग (दक्षिण भाग) में असुर लोग रहते हैं जो (देव-असुर) परस्पर द्वेष भाव रखते है ॥ ३५ ॥

पृथिव्यां समुद्रस्थितिः

ततः समन्तात् परिधिक्रमेणायं महार्णवः ।
मेखलेव स्थितो धात्र्या देवासुरविभागकृत् ॥ ३६ ॥

अथ भूगोले समुद्रावस्थानमाह । दण्डाकारमेरोः सकाशादभितोऽयं प्रत्यक्षो महार्णवो महासमुद्रः क्रमेण निरन्तरालक्रमणपरिधिरूपो भूम्या मेखलेव काञ्चीरूपो देवासुरविभागकृत् देवदैत्ययोर्भूमिगोले विभागयोरवधिरेखारूप इत्यर्थः । तेन समुद्रादुत्तरं भूगोलस्यार्द्धं जम्बूद्वीपं देवानां समुद्राद्दक्षिणं समुद्रातिरिक्तं भूमिगोलस्यार्द्धं षडद्वीपषट्समुद्रोभयात्मकं दैत्यानामिति सिद्धम् । मेरुदण्डानुरुद्धभूगोलमध्ये परिधि रूपो लवणसमुद्रोऽस्ति । उत्तरगोलार्द्धं दक्षिणभूगोलार्द्धान्तर्गतसमुद्रस्य प्रान्तपरिधिस्पृष्टमिति मेखलायाः कट्यधः स्थितत्वेन तात्पर्य्यार्थः ॥ ३६ ॥

सुमेरु पर्वत के दोनों भागों के मध्य में परिधि की तरह यह महा समुद्र (क्षार समुद्र) पृथ्वी की मेखला की तरह स्थित है । यह समुद्र देवों एवं असुरों की सीमा का विभाग भी करता है ॥ ३६ ॥

विषुवत् प्रदेशेस्थिता चतस्रो नगर्यः

समन्तान्मेरुमध्यात् तु तुल्यभागेषु तोयधेः ।
द्वीपेषु दिक्षु पूर्वादिनगर्यो देवनिर्मिताः ॥ ३७ ॥
भूवृत्तपादे पूर्वस्यां यमकोटीति विश्रुता ।
भद्राश्ववर्षे नगरी स्वर्णप्राकारतोरणा ॥ ३८ ॥
याम्यायां भारते वर्षे लङ्का तद्वन्महापुरी ।
पश्चिमे केतुमालाख्ये रोमकाख्या प्रकीर्तिता ॥ ३९ ॥
उदक् सिद्धपुरी नाम कुरुवर्षे प्रकीर्तिता ।
तस्यां सिद्धा महात्मानो निवसन्ति गतव्यथाः ॥ ४० ॥

भूवृत्तपादविवरास्ताश्चान्योन्यं प्रतिष्ठिताः ।
ताभ्यश्चोत्तरगो मेरुस्तावानेव सुराश्रयः ॥ ४१ ॥

अथ समुद्रोत्तरतटे परिधिरूपे जम्बूद्वीपारम्भे चतुर्विभागे चत्वारि नगराणि सन्तीत्याह । मेरुमध्यात् दण्डाकारमेरोर्मध्यप्रदेशाद् भूगोलगर्भात्मकादिति त्वर्थः । समन्तादभितो भूगोलपृष्ठे तोयधेः परिधिरूपसमुद्रस्य तुल्यभागेषु समभागेषु द्वीपेषु जम्बूद्वीपारम्भेषु दिक्षु चतुर्विभागेषु चतुर्दिक्षु पूर्वादिनगर्य्यो मेरोः पूर्वदक्षिण पश्चिमोत्तरदिक् क्रमेण चतुः पुर्य्यो देवनिर्मिता देवैः कृताः सन्तीति शेषः । समुद्रोत्तरतटे जम्बूद्वीपस्यादिभागरूपे तुल्यान्तरेण चत्वारि नगराणि भूगोलस्य कल्पितपूर्वादिदिशासु सन्तीति तात्पर्यार्थः ॥ ३७ ॥

अथासां नामानि द्वीपोत्थितस्य जम्बूद्वीपादिभागस्थित वर्षाख्यपारिभाषिक विभागेषु इत्यर्थं च श्लोकत्रयेण विशदयति । भूगोल उभयत्र दण्डाकारो मेरुर्यत्र निर्गतस्तत् स्थानाभ्यां वृत्ताकारसूत्रेणोर्ध्वाधरेण भूगोलस्य खण्डद्वयं पूर्वापरं तिर्य्यग्वृत्ताकारं सूत्रेणोर्ध्वाधो भूमेः खण्डद्वयं तेन भूगोले वप्राकाराश्चत्वारो भूम्यंशास्तत्रोर्ध्वस्थपूर्ववप्रे भूम्यां यः समुद्रपरिधिस्तस्य चतुर्थांशे भद्राश्व संज्ञकवर्षे पूर्वस्मिन्नूर्ध्वाधः शकलसन्धौ सुवर्णघटिताः प्रसादास्तोरणानि च यस्यामेतादृशी पुरी यमकोटीति संज्ञया विश्रुता विख्याता याम्यायामूर्ध्व शकलद्वयसन्धौ मेरुस्तस्य दक्षिणत्वात् भारतसंज्ञकवर्षे लङ्कासंज्ञा महानगरी तद्वत् स्वर्णप्राकारतोरणा विश्रुतेत्यर्थः । पश्चिमे पश्चिमशकलाधःस्थशकलसन्धौ केतुमालसंज्ञे वर्षे रोमकसंज्ञा नगरी । उक्ता । उदक् । अधः शकलद्वयसन्धौ कुरुसंज्ञकवर्षे सिद्धपुरी नाम नगरी प्रोक्ता । अस्याः पुर्य्याः सिद्धपुरीत्वमन्वर्थमित्याह । तस्यामिति । सिद्धपुर्य्यां सिद्धा योगाभ्यासका अस्मदादिभ्यो महानुत्कृष्ट आत्मा येषां ते गतव्यथा दुःखरहिता निरन्तरा वसन्ति ॥ ३८—४० ॥

अथोक्तानां चतुर्णां पुराणां परस्परमन्तरालमव्यवहितं मेरोरासामन्तरं च आह । ता उक्तनगर्य्योऽन्योन्यं परस्परं भूवृत्तपादविवरा भूगोलवृत्तपरिधिचतुर्थांशान्तरालाः प्रतिष्ठिताः स्थिताः सन्तीत्यर्थः । चकारः पूर्वोक्तेन समुच्चयार्थकः । ताभ्य उक्तपुरीभ्यः सकाशादुत्तरग उत्तरदिक्स्थो मेरुः पूर्वोक्तः सुराश्रयः देवैरधिष्ठितस्तावान् भूपरिधि चतुर्थांशान्तरेण स्थितः । एवकारो न्यूनाधिकव्यवच्छेदार्थः । चकारः श्लोकपूर्वार्द्धेन समुच्चयार्थः ॥ ४१ ॥

सुमेरु पर्वतों के मध्य भाग में (सुमेरु और कुमेरु के मध्यवर्ती समुद्र भाग में) तुल्य दूरी पर पूर्वादि दिशाओं में चार द्वीपों पर देवों द्वारा निर्मित किए गए चार नगर हैं ॥ ३७ ॥

पृथ्वी के चतुर्थांश भाग पर पूर्व दिशा में भद्राश्व वर्ष में यमकोटि नामक विख्यात नगर है जिसमें स्वर्णमयी दीवालें तथा स्वर्णमय द्वार हैं ॥ ३८ ॥

दक्षिणदिशा में भारत वर्ष में उसी प्रकार की लङ्का नामक महानगरी है । पश्चिम दिशा में केतुमाल वर्ष में रोमक नामक नगर कहा गया है ।। ३९ ।।

उत्तर दिशा में कुरु वर्ष में सिद्ध पुरी नामक नगरी है । उस नगरी में पीडाओं से रहित सिद्ध महात्मा निवास करते हैं ।। ४० ।।

पृथ्वी की परिधि के चतुर्थांश भाग के अन्तर पर ये चारों नगर स्थित है । इन चारों नगरों से उतनी ही दूरी (भूवृत्तपाद) पर उत्तर दिशा में सुमेरु पर्वत है जहाँ देवताओं का निवास है ।। ४१ ।।

विशेष—किसी भी गोल पदार्थ के चतुर्थांशों का विभाजन याम्योत्तर परिधि और पूर्वापर परिधि के आधार पर किया जाता है । भूमध्य रेखा (० अक्षांश) इन परिधियों को चार स्थानों पर काटती है । ये चारों बिन्दु परस्पर एक दूसरे से ९० की दूरी पर भूमध्य बिन्दु होते हैं ।

तासामुपरिगो याति विषुवस्थो दिवाकरः ।
न तासु विषुवच्छाया नाक्षस्योन्नतिरिष्यते ।। ४२ ।।

अथ तेषां पुराणां निरक्षत्वमस्तीत्याह । तासामुक्तनगरीणां विषुवस्थो विषुवद्-वृत्तस्थो यद्दिने समरात्रिन्दिवं तद्दिने यन्मार्गेण भ्रमति तद्विषुवद्वृत्तं तत्रस्य इत्यर्थः। सूर्य उपरिगः सन् याति भ्रमति । अतः कारणात् तासु नगरीषु विषुवच्छायाक्षभा न भवति तन्नगराणां विषुवद् वृत्ताभिन्नपूर्वापरवृत्तसद्भावात् । तत्रस्थ सूर्य्ये मध्याह्ने छायाभावोपलम्भात् अतएव तेषु नगरेषु अक्षध्रुवस्योन्नतिरुच्चताक्षांशरूपा नेष्यते न अङ्गीक्रियते । अक्षांशाभावात् निरक्षदेशत्वं तेषां सिद्धमिति भावः ।। ४२ ।।

नाडी वृत्त में स्थित (अर्थात् सायनमेष राशि या सायनतुला राशि में स्थित) सूर्य उन चारों नगरों के ऊपर होता हुआ भ्रमण करता है । उन नगरों में विषुवच्छाया (पलभा) नहीं होती तथा अक्ष की उन्नति भी नहीं होती, अर्थात् अक्षांश भी शून्य होता है ।। ४२ ।।

(अक्षांश क्षितिज से ध्रुव तारा की उन्नति को कहा जाता है । ध्रुव से ९०° की अंश की दूरी पर नाडी वृत्त होता है । अतः नाडी वृत्त में सूर्य के रहने पर ध्रुव तारा क्षितिज पर होता है परिणामतः क्षितिज के ध्रुव की ऊँचाई ० शून्य होती है इसीसे उन सभी विषुवत प्रदेशीय स्थानों के अक्षांश शून्य होते हैं ।)

ध्रुवस्य स्थितिः

मेरोरुभयतो मध्ये ध्रुवतारे नभः स्थिते ।
निरक्षदेशसंस्थानामुभये क्षितिजाश्रये ।। ४३ ।।
अतो नाक्षोच्छ्रयस्तासु ध्रुवयोः क्षितिजस्थयोः ।
नवतिर्लम्बकांशास्तु मेरावक्षांशकास्तथा ।। ४४ ।।

अथ मेरौ उक्तपुरीषु च क्रमेण लम्बांशाक्षांशाभावौ उपपत्या प्रतिपिपादयिषुस्तयो: प्रथमं ध्रुवस्थितिमाह । मेरोरुभयतो दक्षिणोत्तराग्रयो: आकाशस्थिते ध्रुवतारे दक्षिणोत्तरे क्रमेण मध्य आकाशमध्ये भवत: । निरक्षदेशसंस्थानां प्रागुक्तनगरस्थितमनुष्याणाम् उभये दक्षिणोत्तरे ध्रुवतारे क्षितिजाश्रये तद्भूगर्भक्षितिजवृत्तस्थे भवत इत्यर्थ: ।।४३ ।।

अथ अतएव तेषु अक्षांशाभाव लम्बांशपरमत्वमिति वदन् मेरौ अक्षांशपरमत्व-मित्याह । तासु उक्तनगरीषु । अत उभये क्षितिजाश्रये इति कारणात् । अक्षोच्छ्रयो ध्रुवौच्च्यं न । तथा च क्षितिजाद्ध्रुवौच्च्यमक्षांशा इति तदभावात् तदभाव इति भाव:। तुकारात् तन्नगरीषु ध्रुवयो: क्षितिजस्थयो: सतोर्लम्बांशा नवति: शून्याक्षांशोन नव-तेर्लम्बांशत्वात् । खमध्याद् ध्रुवान्तरस्य लम्बांशस्वरूपत्वाच्च मेरौ अक्षांशास्तथा नवति:। ध्रुवस्य परमोच्चत्वात् यथा निरक्षदेशेऽक्षांशाभावाल्लम्बांशा: परमास्तथा मेरौ अक्षांशपरमत्वाल्लम्बांशाभाव इत्यर्थसिद्धम् । एतेन ।

पुरान्तरं चेदिदमुत्तरं स्यात्, तदक्षविश्लेषलवैस्तदा किम् ।
चक्रांशकैरित्यनुपातयुक्त्या, युक्तं निरुक्तं परिधे: प्रमाणम् ।। (२.१४)

इति भास्कराचार्य्योक्तं प्रथमप्रश्नस्योत्तरं सूचितम् । स्पष्ट परिधिसाधनं च कल्पितैकमध्य स्थानानुरोधेन अपचीयमानं मेरौ अभावात्मकं न अनुपपन्नमिति च सूचितम् ।। ४४ ।।

मेरु पर्वत के दोनों भागों, अर्थात् सुमेरु (उत्तर ध्रुव प्रदेश) तथा कुमेरु (दक्षिण ध्रुव प्रदेश) में ध्रुव तारा की स्थिति मध्य आकाश (खमध्य) में होती है। उत्तर में उत्तर ध्रुव खमध्यगत दक्षिण में दक्षिण ध्रुव खमध्यगत होता है ।

जो निरक्षदेश (विषुवतीय प्रदेशों) में स्थित हैं उनके लिए दोनों भागों (उत्तर-दक्षिण) में ध्रुव तारा क्षितिज में स्थित होता है । अत: क्षितिजस्थ दोनों ध्रुव तारों (उत्तर-दक्षिण) की क्षितिज पर ऊँचाई न होने से उन (विषुवतीय) प्रदेशों में अक्षांश शून्य तथा लम्बांश ९०° होता है । इसके विपरीत दोनों मेरु प्रदेशों में अक्षांश ९०° तथा लम्बांश ० शून्य होता है ।। ४३—४४ ।।

विशेष—स्वखमध्य से समस्थान (याम्योत्तर-क्षितिजवृत्त का सम्पात) तक का कोणीय मान ९०° अंश होता है । स्वखमध्य से ध्रुव पर्यन्त लम्बांश तथा ध्रुव से समस्थान पर्यन्त अक्षांश होता है । दोनों का योग लम्बांश + अक्षांश = ९०° । अत: जहाँ अक्षांश शून्य होगा वहाँ लम्बांश (९० - ०) = ९०° तथा जहाँ लम्बांश शून्य होगा वहाँ अक्षांश (९०-०) = ९०° होगा ।

मेरौ रवेदर्शनम्

मेषादौ देवभागस्थे देवानां याति दर्शनम् ।
असुराणां तुलादौ तु सूर्यस्तद्भागसञ्चर: ।। ४५ ।।

अथ अहोरात्रव्यवस्थां च इत्यादिप्रश्नोत्तरं विवक्षुर्देवासुरयोः दिनारम्भं प्रथममाह । जम्बूद्वीपलवणसमुद्रसन्धौ परिधिवृत्तं भूगोलमध्ये तत्समसूत्रेण आकाशे वृत्तं विषुवद् वृत्तं तत्र क्रान्तिवृत्तं षड्भान्तरेण स्थानद्वये लग्नं तन्मेषतुलास्थानं प्रवहवायुना विषुवद्वृत्तमार्गे भ्रमति मेषस्थानात् कर्कादिस्थानं विषुवद्वृत्ताच्चतुर्विंशत्यंशान्तर उत्तरतः । मकरादिस्थानं विषुवद्वृत्ताच्चतुर्विंशत्यंशान्तरे दक्षिणतः । तत् स्वस्थाने प्रवहवायुना भ्रमति । एवं क्रान्तिवृत्तप्रदेशाः स्वस्वस्थाने प्रवहवायुना भ्रमन्ति । तत्र मेषादौ देवभागस्थो जम्बूद्वीपं देवानां देवासुरविभागकृदिति पूर्वोक्तेः । तत्सम्बद्धा मेषादिकन्यान्ता राशय उत्तरगोलः ।

तत्रस्थः । सूर्य्यो मेषादौ मेषादिप्रदेशे देवानां मेरोरुत्तराग्रवर्त्तिनां दर्शनं षण्मासानन्तरं प्रथमदर्शनं याति गच्छति । प्राप्नोतीत्यर्थः । विषुवद्वृत्तस्य तत्क्षितिजत्वात् । एवं दैत्यानां मेरोर्दक्षिणाग्रवर्त्तिनामित्यसुराणामित्युक्तेन एव उक्तम् । तद्भागसञ्चरो दैत्यभागे समुद्रादिदक्षिणविभागस्थास्तुलादिमीनान्ता राशयो दक्षिण गोलस्तत्र सञ्चरो गमनं यस्येतादृशसूर्यस्तुलादिप्रदेशे तुकारात् अदर्शनानन्तरं प्रथमदर्शनं प्राप्नोतीत्यर्थः । तेषाम् अपि विषुवद् वृत्तक्षितिजत्वात् ।। ४५ ।।

मेषादि छः राशियों में स्थित रहने पर सूर्य का दर्शन देव भाग में तथा तुलादि छः राशियों में स्थित रहने पर सूर्य का दर्शन असुरों के भाग में होता है ।

मेषादि से कन्यान्त पर्यन्त छः राशियों में भ्रमण करता हुआ सूर्य विषवुत (नाडी) वृत्त से उत्तर में ही रहता है अतः लगभग ६ मास पर्यन्त सूर्य का दर्शन उत्तर गोल में होना है । इसी प्रकार तुलादि से मीनान्त पर्यन्त ६ राशियों में सूर्य नाडी वृत्त से दक्षिण में रहता है अतः ६ मास पर्यन्त सूर्य का दर्शन दक्षिण गोल में ही होना है ।। ४५ ।।

रविकिरणानां तीव्रत्वे मृदुत्वे च हेतुः

अत्यासन्नतया तेन ग्रीष्मे तीव्रकरा रवेः।
देवभागेऽसुराणां तु हेमन्ते, मन्दताऽन्यथा ।। ४६ ।।

अथ प्रसङ्गात् ग्रीष्मे तीव्रकर इत्याद्यर्द्धोक्तप्रश्नस्य उत्तरमाह । तेन । उत्तरदक्षिण गोलयोः सूर्यस्य उत्तरदक्षिण-सञ्चाररूपकारणेन इत्यर्थः । देवभागे जम्बूद्वीपे । अत्यासन्नतया सूर्यस्य अत्यन्तनिकटस्थत्वेन ग्रीष्मे ग्रीष्मर्त्तौ सूर्यस्य तेजोगोलकस्य किरणास्तीक्ष्णा अत्युष्णा असुराणां देवभाग इत्यस्यासन्नतया भाग इत्यस्य समन्वयात् दैत्यानां भागे समुद्रादि दक्षिण प्रदेशे हेमन्ते हेमन्तर्त्तौ तुकारात् सूर्यस्यात्युष्णाः किरणाः सूर्यस्यात्यासन्नत्वात् ।

अन्यथा सूर्यस्य दूरस्थत्वेन मन्दता किरणानामत्युष्णताभावः । देवभागे हेमन्तर्त्तौ कराणां मन्दता । अतएव तत्र शीताधिक्यं दैत्यभागे ग्रीष्मे कराणां मन्दता

शीताधिक्यं च । तथाच देवभागे दक्षिण गोले सूर्यस्य दूरस्थत्वमुत्तरगोले निकटस्थत्वं मध्याह्ननतांशानां क्रमेणाधिकाल्पत्वादिति भाव: ॥ ४६ ॥

उक्त कारणों से (मेष से कन्या पर्यन्त) सूर्य के देवभाग में क्षितिज से ऊपर तथा खमध्य के आसन्न रहने से उत्तर गोल में सूर्य की रश्मियाँ तीव्र होती हैं जिनसे ग्रीष्म ऋतु में उत्तरगोल में गर्मी (उष्मा) होती है । इसी प्रकार तुलादि छ: राशियों में दक्षिण गोल में सूर्य के रहने से हेमन्त ऋतु में गर्मी होती है । इस से विपरीत स्थिति अर्थात् उत्तर गोल में हेमन्त ऋतु में शीत तथा दक्षिण में ग्रीष्म ऋतु में शीत (सर्दी) होती है ।। ४६ ।।

देवासुराणांमहोरात्रव्यवस्था:

देवासुरा विषुवति क्षितिजस्थं दिवाकरम् ।
पश्यन्त्यन्योऽन्यमेतेषां वामसव्ये दिनक्षपे ।। ४७ ।।
मेषादावुदित: सूर्यस्त्रीन् राशीनुदगुत्तरम् ।
सञ्चरन् प्रागहर्मध्यं पूरयेन्मेरुवासिनाम् ।। ४८ ।।
कर्कादीन् सञ्चरँस्तद्वदह्न: पश्चार्द्धमेव स:।
तुलादींस्त्रींन्मृगादींश्च तद्वदेव सुरद्विषाम् ।। ४९ ।।
अतो दिनक्षपे तेषामन्योन्यं हि विपर्ययात् ।
अहोरात्रप्रमाणं च भानोर्भगणपूरणात् ।। ५० ।।

अथ मेषादौ देवभागस्थ इत्युक्तं देवासुराहोरात्रकथनव्याजेन विशदयति । विषुवति काले देवदैत्या: सूर्य्यं क्षितिजस्थं पश्यन्ति । विषुवद्वृत्तस्य तयो: स्वस्थानाद्भूगोलमध्यस्थत्वेन क्षितिजत्वात् । एतेषां देवदैत्यानामन्योन्यं परस्परं ये वामसव्ये अपसव्यसव्ये ते क्रमेण दिनक्षपे दिवसरात्री भवत: । अयं भाव: । देवानां भूमेरुत्तरभाग: स्वकीयत्वात् सव्यमतो दैत्यानामपसव्यं स्वकीयत्वाभावात् । एवं दैत्यानां भूमेर्दक्षिणभाग: स्वकीयत्वात् सव्यं देवानां स्वकीयत्वाभावात् अपसव्यमतो दैत्यानां वामसव्यभागौ उत्तर दक्षिणगोलौ देवानां क्रमेण दिनरात्री । देवानां वामसव्यभागौ दक्षिणोत्तरगोलौ दैत्यानां दिनरात्री । अन्यथान्योन्यं वामसव्ये इत्यनयो: सङ्गतार्थानुपपत्ते: । अतएव पूर्वं मेषादौ इत्याद्युक्तमिति ।। ४७ ।।

अथ पूर्वश्लोकोत्तरार्द्धस्य सन्दिग्धत्वं शङ्कया दिनपूर्वापरार्द्ध कथनच्छलेन तदर्थं श्लोकाभ्यां विशदयति । मेषादौ विषुवद् वृत्तस्थ क्रान्ति वृत्तभागे रेवत्यासन्न उदितो दर्शनतां प्राप्त: सूर्य उत्तरं यथोत्तरं क्रमेणेति यावत् । त्रीन् राशीनुदगुत्तरभागस्थान् मेषवृषमिथुनान् सञ्चरन्नतिक्रामन् सन् मेरुस्थानां देवानां प्रागहर्मध्यं प्रथमं दिनस्यार्द्धं पूरयेत् पूर्णं करोति इत्यर्थ: । मिथुनान्ते सूर्य्ये मेरुस्थानां मध्याह्नं स्यात् इति फलितार्थ: । कर्कादीन् त्रीन् राशीन् कर्कसिंहकन्यास्तद्वत् क्रमेण इत्यर्थ: । अतिक्रामन्

सन् स सूर्य्यो दिवसस्य पश्चार्द्धमपरदलम् । एवकारोऽन्ययोगव्यवच्छेदार्थः । पूरयेत्। कन्यान्ते सूर्य्ये मेरुस्थानां सूर्य्यास्तो भवतीति फलितार्थः ।

अथ दैत्यानामाह । तुलादीनिति । सुरद्विषां मेरोर्दक्षिणाग्रवर्त्तिनां दैत्यानामित्यर्थः। तुलादींस्त्रीन् राशींस्तुलावृश्चिकधनुराश्यान् मृगादींस्त्रीन् राशीन् मकरकुम्भमीनांस्तद्वत् क्रमेण अतिक्रामन् सूर्यः । चकारस्तुलामृगादि क्रमेण पूर्वापरार्द्धमित्यर्थकः । एवकार उक्तातिरिक्तव्यवच्छेदार्थः । दिनं पूरयतीत्यर्थः । धनुरन्ते सूर्य्ये दैत्यानां मध्याह्नं मीनान्ते सूर्य्ये सूर्य्यास्तो भवतीति फलितार्थः ॥ ४८—४९ ॥

अथातो देवासुराणामिति प्रश्नस्योत्तरं सिद्धमित्याह । अत उक्तकारणात् तेषां देवदैत्यानामन्योन्यं परस्परं हि निश्चयेन विपर्य्ययात् व्यत्यासात् दिनरात्री स्त इति फलितम् । एतत् फलितार्थस्तु पूर्वं बहुधोक्तः । अथ तत् कथं वा स्यात् । भानोर्भगणपूरणादिति प्रश्नस्यापि उत्तरं फलितमित्याह । अहोरात्र प्रमाणमिति । सूर्यस्य मेषादिद्वादशराशि भोगात् देवदैत्यानामहोरात्रमानं भवति । चकारः पूर्वार्द्धेन समुच्चयार्थकस्तेन द्वयोः पूर्वोक्तमेकं कारणमिति स्पष्टम् ॥ ५० ॥

विषुवों (सायन मेष और सायन तुला) में सूर्य के रहने पर देवता और असुर दोनों ही सूर्य को क्षितिज पर देखते हैं । इनके दिन और रात एक दूसरे से विपरीत होते हैं । दोनों मेरु स्थानों (ध्रुवों) से ९०° पर होने से नाडीवृत्त ही ध्रुवों का क्षितिज होता है । विषुवस्थ सूर्य नाडी वृत्त के ही धरातल में होता है । अतः देवता और असुर सूर्य को क्षितिज वृत्त में ही देखते हैं ।

सायन मेषादि बिन्दु देवों (उत्तर गोल) के लिए सूर्योदय काल होता है तथा सायन तुलादि बिन्दु (दक्षिण गोल) असुरों का सूर्योदय काल होता है ।

मेषादि में सूर्य उदित होकर उत्तरोत्तर तीन राशियों में (मेष से मिथुन तक) भ्रमण करता हुआ मेरु वासी देवों के दिन का पूर्वार्ध पूर्ण करता है तथा कर्क आदि तीन (कर्क, सिंह, कन्या) राशियों में भ्रमण करता हुआ दिन के उत्तरार्ध को पूर्ण करता है ।

इसी प्रकार तुलादि से धनुरन्त तक असुरों का पूर्वार्ध तथा मकरादि से मीनान्त तक दिन का उत्तरार्ध होता है । इसलिए दोनों के दिन और रात्रि एक दूसरे से विपरीत होते हैं ।

सूर्य का एक भगण (राशिचक्र की परिक्रमा) पूर्ण होने पर देवताओं एवं असुरों का एक अहोरात्र होता है ॥ ४७—५० ॥

देवासुराणां दिनार्धं रात्र्यर्द्धञ्च

दिनक्षपार्धमेतेषामयनान्ते विपर्ययात् ।
उपर्यात्मानमन्योऽन्यं कल्पयन्ति सुरासुराः ॥ ५१ ॥

अथ मेषादावुदित इत्यादिश्लोकद्वयस्य फलितार्थं तदुपपत्तिं च आह । एतेषां देवदैत्यानामयनान्तेऽयनसन्धौ विपर्य्ययात् व्यत्यासाद्दिनक्षपार्द्धं दिनार्द्धं रात्र्यर्द्धं च भवति । यत्र देवानां मध्याह्नं रात्र्यर्द्धं तत्र दैत्यानां क्रमेण रात्र्यर्द्धं मध्याह्ने यत्र च दैत्यानां मध्याह्नरात्र्यर्द्धे तत्र देवानां क्रमेण रात्र्यर्द्धमध्याह्ने इति फलितार्थः ।

अत्र हेतुमाह । उपरीति । देवदैत्या मेरोरुत्तर दक्षिणाग्रवर्त्तिनोऽन्योन्यमात्मानं स्वमुपरिभागे ऊर्ध्वभागे कल्पयन्ति अङ्गीकुर्वन्ति । वस्तुतो भूमेर्गोलकत्वेन सर्वत्र तुल्यत्वान्निरपेक्षोर्ध्वाधोभागयोः अनुपपत्तेः । तथा च देवा दैत्यापेक्षयोर्ध्वस्थत्वं मन्यमाना दैत्यानधः स्थानङ्गीकुर्वन्ति । दैत्याश्च देवस्थानापेक्षयोर्ध्वस्थं मन्यमाना देवानधः कुर्वन्तीति तात्पर्य्यार्थः । एवं च देवदैत्ययोः विपरीतावस्था नाद्दिनरात्र्योर्वैपरीत्यं युक्तमेव इति भावः ।। ५१ ।।

देवताओं एवं असुरों का दिनार्ध (मध्याह्न) एवं रात्र्यर्ध (मध्य रात्रि) अयनों के अन्त में एक दूसरे के विपरीत होते हैं । अर्थात् उत्तरायण (सायन मिथुन) के अन्त में सूर्य के रहने पर देवों का मध्याह्न और असुरों की मध्यरात्रि तथा धनुरन्त में असुरों का मध्याह्न और देवों की मध्यरात्रि होती हैं ।

देवता और असुर एक दूसरे की अपेक्षा अपने को ऊपर स्थित मानते हैं, तथा दूसरे को अपने से नीचे की ओर मानते हैं ।। ५१ ।।

भूमेरुपरि ऊर्ध्वाधः क्रमेण स्थिति वर्णनम्

अन्येऽपि समसूत्रस्था मन्यन्तेऽधः परस्परम् ।
भद्राश्वकेतुमालस्था लङ्कासिद्धपुरस्थिताः ।। ५२ ।।

अथ देवदैत्ययोरूर्ध्वाधोरीतिमन्यत्रापि सदृष्टान्तमतिदिशति। अन्ये देवदैत्यभिन्ना भूगोलस्थाः । अपिशब्दो देवदैत्यैः । समुच्चयार्थकः । समसूत्रस्था भूव्यासान्तरिता नराः परस्परमधो मन्यन्ते। तत्रोदाहरति । भद्राश्वकेतुमालस्था इति । भद्राश्वकेतुमालशब्दौ स्वान्तर्गतयमकोटिरोमकनगर विशेषाभिधायकौ स्पष्टभूव्यासान्तरस्थत्वाङ्गीकारे तु यथा श्रुतं परस्परमधोमन्यन्ते तुर्य्यचरणस्तु व्यक्त एव ।। ५२ ।।

सम सूत्र में स्थित अन्य लोग भी अपने से दूसरों को नीचे स्थित समझते हैं । भद्राश्व वर्ष और केतुमाल वर्ष में स्थित लोग एक दूसरे को अपने से नीचे मानते हैं । इसी प्रकार लङ्का निवासी सिद्धपुर के निवासियों को अपने से नीचे समझते हैं ।। ५२ ।।

भूमौ मानवस्थिति वर्णनम्

सर्वत्रैव महीगोले स्वस्थानमुपरि स्थितम् ।
मन्यन्ते खे यतो गोलस्तस्य क्वोर्ध्वं क्व वाप्यधः ।। ५३ ।।

अथोक्तं काल्पनिकमेवेति द्रढयन्नाह । भूगोले सर्वत्र सर्वप्रदेशेषु मध्ये स्वस्थानं निजाधिष्ठितस्थानमूर्ध्वस्थितं तदधिष्ठिता मनुष्याः स्वाभिमानेनाङ्गीकुर्य्युः । अतः कारणाद्भूगोले सर्व एव ऊर्ध्वस्थाः। अधः स्थास्तु न भवन्त्येव। स्वापेक्षतयोर्ध्वाधः स्थत्वं न वस्तुत इति तत्वम् । अन्यथाधःस्थत्वेन पतनशङ्कया भूगोले मनुष्याद्यवस्थानानुपपत्तेः । अत्र कारणमाह । ख इति । यतः कारणात् खे ब्रह्माण्डाकाशमध्यभागे भूगोलोऽस्ति । तथाच भूगोलादभितस्तुल्यत्वाद्भूगोले तत्वतयोर्ध्वाधोभागादेः असम्भव इति भावः । स्वाभिप्रायं स्पष्टयति । तस्येति । भूगोलस्य आकाशमध्यस्थस्य समन्तादाकाशे क्व कस्मिन् भाग ऊर्ध्वमूर्ध्वत्वम् । कस्मिन् भागे। वा समुच्चये । अधोऽधस्त्वम् । अपिरूर्ध्वत्वेन समुच्चयार्थकः । तथाच समन्तात् आकाशस्य तुल्यत्वेन भूमेरूर्ध्वाधोभागौ निर्वचनी कर्त्तुमशक्यौ याम्यामूर्ध्वाधोलोका नियताः स्युरिति भूमेरूर्ध्वाधोभागाद्यसम्भवादिति भावः ।। ५३ ।।

पृथ्वी (भू पृष्ठ) पर सर्वत्र अपना स्थान ऊपर ही प्रतीत होता है । (सभी लोग अपने आपको ऊपर तथा अन्य को तिर्यक या अधोमुख मानते हैं) । वस्तुतः अनन्त आकाश में स्थित गोल का न कहीं ऊर्ध्व है तथा न कहीं अधः है? अर्थात् सर्वत्र समान रूप से पृथ्वी पर ऊपरी भाग में ही स्थिति ज्ञात होती है ।। ५३ ।।

भूमेः समत्वदर्शने कारणम्

अल्पकायतया लोकाः स्वस्थानात् सर्वतो मुखम् ।
पश्यन्ति वृत्तामप्येनां चक्राकारां वसुन्धराम् ।। ५४ ।।

ननु इयं भूः समादर्शाकारा प्रत्यक्षा कथं गोलाकारेत्यत आह । जनाः स्वाधिष्ठितप्रदेशात् सर्वतः सर्वदिक्षु । अभिमुखं वृत्तां गोलाकारामेतां प्रत्यक्षां पृथ्वीं चक्राकारां मण्डलाकारां समां पश्यन्ति । एवकारार्थेऽपिशब्दः । तेन भूमेः वस्तुतो गोलकारत्वेऽपि तदाकारेण अदर्शनं मुकुराकारतया दर्शनं च न विरुद्धम् । अत्र हेतुमाह । अल्पकायतयेति । ह्रस्वशरीरत्वेन इत्यर्थः । तथाच महती भूस्तत्पृष्ठस्थस्य मनुष्यस्य अति ह्रस्वस्य अल्पदृष्टिप्रचारात् गोलाकारतया न भासते किन्तु सममण्डलतया भासते । गोलवृत्तशतांशस्य समत्वेन भानात् । अन्यथा प्रथमज्यायाश्चापसमत्वानुपपत्तिरिति भावः ।। ५४ ।।

पृथ्वी की अपेक्षा मनुष्य अत्यल्पकाय (लघुशरीरवाला) है। अतः अपने स्थान से चारों ओर गोलाकार होते हुये भी पृथ्वी को चक्राकार (चिपिटा) देखता है ।। ५४ ।।

भगोल भ्रमण व्यवस्था

सव्यं भ्रमति देवानामपसव्यं सुरद्विषाम् ।
उपरिष्टाद् भगोलोऽयं व्यक्षे पश्चान्मुखः सदा ।। ५५ ।।

अथ निरक्षादिदेशेषु मेरुव्यतिरिक्तान्यदेशेषु दिनरात्र्योर्मानं विवक्षुर्मेरोरग्रभागयो-

निरक्षदेशेषु भचक्रभ्रमणमाह । अयं प्रत्यक्षो भगोलो नक्षत्राधिष्ठितमूर्त्तगोलो देवानां मेरोरुत्तराग्रवर्त्तिनां सव्यम् । पूर्वादिक्रममार्गेण इत्यर्थः । भ्रमति भ्रमपरिवर्त्तं करोतीत्यर्थः । दैत्यानां मेरोर्दक्षिणाग्रवर्त्तिनामपसव्यं पूर्वादिदिग्व्युत्क्रममार्गेण । पूर्वोत्तर पश्चिमदक्षिणक्रमेण इत्यर्थः । नक्षत्राधिष्ठितगोलो भ्रमति । व्यक्षे निरक्षदेशेषु जात्यभिप्रायेण एकवचनम् । उपरिष्टान्मस्तकोर्ध्वमध्यभागो भगोलः पश्चान्मुखः पश्चिमदिगभिमुखः सदा नित्यं परिभ्रमति । भगोलस्य ध्रुवमध्यस्थत्वेन भ्रमणात् । तयोस्तत्र क्षितिजवृत्तस्थत्वाच्च ॥ ५५ ॥

यह भगोल (राशिचक्र या नक्षत्रचक्र) देवताओं के क्षेत्र अर्थात् सुमेरु (उत्तरी ध्रुव) के आसन्न बायें से दाहिनी ओर तथा दैत्यों के क्षेत्र कुमेरु (दक्षिणी ध्रुव) के आसन्न दक्षिण से बाम भाग में भ्रमण करता है । निरक्ष (भूमध्यरेखीय) प्रदेशों में नक्षत्र चक्र सदैव ऊपरी भाग (खमध्य) में पूर्व से पश्चिम की ओर भ्रमण करता हुआ दृश्य होता है ॥ ५५ ॥

दिनमान व्यवस्था

अतस्तत्र दिनं त्रिंशन्नाडिकं शर्वरी तथा ।
ह्रासवृद्धी सदा वामं सुरासुरविभागयोः॥ ५६ ॥

अथ निरक्षे दिनरात्र्योर्मानं कथयन्नन्यत्रापि ततो न्यूनाधिकं मानं भवतीत्याह । अतो निरक्षे मस्तकोर्ध्वं भगोलो भ्रमतीति कारणात् तत्र निरक्षदेशे त्रिंशन्नाडिकं त्रिंशद्घटीमितं दिनं स्यात् । शर्वरी रात्रिस्तथा त्रिंशद्घटीपरिमिता स्यात् । तत्क्षितिजवृत्तस्य ध्रुवद्वयसंलग्नतया गोलमध्यस्थ त्वाद्दिनरात्र्योस्तुल्यत्वं युक्तमेव इति भावः । सुरासुरविभागयोः जम्बूद्वीप-समुद्रादि दक्षिणदेशयोः सदा विषुवत्क्रमणातिरिक्तकाले क्षयवृद्धी दिनरात्र्योः प्रत्येकं वामं व्यस्तं यथा स्यात् तथा ज्ञेयम् । एतदुक्तं भवति । जम्बूद्वीपे दिनह्रासे रात्रिवृद्धिस्तदा दक्षिणदेशे दिनरात्र्योः क्रमेण वृद्धिहानी । जम्बूद्वीपे दिनवृद्धौ रात्रिहानिस्तदा दक्षिणदेशे दिनरात्र्योः क्रमेण हानिवृद्धी । एवं दक्षिणदेशे हानिवृद्ध्योर्जम्बूद्वीपे वृद्धिहानी दिने रात्रौ वा यथायोग्यमिति ।

अत्रोपपत्तिः । तत्क्षितिजवृत्तस्य ध्रुवसम्बन्धाभावेन गोलमध्यस्थत्वाभावात् दिनरात्र्योः सदा विषुवत् दिनव्यतिरिक्तेन तुल्यत्वं किन्तु न्यूनाधिकत्वमहोरात्रस्य षष्टिघटिकात्मकत्वात् इति ॥ ५६ ॥

अतः (राशिचक्र के मस्तक के ऊपर भ्रमण करने से) निरक्षदेशीय (भूमध्यरेखीय) प्रदेशों में ३० घटी का दिन तथा ३० घटी की रात्रि होती है । तथा सुर और असुरों के भाग में सदैव एक दूसरे के विपरीत स्थिति में दिन और रात्रि में ह्रास वृद्धि होती है । अर्थात् देवों के विभाग उत्तर गोल में जब दिन का मान ३० घटी से अधिक होगा तो असुरों के विभाग में रात्रि का मान ३० घटी से अधिक होगा ॥ ५६ ॥

मेषादौ तु दिवावृद्धिरुदगुत्तरतोऽधिका ।
देवांशे च क्षपाहानिर्विपरीतं तथाऽऽसुरे ।। ५७ ।।
तुलादौ द्युनिशोर्वामं क्षयवृद्धी तयोरुभे ।
देशक्रान्तिवशान्नित्यं तद्विज्ञानं पुरोदितम् ।। ५८ ।।

अथ एतत् श्लोकोत्तरार्द्धार्थं श्लोकाभ्यां विशदयति । मेषादौ षड्भे उदगुत्तरगोले सूर्य्ये सति । उत्तरतो यथोत्तरं सदा यावदुत्तरगोले देवांशे जम्बूद्वीपेऽधिका यथोत्तरमधिका वृद्धिर्निरक्षदेशीयदिने तुकारात् यथोत्तरं सूर्यस्योत्तरगमने यथोत्तरं दिने वृद्धिः परमोत्तरगमनात् परावर्त्तते । यथोत्तरं न्यूनावृद्धिरित्यर्थः । क्षपाहानी रात्रेः अपचयः । चः समुच्चये । आसुरे समुद्रादि दक्षिणभागे तथा दिनरात्र्योः क्षयवृद्धी विपरीतं व्यस्तम् । दिने हानी रात्रौ वृद्धिरित्यर्थः । तुलादौ षड्भे दक्षिणगोले सूर्य्ये सति तयोर्जम्बूद्वीपसमुद्रादि दक्षिणभागयोः दिनरात्र्योरुभे द्वे क्षयवृद्धी उपचयापचयौ वामं व्यस्तम् । अयमर्थः । जम्बूद्वीपे दिनरात्र्योरुत्तरगोलस्थवृद्धिक्षयक्रमेण क्षयवृद्धी स्तः । समुद्रादि दक्षिणभागे दिनरात्र्योर्वृद्धिक्षयौ स्त इति । ननु क्षयवृद्ध्योः कियन्मितत्वमित्यतः पूर्वोक्तं स्मारयति । देशक्रान्तिवशादिति । तद्विज्ञानं तयोःक्षयवृद्ध्योर्ज्ञानं संख्याज्ञानं नित्यं प्रत्यहं देशक्रान्तिवशात् । देशपलभा क्रान्तिरेतदुभयानुरोधात् पुरा पूर्वखण्डस्पष्टाधिकारे ।

क्रान्तिज्या विषुवद्भाघ्नी क्षितिज्या द्वादशोद्धृता ।
त्रिज्यागुणाहोरात्रार्द्धकर्णाप्ता चरजासवः ।।

तत्कार्मुकमित्यनेन दिनरात्र्योरर्द्ध उक्तम् । तद्द्विगुणं दिनरात्र्योरित्यर्थसिद्धम् । अत्रोपपत्तिः । निरक्षदेशे ध्रुवद्वयलग्नं क्षितिजवृत्तं तत उत्तरभागे स्वस्थानक्षितिजं स्वभूगोल मध्यस्थमुत्तरध्रुवादधो दक्षिणध्रुवाच्चोच्चमित्यत उत्तरगोले निरक्षक्षितिजादधो दक्षिणगोल ऊर्ध्वमिति पञ्चदशघटिका निरक्षदेशदिनार्द्धं क्षितिजान्तररूपचरेण गोलक्रमेण युतहीनं दिनार्द्धं रात्र्यर्द्धं च विपरीतम् । एवं दक्षिणभागेऽभीष्टदेशे क्षितिजमुत्तरध्रुवादुन्नतं दक्षिणध्रुवान्नतमिति निरक्षक्षितिजान्निरक्षक्षितिजं गोलक्रमेणोर्ध्वाध इत्युक्तरभागात् व्यस्तम् ।। ५७—५८ ।।

मेषादि ६ राशियों में निरक्षदेश में उत्तरोत्तर क्रम से देवभाग में दिन मान की वृद्धि होती है तथा रात्रि मान का ह्रास होता है । इससे विपरीत असुर भाग में अर्थात् निरक्ष देश से दक्षिण दिशा में जैसे जैसे बढ़ते जायेगें दिन का ह्रास तथा रात्रि की वृद्धि होती जायेगी । तुलादि ६ राशियों में उक्त क्रम से विपरीत दिनरात्रि की क्षय वृद्धि देवों एवं असुरों के भागों में होती है । अर्थात् तुलादि राशियों में उत्तर में दिन का ह्रास, रात्रि की वृद्धि तथा दक्षिण गोल में दिन की वृद्धि एवं रात्रि का ह्रास होता है ।

इस प्रकार ह्रास-वृद्धि के क्रम को पहले (स्पष्टाधिकार श्लोक सं. ६०-

६१) में देश (अक्षांश) और सूर्य क्रान्ति द्वारा ज्ञात करने की विधि बतलाई गई है ॥ ५७—५८ ॥

मध्याह्ने खमध्यगतरवे: स्थान ज्ञानम्

भूवृत्तं क्रान्तिभागघ्नं भगणांशविभाजितम् ।
अवाप्त योजनैरर्को व्यक्षाद्यात्युपरि स्थित: ॥ ५९ ॥

अथोक्तस्यावधिदेशं विवक्षु: प्रथमं तदुपयुक्तानि क्रान्त्यंश योजनान्याह । भूवृत्तं भूपरिधियोजनमानं प्रागुक्तमभीष्ट क्रान्त्यंशैर्गुणितं द्वादशराशिभागै: षष्ट्यधिकशतत्रयमितैर्भक्तं लब्धयोजनै: कृत्वा सूर्य उपरि आकाशे स्थितो वर्तमानो दक्षिणत उत्तरतो वा याति गच्छति । क्रान्त्यभावे तु निरक्ष देशोपर्य्येव परिभ्रमति । अत्रोपपत्ति: । निरक्षदेशान्मेरोरुत्तरदक्षिणाग्राभिमुखं सूर्य: क्रान्त्यंशैर्गच्छति । तद्योजनज्ञानं तु भगणांशैर्भेर्वग्रद्वयनिरक्षदेश स्पृष्टभूपरिधियोजनानि तदा क्रान्त्यंशै: कानीत्यनुपातेन इत्युपपन्नम् ॥ ५९ ॥

योजनात्मक मध्य भूपरिधि मान को अभीष्ट दिन की सूर्य क्रान्ति से गुणाकर भगणांश (३६०) से भाग देने पर जो योजनात्मक लब्धि प्राप्त हो, निरक्ष देश से उतने योजन की दूरी पर सूर्य के क्रान्ति की दिशा वाले देशों में मध्याह्न काल में सूर्य खमध्यगत होता हुआ भ्रमण करता है ॥ ५९ ॥

षष्टि घट्यात्मक दिनमान स्थलानि

परमापक्रमादेवं योजनानि विशोधयेत् ।
भूवृत्तपादाच्छेषाणि यानि स्युर्योजनानि तै: ॥ ६० ॥
अयनान्ते विलोमेन देवासुरविभागयो: ।
नाडीषष्ट्या सकृदहर्निशाप्यस्मिन् सकृत् तथा ॥ ६१ ॥

अथ दिनमानानयनगणितस्यावधि देशज्ञानं श्लोकाभ्यामाह । परमक्रान्तिभागाच्चतुर्विंशन्मितात् । एवं पूर्वोक्तरीत्या योजनानि जातानि । भूपरिधे: पूर्वोक्तस्य चतुर्थांशात् परिवर्जयेत् । अवशिष्टानि यानि यत्संख्यामितानि योजनानि भवन्ति तैर्योजनैर्देवासुर विभागयो: निरक्षदेशादुत्तरदक्षिण प्रदेशयोर्यौ देशौ तयोरित्यर्थ: । अयनान्त उत्तर दक्षिणायनसन्धौ कर्कादिस्थे सूर्य्ये दक्षिणोत्तरायनसन्धौ मकरादिस्थे सूर्ये विलोमेन व्यत्यासेन सकृदेकवारं नाडीषष्ट्या घटीषष्ट्याहर्दिनमानं भवति । अस्मिन्नेतादृशे देशे तस्मिन्ने वायनसन्ध्यासन्ने सकृदेकवारं तथा षष्टिघटीमिता विलोमेन रात्रिर्भवति अपिशब्दो दिनेन समुच्चयार्थ: । एतदुक्तं भवति । कर्कादिस्थे सूर्य्ये निरक्षदेशादुत्तरतद्योजनान्तरित देशे षष्टिघटीमितदिनं तदैव निरक्षदेशात् दक्षिणतद्योजनान्तरितदेशे षष्टिघटीमिता रात्रि: । मकरादिस्थे सूर्य्ये तादृशोत्तरभागे षष्टिघटीमिता रात्रिर्दक्षिणभागे तादृशे षष्टिमितं दिनमिति ।

अत्रोपपत्तिः । परमक्रान्तियोजनानि भूवृत्तचतुर्थांशयोजनेभ्यो हीनानि । निरक्षदेशात् तन्मितयोजनान्तरितो यो दक्षिणोत्तर देशस्तस्मान्मेरोर्दक्षिणोत्तराग्रं क्रमेण परमक्रान्ति योजनान्तरितम् । अतस्तत्र लम्बांशाश्चतुर्विंशतिः पलांशाश्च षट्षष्टिरिति। तद्देशे क्रान्तिवृत्तानुकारं क्षितिजमित्ययनान्ते पञ्चदशघटीमितमहोरात्रवृत्तचतुर्भागखण्डं निरक्षतद्देशक्षितिजयोरन्तरालरूपं चरमत उक्तरीत्या दिनार्द्धं रात्र्यर्द्धं वा उक्तरीत्या यथायोग्यं त्रिंशत् तद्द्विगुणं षष्टि घटीमिततन्मानं गणितरीत्योपपन्नम् । युक्तं च एतत् । अयनान्ताहोरात्रवृत्तस्य एकस्य तत्क्षितिजप्रदेश एकत्रैव संलग्नत्वात् द्विधा संलग्नत्वाभावात् प्रवहभ्रमितसूर्यपरिवर्त्तपूर्त्तिः षष्टिघटीभिर्दर्शनमदर्शनं यथायोग्यं तद्गोलस्थित्या प्रत्यक्षसिद्धमेव इति ॥ ६०—६१ ॥

सूर्य की परमक्रान्ति से पूर्वोक्त विधि से प्राप्त योजन मान को भूवृत्तपाद $\left(\frac{\text{भूपरिध}}{४}\right)$ से घटाकर शेष तुल्य योजन की दूरी पर निरक्ष देश से देव एवं असुर दोनों के विभागों में अर्थात् उत्तर एवं दक्षिण गोल में अयनान्त समय में (मिथुन और धनु के अन्त में) एक दूसरे से विपरीत एक दिन ६० घटी का दिन और ६० घटी की रात्रि होती है । मिथुनान्त में उत्तर गोल में ६० घटी का दिन तथा दक्षिण गोल में ६० घटी की रात्रि इसी प्रकार धनुरन्त में दक्षिण गोल में ६० घटी का दिन तथा उत्तर गोल मे ६० घटी की रात्रि होती है ।

स्पष्टार्थ विधि— $\frac{\text{भू परिधि}}{४} - \frac{\text{परमरवि क्रान्ति} \times \text{मध्यभूपरिधि}}{३६०}$

= अभीष्ट योजन ॥ ६०—६१ ॥

षष्टिघट्यात्मक दिन-रात्रि व्यवस्था

तदन्तरेऽपि षष्ट्यन्ते क्षयवृद्धी अहर्निशोः ।
परतो विपरीतोऽयं भगोलः परिवर्तते ॥ ६२ ॥

अथ उक्तदिनरात्रिमानगणितं तदवधिदेशपर्य्यन्तं दक्षिणोत्तरभागयोर्नाग्र इत्याह। तदन्तरे निरक्षदेशोक्तावधिदेशयोः अन्तरालदक्षिणोत्तरविभागदेशे षष्ट्यन्ते षष्टिघटीमध्ये क्षयवृद्धी अपचयोपचयौ उक्तरीत्या दिनरात्र्योः यथायोग्यं भवतः । परतोऽवधिदेशात् अग्रिमदेशे दक्षिणोत्तरे दैत्यदेवस्थाननिकटेऽयं प्रत्यक्षो भगोलो नक्षत्राद्यधिष्ठितो मूर्त्तो गोलो विपरीतोऽवधिदेशान्तर्गत देश सम्बन्धिगणितविरुद्धः परिवर्त्तते भ्रमति । तत्र उक्तरीत्या दिनरात्र्योः वृद्धिक्षयौ न भवत इत्यर्थः त्रिज्याधिकाच्चरानयनानुपपत्तेः । चरस्वरूपासम्भवाच्च ॥ ६२ ॥

निरक्ष देश से पूर्वोक्त विधि से प्राप्त योजनमान (६६ अक्षांश) तक ही ६० घटी के अन्दर दिन और रात्रि की क्षयवृद्धि होती है तथा अहोरात्र का मान

६० घटी होता है । इससे (६६° से) अधिक अक्षांश होने पर दिन रात्रि व्यवस्था भिन्न हो जाती है क्योंकि उन स्थानों में यह भगोल (राशिचक्र) विपरीत भ्रमण करता है ।। ६२ ।।

द्विमासात्मक दिनरात्रि व्यवस्था

ऊने भूवृत्तपादे तु द्विज्यापक्रमयोजनैः।
धनुर्मृगस्थः सविता देवभागे न दृश्यते ।। ६३ ।।
तथैवासुरभागे तु मिथुने कर्कटे स्थितः ।
नष्टच्छाया महीवृत्तपादे दर्शनमादिशेत् ।। ६४ ।।

अथ विपरीतगोलस्थितिं श्लोकाभ्यां प्रदर्शयति । द्विराशिज्यया ये क्रान्त्यंशास्तेषां योजनैः पूर्वावगतैर्भूपरिधि चतुर्थांशे हीने कृते सति । तुकारान्निरक्षदेशात् तद्योजनान्तरिते देशे देवभाग उत्तरभागे धनुर्मकरराशिस्थोऽर्कस्तद्देशवासिभिर्न दृश्यते । धनुर्मकरस्थेऽर्क तेषां रात्रिः सदा स्यादित्यर्थः । असुरभागे निरक्षदेशाद्दक्षिण प्रदेशे । चः समुच्चयार्थः । तुकारात् तद्योजनान्तरितप्रदेशे मिथुने कर्के कर्कराशौ स्थितोऽर्कस्तथा तद्देशवासिभिर्न दृश्यते । नष्टच्छायामहीवृत्तपादे । अभावं प्राप्ता छाया भूच्छाया यत्र तादृशे भूपरिधिचतुर्थांशे सूर्यस्य दर्शनं सदा कथयेत् । यत्र भूच्छायात्मिका रात्रिर्नास्ति तत्र दिनमित्यर्थः । तथाच निरक्षदेशात् तद्योजनान्तरितोत्तर प्रदेशे कर्कमिथुनस्थोऽर्को दृश्यते तद्योजनान्तरित दक्षिण प्रदेशे धनुर्मकरस्थोऽर्को दृश्यत इति फलितार्थः । अतएव ।

त्र्यंशयुङ्नवरसाः पलांशका
यत्र तत्र विषये कदाचन ।
दृश्यते न मकरो न कार्मुकं
किञ्च कर्किमिथुनौ सदोदितौ ।।

इति भास्कराचार्य्योक्तं सङ्गच्छते ।। ६३–६४ ।।

द्विज्या (दो राशियों की ज्या) की क्रान्ति से प्राप्त योजन (श्लोक ५९ के अनुसार) मान को भूवृत्तपाद $\left(\frac{\text{भूपरिध}}{४}\right)$ से घटाने पर जो शेष योजन हो, निरक्ष देश से उतने योजन पर देव भाग में (उत्तरगोल में) धनु और मकर राशि स्थित सूर्य दृश्य नहीं होते । (परिणामतः २ मास रात्रि रहती है । इसी प्रकार मिथुन और कर्क राशिगत सूर्य असुर भाग (दक्षिण गोल) में दृश्य नहीं होते । जहाँ पर मध्याह्न कालिक छाया नष्ट (शून्य) हो उस स्थान से भूपरिधि के चतुर्थांश $\left(\frac{\text{भूपरिध}}{४}\right)$ पर्यन्त सूर्य का दर्शन होता है । ऐसा समझना चाहिये ।। ६३–६४ ।।

मासचतुष्टयात्मक दिनरात्रिव्यवस्था

एकज्यापक्रमानीतैर्योजनैः परिवर्जिते ।
भूमिकक्षाचतुर्थांशे व्यक्षाच्छेषैस्तु योजनैः ।। ६५ ।।
धनुर्मृगालिकुम्भेषु संस्थितोऽर्को न दृश्यते ।
देवभागेऽसुराणां तु वृषाद्ये भचतुष्टये ।। ६६ ।।

अथ अन्यत्रापि विपरीतस्थितिं श्लोकाभ्यां दर्शयति । एकराशिज्यायाः क्रान्त्यंशेभ्यो भूपरिधि चतुर्थांशे हीने कृते सति निरक्षदेशादवशिष्टैः योजनैः । तुकारादन्तरिते देशे देवभाग उत्तरभागे धनुर्मकरवृश्चिक कुम्भराशिषु स्थितः सूर्यस्तद्-देश वासिभिर्न दृश्यते । असुराणां दैत्यानां निरक्षदेशात् तद्योजनान्तरितदक्षिण भागे वृषादिके राशिचतुष्टये स्थितोऽर्कस्तद्द्देशवासिभिर्न दृश्यते । तुकारादुत्तरभागे वृषादि-चतुष्टय स्थितोऽर्कस्तद्देशवासिभिर्दृश्यते वृश्चिकादि चतुष्टय स्थितोऽर्को दक्षिणभागे तद्देशवासिर्दृश्यत इत्यर्थः । अतएव ।

यत्र साङ्घ्रिगजवाजिसम्मिताः
तत्र वृश्चिकचतुष्टयं न च ।
दृश्यते च वृषभाच्चतुष्टयं
सर्वदा समुदितं हि लक्ष्यते ।।

इति भास्कराचार्य्योक्तं च सङ्गच्छते ।। ६५–६६ ।।

एकज्या (एक राशि की ज्या) की क्रान्ति से सम्बन्धित योजन को भूपरिधि के चतुर्थांश $\left(\frac{\text{भूपरिध}}{४}\right)$ से घटाकर शेष योजन तुल्य निरक्षदेश से दूरी पर स्थित देवभाग (उत्तर गोल) के प्रदेशों में वृश्चिक, धनु, मकर और कुम्भ राशियों के सूर्य दृश्य नहीं होते । तथा निरक्ष देश से उतनी ही दूरी पर असुरभाग (दक्षिण गोल) में वृष से चार राशि पर्यन्त अर्थात् वृष-मिथुन-कर्क और सिंह राशि पर स्थित सूर्य दृश्य नहीं होते ।। ६५–६६ ।।

षण्मासात्मक दिनरात्रि व्यवस्था

मेरौ मेषादिचक्रार्धे देवाः पश्यन्ति भास्करम् ।
सकृदेवोदितं तद्वदसुराश्च तुलादिगम् ।। ६७ ।।

अथ शून्यराशिक्रान्त्यानीतयोजनेभ्योऽवगतमेर्वग्रभागयोरपि स्थितिवैलक्षण्य-माह । मेरावुत्तराग्रावस्थिता देवा मेषादिचक्रार्द्धे मेषादिराशिषट्केऽवस्थितमर्कं सकृदेक-वारम् । एवकारादनेकवारनिरासनिश्चयः । उदितमदर्शनानन्तरं प्रथमदर्शनविषयं निरन्तरं पश्यन्ति । असुरा मेरुदक्षिणाग्रस्था दैत्याः । चो देवैः समुच्चयार्थः । तुलादिराशिषट्कस्थं तद्वत् सकृदुदितं निरन्तरं पश्यन्ति ।। ६७ ।।

मेरु पर्वत (उत्तर ध्रुव) वासी देवता मेषादि छः राशियों में एक बार उदित सूर्य को ही देखते रहते हैं । अर्थात् मेषादि छः राशियों में ६ मास तक सूर्य क्षितिज के ऊपर रहते है सूर्यास्त ही नहीं होता । इसी प्रकार असुर लोग (कुमेरु या दक्षिण ध्रुववासी) तुलादि छः राशियों में ६ मास तक सूर्य को उदित ही देखते हैं ।। ६७ ।।

विशेष—उत्तर ध्रुव (सुमेरु) और दक्षिण ध्रुव (कुमेरु) का क्षितिज वृत्त नाड़ी वृत्त होता है । नाडी वृत्त से मेष से कन्या पर्यन्त ६ राशियों के अहोरात्र वृत्त नाडीवृत्त के समानान्तर होते है । अतः ये सभी क्षितिज वृत्त (नाडी वृत्त) से ऊपर ही रहते है । सूर्य का उदय एवं अस्त अहोरात्रवृत्तों में ही दृश्य होता है । क्षितिज से ऊपर अहोरात्र वृत्त रहने से सूर्य क्षितिज से ऊपर ही परिक्रमा करता हुआ ६ मास तक दृश्य रहता है । इसी प्रकार दक्षिण ध्रुव में भी कन्या से मीन पर्यन्त ६ अहोरात्रवृत्त क्षितिज से ऊपर होते है अतः दक्षिण ध्रुव प्रदेश में भी ६ मास तक दिन (सूर्य उदित) ही रहता है । जब उत्तर ध्रुव में जब दिन होता तब दक्षिण ध्रुव में रात्रि होती है ।

सूर्यस्य स्थिति वशात् छाया निरूपणम्

भूमण्डलात् पञ्चदशे भागे देवेऽथवाऽसुरे ।
उपरिष्टाद्व्रजत्यर्कः सौम्ययाम्यायनान्तगः ।। ६८ ।।
तदन्तरालयोश्छाया याम्योदक् सम्भवत्यपि ।
मेरोरभिमुखं याति परतः स्वविभागयोः ।। ६९ ।।

अथ निरक्षदेशादयनसन्धौ कियद्भिर्योजनैरूर्ध्वमर्को भवति तदाह । देवे उत्तरभागे । अथवासुरे दक्षिणभागे । निरक्षदेशाद्भूपरिधेः पञ्चदशे भागे तत्फलयोजनान्तरिते देशे क्रमेण सौम्ययाम्यायनान्तग उत्तरायणान्तदक्षिणायनान्त स्थितोऽर्क उपरिष्टादूर्ध्वं व्रजति परिभ्रमति । यथा गोलसन्धौ निरक्षदेशे तथा अत्र भागद्वय इति फलितार्थः । अत्रोपपत्तिः । अयनान्तस्थे परमक्रान्तिश्चतुर्विंशत्यंशास्तद्योजनानि ।

भूवृत्तं क्रान्तिभागघ्नं भगणांशविभाजितम् ।

इत्यत्र चतुर्विंशतिमित गुणभगणांश मितहरौ गुणेनापवर्त्य हरस्थाने पञ्चदशेति भूमण्डलात् पञ्चदशे भाग इत्युक्तमुपपन्नम् ।। ६८ ।।

अथ निरक्ष देशाद्भूपरिधि पञ्चदशभागपर्य्यन्तं सूर्यस्य दक्षिणोत्तरतो गमनमुक्त्वा तच्छायागमनं प्रतिपादयति । तदन्तरालयोर्निरक्षदेशात् पञ्चदशभाग मध्यस्थित दक्षिणोत्तर देशयोश्छाया द्वादशांगुल शङ्कोर्मध्याह्नच्छायाभीष्ट कालिकच्छायाग्रं वा दक्षिणाग्रमुत्तराग्रं वा सम्भवति । एतदुक्तं भवति निरक्षदेशात् पञ्चदशभागान्तरालोत्तरदेशे मध्याह्ननतांशानां दक्षिणत्वे छायाग्रमुत्तरम् । नतांशानामुत्तरत्वे

छायाग्रं दक्षिणम्। एवं निरक्षदेशात् पञ्चदशभागान्तरालस्थितदक्षिण देशे सूर्यस्योत्तर-स्थत्वे छायाग्रं दक्षिणं दक्षिणस्थत्वे छायाग्रमुत्तरमिति । परतः पञ्चदशभागान्तरालदेशे स्वविभागयोः दक्षिणोत्तर विभागयोर्मेरोरभिमुखं मेर्वग्रयोः सम्मुखं क्रमेण दक्षिणाग्र-मुत्तराग्रं यथा स्यात् तथेत्यर्थः'। छाया याति गच्छति भवतीत्यर्थः । अपिशब्दः पूर्वार्द्धार्थेन समुच्चयार्थकः ॥ ६९ ॥

भूमण्डल के १५ वें भाग अर्थात् २४° पर देवताओं एवं असुरों दोनों के भागों में अर्थात् निरक्ष से २४° उत्तर एवं २४° दक्षिण उत्तरायण और दक्षिणायन के अन्तिम बिन्दु मिथुनान्त अहोरात्रवृत्त तथा धनुरन्त अहोरात्र वृत्त में सूर्य खमध्य में होता हुआ भ्रमण करता है ।

इन दोनों बिन्दुओं या अहोरात्र वृत्तों (धनुरन्त से मिथुनान्त तक) के मध्यगत प्रदेशों में ही मध्याह्नकालिक शङ्कुच्छाया उत्तराभिमुखी या दक्षिणाभिमुखी हो सकती है । इससे भिन्न (२४° से अधिक) प्रदेशों में अपने अपने ध्रुवों की तरफ छाया जाती है । उत्तर गोल में उत्तराभिमुखी दक्षिण गोल में दक्षिणामिभमुखी छाया पड़ती है ॥ ६८—६९ ॥

विशेष—निरक्ष से २४° उत्तर और २४° दक्षिण तक अंक्षाश और परम-क्रान्त्यंश की समता के कारण मध्याह्न कालिक नतांश यदि दक्षिण दिशा का होता है तो शंकुच्छाया उत्तराभिमुखी तथा नतांश उत्तर दिशा का होने पर शंकुच्छाया दक्षिणाभिमुखी होती है । अन्यत्र परमक्रान्ति (२४°) से अक्षांश अधिक होने से सदैव मध्याह्न कालिक छाया उत्तर गोल में उत्तराभिमुखी तथा दक्षिण गोल में दक्षिणभिमुखी ही होती है ।

निरक्षदेशीय नगरेषु सूर्योदयास्तकाल निर्णयः

भद्राश्वोपरिगः कुर्याद् भारते तूदयं रविः ।
रात्र्यर्धं केतुमाले तु कुरावस्तमयं तदा ॥ ७० ॥
भारतादिषु वर्षेषु तद्वदेव परिभ्रमन् ।
मध्योदयार्धरात्र्यस्तकालान् कुर्यात् प्रदक्षिणम् ॥ ७१ ॥

अथ कथं पर्य्येति भुवनानि विभावयन्निति प्रश्नस्योत्तरं श्लोकाभ्यामाह । भद्राश्ववर्षोपरिगतः सूर्य्यो भारतवर्षे स्वोदयं कुर्य्यात् । तुकाराद्भद्राश्ववर्षे मध्याह्नं कुर्य्यात्। तदा तस्मिन् काले केतुमालवर्षेऽर्द्धरात्रं कुरौ कुरुवर्षेऽस्तमयं स्वास्तं कुर्य्यात्। तुकारादुक्तवर्षयोरन्तराले दिनस्य गतं शेषं वा रात्रेश्च तद्यथायोग्यं कुर्य्यादित्यर्थः । अतिस्थूलदेशग्रहणे यथाश्रुतमिदं भव्यं किञ्चित् सूक्ष्मदेश ग्रहणे तु यमकोटि-लङ्कारोमकसिद्धपुराणि अन्तर्गतानि तच्छब्दवाच्यानि ज्ञेयानि ।

लङ्कापुरेऽर्कस्य यदोदयः स्यात्
तदा दिनार्द्धं यमकोटिपुर्य्याम् ।

अधस्तदा सिद्धपुरेऽस्तकालः
स्याद्रोमके रात्रिदलं तदैव ॥

इति भास्कराचार्य्योक्तं भूगोल उक्तनगराणां भूपरिधिचतुर्थांशान्तरत्वात् सङ्गच्छते । अथ भारतादिषु त्रिषु वर्ष संज्ञेषु भारतकेतुमाला कुरुवर्षेषु तद्वद्भद्राश्व वर्षोपरिगवत् । एवकारात् तन्यूनाधिकव्यवच्छेदः । परिभ्रमन् परिभ्रमेण स्वस्वाभिमत स्थानोपरिस्थितिं कुर्वन् सूर्यः प्रदक्षिणं यथा स्यात् तथा सव्यक्रमेण स्वस्थानादि-क्रमेणेति यावत् । उक्त चतुर्वर्षेषु मध्योदयार्द्धरात्र्यस्तकालान्मध्याह्नोदयार्द्ध रात्र्यस्त संज्ञान् कालान् कुर्य्यात् ।

एतदुक्तं भवति । भारतवर्षोपरि गतेऽर्के भारतकेतुमालकुरुभद्राश्ववर्षेषु क्रमेण मध्याह्न सूर्य्योदयार्द्धरात्रास्ताः स्युः । केतुमालवर्षोपरि गतेऽर्के केतुमाल कुरुभद्राश्व भारतवर्षेषु क्रमेण मध्याह्न सूर्य्योदयार्द्धरात्रास्ताः । कुरुवर्षोपरि गतार्के कुरुभद्राश्व भारतकेतुमालवर्षेषु क्रमेण मध्याह्न सूर्य्योदयार्द्धरात्रास्ता भवन्तीति ॥ ७१ ॥

जब भद्राश्व वर्ष में यमकोटि नगर के खमध्य में सूर्य होता है उस समय भारत वर्ष में लङ्का के क्षितिज पर सूर्योदय होता है । उस समय केतुमाल वर्ष (रोमक पत्तन) में मध्यरात्रि तथा कुरुवर्ष (सिद्धपुर) में सूर्यास्त होता है । इसी प्रकार भारत आदि वर्षो में दिनार्ध, उदय, अर्ध-रात्रिकाल एवं अस्तकाल करते हुए सूर्य परिभ्रमण करते हैं ॥ ७०—७१ ॥

विशेष——लङ्का, रोमकपत्तन, सिद्धपुर और यमकोटि नगर एक दूसरे से ९०-९० अंश पर स्थित हैं । अतः जहाँ सूर्योदय होगा उससे आगे ९० अंश पर मध्यरात्रि तथा उससे ९०° आगे सूर्यास्त तथा उससे ९०° पर मध्याह्न काल होगा। सूर्य भ्रमण से इसी प्रकार सभी नगरों में सूर्योदयादि काल होते रहते हैं ।

ध्रुव-नक्षत्रचक्रयोरन्तरम्

ध्रुवोन्नतिर्भचक्रस्य नतिर्मेरुं प्रयास्यतः ।
निरक्षाभिमुखं यातुर्विपरीते नतोन्नते ॥ ७२ ॥

ननु ग्रहाणां गतिसद्भावात् प्रतिदेशं याम्योत्तरयोर्ग्रहगमनं प्रतिक्षणं च विलक्षणं भासतां परन्तु नक्षत्राणां गत्यभावात् प्रतिक्षणं भ्रमेणैकत्रावस्थाना-भावेऽपि प्रतिदेश-मेकरूपावस्थानं कुतो न । एवं ध्रुवयोः परिभ्रमस्याप्यभावात् सदा सर्वत्रैकरूपावस्थान दर्शनापत्तिश्चेत्यत आह । मेरुं मेरोरुत्तराग्रं दक्षिणाग्रं वा तदभिमुखं प्रयास्यतो गच्छतः पुरुषस्य ध्रुवोन्नतिः क्रमेणोत्तर दक्षिणयोर्ध्रुवयोरौच्च्यं भवति। भचक्रस्य नक्षत्राधिष्ठित-गोलमध्यभागवृत्तस्य नतिः क्रमेण दक्षिणोत्तरयोर्नतत्वं भवति । निरक्षदेशाभिमुखं गच्छतः पुरुषस्य नतोन्नते पूर्वोक्ते व्यस्ते भवतः । उत्तरभागस्थपुरुषस्य निरक्षाभिमुखं गच्छतः पूर्वोक्तस्थानापेक्षयोत्तरध्रुवस्य नतत्वं पूर्वस्थानापेक्षया भचक्रस्योन्नतत्वम्। एवं दक्षिणभागस्थपुरुषस्य निरक्षाभिमुखं गच्छतः पूर्वस्थानापेक्षया दक्षिणध्रुवस्य नतत्वं भचक्रस्योन्नतत्वमिति ॥ ७२ ॥

ध्रुवाभिमुख गमन करने से क्रमशः ध्रुव की क्षितिज से उन्नति बढ़ती जाती है तथा नक्षत्र चक्र खमध्य से नीचे की ओर क्रमशः जाता है । अर्थात् नक्षत्र चक्र नत हो जाता है । इसी प्रकार निरक्ष देश (विषुवतीय) प्रदेशों की ओर बढ़ने से क्रमशः नक्षत्र चक्र की उन्नति बढ़ती जाती है तथा ध्रुव तारा की उन्नति घटती जाती है । अर्थात् नतांश बढ़ता जाता है ।। ७२ ।।

विशेष—पूर्व श्लोक में प्रतिपादित किया जा चुका है कि ध्रुव स्थान से ९०° अंश पर नाडी वृत्त है अतः ध्रुव प्रदेश में स्थित होने पर ध्रुव तारा खमध्य में तथा नक्षत्र चक्र क्षितिज पर होगा । अर्थात् ध्रुव तारा का उन्नतांश ध्रुव प्रदेश में ९०° तथा नक्षत्रचक्र का उन्नतांश ० होता है । जैसे जैसे हम निरक्ष (विषुवतीय) प्रदेशों की ओर बढ़ेगें ध्रुव तारा नीचे की ओर (क्षितिजाभिमुख) झुकता जायेगा तथा नक्षत्र चक्र ऊपर की ओर (खमध्याभिमुख) उठता जायेगा, विषुवतीय प्रदेशों में स्थित होने पर नक्षत्र चक्र खमध्य में और ध्रुव तारा क्षितिज पर दिखाई पड़ेगा । ऐसी स्थिति में ध्रुव का उन्नतांश = ० तथा नक्षत्र चक्र का उन्नतांश ९०° होता है।

भचक्रभ्रमणम्

भचक्रं ध्रुवयोर्बद्धमाक्षिप्तं प्रवहानिलैः ।
पर्येत्यजस्रं तन्नद्धा ग्रहकक्षा यथाक्रमम् ।। ७३ ।।

अथ कुत एवमित्यतः ।

कथं पर्य्येति भगणः सग्रहोऽयं किमाश्रयः ।

इति प्रश्नस्योत्तरं भचक्रभ्रमण वस्तुस्थितिमाह । भचक्रं नक्षत्राधिष्ठितमूर्त्त-गोलरूपं ध्रुवयोर्दक्षिणोत्तरस्थिरतारयोर्बद्धं ब्रह्मणा निबद्धं नियतवायुगतिना गोला-कारेण प्रतिबद्धं प्रवहानिलैः प्रवहवाय्वंशैः स्वस्वस्थानस्थैराक्षिप्तं स्वस्वस्थानाभिघातं प्राप्तं सदजस्रं निरन्तरं पर्य्येति । पश्चिमाभिमुखं भ्रमतीत्यर्थः । ननु नक्षत्रचक्रं वायुना भ्रमति ग्रहास्त्वधोऽधःस्थाः सम्बन्धा भावात् कथं भ्रमतीत्यत आह । तन्नद्धा इति । ग्रहाणां शन्यादीनां कक्षा मार्गा वाय्वंशरूपा भचक्रान्तर्गताकाशस्था यथाक्रममधोऽध-स्तन्नद्धा महाप्रवहवायुगोलस्थापितभचक्रे वायुसूत्रेण निबद्धा अतो भचक्रेण सह भ्रमन्ति । तत्रस्था ग्रहा अपि भ्रमन्तीति किं चित्रम् । तथाच प्रवहवायुगोलमध्यस्थ विषुवद्वृत्तपूर्वा परनिरक्षदेशे ध्रुवयोः क्षितिजस्थत्वाद् भचक्रस्य मस्तकोपरि भ्रमणाच्च मेर्वग्राभिमुखं प्रयातुर्ध्रुव उच्चो भवति । तत आसन्नत्वाद्भचक्रं नतं भवति । ततो दूरत्वादिति सर्वं युक्तम् ।। ७३ ।।

नक्षत्र चक्र ध्रुवों से आबद्ध होकर प्रवह वायु के वेग से प्रेरित होकर निरन्तर भ्रमण करता रहता है तथा नक्षत्र चक्र से आबद्ध ग्रह कक्षायें भी क्रमानुसार भ्रमण करती हैं ।। ७३ ।।

विशेष—पुराणों में भगवान् व्यास ने उक्त विषय का प्रतिपादन करते हुये लिखा है—

उत्तानपादपुत्रोऽसौ मेढीभूतो ध्रुवो दिवि ।
स हि भ्रमन् भ्रामयते नित्यं चन्द्रादित्यौ ग्रहैः सह ।।

अर्थात् उत्तानपाद का पुत्र ''ध्रुव'' स्वयं घूमता हुआ नक्षत्र चक्र एवं सूर्य चन्द्रमा के साथ समस्त ग्रहमण्डल को भी घुमाता है । यहाँ यह भी सिद्ध होता है कि पृथ्वी भी अपनी कक्षा में अन्य ग्रहों की भाँति भ्रमण करती है । यहाँ कुछ भी स्थिर नहीं है सभी भ्रमण कर रहे हैं ।

देवासुरपितृणां सूर्य दर्शनकालः

सकृदुद्गतमब्दार्धं पश्यन्त्यर्कं सुरासुराः ।
पितरः शशिगाः पक्षं स्वदिनं च नरा भुवि ।। ७४ ।।

अथ पित्र्यं मासेन भवतीति प्रश्नयोरुत्तरमाह । यथा देवदैत्या एकवारमुदितं सूर्य्यं सौरवर्षार्द्धपर्य्यन्तं पश्यन्ति । तथा पितरश्चन्द्रविम्बगोलोर्ध्वस्थिताः पक्षं पञ्चदशतिथिपर्य्यन्तं पश्यन्ति । तथा पितरश्चन्द्रगोलोर्ध्वस्थिताः पक्षं पञ्चदशतिथिपर्य्यन्तं पश्यन्ति । नरा भूमौ स्वदिनपर्य्यन्तमर्कं पश्यन्त्यतः ।

पित्र्यं मासेन भवति नाडीषष्ट्या तु मानुषम् ।

इति सर्वं युक्तमतएव ।

विधूर्ध्वभागे पितरो वसन्तः
स्वाधः सुधादीधितिमामनन्ति ।
पश्यन्ति तेऽर्कं निजमस्तकोर्ध्वे
दर्शे यतोऽस्माद्द्युदलं तदैषाम् ।।
भार्द्धान्तरत्वान्न विधोरधःस्थं
तस्मान्निशीथः खलु पौर्णमास्याम् ।
कृष्णे रविः पक्षदलेऽभ्युदेति
शुक्लेऽस्तमेत्यर्थत एव सिद्धम् ।।

इति भास्कराचार्य्येण विस्तीर्य्योक्तं सङ्गच्छते ।। ७४ ।।

देवता और असुर दोनों ही एक बार सूर्योदय होने पर उसे आधे वर्ष अर्थात् ६ मास तक देखते रहते हैं (देव और असुरों के भाग में ६ मास का दिन और ६ मास की रात्रि होती है) । चन्द्रमा के पृष्ठ भाग में रहने वाले पितृगण १५ दिन (१ पक्ष) तक सूर्य का दर्शन करते हैं अर्थात् चन्द्र के पृष्ठ में १५ दिनों का दिन तथा १५ दिनों की रात्रि होती है । जबकि भूपृष्ठ वाले मनुष्य गण अपने अपने स्थानीय दिनमान के अनुसार सूर्य (दिन) का अवलोकन करते हैं ।। ७४ ।।

ग्रहगतौ न्यूनाधिकत्वे कारणम्

उपरिष्ठस्य महती कक्षाऽल्पाऽधः स्थितस्य च ।
महत्या कक्षया भागा महान्तोऽल्पास्तथाऽल्पया ।। ७५ ।।
कालेनाल्पेन भगणं भुङ्क्तेऽल्पभ्रमणाश्रितः।
ग्रहः कालेन महता मण्डले महति भ्रमन् ।। ७६ ।।
स्वल्पयाऽतो बहून् भुङ्क्ते भगणान् शीतदीधितिः।
महत्या कक्षया गच्छन् ततः स्वल्पं शनैश्चरः ।। ७७ ।।

अथ प्रसङ्गादूर्ध्वस्थस्याल्पभगणानामधः स्थस्याधिकभगणानां युक्त्या प्रतिपादनार्थं प्रथमं कक्षाया ऊर्ध्वाधः क्रमेण महदल्पत्वं तत्रस्थभागानां महदल्प प्रदेशत्वं च आह । ऊर्ध्वस्थस्य ग्रहस्य कक्षा वायुवृत्तमार्गरूपा महती महापरिधि प्रमाणा । अधःस्थस्य ग्रहस्य कक्षाल्पाल्पपरिधि प्रमाणा । चो निश्चयार्थे । लघुकक्षाणां महाकक्षान्तर्गतत्वेन महाकक्षाणां चान्तर्गतलघुकक्षात्वेन उर्ध्वाधःस्थयोः महदल्पपरिधिके कक्षे ।

अन्यथोक्त स्वरूपानुपपत्तेः । एवं महति वृत्तपरिधौ द्वादशराशि भागानां समत्वेनाङ्कने भागा एकैकभागप्रदेशा महत्या कक्षया कृत्वा महान्तो बहुस्थलात्मका लघुनि वृत्ते तदङ्कने तथा भागा अल्पया कक्षया कृत्वाल्पा अल्पस्थलात्मकाः क्रमेण एकैकभाग प्रमाणमधिकाल्पं न समं चक्रांश पूर्त्यनुपपत्तेरिति तात्पर्य्यम् ।। ७५ ।।

अथ ऊर्ध्वाधः क्रमेण ग्रहभगण भोगकालयोः महदल्पत्वमाह । अल्पभ्रमणाश्रितः ।अल्पभ्रमणं परिधिमानं यस्याः साल्पभ्रमणाधः स्थकक्षा ।तत्स्थो ग्रहोऽल्पेन समयेन भगणं द्वादशराश्यात्मकं भुङ्क्तेऽतिक्रमते । महति मण्डले । ऊर्ध्वस्थ कक्षयामित्यर्थः ।भ्रमन् गच्छन् महता बहुना समयेन द्वादशराशीन् भुङ्क्ते ।वक्ष्यमाण योजनगतेरभिन्नत्वात् ।। ७६ ।।

अथ अतएवोर्ध्वाधः क्रमेण ग्रहयोः भगणास्तुल्यकालेऽल्पा बहवो भवन्तीति सोदाहरणमाह ।स्वल्पप्रमाणया कक्षया ।तुकारादतिक्रामंश्चन्द्रो बहुप्रमाणान् भगणान् बहुबारं द्वादश राशीनित्यर्थः । भुङ्क्ते । महाप्रमाणया कक्षया गच्छन् शनिस्ततश्चन्द्रात् स्वल्पं भगणमल्पप्रमाणान् भगणान् ।जात्यभिप्रायेण एकवचनम् ।अल्पवारं द्वादशराशीन् भुङ्क्ते ।अतएव शनैश्चर इति ।। ७७ ।।

जिन ग्रहों की कक्षा ऊपर (पृथ्वी से दूर) है उनका परिमाण बृहत् है तथा जो ग्रहकक्षा नीचे (पृथ्वी के सन्निकट) है उनका परिमाण अल्प है । बृहत् कक्षाओं के अंश प्रमाण बड़े तथा छोटी कक्षाओं के अंश प्रमाण छोटे होते है । अल्प कक्षाश्रित ग्रह अल्पकाल में भगण पूर्ति करते हैं । बृहत् कक्षाश्रित ग्रह अधिक काल में भगण पूर्ति करते हैं ।

अल्प कक्षाश्रित चन्द्रमा समान काल में अधिक भगण (३६० का चक्र) पूर्ण करता हैं जबकि बृहत् कक्षाश्रित होने से शनि स्वल्प भगण ही पूर्ण कर पाता है ।। ७५—७७ ।।

विशेष—अपनी अपनी कक्षा में सभी ग्रह समान योजन गति से चलते हैं । जिन ग्रहों की कक्षा परिधि स्वल्प होती है उनकी परिक्रमा योजनमान अल्प होने से अल्प काल में ही पूर्ण हो जाती है। किन्तु जिन ग्रहों की कक्षा परिधि जितनी अधिक होती है योजनमान भी उतना ही अधिक होने से समान गति होते हुये भी ३६०° का चक्र भ्रमण करने में अधिक समय लगता है परिणामत: दूरस्थ ग्रह अपेक्षाकृत अंशात्मक मान में मन्दगति वाले प्रतीत होते हैं । यथा चित्र से स्पष्ट है—

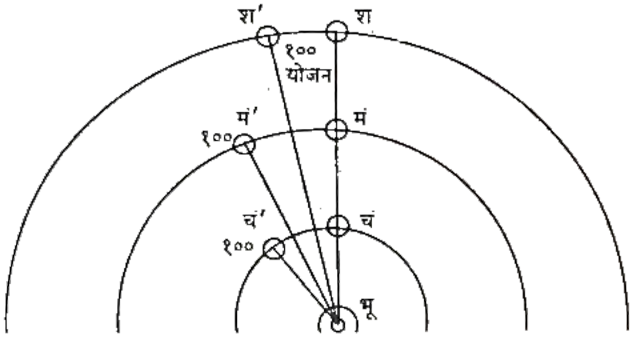

योजनात्मक मान तुल्य हैं किन्तु कोणीयमान न्यूनाधिक है—

∠ च' भू च > ∠ म' भू म > ∠ श' भू श

दिवसाब्दादीनां पतय:

मन्दादध: क्रमेण स्युश्चतुर्था दिवसाधिपा: ।
वर्षाधिपतयस्तद्वत् तृतीया: परिकीर्तिता: ।। ७८ ।।
ऊर्ध्वक्रमेण शशिनो मासानामधिपा: स्मृता: ।
होरेशा: सूर्यतनयादधोऽध: क्रमशस्तथा ।। ७९ ।।

अथ । दिनाब्दमासहोराणामधिपा न समा: कुत: ।

इति प्रश्नस्योत्तरं श्लोकाभ्यामाह । शने: सकाशादध: कक्षाक्रमेण चतुर्थ संख्याका ग्रहा दिनाधिपतयो वारेश्वरा भवन्ति । यथा शनिरविचन्द्रभौमबुधगुरुशुक्रा इति तत् क्रम: । वर्षस्य षष्ट्यधिकशतत्रयदिनात्मकस्य स्वामिनस्तद्वन्मन्दादध: क्रमेण तृतीयसंख्याका ग्रहा उक्ता: । च: समुच्चयार्थे । तत् क्रमश्च यथा शनिभौमशुक्र-चन्द्रगुरुसूर्यबुधा इति । चन्द्रात् सकाशादूर्ध्वकक्षाक्रमेण ग्रहा मासानां त्रिंशद्दि-

नात्मकानां स्वामिनः कथिताः । तत्क्रमश्च चन्द्रबुध शुक्ररविभौमगुरुशनय इति । शनेः सकाशादधः क्रमशः । अधः क्रमेण होरेशाः ।

होरेति लग्नं भगणस्य चार्द्धम् ।

इति पञ्चदशभागात्मक होराणां दिने द्वादश रात्रौ द्वादशेत्यहोरात्रे चतुर्विंशति-होराणामित्यर्थः । होरा सार्द्धद्विनाडिका ।

इति षष्टिघटिकात्मकेऽहोरात्रे । चतुर्विंशति होराणामित्यन्ये स्वामिनस्तथा मासे-श्वरवदव्यवहिताः कथिता यथा तत्क्रमः शनिगुरुभौमरविशुक्रबुधचन्द्रा इति । अत्र शनेः सर्वोर्द्धस्थत्वाच्चन्द्रस्य सर्वाधः स्थत्वात् ताभ्यामध ऊर्ध्वक्रमः क्रमेणोक्तः । अन्य ग्रहस्यावधित्वाभ्युपगमे विनिगमनाविरहापत्तेः । न तु शनेराद्यावधित्वेन सृष्ट्यादौ दिन-वर्षहोराणां स्वामित्वं न वा चन्द्रस्याद्यावधित्वेन सृष्ट्यादौ दिनवर्षहोराणां स्वामित्वं नवा चन्द्रस्याद्यावधित्वेन सृष्ट्यादौ मासेशत्वं पूर्वखण्डकोक्तानीततदीशैर्विरोधापत्तेः ।

अत्रोपपत्तिः । होरारूपलग्नानां क्रान्तिवृत्तेऽधः क्रमेण मेषादीनां सम्भवादूर्ध्व कक्षातोऽधः क्रमेण होरेशत्वं युक्तम् । एवमहोरात्रे चतुर्विंशतिहोराः सप्ततष्टास्त्रयो होरेशा गताः । चतुर्थो होरेशो द्वितीयदिनप्रारम्भे स एव प्रथमहोरेशत्वाद् द्वितीय-दिनेशः । एवमुत्तरत्रापि एवमेतद्वारक्रमेण सावनवर्षे त्रयो वारा इति पूर्ववर्षेशादग्रिम-वर्षेशोऽधः कक्षाक्रमेण तृतीय उत्तरोत्तरम् । एवं सावनमासे द्वौ वारौ वारक्रमेण मासेश्वरस्याधिकाविति कक्षोर्ध्वक्रमे वारक्रमेण एकान्तरितत्वात् कक्षोर्ध्वक्रमेण मासेश्वर उत्तरोत्तरमित्युपपन्नं मन्दादित्यादि श्लोकद्वयम् ॥ ७९ ॥

शनि से नीचे के (कक्षा क्रम से) चौथे-चौथे ग्रह क्रमशः वासरों के अधिपति तथा क्रमशः तीसरे तीसरे ग्रह वर्षाधिपति कहे गये हैं ।

चन्द्रमा के ऊर्ध्वक्रम में क्रमशः मासों के स्वामी तथा शनि से अधोधः (नीचे-नीचे) क्रम से होरेश ग्रह कहे गये हैं ॥ ७८—७९ ॥

विशेष:—पूर्वोक्त कक्षा क्रमानुसार दिवसादि के स्वामियों का ज्ञान किया जाता है । यथा—

(१)—शनि से नीचे के क्रम से चौथा वासराधिपति होता है—

शनि	से	चौथा	सूर्य	१
सूर्य	से	चौथा	चन्द्र	२
चन्द्र	से	चौथा	भौम	३
भौम	से	चौथा	बुध	४
बुध	से	चौथा	गुरु	५
गुरु	से	चौथा	शुक्र	६
शुक्र	से	चौथा	शनि	७

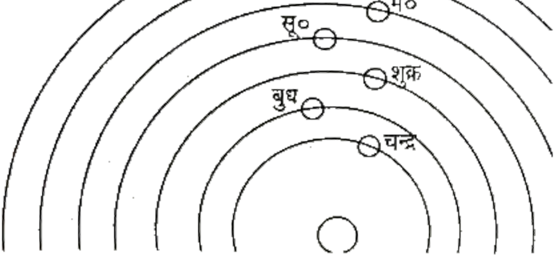

(२) शनि से तीसरा ग्रह वर्षेश होता है—

शनि		प्रथम वर्षेश
शनि से तीसरा	मङ्गल	द्वितीय वर्षेश
मङ्गल से तीसरा	शुक्र	तृतीय वर्षेश

(३) चन्द्रमा से ऊर्ध्व क्रम से मासेश	(४) शनि के नीचे की ओर क्रमशः होरेश
प्रथम मास का स्वामी चन्द्रमा	प्रथम होरा का स्वामी शनि
द्वितीय मास का स्वामी बुध,	द्वितीय होरा का स्वामी बृहस्पति
तृतीय मास का स्वामी शुक्र,	तृतीय होरा का स्वामी मङ्गल,
चतुर्थ मास का स्वामी सूर्य आदि,	चतुर्थ होरा का स्वामी सूर्य आदि

भकक्षामानम्

भवेद् भकक्षा तीक्ष्णांशोर्भ्रमणं षष्टिताडितम् ।
सर्वोपरिष्टाद् भ्रमति योजनैस्तैर्भमण्डलम् ॥ ८० ॥

अथ । ग्रहर्क्षकक्षाः किं मात्राः ।

इति प्रश्नस्योत्तरं विवक्षुः प्रथमं नक्षत्राणां कक्षामानमाह । सूर्यस्य भ्रमणं कक्षापरिधिमानं योजनात्मकम् ।

खखार्थैकसुरार्षवाः ।

इति वक्ष्यमाणं षष्ट्या गुणितं सन्नक्षत्राणां कक्षा नक्षत्राधिष्ठितगोलस्य मध्यवृत्तं स्यात् । तैर्नक्षत्र कक्षामितैर्योजनैर्भमण्डलं नक्षत्राधिष्ठितगोलमध्यवृत्तं सर्वोपरिष्टाच्चन्द्रादि सप्तग्रहेभ्य उपरि दूरं भ्रमति भूगोलादभितः परिभ्रमति । अत्रोपपत्तिः । नक्षत्राणां गत्यभावाच्छनेरप्यत्यूर्ध्वं नक्षत्रमण्डलं तत्र सूर्यगत्या सूर्यकक्षा तदा नक्षत्रगत्यभावेऽपि एककला गतिकल्पनयानुपातान्यथानुपपत्तितया ।

कल्प्योहरो रूपमहारराशेः ।

इतीच्छाह्रासे फलवृद्ध्यपेक्षितत्वाद्व्यस्तानुपातो लाघवात् सूर्यगतिः षष्टिकलामिता च भगवता कृता । नक्षत्रगतेरभावाच्च इति षष्टिताडितमित्युपपन्नम् ॥ ८० ॥

सूर्य के भ्रमण मार्ग अर्थात् कक्षा योजन को ६० से गुणा करने पर नक्षत्र कक्षा का मान होता है । उन्हीं योजन प्रमाणों से सभी ग्रहों के ऊपर भमण्डल (नक्षत्र मण्डल) भ्रमण करता है ॥ ८० ॥

विशेष—रवि कक्षा योजन = ४३३१५०० वर्ष
नक्षत्र कक्षायोजन = ६० × ४३३१५००
= २५९८९००००

खकक्षामानम्

कल्पोक्तचन्द्रभगणाः गुणिताः शशिकक्षया ।
आकाशकक्षा सा ज्ञेया करव्याप्तिस्तथा रवेः ॥ ८१ ॥

अथ ग्रहकक्षाणां मानज्ञानार्थ माकाशकक्षामानम् । कियती तत्कारप्राप्तिः । इति प्रश्नस्योत्तरमाह । कल्पोक्तचन्द्रभगणाः ।

एते सहस्रगुणिताः कल्पे स्युर्भगणादयः ।

इत्युक्त्वा युगचन्द्रभगणाः सहस्रगुणिताः कल्पचन्द्रभगणा इत्यर्थः । चन्द्रकक्षया खत्रयाब्धिद्विदहना इति वक्ष्यमाणया गुणिता सा तन्मिताकाशकक्षापरिधिरूपा ज्ञेया । धीमतेति शेषः । ननु अनन्ताकाशस्य कथं परिधिरित्यत आह । करव्याप्तिरिति । सूर्यस्य किरणप्रचारस्तथाकाशकक्षापरिमित इत्यर्थः । तथा च यद्देशावच्छेदेन सूर्य-किरण प्रचारस्तद्देशाच्छिन्नाकाश गोलस्य ब्रह्माण्डकटाहान्तर्गतस्य परिधिमानं सम्भवत्येवेति भावः । अत्रोपपत्तिः । समनन्तरमेव यद्भगणभक्ता खकक्षा तस्य कक्षा स्यात् इत्युक्तेर्भगणकक्षाघातः खकक्षा सिद्धा । अतश्चन्द्रभगण कक्षयोर्घातः खकक्षातुल्य एवेति दिक् ॥ ८१ ॥

कल्पचन्द्र भगण (एक कल्प में होने वाले चन्द्र भगण) की संख्या को चन्द्र की कक्षा (कक्षायोजन) से गुणा करने पर जो गुणनफल होता है उसे ख कक्षा जानना चाहिये तथा उसी सीमा तक सूर्य की किरणें व्याप्त रहती हैं ॥ ८१ ॥

ग्रहाणां दिनगति योजनानि

सैव यत्कल्पभगणैर्भक्ता तद्भ्रमणं भवेत् ।
कुवासरैर्विभज्याह्नः सर्वेषां प्राग्गतिः स्मृता ॥ ८२ ॥

अथ ग्रहाणां कक्षानयनं योजनगत्यानयनं च आह । सार्ककरव्याप्ति रूपाकाश-कक्षा यत्कल्पभगणैर्यस्य कल्पभगणैर्भक्ता फलं तस्य कक्षा भवेत् । एवकारो निश्चयार्थे । खकक्षा कल्परविसावनैर्भक्ता प्राप्तं फलं सर्वेषामुक्तभगणसम्बन्धिनां ग्रहादीनामह्नो दिवसस्य दिनसम्बन्धिनीत्यर्थः । प्रागगतिर्योजनात्मिका कथिता ।

अत्रोपपत्तिः । कल्पभगणकक्षा घातरूपाकाशकक्षा कल्पभगणभक्ता कक्षा स्यादेव । कल्पे खकक्षामित योजनानि ग्रहः क्रामतीति कल्परविसावनदिनैः आकाश-कक्षामितयोजनानि तदैकरविसावनदिनेन कानीत्यनुपातेन पूर्वगतिर्योजनात्मिका प्रत्यहं तुल्येत्युपपन्नम् ॥ ८२ ॥

उक्त खकक्षा मान को जिस ग्रह की कल्प भगण संख्या से भाग दिया जायेगा भागफल उस ग्रह की कक्षा का योजनात्मक मान होगा । कल्प सावन दिवसों से आकाश कक्षा में भाग देने पर सभी ग्रहों की पूर्वाभिमुखी योजनात्मक गति ज्ञात होती है ॥ ८२ ॥

योजनातमक गतेः कलाकरणम्

भुक्तियोजनजा सङ्ख्या सेन्दोर्भ्रमणसङ्गुणा ।
स्वकक्षाप्ता तु सा तस्य तिथ्याप्ता गतिलिप्तिका: ॥ ८३ ॥

अथ योजनात्मकगतेः कलात्मकगतिं स्वीयामाह । गतियोजनोत्पन्ना या संख्या सा संख्या चन्द्रस्य भ्रमणसगुंणा कक्षया गुणिता स्वकक्षयाप्ताभिमत ग्रहस्य कक्षया भक्ता सा फलरूपा तिथ्याप्ता पञ्चदशभक्ता । तुकारात् फलं तस्याभिमतग्रहस्य गतिकला भवन्ति । अत्रोपपत्तिः । कक्षायोजनैश्चक्रकलास्तदा गतियोजनैः का इत्यनुपातेन गतिकलाः । तत्रापि चन्द्रकक्षा पञ्चदशभक्ताश्चक्रकला इति चक्रकला-स्वरूपं धृतमित्युपपन्नम् ।। ८३ ।।

ग्रहों की योजनात्मिका गति को चन्द्र कक्षा योजन से गुणाकर स्व स्व कक्षा योजनों से भाग देकर लब्धि को पुनः १५ से भाग देने पर तत्तद् ग्रहों की गति का कलात्मक मान होता है ।। ८३ ।।

सारांश सूत्र रूप में—

१. रवि कक्षा × ६० = नक्षत्र कक्षा । (श्लो. ८०)

२. कल्पचन्द्रभगण × चन्द्रकक्षा = आकाश (ख) कक्षा (श्लो. ८१)

३. $\frac{\text{ख कक्षा}}{\text{कल्पग्रह भगण}}$ = ग्रह कक्षा (श्लो. ८२)

(जिस ग्रह की कक्षा अभीष्ट हो उस ग्रह के कल्पभगण से खकक्षा को विभक्त करने पर उस ग्रह की योजनात्मक कक्षा होती है ।)

४. $\frac{\text{ख कक्षा}}{\text{कल्प सावन दिन}}$ = प्रत्येक ग्रह की योजनात्मक गति । (श्लो. ८२)

५. $\frac{\text{योजनात्मक गति} \times \text{चन्द्रकक्षा}}{\text{ग्रहकक्षा} \times १५}$ = ग्रहगतिकला

अत्रोपपत्तिः—एकस्मिन् चक्रे अंशा = ३६०°

अतश्चक्रकला = ३६० × ६० = २१६००

अतोऽनुपातः—ग्रहकक्षा योजनैश्चक्रकलाः लभ्यन्ते तदा ग्रहगति योजनैः का?

$$\frac{२१६०० \times \text{ग्रहगतियोजनानि}}{\text{ग्रहकक्षायोजनानि}} = \text{स्वकक्षाश्रितग्रहगतिकला}$$

उभयत्र चन्द्रकक्षाप्रमाणेन गुणितेजात—

$$\frac{२१६०० \times \text{ग्रहगतियो०} \times \text{चन्द्रकक्षायोजनानि}}{\text{ग्रहकक्षायो०} \times \text{चन्द्रकक्षायोजनानि}}$$

अत्र पाठपठिता चन्द्रकक्षा = ३२४००० योजनानि

अत उत्थापनेन हरस्थाने—

$$\frac{२१६०० \times \text{ग्रहगतियो०} \times \text{चन्द्र कक्षायो०}}{\text{ग्रहकक्षायो०} \times ३२४०००}$$

$$\frac{२१६०० \times \text{ग्रहगतियो०} \times \text{चन्द्र कक्षायो०}}{\text{ग्रहकक्षायो०} \times १५}$$

= ग्रहगतिकला । उपपन्नम् ।

ग्रहकक्षाव्यासार्धानयनम्

कक्षा भूकर्णगुणिता महीमण्डलभाजिता ।
तत्कर्णो भूमिकर्णोना ग्रहौच्च्यं स्वं दलीकृतः ।। ८४ ।।

अथ किमुत्सेधा इति प्रश्नस्योत्तरमाह । ग्रहाणां योजनात्मिका कक्षा भूकर्णेन योजनानि शतान्यष्टौ भूकर्णो द्विगुणानीत्युक्तभूव्यासेन षोडशशतेन गुणिता भूपरिधिना तदवगतेन भक्ता फलं तस्याः कक्षायाः कर्णा व्यासा भवन्ति । एते भूव्यासेन हीना अर्द्धिताः सन्तः स्वगृहीतव्याससम्बन्धिग्रहौच्च्यं ग्रहस्योच्चता भूमेः सकाशाद्भवति ।

अत्रोपपत्तिः । भूपरिधिना भूव्यासस्तदा कक्षायोजनैः क इत्यनुपातेन कक्षा-व्यासास्तेऽर्द्धिताः कक्षाव्यासार्द्धं भूगर्भकक्षा परिधिप्रदेशान्तरालरूपं भूपृष्ठात् तदन्तरज्ञानार्थं भूव्यासार्द्धेन हीनं भूपृष्ठात् कक्षौच्च्यं तत्र कक्षाव्यासा भूव्यासोना अर्द्धिताः कृताः। उभयथा समत्वात् । कक्षौच्च्यमेव ग्रहौच्च्यं ग्रहस्य तत्राधिष्ठानादिति। एतेन सिद्धग्रहौच्च्येभ्यः परस्परान्तरज्ञानं सुगममिति । किमन्तरा इति प्रश्नस्योत्तरं स्वतः सिद्धमेवेति दिक् ।। ८४ ।।

ग्रह कक्षा को भू-व्यास से गुणाकर भू-परिधि से भाग देने पर लब्धि ग्रह कक्षा का व्यास होता है । कक्षा-व्यास में भू-व्यास को घटाकर आधा करने से भू-पृष्ठ से ग्रह की उँचाई होती है । (भूपृष्ठ से ग्रह की योजनात्मक दूरी होती है) ।। ८४ ।।

अर्थात् $$\frac{\text{ग्रह कक्षा} \times \text{भू व्यास}}{\text{भू परिधि}} = \text{ग्रह कक्षा व्यास}$$

$$\frac{\text{ग्रह कक्षा व्यास} - \text{भू व्यास}}{२} = \text{भू पृष्ठ से ग्रह या ग्रहकक्षा की ऊँचाई}$$

ग्रहकक्षायोजनानि

खत्रयाब्धिद्विदहनाः कक्षा तु हिमदीधितेः ।
ज्ञशीघ्रस्याङ्कखद्वित्रिकृतशून्येन्दवस्तथा ।। ८५ ।।

शुक्रशीघ्रस्य सप्ताग्निरसाब्धिरसषड्यमाः ।
ततोऽर्कबुधशुक्राणां खखार्थैकसुरार्णवाः ॥ ८६ ॥
कुजस्याप्यङ्कशून्याङ्कषड्वेदैकभुजङ्गमाः ।
चन्द्रोच्चस्य कृताष्टाब्धिवसुद्वित्र्यष्टवह्नयः॥ ८७ ॥
कृतर्तुमुनिपञ्चाद्रिगुणेन्दुविषया गुरोः ।
स्वर्भानोर्वेदतर्काष्टद्विशैलार्थखकुञ्जराः ॥ ८८ ॥
पञ्चबाणाक्षिनागर्तुरसाद्र्यर्काः शनेस्ततः ।
भानां खखखशून्याङ्कवसुरन्ध्रशराश्विनः॥ ८९ ॥

अथोर्ध्वक्रमेण सिद्धाः कक्षा विवक्षुः प्रथमं चन्द्रस्य कक्षां बुधशीघ्रोच्चकक्षां च आह । चन्द्रस्य कक्षा सहस्त्रगुणितसिद्धरामाः । तुकारादागमप्रमाण्येनाङ्गीकार्य्या । अन्यथान्योन्याश्रयापत्तेस्ततश्चन्द्रादूर्ध्वं बुधशीघ्रोच्चस्य कक्षा नवखदन्त वेददिशः । यद्यपि बुधशीघ्रोच्चमाकाशे प्रत्यक्षं नेति तत्कक्षोक्तिरयुक्ता तथापि बुधशीघ्रोच्च भगणानीतकक्षायां गत्यनुरोधेन चन्द्रोर्ध्वगायां बुधो भ्रमति । पूर्वम् ।

सूर्यशुक्रेन्दुजेन्दवः

इति क्रमोक्तेः । अन्यथा भगणैक्यादेककक्षायां रविबुधशुक्राणामवस्थितौ मण्डलभङ्गपत्तेरिति सूचनार्थमुक्ता ॥ ८५ ॥

अथ शुक्रशीघ्रोच्चस्य कक्षां सूर्यबुधशुक्राणामभिन्नां कक्षां च आह । तदूर्ध्वं शुक्रशीघ्रोच्चस्य कक्षाद्रित्र्यङ्गवेदषट्रसपक्षाः शुक्रावस्थानसूचनार्थमुक्ता । ततस्तदूर्ध्वं सूर्यबुधशुक्राणां भगणैक्यादभिन्ना कक्षा खखपञ्चभूदेवाब्धयः । यद्यपि बुधशुक्रयोः सूर्य्याधःस्थत्वात् केवलं सूर्यकक्षैव वक्तुमुचिता तथापि कक्षयैको भगणस्तदा कल्परविसावनदिनैः खकक्षामितयोजनानि तदाहर्गणेन कानीत्यनुपातागतयोजनैः क इत्यनुपातेन सूर्यबुधशुक्राणामभिन्नत्वसिद्ध्यर्थं बुधशुक्रयोरप्युक्ता । अन्यथा समत्वानुपपत्तेरिति ॥ ८६ ॥

अथ भौमस्य कक्षां चन्द्रमन्दोच्चस्य कक्षां च आह । भौमस्य । अपिशब्दात् सूर्य्यादूर्ध्वकक्षा नवखनवषडिन्द्रसर्पाः।चन्द्रमन्दोच्चस्य कक्षा वेदाहिवेदसर्पपक्षरामनाग रामाः । इयमाप्याकाशे न दृश्या तथापि गतयोजनैश्चन्द्रोच्च ज्ञानायोक्ता ॥ ८७ ॥

अथ गुरुराह्वोः कक्षे आह । बृहस्पतेः भौमाच्चन्द्रोच्चाद्वोर्ध्वं कक्षा वेदाङ्गमुनि पञ्चस्वरराम चन्द्रशराः । राहोः कक्षा वेदाङ्गगजयमसप्तपञ्चाशीतयः । इयमदृश्यापि राहोर्गतियोजनैः ज्ञानार्थमुक्ता । अत्रापि पातस्य चक्रशुद्धत्वमवधेयम् ॥ ८८ ॥

अथ शनेः कक्षां नक्षत्राधिष्ठितमूर्त्तगोलमध्यकक्षां च आह । ततो बृहस्पते राहोर्वोर्ध्वं शनेः कक्षा पञ्चपञ्चद्व्यष्टषट्रससप्तार्काः । नक्षत्राणां गोलमध्ये कक्षा शनेरूर्ध्वं द्वादशनवशताष्टनवतितत्त्वानि यद्यपि ।

भवेद्भकक्षा तीक्ष्णांशोर्भ्रमणं षष्टिताडितम् ।

इत्यनेन भकक्षाया द्वादशान्तरिततत्वादयुक्तत्वं तथापि सैव यत्कल्पभगणै-रित्यनेन सूर्यकक्षाया उक्त्या द्वादशाधोऽवयवस्य निबन्धने त्यागेऽपि भकक्षार्थं भगवता गृहीतत्वाददोषः । एतेनाधोऽवयवस्यार्द्धन्यूनत्वेन त्यागोऽर्द्धाभ्यधिकत्वेनो-र्ध्वमेकाधिक ग्रहणं कक्षानिबन्धेन कृतमिति सूचितम् ॥ ८९ ॥

पूर्वोक्त रीति से साधित ग्रहों की कक्षाओं का पृथक् पृथक् योजनात्मक मान इस प्रकार है—

चन्द्रकक्षा योजन	=	३२४०००
बुध शीघ्रकेन्द्र कक्षा योजन	=	१०४३२०९
शुक्र शीघ्रकेन्द्र कक्षा योजन	=	२६६४६३७
सूर्य बुध शुक्र का कक्षा योजन	=	४३३१५००
भौम की कक्षा का योजन	=	८१४६९०९
चन्द्रोच्च का कक्षा योजन	=	३८३२८४८४
गुरु का कक्षा योजन	=	५१३७५७६४
राहु (सम्पात) कक्षा योजन	=	८०५७२८६४
शनि कक्षा योजन	=	१२७६६८२५५
नक्षत्रकक्षा योजन	=	२५९८९००००

विशेष:—सूर्य, बुध और शुक्र की कक्षायें पृथक् पृथक है किन्तु इनके भगण समान होने के कारण इनके कक्षायोजन तुल्य पठित हैं । तथा राहु (सम्पात) चन्द्रकक्षा में ही होता है फिर भी पृथक् साधन की दृष्टि में कक्षा का पृथक् पृथक् साधन किया गया है ॥ ८५—८९ ॥

खकक्षायोजनमानम्

खव्योमखत्रयखसागरषट्कनाग-
व्योमाष्टशून्य यमरूपनगाष्टचन्द्राः ।
ब्रह्माण्डसम्पुटपरिभ्रमणं समन्ता-
दभ्यन्तरे दिनकरस्य करप्रसारः ॥ ९० ॥

॥ सूर्यसिद्धान्ते भूगोलाध्यायः सम्पूर्णः ॥ १२ ॥

ननु चन्द्रकक्षाया आगमप्रामाण्येनाङ्गीकारे सर्वकक्षाणामागमप्रामाण्यापत्त्या ।

सैव यत्कल्पभगणैर्भक्ता तद्भ्रमणं भवेत् ।

इति कक्षानयनं व्यर्थम् । अन्यथाकाशकक्षाज्ञानासम्भवापत्तेरित्यत आकाश-

कक्षैवागमप्रमाण्येनाङ्गीकार्य्येति वसन्ततिलकयाह । वेदाङ्गाष्टाशीतिनखभूसप्तधृतयः प्रयुतगुणिता योजनानि पूर्वार्द्धोक्तानि । ब्रह्माण्डसम्पुटपरिभ्रमणं ब्रह्माण्डगोलस्य परिधिः । कल्पभगण कक्षाहतित्वेनाकाशकक्षायाः पूर्वं स्वरूपोक्तेरिति न पौनरुक्त्यम्। अभ्यन्तरे ब्रह्माण्डगोलान्तः सूर्यस्याभितः किरणानां प्रसारः सूर्यकिरणप्रचार देशस्य परिधिस्तत्तुल्यः । एतेन ब्रह्माण्डगोलान्तः परिधिर्न बाह्य इति सूचितम् ।। ९० ।।

अथ अग्रिमग्रन्थस्यासङ्गतित्वपरिहारार्थमध्यायसमाप्तिं फक्किकयाह । इति भिन्नच्चछन्दसा प्रारब्धप्रसङ्गः समाप्त इत्यर्थः । पूर्वखण्डे ग्रन्थैकदेशस्याधिकारसंज्ञा कृता । उत्तरखण्डे ग्रन्थैकदेशस्याध्यायसंज्ञा भिन्नप्रसङ्गवशात् कृतेति ध्येयम् ।

रङ्गनाथेन रचिते सूर्यसिद्धान्तटिप्पणे ।
उत्तरार्द्धे समाप्तोऽयं भूगोलाध्यायसंज्ञकः ।।

॥ इति श्रीसकलगणकसार्वभौमबल्लादैवज्ञात्मजरङ्गनाथगणकविरचिते
गूढार्थप्रकाशके भूगोलाध्यायः सम्पूर्णः ॥ १२ ॥

इस ब्रह्माण्ड (कटाह सम्पुट) की भीतरी परिधि के अन्दर चारों तरफ सूर्य की किरणों का विस्तार है । अर्थात् जहाँ तक सूर्य रश्मियाँ जाती हैं वहीं तक ख कक्षा है । ख कक्षा का मान १८७१२०८०८६४०००००० योजन है ।। ९० ।।

॥ पण्डितवर्य बलदेवदैवज्ञात्मज प्रो० रामचन्द्रपाण्डेय द्वारा विरचित सूर्यसिद्धान्त के भूगोलाध्याय का हिन्दीभाषानुवाद एवं संस्कृतोपपत्ति सम्पूर्ण ॥ १२ ॥

अथ ज्यौतिषोपनिषदध्यायः - १३

इस अध्याय का नाम ज्यौतिषोपनिषदध्याय रखने का हेतु यही है कि ज्यौतिषशास्त्र के आधारभूत सिद्धान्तों का विवेचन यहाँ किया गया है । गोल का परिचय तथा प्रमुख यन्त्रों का भी परिचय इस अध्याय में दिया गया है ।

गोलरचनाप्रकारः

अथ गुप्ते शुचौ देशे स्नातः शुचिरलङ्कृतः ।
सम्पूज्य भास्करं भक्त्या ग्रहान् भान्यथ गुह्यकान् ॥ १ ॥
पारम्पर्योपदेशेन यथा ज्ञानं गुरोर्मुखात् ।
आचार्यः शिष्यबोधार्थं सर्वं प्रत्यक्षदर्शिवान् ॥ २ ॥
भूभगोलस्य रचनां कुर्यादाश्चर्यकारिणीम् ।

अथ पुनर्मुनीन् श्रोतॄन् प्रति श्लोकाभ्यामाह । अथ शब्दो मङ्गलार्थः । द्वितीयोऽथशब्दः पूर्वोक्तानन्तर्य्यार्थकः गुप्ते रहसि शुचौ पवित्रे देशे स्थाने आचार्य्यः सूर्य्यांशपुरुषो मयासुराध्यापकः स्नातः कृतस्नानः शुचिः शुद्धमनाः । अलंकृतो हस्त कर्णकण्ठादिभूषणभूषितः । निश्चिन्तत्वद्योतकमिदं विशेषणम् । अन्यथा ग्रहादिव्यवहारादिव्याकुलतया मनस्थैर्यानुपपत्तेः । भास्करं श्री सूर्य्यं स्वोपजीव्यं भक्तयाराध्यत्त्वेन ज्ञानरूपया सम्पूज्य नमस्कारस्तुतिविषयं कृत्वा ग्रहान् चन्द्रादि ग्रहान् सूर्य्यस्य पृथगुद्देशः प्राधान्य ज्ञानार्थम् । भानि नक्षत्राणि राशींश्च गुह्यकान् यक्षादीन् क्षुद्रदेवताः सम्पूज्य । समुच्चयार्थकश्चोऽत्रानुसन्धेयः, गुरोः सूर्य्यस्य मुखाद्वदनारविन्दात् । पारम्पर्य्योपदेशेन सूर्य्येण मुनीन् प्रत्युक्तं मुनिभिः सूर्य्यांशपुरुषं प्रत्युक्तमिति परम्परया कथनेन । वस्तुतस्तु । शिष्यस्याग्रहोत्पादनार्थं ज्ञानेतिगोप्यत्वसूचनमेतदुक्त्या कृतम् । कथमन्यथा सूर्य्याज्ञिप्तांशपुरुषो मयासुरं प्रत्यवदत् दूरस्थमुनीन् प्रति कथन उद्यतोऽर्कः स्वांशपुरुषं प्रति कथनेऽनुद्यतः कुतः कारणाभावाच्च । तथा स्वशक्त्या यादृशं ज्ञानं पूर्वोक्तमवगतं शिष्यबोधार्थं मयासुरस्याभ्रमज्ञानोत्पादनार्थं सर्वं प्रागध्यायोक्तं प्रत्यक्षदर्शिवान् प्रत्यक्षं दर्शितवानित्यर्थः ॥ १—२ ॥

(अथ शब्द यहाँ मङ्गल वाची है । अनन्तर से यहाँ अभिप्राय नहीं हैं ।)

स्नानादि से पवित्र होकर अलङ्कार धारण कर (अर्थात् वस्त्रालङ्कार से युक्त होकर) एकान्त में भक्तिपूर्वक भगवान् भास्कर, ग्रहों, नक्षत्रों, तथा गुह्यकों (यक्षों)

की पूजा कर परम्परा से प्राप्त उपदेशों द्वारा तथा गुरु के मुखारविन्द से प्राप्त यथार्थ ज्ञान से शिष्यों को अवगत कराने हेतु, सब कुछ प्रत्यक्ष प्रदर्शित करने वाले तथा आश्चर्य उत्पन्न करने वाले पृथ्वी और खगोल (यन्त्र) की रचना आचार्य को करनी चाहिये ।। १, २ ।।

भूभगोलरचनाप्रकार:

अभीष्टं पृथिवीगोलं कारयित्वा तु दारवम् ।। ३ ।।
दण्डं तन्मध्यगं मेरोरुभयत्र विनिर्गतम् ।
आधारकक्षाद्वितयं कक्षा वैषुवती तथा ।। ४ ।।
भगणांशाङ्गुलै: कार्यादलितास्तिस्त्र एव ता:।

कथं दर्शितवानिति मयासुरं प्रत्युक्तसूर्य्यांशपुरुष वचनस्यानुवादे सूर्य्यांशपुरुषो मयासुरं प्रति गोलबन्धोद्देशं तदुपक्रमं च श्लोकाभ्यामाह । भगोलस्य भूगोलादभित: संस्थितस्य नक्षत्राधिष्ठितगोलस्य प्रागध्यायोक्तार्थस्य रचनां स्थितिज्ञानार्थं दृष्टान्तात्मकगोलस्य निर्मितं सुधीर्गणको गोलशिल्पज्ञ: कुर्य्यात् । ननु त्वदुक्तेन सर्वं ज्ञानं भवतीति दृष्टान्तगोलनिबन्धनं व्यर्थमेवेत्यत आह । आश्चर्य्यकारिणीमिति । उक्त प्रतीत्युद्भूताद्भुत बुद्धिजनयित्रीं तथा चोक्तेन स्वाधस्तिर्य्यग्भागयोर्लोकावस्थानस्य तद्भागस्थ भगोलप्रदेशस्य च भूमेर्निराधारत्वादेश्च ज्ञानं मनसि सप्रतीतिकं न भवत्यतो दृष्टान्तगोले तन्निश्चयसम्भवात् तन्निबन्धनमावश्यकमिति भाव: ।

कथं रचनां कुर्य्यादित्यत आह । अभीष्टमिति । भुवो गोलमभीष्टं स्वेच्छाकल्पितपरिधिप्रमाणकं दारवं काष्ठघटितं सच्छिद्रं कारयित्वा काष्ठशिल्पज्ञद्वारा कृत्वेत्यर्थ: । मेरोरनुकल्परूपं दण्डकाष्ठं तन्मध्यगं तस्य काष्ठघटित भगोलस्य मध्ये छिद्रमध्ये शिथिलतया स्थितम् । उभयत्र भूगोलस्थव्यासप्रमाणच्छिद्रस्याग्राभ्यां बहिरित्यर्थ: । विनिर्गतमेकाग्रादन्यतराग्रावशिष्टदण्डप्रदेशतुल्यं नि: सृतम् ।

उभयाग्राभ्यां तुल्यौ दण्डप्रदेशौ यथा स्यातां तथा कुर्य्यादित्यर्थ: । भगोलनिबन्धनार्थमाधारवृत्तद्वयमाह । आधारकक्षाद्वितयमिति । भगोलनिबन्धनार्थमादावाश्रयार्थं वृत्तयोर्द्वितयमूर्ध्वाधस्तिर्यगवस्थानक्रमेणैकमेकमेवं द्वयमित्यर्थ: । भूगोलादुभयतस्तुल्यान्तरेण दण्डप्रदेशयो: प्रोतमेकं वृत्तं कुर्य्यात् । तत्तुल्यं वृत्तमपरं तदर्द्धच्छेदेन दण्डप्रोतं कुर्य्यादिति सिद्धोऽर्थ: । एतद्वृत्तद्वयव्यतिरेकेण भूगोलादभितो भगोलनिबन्धनानुपपत्ते: ।

भगोलनिबन्धनारम्भमाह । कक्षेति । वैषुवती विषुवसम्बन्धिनी कक्षा वृत्त परिधिर्विषुवद् वृत्तमित्यर्थ: । तथाधारवृत्तद्वयस्यार्द्धच्छेदेन भगोलमध्यवृत्तानुकल्पेन गणकेन निबद्धमित्यर्थ: ।। ३–४ ।।

अभीष्ट परिमाण वाला काष्ठ का एक पृथ्वी का गोल बनाकर उसके मध्य में एक ऐसा दण्ड (कील) स्थापित करें जो मध्यगत होता हुआ दोनों मेरु स्थानों

(उत्तर और दक्षिण) में बराबर निकला रहे । दोनों मेरुओं से दो आधार वृत्त की रचना करें । (दोनों मेरुओं में जाने वाली याम्योत्तर रेखा तथा याम्योत्तर वृत्त के मध्यगत ९० अंश पर स्थित उन्मण्डल वृत्त की रचना करनी चाहिये ।

दोनों आधार वृत्तों के मध्यगत विषुवद् वृत्त की रचना करें । तीनों वृत्तों पर एक एक अंश के ३६० चिन्ह अंकित करें ॥ ३—४ ॥

अहोरात्रवृत्तस्य निर्माणम्

स्वाहोरात्रार्धकर्णैश्च तत्प्रमाणानुमानतः ॥ ५ ॥
क्रान्तिविक्षेपभागैश्च दलितैर्दक्षिणोत्तरैः ।
स्वैः स्वैरपक्रमैस्तिस्रो मेषादीनामपि क्रमात् ॥ ६ ॥
कक्षाः प्रकल्पयेत् ताश्च कर्क्यादीनां विपर्ययात् ।
तद्वत् तिस्रस्तुलादीनां मृगादीनां विलोमतः ॥ ७ ॥

अथ मेषादिद्वादशराशीनामहोरात्रवृत्तनिबन्धनमन्यदपि श्लोकपञ्चकेनाह । भगणांशांगुलैः द्वादशराशिभागैः षष्ट्यधिकशतत्रयपरिमितांगुलैः दलितैः समविभागेन खण्डितैः अंकितैरित्यर्थः । ताः कक्षाः वंशशलाकावृत्तात्मिकास्तिस्रः । त्रिसंख्याकाः। एवकारादङ्कने वृत्ते च न्यूनाधिकव्यवच्छेदः । शिल्पज्ञेन गोलगणितज्ञेन कार्य्या । एताः पूर्ववृत्तप्रमाणेन न कार्य्या इत्यभिप्रायेणाह । स्वाहोरात्रार्द्धकर्णैरिति । स्वशब्देन मेषादित्रिकं तस्य प्रतिराश्यहोरात्रवृत्तस्यार्द्धकर्णो व्यासार्द्ध द्युज्या ताभिरित्यर्थः । चकारात् कार्य्याः । स्वस्वद्युज्यामितेन व्यासार्द्धेन मेषादित्रयाणां वृत्तत्रयं कुर्य्यादित्यर्थः।

ननु स्पष्टाधिकारोक्ता होरात्रार्द्धकर्णानयने युक्त्यभावात् तैर्वृत्तनिर्माणं कुतः कार्य्यमित्यत आह । तत्प्रमाणानुमानत इति । विषुवत्कक्षा प्रमाणानुमानाद् वृत्तत्रयं कार्य्यम् । यथा विषुवद् वृत्तं पूर्ववृत्तसमम् । तथा तदनुरोधेन मेषान्तवृत्तमल्पं तदनुरोधेन वृषान्तवृत्तमल्पं तदनुरोधेन मिथुनान्तवृत्तमल्पमित्युत्तरोत्तरमल्पव्यासार्द्धवृत्तम् । तत्वहोरात्रवृत्तमिति द्युज्याव्यासार्द्धेन वृत्तनिर्माणं युक्तियुक्तं क्रान्तिज्यावर्गोनात् त्रिज्यावर्गान्मूलस्याहोरात्रवृत्तव्यासार्द्धत्वादिदिति भावः । वृत्तत्रयं सिद्धं कृत्वा दृष्टान्तगोले निबध्नाति । क्रान्तिविक्षेपभागैरिति । क्रान्तिवृत्तस्य विषुवद् वृत्तप्रदेशाक्षिप्त प्रदेशायैरंशैः । चकारादाधार वृत्तस्थैर्दलितैः समविभागेन खण्डितैरङ्कितैः । दक्षिणोत्तरैः विषुवद्वृत्तक्रान्तिवृत्तप्रदेशयोः दक्षिणोत्तरान्तरात्मकैरुक्तलक्षणैः स्वकीयैः स्वकीयैः स्वराशिसम्बद्धैरपक्रमैः स्पष्टाधिकारानीतक्रान्त्यंशैर्मेषादीनां मेषादिराशित्रयान्तानां मेषान्तवृषान्त मिथुनान्तानाम् इत्यर्थः ।

तिस्रस्त्रिसंख्याकाः प्राङ्निर्मिता वृत्तरूपाः कक्षाः । अपक्रमात् । अपशब्दस्य उपसर्गत्वात् क्रमादित्यर्थः । प्रकल्पयेत् । शिल्पज्ञगणको विषुवद् वृत्तानुरोधेनाधार वृत्तद्वय उत्तरतो निबन्धयेदित्यर्थः ।

कर्कादीनामाह । ता इति । मेषादिकक्षा निबद्धाः कर्कादीनां कर्कसिंह

कन्यानामादि प्रदेशानां विपर्य्ययात् व्यत्यासात् । चकारः समुच्चये । तेन प्रकल्पये-दित्यर्थः । मिथुनान्तवृत्तं कर्कादेर्वृषान्तवृत्तं सिंहादेर्मेषान्तवृत्तं कन्यादेरिति फलितम् । तुलादीनामाह । तद्वदिति । तुलादीनां तुलावृश्चिकधन्विनां तिस्रः अन्यास्त्रिसंख्याकाः कक्षास्तद्वदेकद्वित्रिराशिक्रान्त्यंशैस्तुलान्तवृश्चिकान्तधनुरन्तानां याम्यगोलाश्रिताः । विषुवद्वृत्ताद् दक्षिणभाग आधारवृत्तद्वये निबद्धाः कार्य्याः गणकेनेति शेषः ।

मकरादीनामाह । मृगादीनामिति । विलोमत उत्क्रमात् तुलादिसम्बद्धाः कक्षा मकरादीनां भवन्ति । धनुरन्तवृत्तं मकरादेर्वृश्चिकान्तवृत्तं कुम्भादेस्तुलान्तवृत्तं मीनादे-रिति फलितम् । ताराणां कक्षानिबन्धनमाह । कक्षाधारादिति । भानामश्विन्यादि सप्त-विंशति नक्षत्रबिम्बानां याम्योद्गोलसंस्थानां विषुवद्वृत्ताद् दक्षिणोत्तरभागयोः यथा-योग्यमवस्थितानां यन्नक्षत्रध्रुवकस्पष्टक्रान्तिरुत्तरा तन्नक्षत्राणामुत्तरभागावस्थितानां येषां स्पष्टक्रान्तिर्दक्षिणा तेषां दक्षिणभागावस्थितानामित्यर्थः ॥ ५—७ ॥

पूर्वोक्त नाडी वृत्त के दक्षिणोत्तर भाग में स्व स्व अहोरात्र वृत्तों के अर्धव्यास से विषुवद् वृत्त के प्रमाणानुसार अर्थात् अनुपात द्वारा स्व स्व क्रान्ति विक्षेपांशो (अर्थात् क्रान्त्यंशो) से चिह्नित बिन्दुओं से अर्थात् स्व स्व द्युज्या व्यासार्ध से (नाडी वृत्त के समानान्तर) मेषादि राशियों के तीन अहोरात्र वृत्त होते हैं । उन्हीं के विपरीत क्रम से कर्कादि तीन राशियों की कक्षायें होती हैं । उसी प्रकार तुलादि तीन राशियों की (दक्षिण भाग में) कक्षायें (अहोरात्र वृत्त) होती हैं तथा वही विपरीत क्रम से मकरादि तीन राशियों की भी कक्षायें होती हैं । (इस प्रकार नाडी वृत्त से उत्तर मेषादि ६ राशियों के तथा दक्षिण भाग में तुलादि ६ राशियों के अहोरात्र वृत्त होते हैं) ॥ ५—७ ॥

नक्षत्राहोरात्रवृत्तम्

याम्यगोलाश्रिताः कार्याः कक्षाधाराद् द्वयोरपि ।
याम्योदग् गोलसंस्थानां भानामभिजितस्तथा ॥ ८ ॥
सप्तर्षीणामगस्त्यस्य ब्रह्मादीनां च कल्पयेत् ।
मध्ये वैषुवती कक्षा सर्वेषामेव संस्थिता ॥ ९ ॥

द्वयोर्दक्षिणोत्तरभागयोः । अपिशब्दो याम्योत्तरनक्षत्रक्रमेण व्यवस्थार्थकः। कक्षा-धारात् कक्षाणामाधारवृत्तद्वयात् तयोरित्यर्थः । सप्तम्यर्थे पञ्चमी । कक्षाः स्वस्पष्ट-क्रान्तिज्योत्पन्नद्युज्याव्यासार्द्धप्रमाणेन वृत्ताकाराः प्रकल्पयेत् । शिल्पज्ञो निबन्धयेत् । अन्येषामप्याह । अभिजित् इति । अभिजिन्नक्षत्रविम्बस्य सप्तर्षिविम्बानामगस्त्यनक्षत्र विम्बस्य ब्रह्मसंज्ञकताराद्युक्तलुब्धकापांवत्सादिनक्षत्रविम्बानां चकारोऽनुसन्धेयः। तथा कक्षा यथायोग्यं प्रकल्पयेदित्यर्थः । निबन्धनप्रकारमुपसंहरति । मध्य इति । सर्वा-सामुक्तकक्षाणां मध्ये तुल्यभागेऽनाधार वृत्तमध्यप्रदेशे । एवकारादन्ययोग व्यवच्छेदः। वैषुवती कक्षा विषुवसम्बन्धिनौ वृत्तरूपा संस्थितावस्थिता भवति । तथा शिल्पज्ञः

कक्षां निबन्धयेदित्यर्थः। विषुवद्वृत्तात् स्वस्पष्टक्रान्त्यन्तरेण स्वद्युज्याव्यासार्द्ध प्रमाणेन अहोरात्रवृत्तमाधारवृत्तयोः निबन्धयेदिति निष्कृष्टोऽर्थः ॥ ८—९ ॥

कक्षा आधार अर्थात् विषुवत् वृत्त से दक्षिण और उत्तरभाग में स्थित नक्षत्रों, अभिजित्, सप्तर्षिमण्डल, अगस्त्य, ब्रह्महृदय, लुब्धक आदि के भी अहोरात्र वृत्तों की रचना करनी चाहिये । सभी अहोरात्र वृत्तों के मध्य में विषुवद्वृत्तीय कक्षा होती है ॥ ८—९ ॥

क्रान्तिवृत्तम्

तदाधारयुतेरूर्ध्वमयने विषुवद्द्वयम् ।
विषुवत्स्थानतो भागैः स्फुटैर्भगणसञ्चरात् ॥ १० ॥
क्षेत्राण्येवमजादीनां तिर्यग्ज्याभिः प्रकल्पयेत् ।
अयनादयनं चैव कक्षा तिर्यक् तथाऽपरा ॥ ११ ॥
क्रान्तिसंज्ञा तया सूर्यः सदा पर्येति भासयन् ।

अथ गोले मेषादिराशिसन्निवेशं सार्द्धश्लोकेन आह । तदाधारयुतेस्तद्विषुवद्-वृत्तमाधारवृत्तं तयोर्युतेः सम्पातादूर्ध्वमुपरि । अन्तिमाहोरात्राधारवृत्तयोः सम्पातेऽयने दक्षिणोत्तरायणसन्धिस्थाने भवतः । अत्रोर्ध्वपदसञ्चारादाधारवृत्तमूर्ध्वाधरं ग्राह्यं न तिर्य्यगुन्मण्डलाकारम्। तेनैतत् फलितम्। विषुवद्वृत्तस्योर्ध्वाधराधारवृत्त ऊर्ध्वमधश्च सम्पातस्तत्रोर्ध्वसम्पातान्मकराद्यहोरात्रवृत्तं चतुर्विंशत्यंशैस्तदाधारवृत्ते दक्षिणतो यत्र लग्नं तत्रोत्तरायण सन्धिस्थानम् । एवमधःसम्पातात् कर्काद्यहोरात्रवृत्तं चतुर्विंशत्यंशैस्तदाधारवृत्त उत्तरतो यत्र लग्नं तत्र दक्षिणायनसन्धिस्थानमिति । अयनाद्विषुवस्य विपरीत स्थितत्वात् ऊर्ध्वशब्दद्योतितविपरीताधः शब्दसम्बन्धाद्विषुवद्वयं भवति । तात्पर्य्यार्थस्तु तिर्य्यगुन्मण्डलाकाराधारवृत्तविषुवद् वृत्तसम्पातौ पूर्वापरौ क्रमेण मेषादितुलादिरूपौ विषुवत्स्थाने विषुवत् स्थाने भवत इति ।

अथ राशि साकल्य सन्निवेशमाह । विषुवत्स्थानत इति । विषुवप्रदेशात् स्फुटैः राशिसम्बन्धिभिस्त्रिंशन्मितैः अंशैर्भगणसञ्चराद्राशिसाकल्य सन्निवेशात् तिर्य्यग् ज्याभिरुक्तवृत्तानुकारातिरिक्तानुकार सूत्रवृत्तप्रदेशैरजादीनाम् मेषादीनाम् एवमयन-विषुवकल्पनरीत्या तदन्तराले क्षेत्राणि स्थानानि सुधीर्गणकः प्रकल्पयेदङ्कयेत् । तद्यथा पूर्वदिक्स्थविषुवस्थानात् गोलवृत्तद्वादशांशखण्डप्रदेशेन मेषान्ताहोरात्रवृत्ते पूर्वभागे यत्र स्थानं तत्र मेषान्तस्थानं तस्मात् तदन्तरेण वृषान्ताहोरात्रवृत्ते तदन्तरेण वृषान्त-स्थानमस्मादयनसन्धिस्थानं तत्प्रदेशान्तरेण मिथुनान्तस्थानमस्मात् पश्चिमभागे कर्कान्ताहोरात्रवृत्ते तदन्तरेण कर्कान्तस्थानमस्मादपि सिंहान्ताहोरात्रवृत्ते तदन्तरेण सिंहान्तस्थानमस्मादपि तदन्तरेण पश्चिमविषुवस्थानं कन्यान्तस्थानमस्मादपि । पूर्व-भागे तुलान्ताहोरात्रवृत्ते तदन्तरेण तुलान्तस्थानमस्मादपि वृश्चिकान्ताहोरात्रवृत्ते तदन्तरेण वृश्चिकान्तस्थानमस्मादपि तदन्तरेणायनसन्धिस्थानं धनुरन्तस्थानमस्मात् कुम्भाद्यहोरात्रवृत्ते तदन्तरेण मकरान्तस्थानमस्मादपि मीनाद्यहोरात्रवृत्ते तदन्तरेण

कुम्भान्तस्थानं मीनादिस्थानं च । अस्मादपि पूर्वविषुवे मीनान्तस्थानं मेषादिस्थानं च तदन्तरेण इति व्यक्तम् ॥ १० ॥

ननु गोले वृत्ते द्वादशराशीनां सत्वादन्यथा चक्रकलानुपपत्तेरित्यत्रैकवृत्ताभावात् कथं राश्यङ्कनं राशिविभागानुपपत्तिश्च । अन्तरालभागस्याकाशात्मकत्वात् इत्यतो वृत्तकथनच्छलेन पूर्वोक्तं स्पष्टयन् सूर्य्यस्तद्वृत्ते भगणभोगं करोतीत्याह । अयनस्थानमारभ्य परिवर्त्तेन तदयनस्थानपर्य्यन्तं चकार आरम्भ समाप्त्योर्भिन्नायनस्थान निरासार्थकः । अपरा गोल आधारवृत्तसमा वृत्तरूपा कक्षा तथा राश्यङ्कमार्गेण। एवकारोऽन्यमार्ग व्यवच्छेदार्थकः । तिर्य्यक् । उक्तवृत्तानुकारविलक्षणानुकारा क्रान्तिसंज्ञाक्रमणं क्रान्तिः । ग्रहगमनभोगज्ञानार्थं वृत्तं तत्संज्ञमुपकल्पितम् । अयनविषुवद्वयसंसक्तं क्रान्तिवृत्तं द्वादशराश्यङ्कितं गोले निबन्धयेदिति तात्पर्य्यार्थः । भासयन् भुवनानि प्रकाशयन् सन् स सूर्य्यः । एतेन चन्द्रादीनां निरासः । सदा निरन्तरं तया क्रान्तिसंज्ञया कक्षया पर्य्येति स्वशक्तया गच्छन् भगणपरिपूर्त्तिभोगं करोति । सूर्य्यगत्यनुरोधेन नियतं क्रान्तिवृत्तं कल्पितमिति भावः ॥ ११ ॥

उस विषुव वृत्त और उसके आधार वृत्त (उन्मण्डलवृत्त) के युति स्थान से ऊपर (९०° या ३ राशि के अन्तर पर) दोनों अयन बिन्दु होते हैं । (अर्थात् सम्पात बिन्दु से ९०° अंश पर स्थित याम्योत्तर वृत्त में कर्कादि बिन्दु उत्तर में तथा मकरादि बिन्दु दक्षिण में क्रमशः दक्षिणायन और उत्तरायण के आरम्भ बिन्दु होते हैं ।) तथा नाडीवृत्त और उन्मण्डलवृत्त का सम्पात बिन्दु विषुव स्थान होता है । प्राची में सायन मेषादि बिन्दु पश्चिम में सायन तुलादि बिन्दु होते हैं । इन विषुव बिन्दुओं (मेषादि, तुलादि) से (३०) तीस-तीस अंशो पर (द्वादश) राशियों का सन्निवेशकर के तिर्यक् ज्या रेखाओं द्वारा मेषादि राशियों के क्षेत्रों की कल्पना करनी चाहिये । (यथा—मेषादि राशियों की ज्या **कर्ण**, क्रान्तिज्या **भुज** तथा दोनों के वर्गान्तर का मूल रूप द्युज्या वृत्त में **कोटि**) ।

एक अयन बिन्दु से दूसरे अयन बिन्दु तक तिर्यक् नाडीवृत्त के प्रमाणानुसार एक अन्य वृत्त की रचना करने पर इसकी क्रान्तिवृत्त संज्ञा होती है । इसी वृत्त में सूर्य (समस्त ब्रह्माण्ड को) प्रकाशित करते हुये भ्रमण करते हैं ॥ १०—११ ॥

ग्रहविमण्डलानि

चन्द्राद्याश्च स्वकैः पातैरपमण्डलमाश्रितैः ॥ १२ ॥
ततोऽपकृष्टा दृश्यन्ते विक्षेपान्तेष्वपक्रमात् ।

ननु चन्द्राद्याः क्रान्तिवृत्ते कुतो न गच्छन्तीत्यत आह । चन्द्रादयोऽर्कव्यतिरिक्ता ग्रहाः स्वकैः स्वीयैः पातैः पाताख्य दैवतैरपमण्डलं क्रान्तिवृत्तमाश्रितैः स्वस्वभोगस्थानेऽधिष्ठितैः ततः क्रान्तिवृत्तान्तर्गतग्रहभोगस्थानादित्यर्थः । चकाराद्विक्षेपान्तरेणापकृष्टा दक्षिणत उत्तरतो वा कर्षिता भवन्ति । अतः कारणादपक्रमात् क्रान्तिवृत्तान्तर्गत

स्वभोगस्थाना दित्यर्थः । दक्षिणत उत्तरतो वा विक्षेपान्तेषु गणितागत विक्षेप-कलाग्रस्थानेषु भूस्थजनैः दृश्यन्ते । तथाच क्रान्ति वृत्तं यथा विषुवन्मण्डलेऽवस्थितं तथा क्रान्तिवृत्ते पातस्थाने तत् षड्भान्तरस्थाने च लग्नमुक्तपरमविक्षेपकलाभि-स्तत्रिभान्तरस्थानादूर्ध्वाधः क्रमेण दक्षिणोत्तरतो लग्नं च वृत्तं विक्षेपवृत्तं चन्द्रादि-गत्यनुरोधेन स्वं स्वं भिन्नं कल्पितं तत्र गच्छन्तीति भावः ॥ १२ ॥

चन्द्रादि ग्रहों की कक्षायें क्रान्तिवृत्त से सम्बन्धित (आश्रित) अपने अपने सम्पात् बिन्दुओं से अपनी-अपनी क्रान्ति तुल्य अन्तरित होते हुये विक्षेप के अग्रभाग में दिखलाई पड़ती हैं । (ग्रहों की इन कक्षाओं को विमण्डल वृत्त कहते हैं प्रत्येक ग्रह अपने अपने विमण्डल में भ्रमण करते हैं) ॥ १२ ॥

उदयादिलग्नसंज्ञा

उदयक्षितिजे लग्नमस्तं गच्छच्च तद्वशात् ॥ १३ ॥
लङ्कोदयैर्यथासिद्धं खमध्योपरि मध्यमम् ।

अथ त्रिप्रश्नाधिकारोक्तलग्नमध्यलग्नयोः स्वरूपमाह । उदयक्षितिजे क्षितिज-वृत्तस्य पूर्वदिग्देश इत्यर्थः । लग्न क्रान्तिवृत्तं यत्प्रदेशे प्रवहवायुना संसक्तं तत्प्रदेशो मेषाद्यवधि भोगेनोदयलग्नमुच्यत इत्यर्थः । प्रसङ्गादस्त लग्नस्वरूपमाह । अस्तमिति। तद्वशादुदयलग्ना नुरोधादस्तमस्तक्षितिजं क्षितिजवृत्तस्य पश्चिमदिक् प्रदेशमित्यर्थः । क्रान्तिवृत्तं गच्छत् यत्प्रदेशेन प्रवहवायुना सल्लग्नं तत्प्रदेशो मेषाद्यवधिभोगेनास्त-लग्नमुच्यत इत्यर्थः । तथाच क्षितिजोर्ध्वं सदा क्रान्तिवृत्तस्य सद्भावादुदयास्त लग्नयोः षट्राश्यन्तरं सिद्धं लङ्कोदयैर्निरक्षदेशीयराश्युदयासुभिः । यथा त्रिप्रश्नाधि-कारोक्तप्रकारेण यत्संख्यामितं सिद्धं निष्पन्नम् । मध्यमं मध्यमलग्नं तत् खमध्यो-परिखस्य दृश्याकाश विभागस्य मध्यं मध्यगतदक्षिणोत्तरसूत्रवृत्तानुकारप्रदेशरूपं नतु खमध्यं भास्कराचार्य्याभिमतं खस्वस्तिकं तल्लग्नस्य कदाचित्कत्वेन सदानुत्पत्तेः । तस्य उपरिस्थितं क्रान्तिवृत्तं याम्योत्तरवृत्ते यत्प्रदेशेन लग्नं तत्प्रदेशो मेषाद्यवधिभोगेन मध्यलग्नमुच्यत इति तात्पर्य्यार्थः ॥ १३ ॥

उदय क्षितिज से लगा हुआ (क्रान्तिवृत्त का भाग) उदय लग्न या लग्न संज्ञक तथा पश्चिम में अस्तङ्गत होता हुआ (अस्त क्षितिज से संलग्न क्रान्तिवृत्त का भाग) अस्त लग्न तथा लङ्का के क्षितिज पर उदय होता हुआ क्रान्तिवृत्त का खमध्य स्थित भाग मध्य लग्न संज्ञक होता है ॥ १३ ॥

अन्त्याचरज्या-स्थानम् स्वक्षितिजञ्च

मध्यक्षितिजयोर्मध्ये या ज्या साऽन्त्याऽभिधीयते ।
ज्ञेया चरदलज्या च विषुवत्क्षितिजान्तरम् ॥ १४ ॥
कृत्वोपरि स्वकं स्थानं मध्ये क्षितिजमण्डलम् ॥ १५ ॥

अथ त्रिप्रश्नाधिकारोक्तान्त्यायाः स्वरूपं स्पष्टाधिकारोक्त चरज्यायाः स्वरूपं च आह । या उत्तरगोले त्रिज्याचरज्या युतिरूपा दक्षिणगोले चरज्योनत्रिज्यारूपा त्रिप्रश्नाधिकारोक्ता ।अन्त्या सा मध्यं याम्योत्तरवृत्तं क्षितिजं स्वाभिमत देशक्षितिजवृत्तं तयोर्मध्येऽन्तरालेऽहोरात्रवृत्तस्य एकदेशप्रदेशे ज्या । उदयास्त सूत्रयाम्योत्तर सूत्र-सम्पाताद होरात्र्याम्योत्तर वृत्तसम्पातावधि सूत्ररूपा ज्यासूत्रानुकारा न तु ज्या ।अहोरात्र क्षितिजवृत्त सम्पातद्वयबद्धोदयास्त सूत्रस्याहोरात्रवृत्तव्यास सूत्रत्वाभावात् । अत-एवोत्तरगोलेऽन्त्या त्रिज्याधिका सङ्गच्छते । अभिधीयते गोलज्ञैः कथ्यते । ननु अन्त्योपजीव्य चरज्यैव किंस्वरूपा यया तत्सिद्धिरित्यत आह ।ज्ञेयेति ।

उन्मण्डलं च विषुवन्मण्डलं परिकीर्त्यते ।

इति त्रिप्रश्नाधिकारोक्तेन द्वयोः शब्दयोरेकार्थवाचकत्वात् तिर्य्यगाधार वृत्तानुकारं स्थिरं निरक्षक्षितिजवृत्तमुन्मण्डलं क्षितिजं स्वाभिमतदेशक्षितिज-वृत्तमनयोरन्तरम् ।चकारो विशेषार्थकस्तुकारपरस्तेन तदन्तरालस्थिता होरात्रवृत्तैक-देशस्यार्द्धज्यारूपमृजुसूत्रयोरन्तरमूर्ध्वाधरमिति फलितार्थः । चरदलज्या तदन्तराल-स्थिताहोरात्रवृत्तैकदेशरूपचराख्य खण्डकस्य ।न तु दलमर्द्धम् ।ज्या चरज्येत्यर्थः । गोलज्ञैर्ज्ञातव्या ।। १४ ।।

ननु पूर्वश्लोकद्वयोक्तं क्षितिजस्याज्ञानादुर्बोधमित्यतः श्लोकार्द्धेन क्षितिज-स्वरूपमाह ।भूगोले स्वकं स्वीयं स्थानं भूप्रदेशैक देशरूपमुपरि सर्वप्रदेशेभ्य ऊर्ध्वं कृत्वा प्रकल्प्या मध्ये तादृशभूगोल उर्ध्वाधः खण्डसन्धौ यद्वृत्तं तत्क्षितिजवृत्तं तदनुरोधेन दृष्टान्तगोले क्षितिजवृत्तं स्थिरं संसक्तं कार्य्यमिति भावः ।। १५ ।।

मध्य स्थान (अहोरात्र वृत्त और याम्योत्तर वृत्त के सम्पात बिन्दु) से क्षितिज वृत्त पर्यन्त ज्या रेखा अन्त्या संज्ञक होती है । (अर्थात् याम्योत्तर वृत्त और क्षितिज वृत्त के मध्यवर्ती अहोरात्रवृत्त के चाप की ज्या अन्त्या होती है) । विषुवत क्षितिज अर्थात् उन्मण्डल वृत्त और अपने क्षितिज वृत्त के अन्तर की ज्या चरज्या होती है । (क्षितिज और उन्मण्डल वृत्त के मध्य अहोरात्र वृत्त खण्ड की ज्या, कुज्या होती है इसे त्रिज्यावृत्त में परिणत करने पर चरज्या होती है ।

अपने स्थान को उपर करके वहाँ से मध्य में अपना क्षितिज मण्डल होता है । अर्थात् स्व स्थान के ख मध्य बिन्दु से ९०° पर किया गया वृत्त स्व स्थानीय क्षितिजवृत्त होता है । (नवत्यंश वृत्त गोल के मध्य से होता हुआ जाता है । इसीलिए मध्यगत कहा गया है) ।। १४–१५ ।।

भूभागोलयोः भ्रमण विधानम्

वस्त्रच्छन्नं बहिश्चापि लोकालोकेन वेष्टितम् ।
अमृतस्रावयोगेन कालभ्रमणसाधनम् ।। १६ ।।

तुङ्गबीजसमायुक्तं गोलयन्त्रं प्रसाधयेत् ।
गोप्यमेतत् प्रकाशोक्तं सर्वगम्यं भवेदिह ।। १७ ।।

अथैनं दृष्टान्तगोलं सिद्धं कृत्वास्य स्वत एव पश्चिमभ्रमो यथा भवति तथा प्रकारमाह । बहिः । गोलोपरीत्यर्थः । गोलाकारेण वस्त्रेण छन्नं छादितं दृष्टान्तगोलम् । चकाराद्वस्त्रोपरि तत्तद्वृत्तानामङ्कनं कार्य्यम् । लोकालोकेन वेष्टितं दृश्यादृश्य सन्धिस्थवृत्तेन क्षितिजाख्येन संसक्तम् । अपिः समुच्चये । एतेन क्षितिजं वस्त्रच्छन्नं न कार्य्यं किं तु वस्त्रोपरि क्षितिजं गोलसंसक्तं केनापि प्रकारेण स्थिरं यथा भवति तथा कार्य्यमिति तात्पर्य्यम् । अमृतस्रावयोगेनैतादृशं गोलं कृत्वा जलप्रवाहधोघातेन कालभ्रमणसाधनं षष्टिनाक्षत्रघटीभिर्दृष्टान्तगोलस्य भ्रमणं यथा भवति तथा साधनं कारणं कार्य्यं स्वयंवहगोलयन्त्रं कार्य्यमित्यर्थः । एतदुक्तं भवति । दृष्टान्तगोलं वस्त्रच्छन्नं कृत्वा तदाधारयष्ट्यग्रे दक्षिणोत्तरभित्तिक्षिप्तनलिकयोः क्षेप्ये ।

यथा यष्ट्यग्रं ध्रुवाभिमुखं स्यात् । ततो यष्ट्यग्रर्जुमार्गगतजलप्रवाहेण पूर्वाभिमुखेन तस्याधः पश्चाद्भागे घातोऽपि यथा स्यात् तथास्यादर्शनार्थमेव वस्त्रच्छन्नमुक्तम् । अन्यथा गोलवृत्तान्तरवकाशमार्गेण जलाघात दर्शनभ्रमेण चमत्कारानुत्पत्तेः । आकाशाकारता सम्पादनार्थमपि वस्त्रच्छन्नमुक्तम् । इदं वस्त्रमार्द्रं यथा न भवति तथा चिक्वण वस्तुना मदनादिना लिप्तं कार्य्यम् । क्षितिजवृत्ताकारेणाधो गोलो दृश्यो यथा स्यात् तथा परिखारूपा भित्तिः कार्य्या । परन्तु दक्षिणयष्टिभागस्तत्र शिथिलो यथा भवति । अन्यथा भ्रमणानुपपत्तेः । पूर्वदिक्स्थपरिखाविभागाद्बहिर्जलप्रवाहोऽदृश्यः कार्य्य इत्यादि स्वबुध्यैव ज्ञेयमिति ।। १६ ।।

अथ यदि जलप्रवाहस्तत्र न सम्भवति तदा कथं स्वयंवहो दृष्टान्तगोलो भवतीत्यतस्तत्स्वयंवहार्थमुक्तं च गोप्यं कार्य्यमित्याह । दृष्टान्तगोलरूपं यन्त्रं तुङ्गवीजसमायुक्तं तुङ्गो महादेवस्तस्य बीजं वीर्य्यं पारद इत्यर्थः । तेन योजितं सत् प्रसाधयेत् । गणकः शिल्पज्ञः । प्रकर्षेण यथा नाक्षत्रषष्टिघटीभिर्गोलभ्रमस्तथा पारदप्रयोगेण सिद्धं कुर्य्यादित्यर्थः ।

एतदुक्तं भवति । निबद्धगोलबहिर्भूतयष्टि प्रान्तयोर्यथेच्छाया स्थानद्वये स्थानत्रये वा नेमिं परिधिरूपामुत्कीर्य्य तां तालपत्रादिना चिक्कणवस्तुलेपेनाच्छाद्य तत्र छिद्रं कृत्वा तन्मार्गेण पारदोऽर्द्धपरिधौ पूर्णो देय इतरार्द्ध परिधौ जलं च देयं ततो मुद्रितच्छिद्रं कृत्वा यष्ट्यग्रे भित्तिस्थनलिकयोः क्षेप्ये यथा गोलोऽन्तरिक्षो भवति । ततः पारदजलाकर्षितयष्टिः स्वयं भ्रमति । तदाश्रितो गोलश्च । एतत्पक्षे वस्त्रच्छन्नमाकाशाकारता सम्पादनार्थमेव चेत् क्रियत इति ।

ननु इयं स्वयंवहक्रिया व्यक्ता नोक्तेत्यत आह । गोप्यमिति । एतत् स्वयंवहकरणं गोप्यमप्रकाश्यं कुत इत्यत आह । प्रकाशोक्तमिति । अतिव्यक्ततयोक्तं स्वयंवहकरणमिह भूलोके सर्वगम्यं सर्वजनगम्यं भवेत् । तथाच सर्वज्ञेये वस्तुनि

चमत्कारानुत्पत्तेश्चमत्कृत्यर्थं सर्वत्र न प्रकाश्यमित्याशयेन तत्करणं व्यक्तं नोक्तमिति भाव: ।। १७ ।।

लोकालोक अर्थात् दृश्य और अदृश्य गोल के नियामक क्षितिज वृत्त से वेष्टित पूर्वोक्त विधि से निर्मित गोल को वस्त्र से ढक दें । वस्त्राच्छन्न गोल पर जल धारा का ऐसा प्रवाह करें जिससे कि गोल भ्रमण करता हुआ नाक्षत्र काल को सूचित करे । (अर्थात् गोल भ्रमण से नाक्षत्र मान की किसी इकाई का साधन हो सके) ।

(अथवा) गोल में पारा का संयोग इस प्रकार करें जिससे गोल भ्रमण करता हुआ नाक्षत्र काल सूचित करे । इस विधि को गुप्त रखना चाहिये अन्यथा इसे प्रकाशित करने पर यह सिद्धान्त सर्वगम्य (सहज होने से विकृत) हो जायेगा ।। १६—१७ ।।

सूर्यप्रसादादियं विद्या लभ्यते

तस्माद् गुरूपदेशेन रचयेद् गोलमुत्तमम् ।
युगे युगे समुच्छिन्ना रचनेयं विवस्वत: ।।
प्रसादात् कस्यचिद् भूय: प्रादुर्भवति कामत: ।। १८ ।।

ननु त्वया गोप्यत्वेनोक्तं मया कथमवगन्तव्यं मादृशैरन्यैश्च कथमवगन्तव्यमित्यत: सार्द्धश्लोकेन आह । तस्मात् स्वयंवहकरणस्य गोप्यत्वात् गुरुपदेशेन परम्परा प्राप्तगुरोर्निर्व्याजिकथनेन गोलं दृष्टान्तगोलमुक्तमं स्वयंवहात्मकं गणक: कुर्य्यात् । तथाच मया तुभ्यमुक्ता ग्रन्थे गोप्यत्वेनातिव्यक्ता नोक्तेतिभाव: । अन्यै: कथं ज्ञेयमिदमित्यत आह । युग इत्यादि । विवस्वत: सूर्य्यमण्डलाधिष्ठातुर्जीव विशेषस्येयं स्वयंवहरूपा रचना क्रिया युगे युगे बहुकाल इत्यर्थ: । समुच्छिन्ना लोके लुप्ता कस्यचित् मादृशस्य प्रसादादनुग्रहाद्भूय: वारंवारमिच्छया प्रादुर्भवति व्यक्ता भवतीत्यर्थ: । तथाच यथा मत्तस्त्वयावगतं तथान्यस्मान्मादृशादन्यैरवगन्तव्यं कालस्य निरवधित्वात् सृष्टेरनादित्वाच्चेति भाव: ।। १८ ।।

इसलिए गुरु द्वारा उपदिष्ट विधि से उत्तम गोलयन्त्र की रचना करनी चाहिये । युग युगान्तर में यह रचना विधि लुप्त हो जाती है । भगवान् सूर्य के प्रसाद से उनकी इच्छानुसार किसी को पुन: यह विद्या प्राप्त हो जाती है । अर्थात् पुन: युगान्तर में यह गोल विद्या सूर्य की कृपा से प्रकट हो जाती है ।। १८ ।।

स्वयंवहयन्त्राणां व्यवहार:

कालसंसाधनार्थाय तथा यन्त्राणि साधयेत् ।
एकाकी योजयेद् बीजं यन्त्रे विस्मयकारिणि ।। १९ ।।

अथोक्तस्वयंवहक्रियारीत्या स्वयंवहगोलातिरिक्तान्यस्वयंवहयन्त्राणि कालज्ञानार्थं साध्यानि तत्साधनं रहसि कार्य्यमिति च आह । तथा यथा स्वयंवहगोलयन्त्रं साधितं तद्वदित्यर्थः । कालसंसाधनार्थाय कालस्य दिनगतादेः सूक्ष्मज्ञाननिमित्तं यन्त्राणि स्वयंवहगोलातिरिक्तानि स्वयंवहयन्त्राणि साधयेत् । गणकः शिल्पादिस्वकौशल्येन कारयेत् । यन्त्रे कालसाधके विस्मयकारिणि स्वयंवहरूपतया लोकानामुत्पन्नाश्चर्य्यस्य कारणभूते बीजं स्वयंवहता सम्पादकं कारणमेकाकी एकव्यक्तिकोऽद्वितीयः सन् योजयेत् । शिल्पज्ञतया स्वयमेव निष्पादयेदित्यर्थः । अन्यथा द्वितीयस्य तज्ज्ञानेन तन्मुखात् तद्यन्त्रहार्दस्य लोकश्रवणगोचरतायां कदाचित् सम्भावितायां विस्मयानुत्पत्तेः ॥ १९ ॥

कालज्ञान हेतु इस प्रकार के यन्त्रों का निर्माण करना चाहिये । यंत्र को चमत्कारिक ढङ्ग से चलायमान (भ्रमणशील) करने के लिए उसमें पारे का प्रयोग एकान्त स्थान में करना चाहिये ॥ १९ ॥

कालमापकानि यन्त्राणि

शङ्कुयष्टिधनुश्चक्रैश्छायायन्त्रैरनेकधा ।
गुरूपदेशाद् विज्ञेयं कालज्ञानमतन्द्रितैः॥ २० ॥
तोययन्त्रकपालाद्यैर्मयूरनरवानरैः ।
ससूत्ररेणुगर्भैश्च सम्यक्कालं प्रसाधयेत् ॥ २१ ॥
पारदाराम्बुसूत्राणि शुल्वतैलजलानि च ।
बीजानि पांसवस्तेषु प्रयोगास्तेऽपि दुर्लभाः॥ २२ ॥

अथैषां स्वयंवहयन्त्राणां दुर्घटत्वाच्छङ्क्वादियन्त्रैः कालज्ञानं ज्ञेयमित्याह । शङ्कुयष्टिधनुश्चक्रैः प्रसिद्धैश्छायायन्त्रैश्छायासाधकयन्त्रैरनेकधा नानाविधगणित प्रकारैर्गुरुपदेशात् स्वाध्यापकस्य निर्व्याजकथनादतन्द्रितैरभ्रमैः पुरुषैः कालज्ञानं दिनगतादिज्ञानं विज्ञेयं सूक्ष्मत्वेनावगम्यम् । एतत् सर्वं सिद्धान्तशिरोमणौ भास्कराचार्य्यैः स्पष्टीकृतम्। तत्र शंकुस्वरूपम् ।

समतलमस्तकपरिधिर्भ्रमसिद्धो दन्तिदन्तजः शंकुः ।
तच्छायातः प्रोक्तं ज्ञानं दिग्देशकालानाम् ॥
इति । यष्टियन्त्रं च ।
त्रिज्याविष्कम्भार्द्धं वृत्तं कृत्वा दिगङ्कितं तत्र ।
दत्वाग्रां प्राक् पश्चात् द्युज्यावृत्तं च तन्मध्ये ॥
तत् परिधौ षष्ट्यङ्कं यष्टिर्नष्टद्युतिस्ततः केन्द्रे ।
त्रिज्याङ्गुला निधेया यष्ट्यग्राग्रान्तरं यावत् ॥
तावत्या मौर्व्या यद्द्वितीयवृत्ते धनुर्भवेत् तत्र ।
दिनगतशेषा नाड्यः प्राक् पश्चात् स्युः क्रमेणैवम् ॥

इति । चक्रयन्त्रं तु ।
चक्रं चक्रांशाङ्कं परिधौ श्लथशृंखलादिकाधारम् ।
धात्री त्रिभ आधारात् कल्प्या भार्द्धेऽत्र भार्द्धं च ॥
तन्मध्ये सूक्ष्माक्षं क्षिप्त्वार्काभिमुखनेमिकं धार्य्यम् ।
भूमेरुन्नतभागास्तत्राक्षच्छायया भुक्ताः ॥
तत्खार्द्धान्तिश्च नता उन्नतलवसंगुणं द्युदलम् ।
द्युदलोन्नतांशभक्तं नाड्यः स्थूलाः परैः प्रोक्ताः ॥
इति । धनुर्यन्त्रं तु ।
दलीकृतं चक्रमुशन्ति चापम् ।

इति । अथ ग्रन्थविस्तरभयादेतेषां निरूपणविस्तरो गणितादिविचारश्चोपेक्षित इति मन्तव्यम् ॥ २० ॥

अथ घटीयन्त्रादिभिश्चमत्कारियन्त्रैर्वा सर्वोपजीव्यं कालं सूक्ष्मं साधयेदिति कालसाधनमुपसंहरति । जलयन्त्रं च तत् कपालं च कपालाख्यं जलयन्त्रं वक्ष्यमाणं तदाद्यं प्रथमं येषां तैर्यन्त्रैर्बालुकायन्त्रप्रभृतिभिः सापेक्षघटीयन्त्रैर्मयूरनरवानरैः। मयूराख्यं स्वयंवहयन्त्रं निरपेक्षं नरयन्त्रं शङ्क्वाख्यं छायायन्त्रं पूर्वोद्दिष्टं वानरयन्त्रं स्वयंवहं निरपेक्षमेतैः ससूत्ररेणुगर्भैः सूत्रसहिता रेणवो धूलयो गर्भे मध्ये येषां तैः सूत्रप्रोताः षष्टिसंख्याका मृद्घटिका मयूरोदरस्था मुखाद् घटिकान्तरेण स्वत एव निःसरन्तीति लोकप्रसिद्ध्या तादृशैर्यन्त्रैरित्यर्थः । यद्वा सूत्राकारेण रेणवः सिकतांशा गर्भे उदरे यस्य एतादृशं यन्त्रं बालुकायन्त्रं प्रसिद्धम् । तेन सहितैर्मयूरादियन्त्रैर्मयूराद्युक्तयन्त्रैर्बालुकायन्त्रेण च इति सिद्धोऽर्थः । चकारस्तोय यन्त्रकपालाद्यैरित्यनेन समुच्चयार्थकः । कालं दिनगतादिरूपं सम्यक् सूक्ष्मं प्रसाधयेत् । प्रकर्षेण सूक्ष्मत्वेनाति सूक्ष्मत्वेन इत्यर्थः । जानीयादित्यर्थः ॥ २१ ॥

ननु मयूरादिस्वयंवहयन्त्राणि कथं साध्यानीत्यतस्तत्साधनप्रकारा बहवो दुर्गमाश्च सन्तीत्याह । तेषु मयूरादियन्त्रेषु स्वयंवहार्थमेते प्रयोगाः प्रकर्षेण योज्याः । प्रकर्षस्तु यावदभिमतसिद्धेः । एते क इत्यत आह । पारदाराम्बु सूत्राणीति । पारदयुक्ता आराः । यथा च सिद्धान्तशिरोमणौ ।

लघुकाष्ठजसमचक्रे समसुषिराराः समान्तरा नेम्याम् ।
किञ्चिद्वक्रा योज्याः सुषिरस्यार्द्धे पृथक् तासाम् ॥
रसपूर्णे तच्चक्रं द्वयाधाराक्षस्थितं स्वयं भ्रमति ।

इति । अम्बु जलस्य प्रयोगः । सूत्राणि सूत्रसाधनप्रयोगः । शुल्वं शिल्पनैपुण्यम् । तैलजलानि तैलयुक्तजलस्य प्रयोगः । चकारात् तयोः पृथक् प्रयोगोऽपि । यथाच सिद्धान्तशिरोमणौ ।

उत्कीर्य्य नेमिमथवा परितो मदनेन संलग्नम् ।
तदुपरि तालदलाद्यं कृत्वा सुषिरे रसं क्षिपेत् तावत् ॥

यावद्रसैकपार्श्वे क्षिप्तजलं नान्यतो याति ।
पिहितच्छिद्रं तदतश्चक्रं भ्रमति स्वयं जलाकृष्टम् ।।
ताम्रादिमयस्याङ्कुशरूप नलस्याम्बुपूर्णस्य ।
एकं कुण्डजलान्तर्द्वितीयमग्रं त्वधोमुखं च बहिः ।।
युगपन्मुक्तं चेत् कं नलेन कुण्डाद्बहिः पतति ।
नेम्यां बध्वा घटिकाश्चक्रं जलयन्त्रवत् तथा धार्य्यम् ।।
नलकप्रच्युतसलिलं पतति यथा तद्घटीमध्ये ।
भ्रमति ततस्तत् सततं पूर्णघटीभिः समाकृष्टम् ।।
चक्रच्युतं स्वमुदकं कुण्डे याति प्रणालिकया ।

इति । बीजानि केवलं तुङ्गबीजप्रयोगः । पांसवो धूलिप्रयोगास्तैर्युक्ताः प्रयोगाः। अपिशब्दात् प्रयोगेषु सुगमतरा इत्यर्थः । दुर्लभाः साधारणत्वेन मनुष्यैः कर्त्तुमशक्या इत्यर्थः । अन्यथा प्रतिगृहं स्वयंवहानां प्राचुर्य्यापत्तेः । इयं स्वयंवहविद्या समुद्रान्तर्निवासिजनैः फिरङ्ग्याख्यैः सम्यगभ्यस्तेति । कुहकविद्यात्वादत्र विस्तारानुद्योग इति संक्षेपः ।। २२ ।।

शंकु, यष्टि, धनु, चक्र, आदि अनेक प्रकार के छाया यन्त्रों द्वारा तन्द्रा रहित अर्थात् अत्यन्त सावधानी से दैवज्ञ को गुरु द्वारा बताये गये मार्ग से कालज्ञान करना चाहिये । कपाल आदि जल यन्त्रों से, मयूर, नर, तथा वानर यन्त्रों से, जिनमें सूत्र के साथ बालू (रेत) भरे होते हैं, उनसे विधिवत् कालज्ञान करना चाहिये । यन्त्र को गतिशील करने के लिए उसमें पारा, आरा (सूत्र विशेष), जल, सूत्र, ताम्र, तैल एवं जल का प्रयोग करना चाहिये । पारा और पांसु (रेत) को यन्त्र में स्थापित करना चाहिये किन्तु ये प्रयोग भी दुर्लभ (कठिन) हैं ।। २०—२२ ।।

कपालाख्यं जलयन्त्रम्

ताम्रपात्रमधश्छिद्रं न्यस्तं कुण्डेऽमलाम्भसि ।
षष्टिर्मज्जत्यहोरात्रे स्फुटं यन्त्रं कपालकम् ।। २३ ।।

अथ कपालाख्यं जलयन्त्रमाह । यत् ताम्रघटितं पात्रमधश्छिद्रम् अधोभागे छिद्रं यस्य तत् । अमलाम्भसि निर्मलं जलं विद्यते यस्मिन् तादृशे कुण्डे बृहद्भाण्डे न्यस्तं धारितं सदहोरात्रे नाक्षत्रहोरात्रे षष्टिः षष्टिवारमेव न न्यूनाधिकं मज्जति । अधश्छिद्रमार्गेण जलागमनेन जलपूर्णतया निमग्नं भवति । तत् कपालकं कपालमेव कपालकं घटखण्डानां कपालपदवाच्यत्वात् घटाधस्तनार्द्धाकारं यन्त्रं घटीयन्त्रं स्फुटं सूक्ष्मम् । तद्घटनं तु ।

शुल्वस्य दिग्भिर्विहितं पलैर्यत् षडंगुलोच्चं द्विगुणायतास्यम् ।
तदम्भसा षष्टिपलैः प्रपूर्य्यं पात्रं घटार्द्धप्रतिमं घटी स्यात् ।।
सत्र्यंशमाषत्रयनिर्मिता या हेम्नः शलाका चतुरङ्गुला स्यात् ।
विद्धं तया प्राक्तनमत्रपात्रं प्रपूर्य्यते नाडिकयाम्बुभिस्तत् ।।

इति व्यक्तम् । भगवता तु सूक्ष्ममुक्तम् ।। २३ ।।

ताम्रपात्र के नीचे (पेदे में) छिद्र कर स्वच्छ जल वाले कुण्ड में डाल दें । यदि एक अहोरात्र में (६० घटी में) वह ६० बार जल में डूब जाय तो वही शुद्ध कपालयन्त्र होता है ।। २३ ।।

नराख्यं शङ्कुयन्त्रम्

नरयन्त्रं तथा साधु दिवा च विमले रवौ ।
छायासंसाधनैः प्रोक्तं कालसाधनमुत्तमम् ।। २४ ।।

अथ शंकुयन्त्रं दिवैव कालज्ञानार्थं नान्यदेत्याह । विमले मेघादिव्यवधान रूपमलेन रहिते सूर्य्ये एतद्रूपे दिने । चकार एवकारार्थस्तेन साभ्रदिनव्यवच्छेदः । नरयन्त्रं द्वादशाङ्गुलशङ्कुयन्त्रं तथा घटीयन्त्रवत् कालसाधकं साधु सूक्ष्मं रात्रौ नेत्यर्थसिद्धम् । ननु शङ्कोश्छायासाधकत्वं न कालसाधकत्वं तेन तस्य कथं यन्त्रत्वं कालसाधकवस्तुनो यन्त्रत्वप्रतिपादनादित्यत आह । छायासंसाधनैरिति । इदं शंकुरूपनरयन्त्रं छायायाः सम्यक् सूक्ष्मत्वेन साधनैरवगमैः कृत्वा कालसाधनं दिनगतादिकालस्य कारणमुक्तमम् । अन्य यन्त्रेभ्योऽस्मान्निरन्तरतयातिश्रेष्ठम् । तथाच छायासाधकत्वेनैव छायाद्वारा शङ्कोः कालसाधकत्वमिति न यन्त्रत्वव्याघातः । अतएव साभ्रदिने रात्रौ चानुपयुक्तः । नरस्य छाया यन्त्रोपलक्षणत्वात् यष्टिधनुश्चक्राण्यपि तथेति ध्येयम् ।। २४ ।।

केवल दिन में जब आकाश स्वच्छ हो तथा निर्मल रवि हो उस समय शंकु यन्त्र से सम्यक् छाया साधन करने से उत्तम काल का ज्ञान होता है । अर्थात् शुद्ध कालज्ञान होता है ।। २४ ।।

ग्रन्थमाहात्म्यम्

ग्रहनक्षत्रचरितं ज्ञात्वा गोलं च तत्त्वतः ।
ग्रहलोकमवाप्नोति पर्यायेणात्मवान् नरः ।। २५ ।।

।। सूर्यसिद्धान्ते ज्यौतिषोपनिषदध्यायः सम्पूर्णः ।। १३ ।।

अथादित एतदन्तग्रन्थज्ञानस्यैकफलकथनेन विभक्तमपि खण्डद्वयं क्रोडयति । ग्रहनक्षत्राणां चरितं गणितविषयकं ज्ञानं ग्रन्थपूर्वखण्डरूपं गोलं भूगोलभगोल स्वरूपप्रतिपादक ग्रन्थं ग्रन्थोत्तरार्द्धान्तर्गतम् । चकारः समुच्चये । तत्वतः वस्तुस्थिति-सद्भावेन सार्वविभक्तिकस्तसिरित्येके । ज्ञात्वावगम्य नरः पुरुषः । ग्रहलोकं चन्द्रादि-ग्रहाणां लोकं तल्लोकाधिष्ठितस्थानं ग्रहोपलक्षणान् नक्षत्राधिष्ठितस्थानमपि ध्येयम् । प्राप्नोति । ननु ग्रहलोकप्राप्त्या कः पुरुषार्थ इत्यतो मोक्षरूपं पुरुषार्थफलमाह ।

पर्य्यायेणेति । जन्मान्तरेण पुरुष आत्मवानात्मज्ञानी भवति । तथाच आत्मज्ञानान् मोक्षप्राप्तिरेवेति भावः ।। २५ ।।

अथ अग्रिमग्रन्थस्य असङ्गतिपरिहारायारब्धाध्यायसमाप्तिं फक्किकया आह । इति । यथा वेदे आत्मस्वरूप निरूपणान्नारायणोपनिषदुच्यते । तथा ज्योतिः शास्त्रे प्रतिपादितानां ग्रहनक्षत्राणामेतद्ग्रन्थैकदेशे स्वरूपादिनिरूपणाज्ज्योतिः शास्त्रसारं ज्योतिषोपनिषदुच्यते । तत्संज्ञोऽध्यायो ग्रन्थैकदेशः सम्पूर्ण इत्यर्थः ।

रङ्गनाथेन रचिते सूर्य्यसिद्धान्तटिप्पणे ।
ज्योतिषोपनिषत्संज्ञोऽध्यायः पूर्णोऽपरार्द्धके ।।

॥ इति श्रीसकलगणकसार्वभौमबल्लादैवज्ञात्मजरङ्गनाथगणकविरचिते गूढार्थप्रकाशके ज्योतिषोपनिषदध्यायः सम्पूर्णः ॥ १३ ॥

ग्रह नक्षत्रों के चरित (अर्थात् उनकी स्थिति गत्यादि) को तथा गोल को यथार्थ रूप में जानकर मनुष्य ग्रहलोक को प्राप्त करता है तथा जन्मान्तर में भी आत्मज्ञानी होता है ।। २५ ।।

॥ पण्डितवर्य बलदेवदैवज्ञात्मज प्रो० रामचन्द्रपाण्डेय द्वारा विरचित सूर्यसिद्धान्त के ज्यौतिषोपनिषदध्याय का हिन्दीभाषानुवाद एवं संस्कृतोपपत्ति सम्पूर्ण ॥ १३ ॥

मानाध्यायः - १४

इस अध्याय में नवविध कालमानों का विवेचन किया गया है । प्रारम्भ में मयासुर द्वारा पूछे गये प्रश्न (भूगोलाध्याय श्लोक सं. ८) का समाधान है तथा आगे व्यावहारिक आदि मानों का विवेचन किया गया है ।

नवविधकालमानानि

ब्राह्मं दिव्यं तथा पित्र्यं प्राजापत्यं च गौरवम् ।
सौरञ्च सावनं चान्द्रमार्क्षं मानानि वै नव ।। १ ।।

अथ मानानि कति किञ्च तैरित्यवशिष्टप्रश्नस्योत्तरभूत आरब्धमानाध्यायो व्याख्यायते । तत्र प्रथमं मानानि कतीति प्रथमप्रश्नस्योत्तरमाह । वै निश्चयेन । नवसंख्याकानि कालमानानि । तत्र प्रथमं ब्राह्ममानम् । कल्पो ब्राह्ममाहः प्रोक्तम् । इत्यादि ।

परमायुः शतं तस्य तया होरात्रसंख्यया ।

इत्यन्तं मध्यमाधिकारे प्रतिपादितम् । द्वितीयं दिव्यं देवमानम् ।

दिव्यं तदह उच्यते । इत्यादि ।

ततृषष्टिः संगुणा दिव्यं वर्षम् ।

इत्यन्तं तत्रैव प्रतिपादितम् । तथा तृतीयं मानं पित्र्यं पितृणां मानं वक्ष्यमाणम्। प्राजापत्यं मानं वक्ष्यमाणं चतुर्थम् । बृहस्पतेस्तथा मानं वक्ष्यमाणं पञ्चमम् । सौरं चकारात् षष्ठं मानम् । सावन सप्तमं मानम् । चान्द्रमानमष्टमम् । नाक्षत्रं मानं नवमम्। एतान्यपि तत्रैवोक्तानि ।। १ ।।

ब्राह्म, दिव्य, पित्र्य, प्राजापत्य, गौरव (गुरु सम्बन्धी बार्हस्पत्य), सौर, सावन, चान्द्र तथा नाक्षत्र ये नव प्रकार के काल मान बताये गये हैं ।

विशेषः—ब्रह्मा के काल को ब्राह्म मान कहा गया है । १ कल्प ब्रह्मा का एक दिन तथा उतनी ही रात्रि होती है ।

दिव्य—देवताओं का मान दिव्य मान होता है । मानव १ वर्ष = १ दिव्यदिन होता है ।

पित्र्य—पितरों से सम्बन्धित कालमान पित्र्यमान होता है । चन्द्रमा के ऊर्ध्व

भाग पर १५ दिन (मानव दिन) का एक दिन तथा १५ दिन की एक रात्रि होती है । यही पित्र्य दिन होता है ।

प्राजापत्य—१४ मनु (मन्वन्तर व्यवस्था) का मान प्राजापत्य मान होता है।

गौरव—बृहस्पति के मध्यम गति के अनुसार गौरव या बार्हस्पत्य मान होता है । १ संवत्सर बृहस्पति का वर्ष होता है । संवत्सरों की संख्या ६० है।

सौर—सूर्य की गति के अनुसार अहोरात्रादि सौरमान होते हैं । सूर्य का एक चक्र भ्रमण एक सौर वर्ष होता है ।

सावन—सूर्योदय से सूर्योदय तक का काल एक सावन दिन होता है ।

चान्द्र—तिथियों का भोगकाल चान्द्र दिन होता है ।

नाक्षत्र—नक्षत्र के एक उदय से दूसरे उदय तक का काल नाक्षत्रकाल (दिन) होता है । इसका प्रमाण ६० घटी होता है ।

व्यावहारिक मान

चतुर्भिर्व्यवहारोऽत्र सौरचान्द्रार्क्षसावनैः ।
बार्हस्पत्येन षष्ट्यब्दं ज्ञेयं नान्यैस्तु नित्यशः ।। २ ।।

अथ किञ्च तैरिति द्वितीयप्रश्नस्योत्तरं विवक्षुः प्रथमं व्यवहारोपयुक्तमानानि दर्शयति । अत्र मनुष्यलोके सौरचान्द्रनाक्षत्रसावनैश्चतुर्भिर्मानैर्व्यवहारः कर्मघटना । षष्ट्यब्दं प्रभवादिषष्टिवर्षं जात्यभिप्रायेणैकवचनम् । बार्हस्पत्येन बृहस्पतिमानेन बृहस्पतिमध्यमराशिभोगात्मककालेन प्रत्येकं ज्ञेयम् । अन्यैरवशिष्टैर्ब्राह्मदिव्यपित्र्य-प्राजापत्यैः । नित्यशः सदेत्यर्थः । व्यवहारो नास्ति । तुकारात् कादाचित्कत्वेन तैर्व्यवहारः ।। २ ।।

यहाँ (भूलोक में) सौर, चान्द्र, नाक्षत्र और सावन इन ४ मानों का व्यवहार होता है । (६०) साठ संवत्सरों की बार्हस्पत्य मान से गणना होती हैं । शेष चार (ब्राह्म, पित्र्य, दिव्य, प्राजापत्य) मानों की नित्य आवश्यकता नहीं पड़ती ।। २ ।।

सौरमानानां व्यवहारः

सौरेण द्युनिशोर्मानं षडशीतिमुखानि च ।
अयनं विषुवच्चैव संक्रान्तेः पुण्यकालता ।। ३ ।।

अथ सौरेण व्यवहारं प्रदर्शयति । अहोरात्र्योर्मानं सौरेण ज्ञेयम् । प्रात्यहिक-सूर्य्यगतिभोगादहोरात्रं भवतीत्यर्थः । षडशीतिमुखानि वक्ष्यमाणानि चः समुच्चये । तेन सौरमानेन ज्ञेयानि । अयनं विषुवत् । चः समुच्चये । संक्रान्तेः पुण्यकालता सूर्य्यविम्बकलासम्बद्धा सौरमानेन ।। ३ ।।

दिन-रात्रि का मान, षडशीतिमुख संक्रान्तियों का मान, अयन (दक्षिणायन, उत्तरायण), विषुव (सौम्यगोल, याम्यगोल) तथा संक्रान्तियों का पुण्यकाल सौर-मान से ज्ञात किया जाता है ।। ३ ।।

षडशीतिमुख संक्रान्ति

तुलादिषडशीत्यह्नां षडशीतिमुखं क्रमात् ।
तच्चतुष्टयमेव स्यात् द्विस्वभावेषु राशिषु ।। ४ ।।
षड्विंशे धनुषो भागे, द्वाविंशेऽनिमिषस्य च ।
मिथुनाष्टादशे भागे कन्यायास्तु चतुर्दशे ।। ५ ।।

अथ षडशीतिमुखमाह । तुलारम्भात् षडशीतिदिवसानां सौराणां षडशीतिमुखं भवति । तच्चतुष्टयं षडशीतिमुखस्य चतु:संख्या द्विस्वभावेषु राशिषु चतुर्षु क्रमादेवं वक्ष्यमाणा भवति ।। ४ ।।

तदेवाह । धनूराशे: षड्विंशतितमेऽंशे षडशीतिमुखं मीनराशेर्द्वाविंशतितमेऽंशे षडशीतिमुखम् । चकार: समुच्चयार्थक: प्रत्येकमन्वेति । मिथुनराशेरष्टादशेंऽशे षडशीतिमुखं कन्यायाश्चतुर्दशे भागे षडशीतिमुखम् । अतएव तुलादित: षडशीत्यंशो गणनया येषु राशिषु भवति ते राशयो द्विस्वभावा: षडशीतिमुखसंज्ञा: संक्रान्तिप्रकरणे संहितिकैरुक्ता: ।। ५ ।।

तुलादि से ८६ दिनों पर एक षडशीतिमुख होता है । ये क्रम से चार द्विस्वभाव राशियों (धनु-मीन-मिथुन-कन्या) में होती हैं । तुलादि से ८६ दिनों पर अर्थात् धनु के २६ वें भाग पर तदनन्तर मीन के २२ अंश पर, तत्पश्चात् मिथुन के १८ अंश पर तथा कन्या के १४ वे अंश पर षडशीति मुख संक्रान्ति का काल होता है ।। ४—५ ।।

कन्याराशेरवशिष्टदिनानां माहात्म्यम्

तत: शेषाणि कन्याया यान्यहानि तु षोडश ।
क्रतुभिस्तानि तुल्यानि पितृणां दत्तमक्षयम् ।। ६ ।।

अथ षडशीत्यंशगणनया चत्वारि षडशीतिमुखान्युक्त्वा भगणांशपूर्त्यर्थमवशिष्टांशा: षोडशातिपुण्या इत्याह । तत: कन्यादिचतुर्दशभागानन्तरं शेषाणि भगण-भागेऽवशिष्टानि कन्याया यान्यहानि सौरभागसमानि षोडश तानि । तुकारात् पूर्वदिनासमानि क्रतुभिर्यज्ञै: समानि । अतिपुण्यानीत्यर्थ: । तत्र पितृणां दत्तं श्राद्धादि कृतमक्षयमनन्तफलदं भवति ।। ६ ।।

(षडशीतिमुख संक्रान्तियों के अनन्तर) कन्या राशि के जो शेष १६ दिन रह जाते है । वे यज्ञों के तुल्य होते हैं तथा उनमें पितरों के लिए दिया हुआ दान अक्षय होता है ।। ६ ।।

विषुवायनसंज्ञा संक्रान्तिनाञ्च ज्ञानम्

भचक्रनाभौ विषुवद्द्वितयं समसूत्रगम् ।
अयनद्वितयं चैव चतस्त्रः प्रथितास्तु ताः ।। ७ ।।
तदन्तरेषु संक्रान्तिद्वितयं द्वितयं पुनः ।
नैरन्तर्यात् तु संक्रान्तेर्ज्ञेयं विष्णुपदीद्वयम् ।। ८ ।।

अथ राश्यधिष्ठितक्रान्तिवृत्ते चत्वारि स्थानानि पदसन्धिस्थाने विषुवायनाभ्यां प्रसिद्धानीत्याह । भचक्रनाभौ भगोलस्य ध्रुवद्वयाभ्यां तुल्यान्तरेण मध्यभागे विषुवद्-द्वितीयं विषुवद्द्वयं समसूत्रगं परस्परं व्यास - सूत्रान्तरितं ध्रुवमध्ये विषुवद् वृत्तावस्थानात् तद्वृत्ते क्रान्तिवृत्तभागौ यौ लग्नौ तौ क्रमेण पूर्वापरौ विषुवत्संज्ञौ मेषतुलाख्यौ चेत्यर्थः । अयनद्वितयमयनद्वयं कर्कमकरादिरूपम् । चः समुच्चये । तेन समसूत्रगं ता विषुवायनाख्याः क्रान्तिवृत्तप्रदेशरूपा भूमयश्चतस्त्रश्चतुः संख्याकाः प्रथिता गणितादौ पदादित्वेन प्रसिद्धाः । एवकारादन्धराशीनां निरासः । तुकारात् तासां समसूत्रस्थत्वेऽपि विषुवायनत्वाभावात् पदादित्वेनाप्रसिद्धिरित्यर्थः ।। ७ ।।

अथ अवशिष्टनामादिस्वरूपमन्यदप्याह । तदन्तरेषु विषुवायनान्तरालेषु । अत्रान्तरालानां चतुःस्थाने सद्भावाद्बहुवचनम् । संक्रान्तिद्वितयं द्वितयं पुनः राश्यादि-भागे ग्रहाणामाक्रमणं वारद्वयं भवति तदन्तराले राश्यादिभागौ द्वौ भवत इत्यर्थः । यथा हि मेषाख्यविषुवकर्काख्यायनयोरन्तराले वृषमिथुनयोरादी । कर्कतुलयोरन्तराले सिंह-कन्ययोरादी । तुलामकरयोरन्तराले वृश्चिकधनुषोरादी मकरमेषयोरन्तराले कुम्भमीन-योरादी इति । एवं विषुवानन्तरं संक्रमणद्वयमनन्तरमयनं तदनन्तरं संक्रान्तिद्वयं तदनन्तरं विषुवमनन्तरं संक्रान्तिद्वयमनन्तरमयनमित्यादि पौनः पुन्येन ज्ञेयमित्यर्थः । संक्रान्ति-द्वयमध्ये प्रथमसंक्रान्तौ विशेषमाह । नैरन्तर्य्यादिति । निरन्तरतया सम्भूतायाः संक्रान्ते सकाशाद्विष्णुपदीद्वयं तदन्तराल इति त्वर्थः । अवगम्यं प्रथम संक्रान्तिर्विष्णुपदसंज्ञा तयोर्द्वयं तदभ्यन्तरे प्रत्येकं भवतीति तात्पर्य्यार्थः । षडशीतिसंज्ञं द्वितीयसंक्रमणं पूर्वसूचितं तयोरपि द्वयं तदन्तराले भवतीति ध्येयम् ।। ८ ।।

राशि चक्र में समसूत्रगत दो विषुव संक्रन्तियाँ तथा एक ही व्यास रेखागत २ आयन संक्रान्तियाँ कुल चार सँक्रान्तियाँ प्रसिद्ध हैं । इन संक्रान्तियों के मध्य में २-२ संक्रान्तियाँ होती है । अव्यवहित क्रम से उक्त चार संक्रान्तियों के बाद वाली १-१ संक्रान्ति विष्णुपदी संज्ञक होती है । इस प्रकार विषुव संक्रान्तियों में दो तथा अयन संक्रान्तियों में दो विष्णुपदी संक्रान्तियाँ होती है ।। ७–८ ।।

विशेष—नाडी और क्रान्ति वृत्त के सम्पात बिन्दु को विषुव बिन्दु कहा जाता है । प्राच्य सम्पात बिन्दु मेष संक्रान्ति का तथा प्रतीची सम्पात बिन्दु तुला संक्रान्ति का सूचक है । पूर्वापर सूत्र में ही दोनों विषुव संक्रान्तियाँ होती है । इसी प्रकार मेषादि और तुलादि बिन्दुओं से राशि त्रयान्तर पर (मिथुनान्त और धनुरन्त

बिन्दुगत) याम्योत्तर वृत्त के ध्रुवसूत्ररूपी व्यास रेखा में ही दोनों अयन (कर्क और मकर) संक्रान्तियों के आरम्भ बिन्दु होते हैं ।

मेष (विषुव) संक्रान्ति से कर्क (अयन) संक्रान्ति के मध्यगत वृष, और मिथुन दो सङ्क्रान्तियाँ होती है । इसी प्रकार कर्क (अयन) संक्रान्ति और तुला (विषुव) संक्रान्ति के मध्यगत सिंह और कन्या दो संक्रान्तियाँ होती हैं । तुला, मकर, तथा मकर मेष के मध्यगत भी २-२ संक्रान्तियाँ होती हैं । विषुव और अयन संक्रान्तियों के बाद अव्यवहित क्रम प्राप्त संक्रान्तियाँ यथा मेष के बाद वृष, कर्क के बाद सिंह, तुला के बाद वृश्चिक तथा मकर के बाद कुम्भ, ये चार (वृष, सिंह, वृश्चिक और कुम्भ) संक्रान्तियाँ विष्णुपदी संज्ञक होती हैं ।

संक्रान्तियों की संज्ञा

विषुव संक्रान्ति	—	मेष, तुला	
अयन संक्रान्ति	—	कर्क, मकर	
षडशीतिमुख संक्रान्ति	—	मिथुन (१८°),	कन्या (१४°)
		धनु (२६°),	मीन (२२°)
विष्णुपदी संक्रान्ति	—	वृष, सिंह, वृश्चिक, कुम्भ ।	

अयन-ऋतु-मासादीनां साधनम्

भानोर्मकरसङ्क्रान्तेः षण्मासा उत्तरायणम् ।
कर्क्कादिस्तु तथैव स्यात् षण्मासा दक्षिणायनम् ।। ९ ।।
द्विराशिनाथा ऋतवस्ततोऽपि शिशिरादयः ।
मेषादयो द्वादशैते मासास्तैरेव वत्सरः ।। १० ।।

अथ आयन द्वयमाह । सूर्य्यस्य मकरसंक्रान्तेः सकाशात् षट्सौरमासा उत्तरायणं भवति । कर्कादिः कर्कसंक्रान्तेः सकाशात् तथा सूर्य्यभोगात् । एवकारादन्यग्रहनिरासः। षण्मासाः । तुकारात् सौराः । दक्षिणायनं भवति ।। ९ ।।

अथर्तुमासवर्षाण्याह । ततो मकरसंक्रान्तेः सकाशात् । अपिशब्द उत्तरायणाधिना समुच्चयार्थकः । द्विराशिनाथा राशिद्वयस्वामिका राशिद्वयार्कभोगात्मका इत्यर्थः । शिशिरादयः शिशिरवसन्तग्रीष्मवर्षाशरद्धेमन्ताऋतवः कालविभाग विशेषा भवन्ति । एते सूर्य्यभोगविषयका मेषादयो राशयो द्वादशमासास्तैर्द्वादशभिर्मासैः । एवकारान्यूनाधिक व्यवच्छेदः । वत्सरः सौरवर्ष भवति ।। १० ।।

सूर्य के मकर राशि में संक्रमण काल से छः मास तक (मकर से मिथुनान्त तक) उत्तरायण एवं कर्क संक्रान्ति से छः मास तक (कर्क से धनुरन्त तक) दक्षिणायन होता है ।

दो-दो राशियों के भोगकाल को ऋतु कहा जाता (अर्थात् दो राशियों तक

सूर्य एक ऋतु में रहता) है । शिशिरादि ऋतुओं की प्रवृत्ति मकर राशि से होती है। अर्थात् मकर-कुम्भ में सूर्य के रहने पर शिशिर ऋतु, मीन-मेष में वसन्त आदि । मेषादि १२ बारह राशियों में सूर्य के रहने से १२ बारह मास होते है । तथा इन्हीं १२ मासों से १ सौर वर्ष होता है ।। ९—१० ।।

सङ्क्रान्तेः पुण्यकालः

अर्कमानकलाः षष्ट्या गुणिता भुक्तिभाजिताः ।
तदर्धनाड्यः संक्रान्तेरर्वाक् पुण्यं तथा परे ।। ११ ।।

अथ प्रसङ्गात् संक्रान्तौ पुण्यकालानयनमाह । सूर्य्यस्य विम्बप्रमाणकलाः । षष्ट्या गुणिताः सूर्य्यगत्या भक्तास्तस्य फलस्यार्द्धं तत्संख्याका घटिका इत्यर्थः । संक्रान्तेः सूर्य्यस्य राशिप्रवेशकालादित्यर्थः । अर्वाक् पूर्वं पुण्यं स्नानादिधर्मकृते पुण्यघटिकाः पुण्यवृद्धिकारिकाः । अपरे संक्रान्त्युत्तरकाले तथा स्नानादिधर्मकृत्ये पुण्यवृद्धिदा इत्यर्थः ।

अत्रोपपत्तिः । सूर्य्यविम्बकेन्द्रस्य राश्यादौ सञ्चरणकालः संक्रमण कालस्तस्य सूक्ष्मत्वेन दुर्ज्ञेयत्वात् स्थूलकालः कोऽप्यभ्युपेयः स तु राश्यादौ विम्बसञ्चरणरूपोऽगींकृतो विम्बसम्बन्धात् । अतः सूर्य्यगत्या षष्टिसावनघटिकास्तदा सूर्य्यविम्ब-कलाभिः का इत्यनुपातानीता विम्बघटिकाः संक्रान्तिकालः स्थूलः प्राङ्नेमिसञ्चरण-कालात् पश्चिमनेमिसञ्चरणकालपर्य्यन्तं तदर्द्धघटिका व्यासार्द्धघटिका इति संक्रान्ति-कालात् ताभिः पूर्वमपरत्र काले प्रागपरनेम्योः क्रमेण सञ्चरणात् पूर्वोत्तरकाले पुण्या इति ।। ११ ।।

सूर्य विम्ब के कलामान (प्रमाण) को ६० से गुणकर सूर्य की गति से भाग देने पर जो लब्धि घट्यादि हो उसका आधा $\frac{\text{लब्धि}}{२}$ घटी संक्रान्ति काल से पूर्व तथा पश्चात् में संक्रान्ति का पुण्य काल होता है ।

अर्थात्— $$\frac{\text{रविविम्ब कला} \times ६०}{\text{रविगति}} = \text{लब्धि}$$

$\frac{\text{लब्धि}}{२}$ घटी संक्रान्ति से पूर्व (संक्रान्ति काल $-$ $\frac{\text{लब्धि}}{२}$ घटी) तथा पश्चात् (संक्रान्ति काल + $\frac{\text{लब्धि}}{२}$ घटी) पुण्य काल ।

संहिताओं में स्थूल मान से रविविम्बकला का मान ३२ तथा मध्यम रविगति ६० कला मानी गई है । इसी के आधार पर संक्रान्तिकाल से १६ घटी पूर्व और पश्चात् में पुण्यकाल माना गया है । यथा—

$$\frac{६० \times ३२}{६०} = ३२ \text{ लब्धि ।} \quad \frac{३२}{२} = १६ \text{ घटी}$$

यदि संक्रान्ति काल २० घटी पर है तो

२० — १६ = ४ तथा २० + १६ = ३६

संक्रान्ति के पूर्व ४ घटी से से लेकर ३६ घटी पश्चात् तक पुण्यकाल होगा।

चान्द्रमानं तिथिमानञ्च

अर्काद् विनिस्सृत: प्राचीं यद्यात्यहरह: शशी ।
तच्चान्द्रमानमंशैस्तु ज्ञेया द्वादशभिस्तिथि: ।। १२ ।।

अथ सौरमुक्त्वा क्रमप्राप्तं चान्द्रमानमाह । सूर्य्यात् समागमं त्यक्त्वा विनिर्गत: पृथग्भूत: संश्चन्द्रोऽहरह: प्रतिदिनं यत् यत्संख्यामितं प्राचीं पूर्वां दिशं गच्छति तत् प्रतिदिने चान्द्रमानं तत्तु गत्यन्तरांशमितम् । ननु सौरदिनं सूर्य्यांशेन यथा भवति तथैतद्रूपैर्भागै: कियद्भि: पूर्णं चान्द्रं दिनं भवतीत्यत आह । अंशैरिति । भागैस्तुकारात् सूर्य्यचन्द्रान्तरोत्पन्नै: तस्य तद्रूपत्वात् । द्वादशभिर्द्वादशसंख्याकैस्तिथिर्ज्ञेया । एकं चान्द्रदिनं ज्ञेयमित्यर्थ: । एतदुक्तं भवति । सूर्य्यचन्द्रयोगाच्चान्द्रदिनप्रवृत्ते: पुनर्योगे माससमाप्तेर्भगणान्तरेण चान्द्रो मासस्त्रिंशच्चान्द्रदिनात्मक:। अतस्त्रिंशद्दिनैर्भगणांशान्तरं तदैकेन किमिति । द्वादशभागैरेकं चान्द्रदिनम् ।

दर्श: सूर्य्येन्दुसङ्गम: । इत्यभिधानाद्दर्शावधिकमासस्य स्त्रिंशत्तिथ्यात्मकत्वात् तिथिश्चान्द्रदिनरूपोते ।। १२ ।।

सूर्य और चन्द्रमा की युति के अनन्तर चन्द्रमा सूर्य से पृथक् होकर प्रतिदिन जितना पूर्व दिशा में जाता है वही चान्द्रमान है । सूर्य से चन्द्रमा के अन्तर १२ अंश होने पर १ तिथि होती है ।। १२ ।।

चान्द्रमानस्योपयोग:

तिथि: करणमुद्वाह: क्षौरं सर्वक्रियास्तथा ।
व्रतोपवासयात्राणां क्रिया चान्द्रेण गृह्यते ।। १३ ।।

अथ चान्द्रव्यवहारमाह । तिथि: प्रतिपदाद्या करणं बवादिकमुद्वाहो विवाह: क्षौरं चौलकर्म: । एतदाद्या: सर्वक्रिया व्रतबन्धाद्युत्सवरूपा व्रतोपवासयात्राणां नियमोपवास गमनानां क्रिया करणम् । तथा समुच्चयार्थक: । चान्द्रमानेन गृह्यते । अङ्गीक्रियते ।। १३ ।।

तिथि, करण, विवाह, क्षौर (मुण्डन) तथा जातकर्म प्रभृति अन्य सभी कार्य, व्रत-उपवास तथा यात्रा की क्रियायें चान्द्रमान से व्यवहृत होती हैं ।। १३ ।।

पितृमानम्

त्रिंशता तिथिभिर्मासश्चान्द्र: पित्र्यमह: स्मृतम् ।
निशा च मासपक्षान्तौ तयोर्मध्ये विभागत: ।। १४ ।।

अथ चान्द्रमासं प्रसङ्गात् पितृमानं च आह । त्रिंशता त्रिंशन्मितैस्तिथिभिश्चान्द्रो मासः । पित्र्यं पितृसम्बन्धि । अहो दिनम् । निशा रात्रिः पितृसम्बद्धा । चकारो व्यवस्थार्थकः । तेनोभयं नैकः प्रत्येकं किन्तु मिलितं स्मृतमिति । लिङ्गानुरोधेनो-भयत्रान्वेति । तथा च चान्द्रो मासः । पित्र्याहोरात्रमित्यर्थः फलितः । मासपक्षान्तौ मासान्तो दर्शान्तः पक्षान्तः पूर्णिमान्तः । एतावित्यर्थः । विभागतः क्रमेणेत्यर्थः । तयोः पित्र्याहोरात्रयोर्मध्येऽर्द्धे भवतः । दर्शान्तः पितृणां मध्याह्नं पूर्णिमान्तः पितृणां मध्यरात्रमित्यर्थः । अर्थात् कृष्णाष्टम्यर्द्धे दिनप्रारम्भः । शुक्लाष्टम्यर्द्धे दिनान्त इति सिद्धम् ।। १४ ।।

३० तिथियों का १ चान्द्रमास होता है । वही (१ मास) पितरों का एक अहोरात्र होता है । मासान्त में अर्थात् अमावास्या को मध्यरात्रि तथा पक्षान्त में (पूर्णिमा को) पितरों का दिनार्ध होता है । इन दोनों के मध्य भाग से अर्थात् पूर्णिमा के बाद (कृष्णपक्ष की) साढ़े सात तिथि से दिन का तथा कृष्ण पक्ष की अमावास्या के बाद (शुक्लपक्ष की) साढ़े सात तिथि से रात्रि का आरम्भ होता है ।। १४ ।।

नाक्षत्रमानम्

भचक्रभ्रमणं नित्यं नाक्षत्रं दिनमुच्यते ।
नक्षत्रनाम्ना मासास्तु ज्ञेयाः पर्वान्तयोगतः ।। १५ ।।
कार्तिक्यादिषु संयोगे कृत्तिकादि द्वयं द्वयम् ।
अन्त्योपान्त्यौ पञ्चमश्च त्रिधा मासत्रयं स्मृतम् ।। १६ ।।

अथ क्रमप्राप्तं नक्षत्रमानं प्रसङ्गान्माससंज्ञां च आह । नित्यं प्रत्यहं भचक्रभ्रमणं नक्षत्रसमूहस्य प्रवहवायुकृतपरिभ्रमः । नाक्षत्रं नक्षत्रसम्बन्धि दिनं मानज्ञैः कथ्यते । नित्यमित्यनेन चन्द्रभोगनक्षत्रभोगो नाक्षत्रमित्यस्य निरासः । भचक्रभ्रमणानुपपत्तेः माससंज्ञा महानक्षत्रनाम्नेति । पर्वान्तयोगतः पर्वान्तः पूर्णिमान्तः । तस्य योगात् तत्सम्बन्धात् नक्षत्रसंज्ञया मासाः । तुकाराच्चान्द्रा अवगम्याः पूर्णिमान्तस्थित चन्द्र-नक्षत्रसंज्ञो मासो ज्ञेय इति तात्पर्य्यार्थः । यथा हि यद्दर्शन्तावधिकश्चान्द्रो मासस्तदभ्यन्तरस्थितपूर्णिमान्तस्थित चन्द्रनक्षत्रसंज्ञः । चित्रासम्बन्धाच्चैत्रः । विशाखा सम्बन्धाद्वैशाखः । ज्येष्ठासम्बन्धाज्ज्यैष्ठः । आषाढासम्बन्धादाषाढ । श्रवणसम्बन्धा-च्छ्रावणः । भाद्रपदा सम्बन्धाद्भाद्रपदः । अश्विनीसम्बन्धादाश्विनः । कृत्तिका-सम्बन्धात् कार्त्तिकः । मृगशीर्षसम्बन्धान्मार्गशीर्षः । पुष्यसम्बन्धात् पौषः । मघा-सम्बन्धान्माघः । फाल्गुनीसम्बन्धात् फाल्गुन इति ।। १५ ।।

ननु पूर्णिमान्ते तत्तन्नक्षत्राभावे कथं तत्संज्ञा मासानामुचितेत्यत आह । नक्षत्रसंयोगार्थमिति निमित्तसप्तमी । कार्तिक्यादिषु कार्त्तिकमासादीनां पौर्णमासी-ष्वित्यर्थः । कृत्तिकादि द्वयं द्वयं नक्षत्रं कथितं कृतिकारोहिणीभ्यां कार्त्तिकः । मृगार्द्राभ्यां

मार्गशीर्षः । पुनर्वसुपुष्याभ्यां पौषः । अश्लेषामघाभ्यां माघः । चित्रास्वातीभ्यां चैत्रः । विशाखानुराधाभ्यां वैशाखः । ज्येष्ठामूलाभ्यां ज्यैष्ठः । पूर्वोत्तराषाढाभ्यामाषाढः । श्रवणधनिष्ठाभ्यां श्रावण इति फलितम् । अवशिष्टमासानामाह । अन्त्योपान्त्याविति। अत्र कार्तिकस्यादित्वेन ग्रहादन्त्य आश्विनः । उपान्त्यो भाद्रपदः । एतौ मासौ पञ्चमः फाल्गुनः । चकारः समुच्चय इति मासत्रयं त्रिधा स्थानत्रय उक्तम् । रेवत्यश्विनी-भरणीति नक्षत्रत्रयसम्बन्धाद्भाद्रपदः । पूर्वोत्तराफाल्गुनीहस्तेति नक्षत्रत्रयसम्बन्धात् फाल्गुन इति सिद्धम् ।। १६ ।।

भचक्र (नक्षत्र मण्डल) का दैनिक भ्रमण एक नाक्षत्र दिन होता है । (अर्थात् जितने काल में नक्षत्र मण्डल का एक चक्रभ्रमण पूर्ण होता है उतना काल नाक्षत्र दिन होता है) । पर्वान्त से (पूर्णिमा के दिन) जिस नक्षत्र का योग होता है उसी नक्षत्र के नाम से मासों के नाम होते हैं ।

कृत्तिकादि दो दो नक्षत्रों के संयोग से कार्तिक आदि मास, अन्तिम, उपान्तिम और पाँचवाँ मास तीन-तीन नक्षत्रों के संयोग से होते हैं । जैसे—कृतिका या रोहिणी पूर्णिमा को हो तो कार्तिक, मृर्गशीर्ष या आर्द्रा से मार्गशीर्ष आदि मास होते हैं । अन्तिम (कार्तिकादि गणना से) आश्विन, उपान्तिम भाद्रपद तथा पञ्चम फाल्गुन मास तीन तीन नक्षत्रों से होते हैं । जैसे—पू. फा., उ. फा., हस्त इन तीन नक्षत्रों से फाल्गुन मास होता है) ।। १५–१६ ।।

नक्षत्र	पर्वान्त	मास
कृत्तिका, रोहिणी	पूर्णिमा	कार्तिक
मृगशीर्ष, आर्द्रा	पूर्णिमा	मार्गशीर्ष
पुनर्वसु, पुष्य	पूर्णिमा	पौष
आश्लेषा, मघा	पूर्णिमा	माघ
पूर्वाफाल्गुनि उत्तरा फाल्गुनि, हस्त	पूर्णिमा	फाल्गुन
चित्रा, स्वाती	पूर्णिमा	चैत्र
विशाखा, अनुराधा	पूर्णिमा	वैशाख
ज्येष्ठा, मूल	पूर्णिमा	ज्येष्ठा
पूर्वाषाढा, उत्तराषाढा	पूर्णिमा	आषाढ़
श्रावण, धनिष्ठा	पूर्णिमा	श्रावण
शतभिष, पूर्वाभाद्रपद उत्तरभाद्रपद	पूर्णिमा	भाद्रपद
रेवती, अश्विनी, भरणी	पूर्णिमा	आश्विन

गुरुवर्षाणांमाससंज्ञा

वैशाखादिषु कृष्णे च योगात् पञ्चदशे तिथौ ।
कार्तिकादीनि वर्षाणि गुरोरस्तोदयात् तथा ।। १७ ।।

अथ प्रसङ्गात् कार्त्तिकादि बृहस्पतिवर्षाण्याह । यथा पौर्णमास्यां नक्षत्रसम्बन्धेन तत्संज्ञो मासो भवति । तथेति समुच्चयार्थकम् । बृहस्पतेः सूर्य्यसान्निध्यदूरत्वाभ्याम-स्तादुदयाद्वा वैशाखादिषु द्वादशसु मासेषु कृष्णपक्षे पञ्चदशे तिथौ । अमायामित्यर्थः। चकारः पौर्णमासीसम्बन्धात् समुच्चयार्थकः । योगो दिननक्षत्रसम्बन्धः कार्तिकादीनि द्वादशवर्षाणि भवन्ति । वैशाखकृष्णपक्षपञ्चदश्याममारूपायां बृहस्पतेरस्त उदये वा जाते सति तदादि बृहस्पतिवर्षं कृत्तिकादि नक्षत्रसम्बन्धात् कार्त्तिकसंज्ञम् ।

एवं ज्येष्ठाषाढश्रावण भाद्रपदाश्विनकार्त्तिक मार्गशीर्षपौषमाघ फाल्गुनचैत्रामासु मृगपुष्यमघापूफाचित्राविशाखाज्येष्ठापूषाश्रवणपूभाश्विनीदिननक्षत्रसम्बन्धान्मार्गशीर्षा-दीनि भवन्ति । अत्रापि प्रोक्त नक्षत्रद्वयत्रय सम्बन्धः प्रागुक्तो बोध्यः । अनेनेत्युप-लक्षणम् । तेन यद्दिने बृहस्पतेरुदयोऽस्तो वा तद्दिने यच्चन्द्राधिष्ठितनक्षत्रं तत्संज्ञं बार्हस्पत्यं वर्षं भवतीति तात्पर्य्यम् । संहिताग्रन्थेऽस्तोदयवशाद्वर्षोक्तिः परमिदानीमुदय वर्षव्यवहारो गणकैर्गण्यते येनोदितेज्य इत्युक्तेरिति ।। १७ ।।

वैशाख आदि मासों में कृष्णपक्ष की १५ वीं (अमावास्या) तिथि को कृत्तिका आदि नक्षत्रों के योग से बार्हस्पत्य कार्तिकादि मास होते हैं । इस (विधि) से जिस मास में गुरु अस्त या उदय होगा उस मास से सम्बन्धित बृहस्पति का वर्ष प्रारम्भ होता है ।। १७ ।।

पूर्वोक्त (श्लो. १५-१६) विधि से स्पष्ट है कि वैशाख मास की पूर्णिमा को विशाखा नक्षत्र होता है । विपरीत गणना से १४ दिन पूर्व अमावास्या को विशाखा से पूर्व चौदहवाँ नक्षत्र कृत्तिका होगा । जैसे पूर्णिमा तिथि में विशाखा या अनुराधा नक्षत्र सम्भव है उसी प्रकार अमावास्या में कृतिका के आसन्न रोहिणी भी संभव है। इसी प्रकार अन्य मासों में भी अमावास्या से नक्षत्रों के सम्बन्धों को पूर्ववत् समझना चाहिये।

जिस मास में गुरु उदय या अस्त हों उस मास के अमान्तगत नक्षत्र के नाम से गुरु वर्ष प्रारम्भ होता है । यथा वैशाख में यदि गुरु अस्त या उदय हो तो कार्तिक गुरुवर्ष होगा । ज्येष्ठ में अस्तोदय हो तो मार्गशीर्ष वर्ष प्रारम्भ होगा । आचार्य वराहमिहिर ने भी बृहत्संहिता में लिखा है—

''नक्षत्रेण सहोदयमुपगच्छति येन देवपतिमन्त्री । तत्संज्ञं वक्तव्यं वर्षमास क्रमेणैव'' ।। वर्षाणि कार्तिकादीन्याग्नेयाद् भद्वयानुयोगिनी । क्रमशस्त्रिभं तु पञ्चममुपान्त्यमन्त्यं च यद्वर्षम् ।। (बृ. सं. गुरुचाराध्याय)

बृहस्पति के ये नक्षत्रसंज्ञक वर्ष मध्यम मान से होने वाले ६० संवत्सरों से सम्बन्धित गौरव वर्षो से भिन्न होते हैं ।

सप्रयोजनं सावनमानम्

उदयादुदयं भानोः सावनं तत् प्रकीर्तितम् ।
सावनानि स्युरेतेन यज्ञकालविधिस्तु तैः ॥ १८ ॥
सूतकादिपरिच्छेदो दिनमासाब्दपास्तथा ।
मध्यमा ग्रहभुक्तिस्तु सावनेनैव गृह्यते ॥ १९ ॥

अथ क्रमप्राप्तं सावनमाह । सूर्य्यस्योदयादुदयकालमारभ्याव्यवहितोदयकालपर्य्यन्तं यत् कालात्मकं तत् सावनं मानज्ञैरुक्तम् । एतेनोदयद्वयान्तरात्मककालस्य गणनया सावनानि वसुद्व्यष्टाद्रीत्यादिना मध्याधिकारोक्तानि भवन्ति । तद्व्यवहारमाह । यज्ञकालविधिरिति । यज्ञस्य यः कालस्तस्य गणना तैः सावनैः । तुकारोऽन्यमान निरासार्थकैवकारपरः ॥ १८ ॥

अथ व्यवहारान्तरमाह । सूतकं जन्ममरण सम्बन्धि । आदिपदग्राह्यं चिकित्सितचान्द्रायणादि । तस्य परिच्छेदो निर्णयः । दिनाधिपमासेश्वर वर्षेश्वराः । तथा समुच्चये ग्रहाणां गतिर्मध्यमा । तुकारात् स्पष्टगतेर्निरासः । तस्याः प्रतिक्षणं वैलक्षण्याद्दिनसम्बन्धस्याभावात् । एतेन स्पष्टगत्या स्पष्टग्रहस्य चालनं निरस्तं स्थूलत्वादिति सूचितम् । सावनमानेन । एवकारादन्यमाननिरासः । गृह्यते सुधीभिरङ्गीक्रियते । अत्र बहुवचनानुरोधेन गृह्यत इत्यत्र बहुवचनं ज्ञेयम् ॥ १९ ॥

सूर्य के एक उदय से दूसरे उदय पर्यन्त का समय सावनदिन संज्ञक होता है। अर्थात् एक ही क्षितिज पर दो सूर्योदयों के मध्य का काल एक सावन दिन होता है इन सावन दिवसों से ही यज्ञ आदि के कार्यो के लिए समय का निर्णय किया जाता है । सूतकादि का निर्धारण, दिन, मास और वर्ष स्वामियों का निर्णय तथा मध्यम ग्रहगति का निर्णय सावन मान से ही किया जाता है ॥ १८–१९ ॥

दिव्यमानम्

सुरासुराणामन्योन्यमहोरात्रं विपर्ययात् ।
यत् प्रोक्तं तद् भवेद् दिव्यं भानोर्भगणपूरणात् ॥ २० ॥

अथ दिव्यमानमाह । पूर्वार्द्धं पूर्वं व्याख्यातम् । यदहोरात्रं पूर्वार्द्धोक्तं सूर्य्यस्य भगणभोगपूर्तेः प्रोक्तं पूर्वमनेकधा निर्णीतं तदहोरात्रं दिव्यमानं स्यात् ॥ २० ॥

सूर्य के बारह राशियों के भोगकाल (भगण पूर्तिकाल) में देवताओं और दैत्यों का विपर्यय से जो अहोरात्र कहा गया है वही दिव्यमान होता है ॥ २० ॥

प्राजापत्यं ब्राह्ममानञ्च

मन्वन्तरव्यवस्था च प्राजापत्यमुदाहृतम् ।
न तत्र द्युनिशोर्भेदो ब्राह्मं कल्पः प्रकीर्तितम् ॥ २१ ॥

अथ अवशिष्टे प्राजापत्य ब्राह्ममाने आह। मन्वन्तरव्यवस्था मन्वन्तरावस्थिति:। युगानां सप्तति सैका इत्यादिना मध्याधिकारोक्तेति चार्थ: प्राजापत्यं मानं मानज्ञैरुदाहृतमुक्तं मनूनां प्रजापति पुत्रत्वात् । ननु देवपितृमानयोर्दिनरात्रिभेदो यथोक्तस्तथा अस्मिन् माने दिनरात्रिभेद प्रतिपादनं कथं नोक्तमित्यत आह । नेति । तत्र प्राजापत्यमाने द्युनिशोर्दिनरात्र्योर्भेदो विवेको गुरुसौरचन्द्रमानवन्नास्ति । ब्रह्ममानमाह । ब्राह्ममिति । कल्पो युगसहस्रात्मक: प्रागुक्त: । ब्रह्ममानं मानज्ञैरुक्तम् । यद्यपि पूर्वं पित्र्यबार्हस्पत्यमानयो: अनुक्तेरत्र तयोरेव निरूपणं युक्तमन्येषां निरूपणं तु पूर्वोक्त्या पुनरुक्तं तथापि पूर्वं गणिताद्युपजीव्यपरिभाषाकथनावश्यकतया गणित प्रवृत्यर्थं तेषाममानत्वेन निरूपणादत्र तु विशेषकथनार्थं मानत्वेन पुनस्तेषां निरूपणं प्रश्नोत्तरत्वेनाक्षतिकरमन्यथा प्रश्नानुपपत्तेरिति दिक् ।। २१ ।।

मन्वन्तर व्यवस्था (अर्थात् ७१ महायुगों का १ मनु) प्राजापत्य मान कहा गया है । वहाँ (मन्वन्तर मान में) दिन-रात्रि का भेद नहीं होता । कल्प का मान ब्राह्म मान कहा जाता है । क्योंकि १ कल्प के तुल्य ब्रह्मा का एक दिन और उतनी की ही एक रात्रि होती है ।। २१ ।।

मयं प्रति महात्म्यकथनम्

एतत् ते परमाख्यातं रहस्यं परमाद्भुतम् ।
ब्रह्मैतत् परमं पुण्यं सर्वपापप्रणाशनम् ।। २२ ।।
दिव्यं चार्क्षं ग्रहाणां च दर्शितं ज्ञानमुत्तमम् ।
विज्ञायार्कादिलोकेषु स्थानं प्राप्नोति शाश्वतम् ।। २३ ।।

अथ स्वोक्तमुपसंहरति । हे परमदैत्यश्रेष्ठ ! सूर्य्यभक्तत्वात् । तुभ्यमेतदधुनोक्तं परं द्वितीयकथनमाख्यातं निराकांक्षत सम्पूर्णं कथितम् । पूर्वं सावशेषमुक्तं स्थितमिति त्वया प्रश्ना: कृतास्तदुत्तररूपद्वितीयकथनमिदं नि:सन्दिग्धमस्तीतितव संशया नोद्भवन्तीति भाव: । ननु सत्प्रश्नं विना पूर्वमेवेदं कथं नोक्तमित्यत आह । रहस्यमिति । कुत इत्यत आह । अद्भुतमिति । आकाशस्थग्रहनक्षत्रादि स्थितिज्ञान सम्पादकत्वादाश्चर्य्यकरमित्यर्थ: । तथा च मत्पूर्वोक्तं येन सावधानतया श्रुतं तेनैव त्वदुक्ता: प्रश्ना: कर्तुं शक्यास्तदुत्तरत्वेन द्वितीयमदुक्तमिति त्वां परीक्ष्य त्वां प्रत्युक्तं रहस्यमिति भाव: । ननु अन्यशास्त्राणां ज्ञानाद्ब्रह्मानन्दावाप्तिरस्मान्नेत्यत आह । ब्रह्मेति । एतन्मदुक्तं ब्रह्म ब्रह्मसमं तथा चान्यशास्त्राणां ब्रह्मसमत्वाभावेऽपि तज्ज्ञानाद् ब्रह्मानन्दावाप्तिरस्माद् ब्रह्मास्वरूपाद् ब्रह्मानन्दावाप्तौ किं चित्रमिति भाव: । कुत इदं ब्रह्मसममित्यत आह । परमिति । उत्कृष्टम् । अत्र हेतुभूतं विशेषणद्वयमाह, पुण्यं सर्वपापप्रणाशनमिति । पुण्यजनकं सर्वपापनाशकम् ।। २२ ।।

ननु अस्माद् ब्रह्मानन्दप्राप्तिरुक्ता पूर्वं ग्रहलोकप्राप्तिश्चोक्ता तत्रानयो: किं फलं भवतीत्यत आह । आर्क्षं नक्षत्रसम्बन्धिज्ञानं ग्रहाणां ज्ञानम् । च: समुच्चये । उत्तमं

सर्वशास्त्रेभ्यः उत्कृष्टम् । अत्र हेतुभूतं विशेषणं दिव्यं स्वर्गलोकोत्पन्नं दर्शितं मया तुभ्यमुपदिष्टं विज्ञाय ज्ञात्वा अर्कादिलोकेषु सूर्य्यादिग्रहलोकेषु स्थानमधिष्ठानं प्राप्नोति शाश्वतं नित्यं ब्रह्मसायुज्यरूपं स्थानम् । पूर्वार्द्धस्थद्वितीयचकारः समुच्चयार्थकोऽत्रान्वेति । तथाचोभयं फलं क्रमेण भवतीति भावः । यत्वेतत् ते परमाख्यातमित्यादिश्लोकः क्वचित् पुस्तकेऽस्मात् श्लोकात् पूर्वं नास्ति किन्तु माननिरूपणान्तस्थदिव्यं चार्क्षमित्यादिश्लोकान्ते मानाध्याय समाप्तिं कृत्वा अग्रे ।

यथा शिखा मयूराणां नागानां मणयो यथा ।
तद्वद्वेदाङ्गशास्त्राणां गणितं मूर्द्धनि स्थितम् ।। १ ।।
न देयं तत् कृतघ्नाय वेदविप्लावकाय च ।
अर्थलुब्धाय मूर्खाय साहङ्काराय पापिने ।। २ ।।
एवं विधाय पुत्रायाप्यदेयं सहजाय च ।
दत्तेन वेदमार्गस्य समुच्छेदः कृतो भवेत् ।। ३ ।।
व्रजेतामन्धतामिस्रं गुरुशिष्यौ सुदारुणम् ।
ततः शान्ताय शुचये ब्रह्मणायैव दापयेत् ।। ४ ।।
चक्रानुपातजो मध्यो मध्यवृत्तांशजः स्फुटः ।
कालेन दृक्समो न स्यात् ततो बीजक्रियोच्यते ।। ५ ।।
राश्यादिरिन्दुरङ्कघ्नो भक्तो नक्षत्रकक्षया ।
शेषं नक्षत्रकक्षायास्त्यजेच्छेषकयोस्तयोः ।। ६ ।।
यदल्पं तद्भजेद्भानां कक्षया तिथिनिघ्नया ।
बीजं भागादिकं तत् स्यात् कारयेत् तद्धनं रवौ ।। ७ ।।
त्रिगुणं शोधयेदिन्दौ जिनघ्नं भूमिजे क्षिपेत् ।
दृग्यमघ्नमृणं ज्ञोच्चे खरामघ्नं गुरावृणम् ।। ८ ।।
ऋणं व्योमनवघ्नं स्याद्दानवेज्यचलोच्चके ।
धनं सप्ताहतं मन्दे परिधीनामथोच्यते ।। ९ ।।
युग्मान्तोक्ताः परिधयो ये ते नित्यं परिस्फुटाः ।
ओजान्तोक्तास्तु ते ज्ञेयाः परबीजेन संस्कृताः ।। १० ।।
वच्मि निर्बीजकानोजपदान्ते वृत्तभागकान् ।
सूर्य्येन्द्वोर्मनवो दन्ता धृतितत्वकलोनिताः ।। ११ ।।
वाणतर्का महीजस्य सौम्यस्याचलवाहवः ।
वाक्पतेरष्टनेत्राणि व्योमशीतांशवो भृगोः ।। १२ ।।
शून्यर्त्तवोऽर्कपुत्रस्य बीजमेतेषु कारयेत् ।
बीजं खाग्न्युद्धृतं शोध्यं परिध्यंशेषु भास्वतः ।। १३ ।।
इनाप्तं योजयेदिन्दोः कुजस्याश्वहतं क्षिपेत् ।
विदशचन्द्रहतं योज्यं सूरेरिन्द्रहतं धनम् ।। १४ ।।
धनं भृगोर्भुवा निघ्नं रविघ्नं शोधयेच्छनेः ।
एवं मान्दाः परिध्यंशाः स्फुटाः स्युर्वच्मि शीघ्रकान् ।। १५ ।।

भौमस्याभ्रगुणाक्षीणि बुधस्याब्धि गुणेन्दवः।
बाणाक्षा देवपूज्यस्य भार्गवस्येन्दुषड्यमाः ॥ १६ ॥
शनेश्चन्द्राब्धयः शीघ्रा ओजान्ते बीजवर्जिताः ।
द्विघ्नं स्वं कुजभागेषु बीजं द्विघ्नमृणं विदः॥ १७ ॥
अत्यष्टिघ्नं धनं सूरेरिन्दुघ्नं शोधयेत् कवेः।
चन्द्रघ्नमृणमार्कस्य स्युरेभिर्द्वक्समा ग्रहाः ॥ १८ ॥
एतद्बीजं मया ख्यातं प्रीत्या परमया तव।
गोपनीयमिदं नित्यं नोपदेश्यं यतस्ततः॥ १९ ॥
परीक्षिताय शिष्याय गुरुभक्ताय साधवे ।
देयं विप्राय नान्यस्मै प्रतिकञ्चुककारिणे ॥ २० ॥
बीजं निःशेषसिद्धान्तरहस्यं परमं स्फुटम् ।
यात्रापाणि ग्रहादीनां कार्य्याणां शुभसिद्धिदम् ॥ २१ ॥

इत्यस्य क्वचित पुस्तके लिखितस्य बीजोपनयनाध्यायस्यान्ते लिखितो दृश्यते तत् तु न समञ्जसम् । उत्तरखण्डे ग्रहगणितनिरूपणाभावात् तन्निरूपण प्रसङ्गनिरूपणीयस्याध्यायस्य लेखनानौचित्यात् स्पष्टाधिकारे तदन्ते वास्य लेखनस्य युक्तत्वाच्च । किञ्च मानानि कति किं च तैः । इति प्रश्नाग्रे प्रश्नानामभावात् प्रश्नोत्तरभूतोत्तरखण्डेऽस्य लेखनमसङ्गतम् ।अपिच।उपदेशकाले बीजाभावादग्रेऽन्तर दर्शनमनियतं कथमुपदिष्टमन्यथान्तर्भूतत्वेनैवोक्तः स्यादित्यादि विचारेण केनचिद्धृष्टेन बीजस्यार्ष मूलकत्वज्ञापनायान्त्येत्र बीजोपनयनाध्यायः प्रक्षिप्त इत्यवगम्य न व्याख्यात इति मन्तव्यम् ॥ २३ ॥

इस समय जो परभाग (भूगोलाध्यायादि उत्तरार्ध) का वर्णन किया गया है वह परम अद्भुत, रहस्यमय तथा ब्रह्मस्वरूप है । अतः यह शास्त्र पुण्य प्रदान करने वाला तथा सभी पापों का नाश करने वाला होगा ।

ईसमें दिव्य और नाक्षत्रमानों का विवेचन तथा ग्रहों के उत्तम ज्ञान को प्रदर्शित किया गया है । इसका ज्ञान प्राप्त कर मनुष्य सूर्यादि लोकों में सदैव स्थान प्राप्त करता है ॥ २२—२३ ॥

उपसंहरन्नाह

इत्युक्त्वा मयमामन्त्र्य सम्यक् तेनाभिपूजितः ।
दिवमाचक्रमेऽर्कांशः प्रविवेश स्वमण्डलम् ॥ २४ ॥

अथ मुनीन् प्रति कथितसंवादस्योपसंहारमाह । सूर्य्यांशपुरुषो मयासुरमामन्त्र्य सम्यक् तत्वतो ग्रहादिचरितमुपदिश्य इति । एतत् ते इत्यादि श्लोकद्वयमुक्त्वा कथयित्वा ।समुच्चयार्थकश्चोऽनुसन्धेयः ।दिवं स्वर्गमाचक्रमे ।आक्रमणविषयं चक्रे। ननु सूर्य्यांशपुरुषस्य तदुपदेशे को वा पुरुषार्थ इत्यत आह । तेनेति । मयासुरेणाभिपूजितः । गन्धधूपादिनैवेद्यवस्त्रालङ्करणादिभिः पूजाविषयीकृतः । मयद्वारामर्त्यलोके

प्रसिद्धिं सूर्य्यतुल्यत्वेन प्राप्त इति भाव: । ननु स्वर्गेऽपि किं स्थानं गत इत्यत आह। प्रविवेशेति । स्वमण्डलं सूर्य्यविम्बं विशति स्म अधिष्ठितवान् अत्रापि समुच्चयार्थोऽनुसन्धेयश्चकार: ।। २४ ।।

इस प्रकार मय से भलीभाँति कहकर (सम्यग् ज्यौतिष शास्त्र का उपदेश कर) सूर्यांशावतार पुरुष मय से पूजित होकर स्वर्ग में चंक्रमण करते हुये अपने मण्डल (सूर्य मण्डल) में प्रविष्ट हो गये ।। २४ ।।

मयोऽथ दिव्यं तज्ज्ञानं ज्ञात्वा साक्षाद् विवस्वत: ।
कृतकृत्यमिवात्मानं मेने निर्धूतकल्मषम् ।। २५ ।।

अथ मयासुरावस्थां तात्कालिकीमाह । अथ सूर्य्यांश पुरुषोऽन्तर्धानानन्तरं मयासुरतज्ज्ञानं ग्रहर्क्षस्थित्यादिज्ञानं पूर्वोक्तं दिव्यं स्वर्गस्थं सूर्य्यात् साक्षादनन्य-द्वारेत्यर्थ: सूर्य्यांश पुरुषस्य सूर्य्याभिन्नत्वं तदुत्पन्नत्वादत एव भेदेऽपि साक्षादुक्तं युक्तम् ज्ञात्वा आत्मानं स्वं निर्धूतकल्मषं निवारितपापं कृतकृत्यं सम्पादितकार्य्यं मेने मन्यते स्म ।। २५ ।।

अनन्तर (सूर्यांश पुरुष के सूर्य मण्डल में प्रविष्ट होने के अनन्तर) साक्षाद् भगवान सूर्य से ज्ञान प्राप्त कर मयासुर ने अपने आप को पाप रहित और कृतकृत्य माना ।। २५ ।।

ज्ञात्वा तमृषयश्चाथ सूर्यलब्धवरं मयम् ।
परिबब्रुरुपेत्याथो ज्ञानं पप्रच्छुरादरात् ।। २६ ।।
स तेभ्य: प्रददौ प्रीतो ग्रहाणां चरितं महत् ।
अत्यद्भुततमं लोके रहस्यं ब्रह्मसम्मितम् ।। २७ ।।

॥ सूर्यसिद्धान्ते मानाध्याय: सम्पूर्ण: ॥ १४ ॥
॥ समाप्तोऽयं ग्रन्थ: ॥

अथ त्वमिदं ज्ञानं कथं प्राप्तवानिति श्रोतृमुनिभि: पृष्टोमुनिस्तान् प्रति तत्रत्या अस्मत्प्रभृतय ऋषयो मयं प्रत्येतज्ज्ञानं पृष्टवन्त इत्याह । अथ मयासुरस्य ज्ञान-प्राप्त्यनन्तरमृषय: सूर्य्यांश पुरुषमयासुरसंवादाश्रित भूमिप्रदेशासन्नभूमि प्रदेशस्था अस्मत्प्रभृतयो मुनयस्तं कृतकृत्यं मयासुरं सूर्य्यलब्धवरं सूर्य्यात् प्राप्तो वरो ज्ञानप्रसादो येनैतादृशं ज्ञात्वा । उप समीपे एत्यागत्य । च: समुच्चये । परिवब्रु: वेष्टिवन्त: । अथो अनन्तरमादरादत्यन्तं साभिलाषितया तं ज्ञानं ग्रहादिचरितं पप्रच्छु: पृष्टवन्त: ।। २६ ।।

अथ मयासुर: स्वज्ञानं तत्प्रश्नकारकानस्मत्प्रभृतीन् मुनीन् प्रति कथयामासे-

त्याह । मयासुरः प्रीतः सन्तुष्टः सन् तेभ्योऽस्मत्प्रभृतिभ्यः ऋषिभ्यो ग्रहाणां स्थित्यादिज्ञानं महदपरिमेयमत एव ब्रह्मसम्मितं ब्रह्मतुल्यं लोके भूलोकेऽत्यद्भुततम-मत्यन्तमाश्चर्य्यकारकं श्रेष्ठमत एव प्रददौ प्रकर्षेण निर्व्याजतया दत्तवान् कथयामासेत्यर्थः ।। २७ ।।

अथ मानाध्यायसमाप्त्या सूर्य्यसिद्धान्तसमाप्तिं कस्यचित् प्रक्षिप्ताध्यायस्य निवारिकां फक्किकया आह । स्पष्टम् ।

रङ्गनाथेन रचिते सूर्य्यसिद्धान्तटिप्पणे ।
मानाध्यायोत्तरदले पूर्णे गूढप्रकाशके ।।
भागीरथी तीरसंस्थे शम्भोर्वाराणसीपुरे ।
वल्लालगणको रुद्रजपासक्तोऽभवद्बुधः ।। १ ।।

तस्यात्मजाः पञ्च गुणाभिरामाः ज्येष्ठः स रामः सकलागमज्ञः ।
येनोपपत्तिः स्वधिया नितान्तं प्रकाशितानन्तसुधाकरस्य ।। २ ।।
ततः स कृष्णो जहंगीरसार्वभौमस्य सर्वाधिगतप्रतिष्ठः ।
श्रीभास्करीयं विवृत्तं तु येन बीजं तथा श्रीपतिपद्धतिः सा ।। ३ ।।
गोविन्दसंज्ञस्तु ततस्तृतीयस्तस्यानुजोऽहं गुरुलब्धविद्यः ।
विश्वेशवत्पद्मनिविष्टचेताः काशीनिवासी सकलाभिमान्यः ।। ४ ।।
श्रीरङ्गनाथोऽर्कमुखोत्थशास्त्रे गूढप्रकाशाभिधटिप्पणं सः ।
कृत्वा महादेवबुधाग्रजोऽथ विश्वेश्वरायार्पितवान् सुवृद्ध्यै ।। ५ ।।
शके तत्वतिथ्युन्मिते चैत्रमासे सिते शम्भुतिथ्यां बुधेऽर्कोदयान्मे ।
दलाढ्यद्विनाराचनाडीषु जातौ मुनीशार्कसिद्धान्त गूढप्रकाशौ ।। ६ ।।

गूढप्रकाशकं दृष्ट्वा रङ्गनाथभवं भुवि ।
मुनीश्वरस्य सहजं लभन्तां गणकाः सुखम् ।। ७ ।।

॥ इति श्रीसकलगणकसार्वभौमबल्लादैवज्ञात्मजरङ्गनाथगणकविरचिते गूढार्थप्रकाशके मानाध्यायः सम्पूर्णः ॥ १४ ॥

मय ने सूर्य से ज्योतिष ज्ञान रूपी वरदान प्राप्त कर लिया है, ऋषि लोग यह जान कर मय के पास आये और आदर के साथ उक्त ज्ञान के विषय में पूछा ।

मय दानव ने प्रसन्न होकर, लोक में अत्यन्त रहस्यमय ब्रह्म संज्ञक (ब्रह्मज्ञान) इस ज्ञान को जिज्ञासु ऋषियों को प्रदान किया ।। २६–२७ ।।

॥ पण्डितवर्य बलदेवदैवज्ञात्मज प्रो० रामचन्द्रपाण्डेय द्वारा विरचित सूर्यसिद्धान्त के मानाध्याय का हिन्दीभाषानुवाद एवं संस्कृतोपपत्ति सम्पूर्ण ॥ १४ ॥